THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182659

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 790/ T36P Accession No. 3-11-151

Author [illegible]

Title [illegible] 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रणव-भारती

प्रथम वीणा

भारतीय स्वरशास्त्र

उद्गाता

संगीत मार्तण्ड, संगीत महामहोदय, संगीत सम्राट्

प्राचार्य पं० ओमूकारनाथ ठाकुर

कुलगुरु

श्री संगीत भारती

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित

रामनवमी,
वि० सं० २०१३
१६, एप्रिल, १६५६

प्रथम संस्करण

मूल्य ६)

प्राप्तिस्थान :—

(१) प्राचार्य पं० ओमकारनाथ ठाकुर

कुलगुरु

श्री संगीत भारती

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

(२) एन० एम० त्रिपाठी एण्ड को० लिमिटेड,

प्रिंसेस स्ट्रीट, बम्बई—२

(३) प्रिंसिपल विनयचन्द्र मौद्गल्य

गान्धर्व महाविद्यालय, ४२-सी, प्रेम हाउस, कॉनॉट प्लेस, नई देहली।

मुद्रक—अमलकुमार बसु, इंडियन प्रेस, (प्राइवेट) लिमिटेड, बनारस ब्रांच।

॥ ॐ ॥

समर्पण-पत्र

जिनकी योग सिद्धि ने मेरी मेधा, प्रज्ञा और जिह्वा पर वाग्देवता को
अधिष्ठित किया, मैं जो कुछ भी हूँ, वह जिनके आशीर्वाद का
फल है, मेरे उन प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद पिता

पं० गौरीशंकर महाशंकर ठाकुर

के श्रीचरणों में

तथा

मेरे ज्ञान—निधि
संगीतावतार गुरुदेव

पं० विष्णुदिगम्बरजी पलुस्कर

जिनकी ज्ञान-गंगा में अवगाहन कर
मैं पूत प्रकाश से पावन हुआ,
उनके पादपद्मों में

यह ग्रन्थ-पुष्प

त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

॥ ॐ ॥

संक्षिप्त अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	७—१०
विस्तृत अनुक्रमणिका	११—१५
प्रस्तावना	१६—१६
मङ्गलाचरण—	१—२
प्रथम तन्त्री—नाद-तत्त्व	३—३५
द्वितीय तन्त्री—श्रुति-स्वर-ग्राम	३६—१०५
तृतीय तन्त्री—प्राचीन तथा मध्ययुगीय विकृत स्वर-व्यवस्था एवं— दाक्षिणात्य स्वर-सप्तक	१०६—१६६
चतुर्थ तन्त्री—पंडित भातखण्डे के श्रुति-स्वर का आलोचनात्मक अध्ययन ...	१६७—२००
पञ्चम तन्त्री—स्वर-श्रुति का आधुनिक लक्ष्य तथा गुरुदेव पं० विष्णु— दिगम्बरजी की गुरु-परम्परा	२०१—२२२
षष्ठ तन्त्री—मूर्च्छना-जाति	२२३—२५७
सप्तम तन्त्री—वर्ण—अलंकार—तान	२५८—२७
परिशिष्ट क—प्राकृतिक स्वरों का पशु पक्षियों के नाद से सम्बन्ध ...	२७४—७५३
परिशिष्ट ख—स्वरों के प्राचीनोक्त वर्णदेवता ऋषि रस इत्यादि ...	२७६
परिशिष्ट ग—उद्धृत ग्रन्थों की अकारादिक्रम से तालिका	२७७

———

प्राक्कथन

॥ॐ॥ इस ग्रन्थ के लेखन का अल्प इतिहास है। पूज्यपाद गुरुदेव पं० विष्णु दिगम्बरजी पलुस्कर भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों में जाकर अपने कर्म-कौशल से संगीत-परिषदों का संयोजन और सञ्चालन करते थे। उन दिनों उनके द्वारा आयोजित परिषदों में श्रुति-स्वर-ग्राम-मूर्च्छना, रागवर्गीकरण, लक्ष्यगत स्वर—इत्यादि संगीत के विषयों पर विशद चर्चा, विचारणा, निबन्ध-वाचन, प्रस्ताव-मण्डन तथा अनुमोदन इत्यादि कार्य भी विशेष रूप से हुआ करते थे।

हमारे गुरुदेव तटस्थ-भाव से इन वाद-विवादों, चर्चाओं इत्यादि को सुनते, निष्कर्ष निकालते और अपने विद्यार्थियों को समझाते थे। इन शुष्क शास्त्रीय चर्चाओं में रस लेने वाले उनके विद्यार्थियों में परस्पर सहयोग से उन विषयों की पुनर्विचारणा होती थी और भिन्न भिन्न ग्रन्थों के अध्ययन और परिशीलन से संग्रह-त्याग द्वारा सिद्धान्त पक्ष स्थिर किया जाता था, क्योंकि गुरुदेव सदैव कहा करते थे—'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।' इस प्रकार भिन्न भिन्न मतावलम्बियों की चर्चा में से तत्त्वग्रहण करने की हंसबुद्धि गुरुदेव ने प्रदान की थी, जिसका हमें जीवन में अपार लाभ हुआ। उससे विरुद्ध पक्ष को सहिष्णुता से समझने की और पूर्वग्रहरहित मानस से सत्य को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बनी। परिणामतः यह ग्रन्थ है।

पं० भातखण्डे, पं० आचरेकर, रायबहादुर देवल, मि० क्लेमेण्ट, श्रीयुत मुने, फ्रॉक्स स्ट्रेंग्वेज़ एवं अन्य विचारकों और ग्रन्थकारों के सिद्धान्तों को समझने और पचाने के यत्न के बावजूद जो शंकाएँ उत्थित हुईं, उनके समाधान के लिए उन महानुभावों से मिल कर यत्न किये गए। किन्तु कुछ प्रश्न निरुत्तर ही रहे, कुछ सिद्धान्त असमंजस दिखाई दिये, उलझी हुई गुत्थियाँ बिन सुलझी ही रहीं। इसलिए स्वाध्याय का सहारा लेकर बरसों तक अनुशीलन और परिशीलन करता रहा, जिसका सार-तत्त्व ग्रन्थ में ग्रथित करने का अब अवसर आया है।

कभी कभी पक्ष विचारों का आदान प्रदान करने की इच्छा से संगीत-विद्यालयों में, सभा-सोसाइटियों में और अपने गुरुभाइयों में व्याख्यान दिया करता था, चर्चा किया करता था। उसे सुनकर सभी कहा करते थे कि आप का सैद्धान्तिक पक्ष तो प्रबल है। किन्तु जब तक वह लेखबद्ध नहीं होता, तब तक उसका यथोचित मूल्य नहीं होगा। उनके उस कथन की सत्यता जानने पर भी अपने सिद्धान्तों को लेखबद्ध करने का अब तक अवसर नहीं मिला था। उसके तीन कारण थे—एक तो मैं सदैव यह मानता रहा हूँ कि तब तक लेखनी न उठाई जाए, जब तक कि सिद्धान्त परिपक्व और दृढ़ न हो जाएँ; दूसरे—संगीत की परिषदों, महफिलों इत्यादि के लिए भारत का भ्रमण त्याग कर एक आसनस्थ होकर लिखने बैठना संभव न हो सका और तीसरे—किसी ऐसे व्यक्ति की मुझे आवश्यकता थी, जो संस्कृतज्ञ हो, संगीतज्ञ हो, मेरे भाव भाषा और सिद्धान्त को समझ कर, लेखबद्ध करने में मुझे साहाय्य कर सके और आदेशों का यथायथ पालन कर सके।

भगवान् वेदव्यास को अपने ग्रन्थ-लेखन के लिए किसी गणेशजी की आवश्यकता पड़ी थी। उनका कार्य 'महाभारत' था। मेरा यह ग्रन्थ लघु होने पर भी उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त 'भरत—प्रणीत' तो हैं ही। उस भरत-प्रणीत भारतीय संगीत के सिद्धान्त, जो मध्ययुग से अब तक तिरोभाव को प्राप्त हुए थे, उन्हें पुनरुद्भावित करने के लिए मुझे एक ऐसे तपस्वी, विज्ञजन की आवश्यकता थी, जो यह कार्य गणेशजी की भाँति संपन्न कर सके। मैं लिखवाऊँ और वह लिख सकें। सभी अपेक्षित सामग्री जुट जाने पर ही अब इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है।

मेरे एक प्रगाढ़ मित्र पं० बुद्धदेवजी विद्यामार्तण्ड जो गुरुकुल कांगड़ी के कुलपति रह चुके हैं, वे किसी शक्ति से प्रेरित होकर जब शतपथ ब्राह्मण या अन्य वैदिक साहित्य की विचारणा करते थे, तब प्रायः कहा करते थे—'मुझे छेड़ो नहीं, प्रसूति-वेदना हो रही है'। मुझे भी उन परम मित्र के शब्दों में कहने की इच्छा होती है कि, दिनों तक नहीं महीनों तक नहीं, बरसों तक प्रसूति-वेदना की अनुभूति के बाद इस ग्रन्थ का जन्म हुआ है।

रामनवमी के दिन भगवान् राम ने जन्म लिया था और जिस प्रकार भगवान् भुवन-भास्कर के उदय से तमस् का नाश होता है और विश्व आलोकित हो उठता है, तद्वत् भगवन् राम के जन्म से अज्ञान-निशा और निशाचरों का नाश हुआ था। उसी इष्टदेव भगवान् राम की कृपा से यह 'प्रणव-भारती' ग्रन्थ रामनवमी के दिन ही प्रथम उद्गीथ का उद्घोष, और 'पश्यन्ती' की प्रेरणा से 'वैखरी' वाक् द्वारा 'मध्यमा' का निवेदन करने जा रहा है।

हम जानते हैं कि आज संगीत के क्षेत्र में शास्त्र के नाम से कई असमंजस और अशास्त्रीय बातें लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं और प्रचार पा रही हैं। इस समय भारत में संगीत का क्रिया-पक्ष और शास्त्र-पक्ष दोनों पृथक् रूप से विद्यमान हैं और दोनों में परस्पर तनिक भी संवाद नहीं है। एक ओर शास्त्र—पक्ष क्रिया-पक्षकी उपेक्षा करता है तो दूसरी ओर क्रिया-पक्ष शास्त्र-पक्ष को बातूनी कह कर उससे आँख-कान मूँदे रहता है। परिणामतः उभय की हानि हुई है और हो रही है।

वास्तव में संगीत के ग्रन्थों का अध्ययन, पठन या परिशीलन उतना सरल और सहजगम्य नहीं है। संस्कृत के जानने वाले उन संगीत ग्रन्थों को पढ़ तो सकते हैं, तथा बार बार पढ़ कर उनके पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझने का यथामति यत्न भी कर सकते हैं, किन्तु संगीत जैसे गहन विषय को, उन पारिभाषिक शब्दों में सन्निहित निगूढ़ अर्थ को, विषय की क्रियाकुशलता के बिना यथार्थरूप से पठितबुद्धि भी नहीं ग्रहण कर सकती, उसका हल नहीं निकाल सकती और उसके तलस्पर्शी भाव को नहीं ही पा सकती। इसके वास्तविक तथ्य का दर्शन तभी संभव है जब पाण्डित्य के साथ साथ क्रियाकुशलता भी हो। दुर्भाग्य से भारत में जो क्रियाकुशल हैं, वे पाण्डित्य से परे होते हैं और पाण्डित्यप्राप्त जन क्रियाकौशल से अतीत। इसी से संगीत में परंपराप्राप्त सत्य-ज्ञान सन्निकट होने पर भी उससे हम वंचित रह गए हैं और क्रियावान् गायक वादक पाण्डित्य की प्रवंचना से छले गए हैं। पंडित प्रवरों की ओर से संगीतकारों की जो अवहेलना हुई है, उसको देखते हैं, तब हमें मर्मान्तक पीड़ा होती है और संभवतः उसी पीड़ा ने इस ग्रन्थ के लेखन की प्रेरणा दी है। संगीत-विद्या को एक निराधार विधवा मानकर इन पण्डितों ने उस पर बड़े अत्याचार किए हैं और उन पठित वाक्पटुओं ने इसके उद्धार के बहाने शासकों से भी अनाचार करवाए हैं, करवा रहे हैं।

संगीत के सम्बन्ध में ऐसी अनर्गल जल्पना सदा ही और शायद सर्वत्र ही होती आई हैं। इसकी पुष्टि में यहाँ Ritter साहब का वचन उद्धृत करना समुचित होगा। पाश्चात्य संगीत पर लिखने वालों के सम्बन्ध में वे कहते है :—

About none of the other arts has so much nonsense been written as about music. A person scarcely able to distinguish one tone or note from another, one air from another will not hesitate to judge and condemn, fine musical works in a most imperative manner, nay I have seen criticisms, novels and sketches on musical subjects written by persons who could not sing or play a simplest tune and to whom theory was a 'terra incognita'.

"संगीत के संबन्ध में जितना अनर्गल लेखन किया गया है, उतना अन्य किसी कला के संबन्ध में नहीं हुआ है। जो व्यक्ति एक स्वर को दूसरे स्वर से पृथक् समझने में असमर्थ हों, उन्हें भी संगीत की सुन्दर कृतियों के मुन्सफ़ बन बैठने में द्विधा नहीं होती और वे उन पर बड़े दावे के साथ राय देते हैं। इतना ही नहीं, मैंने ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखी हुई संगीत-संबन्धी आलोचनाएँ, उपन्यास, 'स्केच' इत्यादि देखे हैं, जो कि मामूली से मामूली धुन को गा या बजा नहीं सकते, या जिन्हें, संगीत शास्त्र का 'क' 'ख' भी ज्ञात नहीं है।"

भारत में भी यही अनुभव पग-पग पर, हर शहर में और हर महफ़िल में सामने आता है। यह कहते हुए अपार वेदना होती है कि ऐसी महफ़िलों में, जहाँ सचमुच बहुत सुरीला, भावग्राही और रस से आप्लावित संगीत हो रहा हो, वहाँ संगीत के उद्धारक बनकर बैठे हुए 'शास्त्रकार', जिन्हें संगीत में तनिक भी रस नहीं होता, वे ऐसे सरस संगीत को त्यागकर नीरस चर्चा में उलझे रहते हैं और जो सुनना चाहते हैं, उनके लिए शूल बन बैठते हैं। इसका

कारण सम्भवतः यही होगा कि इन शास्त्र-पक्ष वालों को सुर की चोट नहीं लगी होती। जिन्होंने राग का रस चखा तक नहीं होता, उसमें लयलीन होने का जिन्हें सौभाग्य नहीं मिला होता, वैसे ही लोग संगीत की मन्दाकिनी में निमज्जित होना छोड़कर तर्क की शिला पर बैठकर उस बहती सुरसरी में, शुष्क चर्चा द्वारा कंकड़ फेंकने का कार्य करते हैं। ऐसी अवहेलना द्वारा प्रपीड़ित कलाकारों के मुहुर्मुहु अनुरोध ने इस लेखनी को जगाया और उद्यत किया है। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की वाणी में उस लेखनी को प्रार्थना करते हुए मैं कहूँगा :—

निर्द्वन्द्व होकर, कर तुझे करने पड़े प्रस्ताव जो। जग जाएँ तेरी नोक से, सोए हुए हों भाव जो॥

शास्त्र-पक्ष ने कला-पक्ष की उपेक्षा करके तत्त्व की प्राप्ति किये बिना ही 'शास्त्र' का आलेखन किया है। इस प्रकार असमंजस विचारों को लेखबद्ध करके उन्हें शास्त्र का रूप दिया गया है। संगीत-जगत् के इस अनर्थ को दूर करने का, इस ग्रन्थ द्वारा अल्पाधिक यत्न किया गया है। वह सफल है, या असफल, यह कहने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। वह यत्न जैसा भी है, जनता के सामने है। जनता मुन्सफ़ बनकर इसका तौलन करे और निर्णय दे। विद्वज्जन, तपोधन और कलाविज्ञ गुणियों से मैं सानुनय अनुरोध करता हूँ कि वे इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों को हर पहलू से देखें, जांचें और सत्य की कसोटी पर कसकर उनकी परीक्षा और समीक्षा करें।

हम जानते हैं कि पूर्वग्रह से युक्त मानस यथार्थ दर्शन नहीं कर सकता। इसलिए प्रार्थना है कि निष्पक्ष होकर न्याय किया जाए, क्योंकि हम चाहते हैं कि सत्य की ही विजय हो, अनृत की नहीं।

तुलसीदासजी ने अयोध्याकाण्ड के अन्त में एक छन्द में कहा है :—

सियराम प्रेम पियूषपूरण, होत जन्म न भरत को।
मुनिगन अगम यम नियम, शम दम विषम व्रत आचरत को॥
दुख दंभ दारिद दोष दूषण, सुयश मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से शठहि, हठि राम सनमुख करत को॥

तद्वत् इस ग्रन्थ के लेखन के पीछे पूज्यपाद गुरुदेव से लेकर अनेकों स्वजन, मित्र, बन्धु, शिष्य आदि सभी ने मेरे बुद्धि-आत्मा को जागृत करने का यत्न किया है। उन सबसे अधिक, मेरे लेखन-आलस्य को दूर करके, निरन्तर प्रेरणा-शक्ति के रूप में जिसने मुझे उत्तेजित किया, जिसके अभाव में यह ग्रन्थ शायद अक्षर-देह में अवतरित न होता, जिसके लालन-पालन के बिना यदि वह जन्म पाता, तो भी अपुष्ट ही रह जाता, जिस स्नेहमयी वात्सल्यमयी के पुचकार के बिना शायद वह निष्प्रभ रह जाता, उस प्रेरक और उत्तेजक शक्ति का अभिनन्दन किये बिना यह प्राक्कथन पूर्ण नहीं हो सकता। उनका नाम है—डा० कु० प्रेमलता शर्मा एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्य, संगीतालंकार। उनकी प्रतिपल और पग-पग पर प्राप्त साहाय्य से ही यह ग्रन्थ ग्रथित हो सका है।

मेरे यहाँ कई शिष्य-शिष्याएँ आए, सीखे, अपनी-अपनी शक्त्यनुसार पाए और विदा हुए। मेरा उन्हें वात्सल्य और प्यार मिला और उनकी मुझे श्रद्धा और भक्ति मिली। परन्तु उन सब में डा० प्रेमलता शर्मा ही एकमात्र निःस्वार्थ शिष्या भगवान् ने मुझे दी, जिसने मुझ में निहित शक्तियों को पहिचाना और उन्हें प्रकाश में लाने के लिए और अक्षरदेह द्वारा अमर बनाने के लिए, गीता के संयमी के सदृश रात को दिन में और दिन को रात में परिणत किया। कबीर साहब ने ठीक ही कहा है—

सुखिया सब संसार, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर, जागे और रोवे॥

डा० प्रेमलता शर्मा ने उसी प्रकार जागकर और मुझे जगाकर इस कार्य को संपन्न किया है।

यदि संगीत के क्षेत्र में फैला हुआ तमस्, इस ग्रन्थ के द्वारा दूर हो सका तो उसका श्रेय केवल मुझे ही नहीं, डा० प्रेमलता शर्मा को भी होगा। मैं निगूढ़ अन्तःकरण, से उनके अपार श्रम की सार्थकता चाहता हूँ और तज्जन्य श्रेय का उन्हें पूर्ण अधिकार प्रदान करता हूँ।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—इस न्याय से इस ग्रन्थ की छपाई में कई विघ्न आए। गत वर्ष की मेरी दीर्घ अस्वस्थता, इस वर्ष पू० माता की बीमारी और निधन के कारण दो दो बार प्रवास, इत्यादि कारणों से कई बार इस कार्य को बन्द रखना पड़ा और इसके शीघ्र पूर्ण होने में बाधाएँ आती रहीं। संभवतः वह इष्टदेव भगवान राम की ही इच्छा होगी। अब उन्ही की इच्छा के अनुसार, अन्य किसी दिन की बजाय, यह रामनवमी के दिन ही प्रकाशित हो रहा है।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग की बनारस शाखा के व्यवस्थापक श्री अमल कुमार वसु एवं अन्यान्य कर्मचारीगण ने बड़ी सावधानी, परिश्रम और सूक्ष्मता से इस कार्य को निभाया है। एतदर्थ उन सब का मैं नितान्त आभारी हूँ।

काशीस्थित सरस्वती भवन पुस्तकालय एवं विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय के अध्यक्ष, जिन्होंने प्रकाशित ग्रन्थों एवं हस्तलिखित प्रतियों का अवलोकन करने की सुविधा दी है, उनको भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

विक्रम संवत् २०१३
शालिवाहनाब्द १८७८
खिस्ताब्द १९५६
चैत्र शुक्ल नवमी
(रामनवमी)
गुरुवार, ता० १९ एप्रिल
हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी।

निवेदक—
गौरीशङ्करात्मज
ओम्कारनाथ ठाकुर

विस्तृत अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

(पृ० १६-१६)

मङ्गलाचरण

(पृ० १-२)

प्रथम तन्त्री

नाद तत्त्व

(पृ० ३-३५)

नाद परमोपास्य तत्त्व—नाद का द्विधा उपयोग, एक वर्ण रूप, दूसरा स्वर रूप—प्रमुख भारतीय दर्शन-शास्त्रों में नाद का महत्त्व—नाद का सामान्य स्वरूप। **योग-दर्शन और तन्त्र में नाद की चर्चा**—उपाय-स्वरूप और उपेय-स्वरूप नाद—परा-पश्यन्ती-मध्यमा और वैखरी ये चार वाणी के भेद—तन्त्रों के अनुसार सृष्टि तत्त्व में नाद का स्थान—कबीर साहब के नाद सम्बन्धी वचन। **शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध।** वैयाकरण दर्शन के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध—वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त। नैयायिकों और पूर्व मीमांसकों के अनुसार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध। **साहित्य शास्त्रोक्त ध्वनि-सिद्धान्त**—तीन शब्द-शक्तियों और व्यञ्जना की व्याख्या—साहित्य में "ध्वनि" का व्याकरण-दर्शन से ग्रहण—संगीत में शब्द का अर्थबोध हुए बिना ही रस-निष्पत्ति—साहित्य के ध्वनि-सिद्धान्त और संगीत की रसबोधिका शक्ति में परस्पर पूरक भाव। **संगीत के स्वरों और व्याकरण के स्वरों का सम्बन्ध**—'माहेश्वर सूत्र', 'नन्दिकेश्वरकारिका' और 'रुद्रडमरूद्धवसूत्रविवरण' के अनुसार व्याकरण और संगीत के स्वरों का दार्शनिक स्वरूप। संगीत के स्वरों की संख्या और सृष्टि के मूल तत्त्वों की संख्या में संख्या-शास्त्र की दृष्टि से ऐक्य। **नाद का मानव के दैनिक जीवन में प्रभाव और उपयोग**—भगवान् कृष्ण की मुरली की मनमोहकता—मृग और नाग की नाद लुब्धता—आदिवासियों के जीवन में नाद का विविध उपयोग—नाद मात्र की सार्थकता—मानव-शिशु का नाद के प्रति प्रबल आकर्षण। **चिकित्सा-शास्त्र में नाद का उपयोग**—सूर्य की सप्तकिरण, संगीत के सप्तस्वर और मानव शरीर के सप्त धातु का सम्बन्ध—स्वरों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव। वनस्पति-जगत पर संगीत का प्रभाव। दीपक, मल्हार आदि भारतीय रागों के चमत्कार की किंवदन्तियाँ—उन किंवदन्तियों के पीछे क्या वैज्ञानिक तथ्य रहा होगा, उसके अनुसन्धान की आवश्यकता। नाद का जड़ पर प्रभाव। विज्ञान में नाद को महत्त्व देना आवश्यक।

द्वितीय-तन्त्री

श्रुति-स्वर-ग्राम

(पृ० ३६-१०५)

संगीत के शास्त्रकारों द्वारा "नाद" की व्याख्या और उसके भेद। **श्रुति**—"श्रुति" की सामान्य व्याख्या, उसका विविध वर्गीकरण और संख्या-भेद—स्वर-श्रुति और अन्तर-श्रुति—श्रुति आनन्त्य—तीन प्रकार के स्वरान्तर—श्रुति-नाम—श्रुति-जातियाँ—श्रुति-नाम और जाति-नामों की सार्थकता—"रत्नाकर" के अनुसार

प्रत्येक-स्वरकी श्रुतियाँ और श्रुति-जातियाँ—भरतोक्त "आयतत्त्व" और "मार्दव" का स्पष्टीकरण—शिक्षा-ग्रन्थों में श्रुति-जाति का उल्लेख—श्रुति-जातियों का भावाभिव्यक्ति से सम्बन्ध—उच्चार-भेद के साथ श्रुति-जातियों का सम्बन्ध—साहित्य-शास्त्रोक्त तीन गुण—श्री रूपगोस्वामी के वैष्णव रस-शास्त्र में माने हुए द्वादश-रसों के साथ श्रुति-जातियों की भावाभिव्यक्ति का सम्बन्ध—मानव शरीर स्थित बाईस नाड़ियों के साथ श्रुतियों का सम्बन्ध जोड़ने के पीछे योग-क्रिया का कोई तथ्य निहित होने का अनुमान। स्वर—स्वर की व्याख्या—स्वर-श्रुति में भेद—इस सम्बन्ध में मतंगोक्त पाँच विकल्प—स्वर और श्रुति के ऐक्य और भिन्नत्व के सम्बन्ध में सिद्धान्त-पक्ष-स्थापना—प्रथम श्रुति या प्रथम स्वर ? इस प्रश्न की विवेचना। चतुः सारणा—सारण-प्रक्रिया के लिए भारत और मतङ्ग के विधान—"रत्नाकर" के विधान की अस्पष्टता—रत्नाकरोक्त बाईस तन्त्री या तारों के स्थान पर पर्दों को आवश्यकतानुसार खिसकाने अथवा अधिक पर्दे बाँधने का प्रयोग—वीणा पर एक श्रुति का अन्तर नापने की विधि—वीणा पर षड्ज-ग्रामिक स्वरों का स्थान—"शुद्ध षाड्जी" मूर्च्छना-नाम की सार्थकता—चारों सारणाओं में चल और अचल वीणा के संवाद-सम्बन्ध को जाँचने की विधि—चारों सारणाओं द्वारा क्रमशः श्रुतियों की सिद्धि—चतुः सारणाओं का आधार स्वर-संवाद—नव-त्रयोदश-श्रुत्यन्तर का सर्वमान्य संवाद और सप्त-षट्-श्रुत्यन्तर का सूक्ष्म संवाद—प्राचीनों की श्रुतियाँ समप्रमाण की थीं, इस धारणा का निराकरण—भरत की "प्रमाण-श्रुति" का स्पष्टीकरण—"प्रमाण-श्रुति" का गणित मूल्य—भरत की सारणानुसार प्रो० वी० जी० परांजपे के दिये हुए श्रुतियों के गणित-मूल्य का अवतरण—श्रुतियों की समप्रमाणता के लिए शार्ङ्गदेव को आधार माननेवालों की निराधार कल्पना—इस विषय पर प्रो० ललित किशोर सिंह के उद्धरण—कोमालीमा और लघु-अर्द्ध-स्वर—ये तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर और षड्जग्राम में उनका क्रम। ग्राम—ग्राम की सामान्य व्याख्या—षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम का स्वर-संवाद—प्राचीनों ने षड्ज और मध्यम-ये दो ही ग्राम क्यों माने होंगे, पाश्चात्यों के cycle of fifth के आधार पर इसकी विवेचना—गान्धार ग्राम की अस्पष्ट अवस्था—तानपूरे पर षड्ज-ग्राम के स्वरों की प्रायोगिक व्यवस्था—मध्यम ग्राम में पंचम को "एक श्रुति अपकृष्ट" करने की समस्या और तत्सम्बन्धित भ्रान्त धारणाएँ—षड्जग्रामिक पंचम से आरम्भ करने से वीणा पर पूर्ण रूप से मध्यमग्रामिक स्वरों की उपलब्धि—षड्जग्राम के मध्यम से मध्यम ग्राम का आरम्भ करने पर वीणा में वैगुण्य—वीणा की जोड़ की तारों पर से मध्यमग्रामिक स्वरों की व्यवस्था—वीणा पर प्राचीन परम्परा से बँधे हुए पर्दों में सर्वथा अन्तर काकली युक्त स्वर-सप्तक की उपलब्धि—षड्ज-ग्राम के काकली का मध्यम-ग्राम में अन्तर गन्धार और षड्ज-ग्राम के अन्तर गान्धार का मध्यम ग्राम में चतुःश्रुति धैवत का स्थान पाना और तदनुसार षड्ज-ग्राम के षड्ज-पञ्चम भाव का मध्यम-ग्राम में षड्ज-मध्यम-भाव बन जाना—षड्ज-ग्राम के पञ्चम की मूर्च्छना में षड्ज-पञ्चम-संवाद का भंग और वही मध्यम-ग्राम का आरम्भ-स्थान—नंदिकेश्वर के कथन के आधार पर मध्यम-ग्राम की संज्ञा की सार्थकता—तानपूरे पर मध्यमग्रामिक स्वरों की प्रायोगिक व्यवस्था—प्रत्यक्ष प्रयोग के आधार पर स्वर-श्रुति-ग्राम को समझने के लिए निरालस, प्रकृष्ट स्वर-साधना की आवश्यकता।

तृतीय तन्त्री

प्राचीन तथा मध्ययुगीय विकृत-स्वर-व्यवस्था एवं दक्षिणात्य स्वर-सप्तक

(पृ०—१०६-६६)

वैदिक साहित्य में विकृत स्वरों का उल्लेख—गान्धर्व संगीत में सर्वप्रथम "रत्नाकर" में "विकृत" संज्ञा की उपलब्धि—भरत के काल में "स्वरित" की भावना दुर्बल थी, ऐसे अनुमान का उद्धरण—वैदिक संगीत के "उदात्त", "अनुदात्त", और "स्वरित" की व्याख्या—भरत काल में "स्वरित" की भावना हृदीभूत हो चुकी थी, इस सिद्धान्त पक्ष की स्थापना—भरत के "अविलोपी मध्यम" और मतंग के "मध्य-सप्तक" के आधार पर तत्कालीन "स्वरित" की भावना की पुष्टि—भरत या मतंग ने विकृत-स्वरों का निरूपण क्यों नहीं किया होगा, इस सम्बन्ध में अनुमान—

विकृत-स्वरों का पृथक् उल्लेख न रहने पर भी भरत और मतंग के समय में विभिन्न मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त सभी स्वरान्तराओं का मध्य सप्तक में प्रयोग—शार्ङ्गदेव के कहे हुए द्वादश-विकृत-स्वर—उनके कहे हुए षड्ज के च्युतत्व का "षड्ज साधारण" और "मध्यम-साधारण" के आधार पर स्पष्टीकरण—शार्ङ्गदेव के विकृत स्वरों में भरतोक्त अन्तर काकली युक्त द्वैग्रामिक स्वर सप्तक की स्पष्टता मात्र, किसी नवीन स्वरान्तराल की योजना नहीं—शार्ङ्गदेव के ऋषभ-धैवत के अविकृतत्व का स्पष्टीकरण—चतुःश्रुति धैवत की अवस्था। रामामात्य—भरत की श्रुति व्यवस्था का रामामात्य द्वारा आपाततः स्वीकार—वीणा के मेरु पर षड्ज मानने से भरत के षड्जग्रामिक शुद्ध-सप्तक में परिवर्तन—रि-ध के स्थान में अव्यवस्था—'स्वयम्भू स्वरों की व्याख्या—रुद्रवीणा पर तार मिलाने की पद्धति—रत्नाकर-कार ने भी मुक्त-तन्त्री को षड्ज माना होगा, इस शंका का समाधान—मेरु को षड्ज मानने से त्रिश्रुति रि-ध की प्राप्ति असम्भव—द्विश्रुति रि-ध को त्रिश्रुति समझने की भूल—रामामात्य के विकृत-स्वर। सोमनाथ—वीणा पर बाईस तन्त्रियाँ बाँधकर श्रुतियों की सिद्धि—उसमें भी रि-ध के स्थान की अव्यवस्था—सोमनाथ के विकृत स्वर—"पंचश्रुति" और "चतुःश्रुति" संज्ञाओं का असमंजस प्रयोग। पं० व्यंकटमखी—रामामात्य और सोमनाथ की परम्परा का अनुसरण—विकृत स्वरों में अन्तर-काकली के स्थान की अव्यवस्था—व्यंकटमखी की भूल-परम्परा। मुखारी या कनकांगी-मेल की अवैज्ञानिकता—दक्षिणेतर-भारत का संगीत प्राचीन परम्परा से विच्छिन्न है, इस धारणा की निराधारता—भारतीय-संगीत की गायन-शैलियों पर मुस्लिम-प्रभाव का अभाव—कर्णाटकीय शुद्ध सप्तक के सम्बन्ध में उस प्रदेश के विद्वानों का मत। पुण्डरीकविट्ठल—मूलतः कर्णाटक प्रदेशीय होने पर भी इस ग्रन्थकार पर "उत्तर" के संगीत का प्रभाव—पुण्डरीक विट्ठल के तीनों ग्रन्थों में समाविष्ट विकृत-स्वर-व्यवस्था—अट्ठारह श्रुतियों की स्वर-रूपता दिखाने की विशेषता। पं० अहोबल—सत्रहवीं शताब्दी एवं उसके बाद मध्य-युग काल के प्रतिनिधि—वीणा के तार पर स्वर-प्रस्थापना दिखाने की अभिनव-पद्धति—वीणा पर स्वर स्थापना दिखाते समय मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने का स्पष्टीकरण—स्वर-ज्ञान-विहीनों के लिए ही स्वर-स्थापना-विधि का निरूपण—शुद्ध-विकृत-स्वरों का वीणा पर स्थान—रि-ध के स्थान का स्पष्टीकरण—अहोबल के विकृत स्वर—दस विकृत स्वरों को छोड़ कर राग-निरूपण करने का अहोबल का कथन और उसकी अस्पष्टता। मध्य-युग में संगीत-शास्त्र की परिस्थिति का विहंगम-दृष्टि से अवलोकन करते हुए उपसंहार।

चतुर्थ तन्त्री

पं० भातखण्डे के श्रुति-स्वर का आलोचनात्मक अध्ययन

(पृ०—१६७—२००)

प्राचीन ग्रन्थकारों और उनके सिद्धान्तों के प्रति पं० भातखंडे की सामान्य भावना—स्वयं अपने रचित संस्कृत ग्रन्थों का अपने ही मराठी ग्रन्थों में आधार के रूप में उपयोग—प्राचीनोक्त २२ श्रुतियाँ समान अन्तर वाली थीं और व्यवहार में उपयोगी नहीं थीं और न हैं, ऐसी उनकी मान्यता—बारह ही स्वर-स्थापनों पर अपनी संगीत-पद्धति का आधार मानना—प्रत्येक स्वर की पहली श्रुति पर उसका स्थान मानने का अशास्त्रीय विधान—१ या तीव्रा के बजाय ० या क्षोभिणी पर षड्ज मानने से आधुनिक शुद्ध-स्वर-सप्तक की अनायास प्राप्ति—स्वर-संवाद की अनुभूति के बिना कोरे गणित की पंगुता—भरत की प्रमाणश्रुति का विपरीत अर्थ लेकर श्रुतियों की समप्रमाणता मानना—अहोबल के रि-ध के स्थान की खींचातानी में उसके षड्ज-पंचम-भाव के अर्थ का विपर्यास—पाश्चात्य cycle of fifth के साथ भारतीय षड्ज-पंचम-भाव का अनुचित और अवाञ्छनीय गठबन्धन—४०५ कम्पन के धैवत को आधुनिक शुद्ध-स्वर-सप्तक का अंग सिद्ध करने के लिए असमंजस तर्क-परम्परा—पं० भातखंडे के श्रुति-स्वर-सम्बन्धी सिद्धान्तों के निष्कर्ष का उद्धरण—पं० भातखंडे की विचार-सरणी की संक्षिप्त समीक्षा सहित उपसंहार।

पंचम तन्त्री

स्वर-श्रुति का आधुनिक लक्ष्य और गुरुदेव पं० विष्णुदिगम्बरजी की गुरु-परंपरा

(पृ० २०१-२२)

भारतीय संगीत का आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है, इसके चार प्रमाण—१) षड्जग्रामिक मध्यम को षड्ज मानने की भरतोक्त परंपरा। २) इकतारा आदि तन्तुवाद्यों के मुक्त तार के नाद को षड्ज मानने की प्रवृत्ति। ३) वीणादि पर्दों वाले तन्तुवाद्यों पर मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने की प्रवृत्ति। ४) मध्यमग्रामिक निषाद की मूर्च्छना और आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक की एकरूपता। आज के हमारे विकृत स्वर—बाईसों श्रुतियों की स्वर-रूपता और सभी विकृत स्वरों की पृथक्-पृथक् विवेचना—आज के 'ग्राम' में श्रुत्यन्तरों का क्रम और उसके आधार पर बाईसों श्रुतियों की आन्दोलन संख्या—षड्जग्राम और मध्यमग्राम में श्रुत्यन्तरों का क्रम और उनकी आन्दोलन-संख्या—हमारे आधुनिक सप्तक में स्थूल षड्ज-पञ्चम-संवाद और सूक्ष्म षड्जमध्यम-संवाद—इस प्रकार दोनों ग्रामों का संवाद-तत्त्व आधुनिक सप्तक में निहित—अन्य विद्वानों के दिए हुए आन्दोलन प्रमाण—उपसंहार।

षष्ठ तन्त्री

मूर्च्छना-जाति

(पृ० २२३-५७)

'मूर्च्छना' की व्याख्या और 'ग्राम' के साथ उसका आश्रित-भाव-सम्बन्ध—मूर्च्छना मेल का पूर्वरूप—मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त सभी स्वरान्तरालों का प्राचीन 'मध्य सप्तक' में प्रयोग—इस सम्बन्ध में शार्ङ्गदेव के वचनों द्वारा सिद्धान्त पुष्टि—द्वैग्रामिका मूर्च्छनाओं के नाम—गान्धार-ग्राम की अस्पष्टता—षड्जग्रामिक मूर्च्छना-क्रम का उस ग्राम के मध्यम से आरम्भ—'शुद्धषाड्जी' मूर्च्छना का आरम्भस्थान आधुनिक मन्द्र पञ्चम—षड्जग्रामिक मूर्च्छनाओं की स्वरावलियाँ और उनसे आधुनिक रागों का संकेत—मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाओं का क्रम उस ग्राम के मध्यम से आरम्भ—'शुद्धमध्यमा' मूर्च्छना-नाम की सार्थकता—मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाओं की स्वरावलियाँ और उनसे आधुनिक रागों का संकेत—द्वैग्रामिकी चौदहों मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त स्वरान्तरों का एक ही मध्य सप्तक में प्रयोग—द्वैग्रामिकी मूर्च्छनाओं का शुद्धा, सान्तरा, सकाकली, सकाकलन्तरा—इस प्रकार का एक वर्गीकरण—पूर्णा, षाडव, ओडव और साधारणीकृता का दूसरा वर्गीकरण—'स्वर-साधारण-विधि' का स्पष्टीकरण—'गान्धारं धवतीकुर्यात्', और 'गान्धारीकृत्य धवतम्' का स्पष्टीकरण—मध्यम और पञ्चम के बीच स्वर-साधारण क्यों नहीं?—द्वैग्रामिकी मूर्च्छनाओं के ओडव-षाडव प्रकार यानी ८४ मूर्च्छना-तानें—'जाति' के विषय की अवतारणा—जाति—मतंगोक्त जाति की व्याख्या—जाति और मूर्च्छना में अन्तर—जाति और राग का सम्बन्ध—जाति के दश लक्षण और भरत मतंग के आधार पर उनकी व्याख्या—शुद्धा और विकृता जातियाँ—शुद्धा जातियों के लक्षण और उनके अवान्तर विकृत भेद बनाने की विधि—न्यास स्वर में परिवर्तन अशक्य—संसर्गजा विकृता जातियाँ—शुद्धा जातियों के अवान्तर विकृत भेद और संसर्गजा विकृता जातियाँ, इस प्रकार द्विविध विकृतत्व—भरत के कथनानुसार जातियों के स्वर-रूप बनाने का आधार उनका न्यास-स्वर—'रत्नाकर' में दी हुई जातियों की मूर्च्छनाओं की भरत के कथन से असंगति—१८ जातियों के ग्रह,अंश, न्यास, इत्यादि—एक जाति में एक से अधिक ग्रह अथवा अंश के प्रयोग की आधुनिक दृष्टि से संगति—जाति साधारण की व्याख्या और जातियों में प्रयुक्त स्वर-साधारण—जातियों द्वारा रसाभिव्यक्ति—जातियों के स्वर-रूपों को भारत एवं पड़ोसी देशों के लोक-गीतों में अनुसन्धान वाञ्छनीय।

सप्तम तन्त्री

वर्ण, अलङ्कार, तान

(पृ० २५८–७३)

द्विविध वर्ण—(१) नाट्योपयोगी (२) संगीतोपयोगी—दोनों की व्याख्या—संगीतोपयोगी वर्णों का भी रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से समझपूर्वक उपयोग वांछनीय—संगीत में 'काकु' का स्थान—'अलंकार' की व्याख्या—नाट्योपयोगी अलंकार और अंग—'अलंकार' की संगीत में आवश्यकता—यथा-मात्रा और यथा स्थान उनका उपयोग वांछनीय। भरत और मतंग के अलंकारों के लक्षण और स्वर रूप की अस्पष्टता—अस्पष्ट भाषा और भ्रष्ट पाठ के होते हुए भी जिज्ञासुओं के अभ्यासार्थ भरत-मतंगोक्त ३३ अलंकारों के लक्षण और स्वर-रूपका समावेश—शार्ङ्गदेव और अहोबल के अलंकारों के लक्षण और स्वर-रूप भरत-मतंग से भिन्न—शार्ङ्गदेव के ६३ और अहोबल के ६८ अलंकारों के नाम और स्वर-रूप। आज के प्रयोग के कुछ नवीन अलंकार—तान—प्राचीनों ने तान को मूर्च्छना के साथ संबद्ध रखा है—भरत की ८४ मूर्च्छना तानें—'रत्नाकर' और मतंग की तान-संख्या—स्वर-प्रस्तार और गुणन-विधि।

परिशिष्ट—क

प्राकृतिक स्वरों का पशु-पक्षियों के नादों से सम्बन्ध

(पृ० २७४–७५)

परिशिष्ट—ख

स्वरों के रस, वर्ण, देवता इत्यादि

(पृ० २७६)

परिशिष्ट—ग

उद्धृत ग्रन्थों की अकारादि-क्रम से सूची

(पृ० २७७)

———

प्रस्तावना

॥ ॐ ॥ इस ग्रन्थ में कुछ नए सिद्धान्त, जो अधुना प्रचलित सिद्धान्तों से भिन्न हैं, स्थापित किए गए हैं। गत ५० वर्षों में कई लोगों ने संगीत के प्राचीन ग्रन्थों के परिशीलन के निचोड़ के रूप में अपनी-अपनी दृष्ट्यनुसार भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्थापित किये हैं। इस युग में संगीत के ग्रन्थों का अध्ययन-परिशीलन करनेवालों को श्रुति-स्वर-ग्राम—ये तीन विषय विशेषत: दुरूह रहे हैं। उनसे संबन्धित प्रश्नों का जिनसे जैसा हल हो सका, उन्होंने उसे honestly (सचाई से) लेखबद्ध किया और प्रकाशित किया। उन सबके भिन्न-भिन्न यत्न honest (सच्चे) होने पर भी उलझन बनी ही रही, अस्पष्टता दूर न हुई और प्राचीन परंपरा के साथ आज के लक्ष्य का अत्रुटित भाव या अटूट संबन्ध स्थापित न हो सका। इसलिए इस दुरूह मार्ग में प्रवास करते समय हमें भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। प्राचीन ग्रन्थोक्त सिद्धान्त को, उनकी भाषा से समझने का यत्न करने पर भी कई दिक्कतें पेश आईं। जहाँ-जहाँ टीकाएँ उपलब्ध थीं, वहाँ-वहाँ मूल और टीका का सामंजस्य बिठाना कई बार कठिन होता रहा और जहाँ टीकाएँ उपलब्ध नहीं थीं, वहाँ अस्पष्टता बहुत बड़ी मात्रा में बनी रही। अधुना उन ग्रन्थों को समझने के जो नये प्रयत्न हुए हैं, उनमें भी काफ़ी बातें असमंजस और अस्पष्ट रह गई हैं। इस प्रकार उलझते उलझते, सुलझाने का यत्न करते करते, प्रत्येक सिद्धान्त की, प्रत्यक्ष क्रिया में उपयोगिता देखते और जाँचते हुए, बरसों के बाद जो निचोड़ निकल सका है, उसे बुधजनों को निवेदन करने के लिए इस ग्रन्थ में प्रयत्न किया गया हैं।

सर्वप्रथम एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। हमारे सिद्धान्तों का मूल आधार भरत है और उसके पूरक के रूप में हम ने मतंग को ग्रहण किया है। शार्ङ्गदेव का आधार उसी हद तक लिया गया है, जिस हद तक वह भरत की पुष्टि करता है। जहाँ-जहाँ शार्ङ्गदेव के वचनों का, भरत के सिद्धान्त के साथ सामंजस्य नहीं प्रतीत हुआ, वहाँ-वहाँ वह असमंजसता स्पष्ट करके भरत को ही प्रमाण माना है। भरत को यथायथ समझने के लिए हम ने मध्ययुगीय ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। किन्तु उस अध्ययन का निष्कर्ष यही निकला कि प्राय: सभी मध्ययुगीय ग्रन्थकार, भरतोक्त श्रुतिव्यवस्था को हूबहू कायम रखने का आग्रह रखते हुए भी, उसे यथायथ समझने में और अपने 'लक्ष्य' के साथ उसका संबन्ध जोड़ने में असमर्थ रहे हैं। यह परिस्थिति हम ने विस्तार से उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट की है।

यहाँ इस ग्रन्थ के विषय-क्षेत्र की सीमा निर्दर्शित करना भी समुचित होगा। नाद, श्रुति, स्वर, उसके शुद्ध-विकृत प्रकार, ग्राम, मूर्च्छना-जाति और उनके निश्चित स्वर-रूप, वर्ण, अलंकार और तान,—स्वर-सम्बन्धी ये सब विषय इसमें ग्रथित किये गये हैं। यों तो मूर्च्छना और जाति के स्वरों में राग-रूप निहित हैं ही, किन्तु फिर भी इस ग्रन्थ की मर्यादा स्वर-तत्त्व तक ही सीमित रखी गई है। स्वर-शास्त्र का विषय ही इतना विशाल और जटिल है कि उस अकेले के लिए स्वतन्त्र-ग्रन्थ लिखना आवश्यक था। इसलिए राग-तत्त्व का इस ग्रन्थ के द्वितीय-भाग में निरूपण करने का निर्णय किया गया है।

राग-रचना, राग-वर्गीकरण की अब तक प्रचलित पद्धतियों की विवेचना, राग-वर्गीकरण की एक नवीन-पद्धति की सैद्धान्तिक रूप से स्थापना, रागों के स्वर-रूप तथा प्रचलित रागों की व्यक्तिगत-विशेषताएँ इत्यादि विषयों को दूसरे भाग में स्थान दिया जायगा।

स्वर और राग का रस-क्षेत्र इतना विशाल और निगूढ़ है कि उसके लिए भी पृथक् ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता प्रतीत हुई है। इसलिए इस ग्रन्थ का तृतीय भाग उसी विषय के लिए रखा गया है।

इन तीन भागों का यह क्रम इसलिए रखा गया है कि पाठकों को क्रम-विधि से और साथ ही पृथक्-पृथक् रूप से विषय को समझने में सौकर्य हो। विषय के विस्तार को देखते हुए इन तीन भागों का पृथक् प्रकाशन ही समुचित था।

अब हम इस ग्रन्थ में प्रतिपादित कुछेक प्रमुख सिद्धान्तों का विहंगम दृष्टि से अवलोकन कर लें।

संगीत नाद-तत्त्व पर आधारित है और यह नाद आकाश का गुण है। आकाश के सदृश यह नाद-तत्त्व विश्व-व्यापी है। सृष्टि के उद्भव से लेकर मानव की सभी प्रवृत्तियों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। भारत के सभी दर्शन-शास्त्रों और प्रायः सभी उपासना-पद्धतियों में नाद-तत्त्व की परमोच्चता स्वीकार की गई है। इसीलिए संगीत की श्रुति विषयक विवेचना आरम्भ करने के पूर्व नाद-तत्व को विभिन्न दृष्टियों से देखने और दिखाने का यत्न किया गया है।

भरत की श्रुतियाँ नापरहित या प्रमाणरहित हैं, ऐसा जिन्होंने सिद्धान्त बनाया है, उनका इस ग्रन्थ में अकाट्य रूप से खण्डन किया गया है। भरतोक्त चतुःसारणा की प्रक्रिया के अनुसार २२ श्रुतियों की सिद्धि का स्पष्टीकरण करके उसी सारणा के आधार पर कोमा, लीमा और लघु-अर्धस्वर—ये तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर निर्णीत करके षड्जग्राम में उनका क्रम भी दिया गया है, जिसके आधार पर किसी भी 'ग्राम' की श्रुतियों के गणित-मूल्य निकाले जा सकते हैं।

नव-त्रयोदश श्रुत्यन्तरों का संवाद तो सर्वविश्रुत हैं ही, किन्तु इनके अतिरिक्त सप्त और षट्-श्रुत्यन्तर का संवाद भी हमने दिखाया है।

उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

सा	—	गृ	=	षट्श्रुत्यन्तर
सा	—	ग	=	सप्तश्रुत्यन्तर
रि (त्रिश्रुतिक)	—	म	=	षट्श्रुत्यन्तर
रि (द्विश्रुतिक)	—	म	=	सप्तश्रुत्यन्तर
ग	—	प	=	षट्श्रुत्यन्तर
गृ	—	प	=	सप्तश्रुत्यन्तर
म	—	धृ (द्विश्रुति)	=	षट्श्रुत्यन्तर
म	—	ध (त्रिश्रुति)	=	सप्तश्रुत्यन्तर
प	—	नि	=	षट्श्रुत्यन्तर
प	—	नि	=	सप्तश्रुत्यन्तर
ध (त्रिश्रुतिक)	—	सां	=	षट्श्रुत्यन्तर
धृ (द्विश्रुतिक)	—	सां	=	सप्तश्रुत्यन्तर

स्वरों में निहित इन संवादों के आधार पर ही हमने स्थूल मान से एक सप्तक की सभी श्रुतियों का षट्श्रुति और सप्तश्रुति के अन्तर से संवाद दिखाया है।

प्राचीन ग्राम-व्यवस्था अब उठ गई है, और उसका आधुनिक भारतीय संगीत में कोई महत्त्व नहीं है, ऐसा कहनेवालों की मान्यता मूल में ही खोखली है, यह हमारे ग्राम-प्रकरण को देखने से स्पष्ट हो जाएगा। मध्ययुग के कुछ ग्रन्थकारों ने जो यह मान लिया कि मध्यमग्राम का लोप हो गया है और उन्हीं को आधार मान कर आधुनिक ग्रन्थकारों ने उसी मान्यता का जो प्रचार किया है, वह भी कितना निराधार है, यह हमारे निदर्शित मध्यम-ग्राम, उसके स्वर और प्रत्यक्ष प्रचार में उसके प्रयोग को देखने से स्पष्ट हो जाएगा। इन दोनों ग्रामों में निहित संवादान्तर को देखने से यह ज्ञात होगा कि षड्जग्राम में षड्ज-पञ्चम-भाव है और मध्यम-ग्राम में षड्ज-मध्यम-भाव। हमने यह स्पष्टतया दिखाया है कि हम इन दोनों ग्रामों के संवादसिद्ध स्वरों का आज उपयोग करते हैं और इस प्रकार हमारे संगीत में उभय ग्राम जीवित हैं। षड्ज और मध्यमग्राम की स्वरावली निश्चित होने से, उनका वीणा पर या गान-क्रिया में कैसे उपयोग किया जाए, इसे प्रत्यक्ष प्रयोग पूर्वक समझाया गया है और इस प्रकार इन ग्रामों की मूर्च्छनाओं और जातियों के स्वर निश्चित होने से, ग्रामरागों के स्वर-समुदाय भी स्पष्ट हो सकेंगे, तथा उन ग्राम-रागों के साथ आज के हमारे प्रचलित रागों के स्वरों का समन्वय अब हो सकेगा, ऐसी आशा है।

षड्जग्राम में 'शुद्धषाड्जी' मूर्च्छना—उस ग्राम की मूल स्वरावली का आरंभस्थान है, यह स्पष्ट होने से और षड्जग्राम के मध्यम को अविनाशी मानने के भरत के आदेश का हेतु स्पष्ट होने से, यह सिद्ध किया जा सकता है कि

भारतीय संगीत अक्षुण्ण रूप से भरतोक्त है। उससे यह भी प्रस्थापित हो सका है कि प्राचीन पौर्वात्यों और, पाश्चात्यों का प्राकृत स्वर सप्तक आज का हमारा भारतीय शुद्ध स्वर-सप्तक,—एक ही है।

अन्तर-काकलीयुक्त, द्वैग्रामिक मूल स्वरों को ही मुख्य मानने से प्राचीनों ने विकृत स्वरों का पृथक् उल्लेख नहीं किया है, कारण इन्हीं स्वरों की मूर्च्छनाओं से सभी अन्तरालों की उपलब्धि हो जाती है। उन अन्तरालों को दिखाने के लिए ही 'मूर्च्छना' संज्ञा का प्रयोग किया जाता था और उन सब अन्तरालों का मध्य सप्तक में प्रयोग किया जाता था यह इस ग्रन्थ में प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित किया गया है। भरत के 'अविलोपी मध्यम संबन्धी आदेश के साथ आज भी हमारी परिपाटी कैसे अविच्छिन्न रही है, उसका दर्शन भी पाठकों को इस ग्रन्थ में होगा।

जिन्होंने आधुनिक संगीत का लक्ष्य १२ स्वरों पर ही आधारित माना है, उनका मत भ्रान्तिमूलक है, यह हमने आधुनिक गुणीजन-प्रयुक्त लक्ष्य के यथार्थ स्वरों की तालिका देकर स्पष्ट किया है। इस प्रकार बाईसों श्रुतियाँ स्वर-रूप पाकर भिन्न भिन्न रागों में व्यवहृत होती हैं, इस सत्य का भी पाठकों को दर्शन होगा।

हम जानते है कि इस युग के प्रमुख ग्रन्थकार पं० भातखण्डे माने गये हैं और उनका विपुल साहित्य आज पर्याप्त मात्रा में प्रचारित है। यह उल्लेखनीय है कि उनके स्थापित सिद्धान्तों में प्राचीन परंपरा को स्थान नहीं रहा है। उसका कारण यह हो सकता है कि उन्होंने प्राचीन परंपरा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता न मानी हो या प्राचीन ग्रन्थों को देखकर वैसा करना उन्हें असम्भव प्रतीत हुआ हो, अथवा उन ग्रन्थों को श्रद्धापूर्वक समझने के यत्न का अभाव रहा हो, या सबसे पृथक् कोई नया सिद्धान्त स्थापित करने का मोह रहा हो। जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने अपनी निजी पूर्वगृहीत मान्यताओं की नींव पर अपने शास्त्र की इमारत खड़ी की है। परिणामतः लोगों की यह धारणा बन गई कि पं० भातखण्डे ने सभी प्राचीन ग्रन्थों का निचोड़ निकाल कर, आधुनिक लक्ष्य को देखते हुए, जिस सिद्धान्त की स्थापना कर दी है वह 'इति' है और पर्याप्त है। इसलिए अब प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन परिशीलन की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक लक्ष्य को प्राचीन परंपरा के साथ जोड़ने का यत्न भी व्यर्थ है, क्योंकि आधुनिक संगीत उससे बिल्कुल विच्छिन्न हो चुका है। लोगों में ऐसी धारणा का प्रचार पाना नितान्त चिन्त्य है, क्योंकि किसी भी क्षेत्र में प्राचीन परम्परा से विच्छेद मान लेने से उन-उन क्षेत्रों के वे शाश्वत सिद्धान्त, जो कि काल के बन्धन से अतीत हैं, दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। दूसरी ओर पं० भातखण्डे के ग्रन्थों का निरन्तर अध्ययन करने पर भी और उन पर से उत्थित शंकाओं का उन्हीं से समाधान पाने का यत्न करने पर भी, शंकाएँ बनी ही रहीं, बल्कि वृद्धि पाती गईं। ऐसी अवस्था में कोई सत्य का जिज्ञासु ज्ञान की प्राप्ति के लिए एवं सत्य की सिद्धि के लिए यत्नशील बने तो यह स्वाभाविक है। सत्य की खोज करनेवाले जिज्ञासु की मनोवृत्ति से परिचालित होकर ही हमने उनके स्वर-श्रुति-ग्राम-सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करके, उनकी समीक्षा की है। जिस सहानुभूति और सद्भावना से वह समीक्षा की गई है, उसका उतनी ही विशाल दृष्टि से अवलोकन किया जाए और सत्य का पक्ष पुष्ट किया जाए, ऐसा हमारा अनुरोध है।

आज सामान्य रूप से दक्षिण भारत के संगीत को कर्णाटक संगीत कहते हैं और दक्षिणेतर भारत के संगीत को 'उत्तर भारत' का संगीत कहा जाता है। वास्तव में हमारा संगीत भारत के पूर्व, पश्चिम और उत्तर—यहाँ तक कि भारत की सीमा के पार अफ़ग़ानिस्तान बलोचिस्तान और ईरान तक व्याप्त है। दक्षिण में भी हुबली, धारवाड़, कारवाड़ हैदराबाद आदि कर्णाटक प्रदेशों तक वह व्याप्त है। उसे 'उत्तर' का संगीत कहने से उस की व्याप्ति का दर्शन नहीं होता। इसलिए हम ने उसे भारतीय संगीत कहना समुचित माना है।

हम जानते हैं कि कर्णाटक संगीत में कनकांगी मेल को 'आदिमेल' कह कर शुद्ध मेल माना जाता है, जिस का स्वर-रूप इस प्रकार है—सा रे् रे म प ध् ध सां—और इसी को उन्होंने भरतोक्त, रत्नाकरोक्त या प्राचीन शास्त्रोक्त शुद्ध स्वर-सप्तक का रूप कहा है। यह मान्यता दक्षिणेतर भारत में भी कियदंश में प्रचार पा गई है। और साथ ही ऐसी धारणा का भी प्रचार हुआ है कि दक्षिण का संगीत ही प्राचीन परंपरा के साथ संबद्ध है और 'उत्तर' का संगीत उससे

बिल्कुल विच्छिन्न हो चुका है। ये दोनों मान्यताएँ किस प्रकार भ्रान्तिमूलक हैं, इसकी विस्तृत विवेचना तृतीय तन्त्री में की गई है।

शास्त्र-पक्ष को अलग रख कर क्रिया-पक्ष को ही देखा जाए तो कुछ राग-नामों का भेद, उच्चार-भेद और भाषा-भेद के अतिरिक्त, कर्णाटकीय और भारतीय संगीत में कोई विशेष भेद नहीं दिखाई देता। दोनों पद्धतियों के क्रिया-कुशल गुणियों में गुण का पारस्परिक आदान-प्रदान भी होता रहता है। और इस प्रकार दोनों के क्रिया-पक्ष में एकता का दर्शन करना कठिन नहीं है। दोनों के स्वर-सम्बन्धी शास्त्र-पक्ष में एकता लाने की सद्भावना से ही हम ने दाक्षिणात्य स्वर-सप्तक की विवेचना की है। भरतोक्त परम्परा को जैसा हमने समझा और निरूपित किया है, यदि हमारा वह दर्शन दक्षिण-पथ के विद्वानों को यथार्थ प्रतीत हो और वे अपने शास्त्र-पक्ष में उसे स्थान दें तो एक ही प्राकृतिक स्वर-सप्तक को दोनों पद्धतियों में शुद्ध स्वर-सप्तक के रूप में स्वीकार किया जा सकेगा और इस प्रकार ये दोनों पद्धतियाँ एक ही लक्ष्य को देखने वाले वाम-दक्षिण चक्षुओं की भाँति एकानुसन्धानात्मक बन सकेंगी।

जहाँ-जहाँ हमने वीणा शब्द का प्रयोग किया है वहाँ-वहाँ दाक्षिणात्यों की रुद्र-वीणा का अर्थ न लिया जाय। हमारे यहाँ की सितार भी एक प्रकार की वीणा ही है और इसी वीणा के अनेक भेद हमारे यहाँ प्रचारित हैं। 'वीणा' शब्द से, दक्षिणेतर भारत में प्रचलित सितार ही हमें अभिप्रेत है। कुछ लोगों का यह कहना है कि सितार मुसलिम बाजा है किन्तु हमारे शास्त्रग्रन्थों में अनेक प्रकार की वीणाओं का उल्लेख मिलता है। यथा--नारद-वीणा, सरस्वती-वीणा, रुद्र-वीणा, किन्नरी-वीणा, अलाबू-वीणा, विचित्र-वीणा, सप्ततंत्री-वीणा, शततंत्री-वीणा इत्यादि। आधुनिक सितार का इन्हीं वीणा-प्रकारों में से किसी के साथ अवश्य सम्बन्ध रहा होगा। "सप्त तार" "सत्त तार" इस प्रकार अपभ्रंश होते होते "सितार" संज्ञा की आधुनिक रूप बन जाना अस्वाभाविक नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दाक्षिणात्य रुद्र-वीणा और हमारी सितार में तार मिलाने की पद्धति में अथवा पर्दों में कोई भेद नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि दाक्षिणात्य पद्धति में वीणा की बाज की मुक्त तार को षड्ज मानकर व्यवहार किया जाता है और हमारे यहाँ उसे मध्यम माना जाता है। दूसरे, हम लोग वीणा के वाम भाग में वादन क्रिया करते हैं और वे लोग वीणा के दक्षिण भाग में।

इस ग्रन्थ का संस्कृत-भाषा में लिखा हुआ संस्करण तो इसके बाद यथाकाल प्रकाशित किया जायगा, किन्तु संस्कृत-ग्रन्थ के प्रकाशन के पूर्व हमने इस हिन्दी ग्रन्थ का प्रकाशन इसलिए उचित समझा है कि इस युग में राष्ट्र-भाषा के पद को पाई हुई हिन्दी का सभी लोग अभ्यास कर रहे हैं और वे आसानी से इस भाषा में निबद्ध सिद्धान्तों को समझ सकेंगे और जाँच सकेंगे।

शास्त्र-ग्रंथों का अध्ययन करने वाले और सतत परिशीलन द्वारा उसका तत्व निकालने का यत्न करने वाले जिज्ञासुओं के लिए, तद्वत् भारत के क्रिया-कुशल गुणियों के लिए, यह ग्रन्थ उपयोगी होगा ऐसी आशा है। जो क्रिया-कुशल-गुणी "संगीत-शास्त्रकारों" द्वारा अभी तक अवहेलित होते आये हैं, वे भी इस हिन्दी भाषा में निबद्ध श्रुति-स्वर-ग्राम आदि के सिद्धान्तों को स्पष्टतया समझकर यह अनुभूति पा सकेंगे कि वे अपनी क्रिया में जो कुछ कर रहे हैं, उसे शास्त्र का सम्पूर्ण आधार-बल प्राप्त है। हम आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्तों से उन गुणियों की वाणी में बल का संचार होगा, आत्म-विश्वास बढ़ेगा और कोरी शुष्क चर्चा करने वाले "शास्त्रकारों" को वे निरुत्तर कर सकेंगे।

अन्त में हम विश्वासपूर्वक यही कहेंगे कि असत्य को ही तर्क और वकालत की ज़रूरत होती है। जो स्वयं प्रकाशित है, ऐसे सत्य का किसी प्रत्यवाय से आवरण नहीं हो सकता। ॥ॐ॥

लेखक

मङ्गलाचरण

ओङ्कारपञ्जरशुकीमुपनिषदुद्यानकेलिकलकण्ठीम् ।
आगमविपिनमयूरीमार्यामन्तर्विभावये गौरीम् ॥
सरिगमपधनिरतान्तां वीणासंक्रान्तकान्तहस्तान्ताम् ।
शान्तां मृदुलस्वान्तां कुचभरतान्तां नमामि शिवकान्ताम् ॥

दयमानदीर्घनयनां देशिकरूपेण दर्शिताभ्युदयाम् । वामकुचनिहितवीणां वरदां संगीतमातृकां वन्दे ॥
गणानां त्वा गणपतिं हवामहे । प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे ॥ निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ॥
ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पंकजे, सूरीणामनुरञ्जकः श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते ।
यस्माद् ग्रामविभागवर्णरचनाऽलंकारजातिक्रमो, वन्दे नादतनुं तमुद्धरञ्जगद्गीतं मुदे शंकरम् ॥
यस्य सर्वे समारम्भाः संगीतोद्धारहेतवे । तस्मै दिगम्बरांशाय विष्णवे गुरवे नमः ॥
प्रणम्य शिरसा देवौ सरस्वतिविनायकौ । विचिन्त्य मनसा रामं कर्तव्यं कर्तुमारभे ॥

अब मैं उन पारगामी महर्षियों, पूर्वाचार्यों और विद्वानों से सानुनय याचना करता हूँ कि वे मुझ मूढ़ को प्रज्ञा दें, मूक को वाचा दें और निर्बल को बल दें जिससे मैं इस अपार नाद समुद्र में अल्प सन्तरण कर सकूँ।

सदाशिवः शिवा ब्रह्मा भरतः कश्यपो मुनिः । मतङ्गो याष्टिको दुर्गा शक्तिः शार्दूलकोहलौ ॥
विशाखिलो दत्तिलश्च कम्बलोऽश्वतरस्तथा । वायुर्विश्वावसू रम्भाऽर्जुनो नारदतुम्बरु ॥
आञ्जनेयो मातृगुप्तो रावणो नन्दिकेश्वरः । स्वातिर्गणो विन्दुराजः क्षेत्रराजश्च राहलः ॥
रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा । परमर्दी च सोमेशो जगदेकमहीपतिः ॥
व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकः । भट्टामिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरः परः ॥

इसके अतिरिक्त शार्ङ्गदेव, सोमनाथ, पुंडरीकविट्ठल, लोचन, अहोबल, हृदयनारायणदेव, श्रीकंठ, रामामात्य, पार्श्वदेव, श्रीनिवास, तुलजाधिप, रघुनाथ, व्यंकटमखी आदिक सभी पंडित प्रवरों की भी मैं विनीत वन्दना करता हूँ, जिन्होंने संगीत कला और शास्त्र के सरोवर में विकसित कमलों का स्वशक्त्यनुसार संचयन किया है। जिनके उस प्रगल्भ प्रयास से इस तिमिर युग में हमें नया दर्शन एवं नया प्रकाश मिला है, उन पूर्वाचार्यों के ऋण से हम कैसे उऋण हो सकते हैं ?

इन पूर्वाचार्यों के साथ-साथ मैं उनकी भी विशुद्ध अन्तःकरण से भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ, जिन्होंने इस अपार संगीत सागर में डुबकी लगाकर इस अगाध रत्नाकर से श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना, जाति, राग, रस, वर्ण, अलंकार आदि कई रत्नों की खोज की है। ऐसे इस युग के तपस्वी महाजन पं० कृष्णानंद व्यास, पं० आदित्य राम, श्री सुरेन्द्र मोहन टागोर, श्री डाह्याभाई शिवलाल, पं० विष्णु शर्मा भातखंडे, पं० गं० भी० आचरेकर, मि० क्लेमेंन्ट, मि० पोपले, मि० फॉक्स स्ट्रेंग्वेज आदि इस युग के सभी ग्रन्थकारों, लेखकों, व्याख्याताओं एवं प्रकाशकों के परिश्रम की मैं नितान्त सराहना करता हूँ, क्योंकि उन्हीं के प्रकाशन से मैं इस ग्रन्थ के लेखन के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

स्वामी श्रीहरिदासजी, गानयोगी नायक बैजूबावरा; दिगंत कीर्तिवन्त श्री तन्ना मिश्र तानसेन, सदारंग, अदारंग, मनरंग, हररंग, शोरी मियां, एवं स्वामी श्री त्यागराज आदिक पाषाण को पिघलानेवाले

भक्त कलाविदों के पाद पद्मों का पराग मेरा मनमिलिन्द सदा ही पीता रहे, ऐसी मैं उन आचार्य कलात्माओं से सानुरोध प्रार्थना करता हूँ।

जिनकी ज्ञान-परंपरा और गायन शैली के कुछ कण मुझे प्राप्त हुए हैं, ऐसे खाँ साहब हद्दूखाँ, हस्सूखाँ, पूज्यपाद गुरुचरण वासुदेवराज जोशी, देवजी बुवा, दादागुरु श्रीबालकृष्णबुवा, औलिया उस्ताद रहमतखाँ साहब आदिक गुरुप्रवरों की चरण धूलि मेरे मन-मुकुर को मलरहित करे और बुद्धि दृष्टि को निर्मल करे, जिससे उनके परम्पराप्राप्त ज्ञान को जनहितार्थ मैं प्रकाशित कर सकूँ।

परमपावनी यह संगीत कला जो कालवश, संयोगवश, परिस्थितिवश एवं संगदोषवश अनादृत और तिरस्कृत हो गई थी, उस आर्यसंगीत का पुनरुद्धार करने की जिनकी प्रबल आकांक्षा जीवन के संकल्प में परिणत हुई, और उस शिव संकल्प की सिद्धि के लिए जिन्होंने तन, मन, धन, आत्मा एवं जीवन के सर्वस्व का उत्सर्ग किया, विद्यार्थियों का पुत्रवत् पालन करके जिन्होंने मुझ जैसे लोहे को कञ्चन बनाया, ऐसे उन पारसमणि गुरुदेव संगीतावतार पं० विष्णुदिगम्बरजी पलुस्कर की मैं कृपाशीष की याचना करता हूँ, क्योंकि इस ग्रन्थ की परिपूर्णता के लिये वही मेरा एकमात्र सम्बल है।

जिनकी प्रणवोपासना ने मुझे जन्म दिया, जिनकी योगशक्ति ने मुझ निरक्षर को साक्षर बनाया, जिन्होंने महासमाधि द्वारा ब्रह्मलीन होने के कुछ ही क्षण पूर्व मेरी जिह्वा पर वाग्देवता को अधिष्ठित किया, जिससे कि स्वर और शब्द के निगूढ़ अर्थ—भावों का मुझे प्रकाश हुआ, अपने उन प्रातःस्मरणीय पितृचरण श्रीगौरीशंकर ठाकुर की मैं मुहुर्मुहु वन्दना करता हूँ, जिनके पुनीत आशीर्वाद से ही यह कार्य पूर्ण होगा।

इस ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इन ऋषिचरण, आचार्यचरण, गुरुचरण और पितृचरण की वन्दना के बाद उन प्रियजनों का, प्रिय छात्र छात्राओं का और आत्मीय सुहृद मित्रों का भी मैं पुनः पुनः स्मरण करता हूँ जो मुझे इस कर्त्तव्यपालन की ओर बारबार प्रेरित करते रहे, घड़ी घड़ी जगाते रहे और "कब सुमरोगे राम ?" के सदृश "कब लिखेगे ग्रन्थ ?" का उलाहना देते रहे। जिनके सतत स्नेह भरे उपालम्भ ने हमारी लेखनी को जागृत किया और संचालित किया, वे भला कभी भूले जा सकते हैं ?

हृदय की गहराई से मैं उन सबका भी परम आभारी हूँ, जिन्होंने निन्दक के रूप में मेरी प्रसुप्त शक्तियों को जागृत किया और धारावाही निन्दा से सदैव उत्तेजित रखा। मैं उनके उपकार कैसे धो सकता हूँ ? उनके बिना मुझसे इस परम कर्त्तव्य के लिए शिव संकल्प कौन कराता ? सचमुच मैं उनका नितान्त ऋणी हूँ और सदैव रहूँगा।

"देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व। बन्दौं किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व॥"

सफल या असफल, सदोष या निर्दोष सभी प्रयत्नों की गुणिजन प्रशंसा करते हैं। मैं नितान्त विनीत भाव से गोस्वामी श्री तुलसीदासजी की वाणी में गा उठता हूँ:—

"जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार। संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥"

—: प्रणव भारती :—

प्रथम तन्त्री

नाद-तत्त्व

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना । नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥
नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ॥

जो समस्त संसार का चैतन्य है, जो अद्वितीय और आनन्दमय है, जो विश्वरूप में विवृत्त है, जिसकी पंच प्राणों ने, षट्दर्शन ने, सप्तलोक ने, अष्ट वसु ने, नव निधि ने, दश इन्द्रियों ने, एकादश रुद्रने, द्वादश आदित्यों ने, इन्द्र, वरुण और मरुत ने, विश्व के आदि, मध्य और अन्त ने सर्वदा ही उपासना की है, हम भी उस महत् नाद की आज उपासना करते हैं। क्योंकि इस ग्रन्थ की मंगल परिपूर्णता उस नादब्रह्म की कल्याणमयी दया पर ही अवलम्बित है। उस नाद रूप ब्रह्म से हम सानुनय एवं सविनय प्रार्थना करते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, आत्मा से उसी सत्य, शिव और सुन्दर का आलेखन हो, जो 'निहअक्षर' से आविर्भूत होकर अक्षर और क्षर में विस्तार पाया है।

जब-जब जहाँ-जहाँ जिस-जिस ने संगीत के इस परम तत्त्व के अपनाया, वे अपने मन, बुद्धि और आत्मा को भावसमाधि में लीन कर गए और सहज ही में इस भवाम्भोधि से पार हो गए। इस मार्ग के सभी पथिकों को हमारे कोटि-कोटि वन्दन हैं।

वेद, उपनिषद्, योगदर्शन, व्याकरण और अध्यात्मविद्या – आर्यसंस्कृति के इन आद्य ज्ञान-ग्रन्थों और शास्त्रों में नाद को अपार महत्त्व दिया गया है। हृदय का उद्रेक, भाव की संवेदना, ज्ञान का भाण्डार और विचार की शक्ति—इन सब की अभिव्यक्ति वाणी के द्वारा ही होती है। वह वाणी स्वरमयी एवं शब्दमयी है और वह स्वर तथा शब्द नाद के अधीन हैं। इसी से कहा है :—

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः । वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमिदं जगत् ॥
(संगीत दर्पण १ । १४)

अर्थात्—नाद से वर्ण की, वर्ण से पद की और पद से वाणी की अभिव्यक्ति होती है। वाणी से ही यह सब व्यवहार चलता है। अतः यह सम्पूर्ण जगत् नाद के अधीन है।

ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो बिना शब्द के प्राप्त हो सके। ज्ञानमात्र शब्द से ही अनुविद्ध है। इसी से शब्द को ब्रह्म कहा है। शब्द ही इहलोक और परलोक का आधार है। यथार्थ ही कहा गया है :—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
[वाक्यपदीय १ । १२४]

यह समस्त ब्रह्माण्ड विधाता की विचारशक्ति या इच्छाशक्ति का ही दृश्य रूप है। वास्तव में नाद ही, शब्द ही, इस दिव्य कल्पना का, इस संसार के जन्म का आदिकारण है। वेद भगवान् इस सत्य की साक्षी देते हैं :—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत। स सर्वमसृतं यच्च मर्त्यमिति श्रुतिः॥

अर्थात्—वाणी से ही यह सारा विश्व उत्पन्न हुआ है। ये समस्त भुवन गिरा से ही जन्म पाये हैं। इस अमर और मर्त्य संसार की जनयिता वाणी ही है। इसी से इस संसार को नाद या शब्द का परिणाम कहा गया है। यथा :—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।

अर्थात्—आम्नाय (वेद) के ज्ञाता जानते हैं कि यह जगत् शब्द का, नाद का ही परिणाम है।

जीव-ब्रह्म अपनी अभिव्यक्ति के लिये, अपने अनुभव और अपनी विचारशक्ति के प्रकटीकरण के लिए, नाद का द्विधा उपयोग करता है—एक वर्णरूप, दूसरा स्वररूप। वर्णरूप नाद के सम्बन्ध में व्याकरण-शास्त्र, न्याय और पूर्वमीमांसा में निगूढ़ और विशद चर्चा की गई है। स्वररूप नाद की विवेचना संगीत-शास्त्र का तो निजी विषय है ही, उसके अतिरिक्त कुछ अंशों में साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि-सिद्धान्त में भी इसकी चर्चा पाई जाती है। नाद-तत्त्व की अध्यात्मविषयक विवेचना तन्त्र, मन्त्र-शास्त्र, योगमार्गीय ग्रन्थों और मध्ययुगीय सन्तों की वाणी में उपलब्ध होती है। भारतीय दर्शन एवं विविध शास्त्रों में नाद-तत्त्व की इतने विभिन्न पहलुओं से और इतने सूक्ष्म एवं निगूढ़ रूप से विवेचना की गई है कि उसके किसी एक अंश का ही अध्ययन ग्रन्थ का स्वतन्त्र विषय बन सकता है। यहाँ हम मात्र इसके कुछ विशिष्ट पहलुओं का ही अल्प एवं संक्षिप्त दिग्दर्शन कर सकेंगे, क्योंकि इस विशाल विषय की विशद विवेचना का यहाँ अवकाश नहीं है। हमें आशा है कि इतने पर से ही नाद-सम्बन्धी भारतीय विचारधारा की गहनता और विशालता की कुछ कल्पना आ सकेगी, जो इस विषय में अश्रद्धा रखने वाली बुद्धि में श्रद्धा उत्पन्न करने में सहायक होगी।

नाद के उपर्युक्त दोनों रूप अर्थात् वर्ण और स्वर, सुनने में भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये दोनों अभिन्न हैं, कारण दोनों का आधार एक है। भाव या विचार के निदर्शन के लिये दोनों नाद के ही आश्रित हैं। किन्तु ये दोनों प्रकार नादाश्रित होते हुए भी, नाद के तरंग की या ध्वनि के स्पन्दन की जो भिन्न भिन्न विशेषताएँ हैं, उनका विभिन्न रूप से इन दोनों (वर्ण और स्वर) द्वारा उपयोग होने के कारण ही, शब्द और स्वर के मार्ग भिन्न भिन्न माने गए हैं।

इस युग के कुछ विद्वान् शब्द या स्वर, नाद या ध्वनि के सम्बन्ध में निगूढ़ विचार करने की आवश्यकता नहीं मानते। इसी से उनके सामने शब्द और स्वर का रहस्य मुहरबन्द रहता है। संभवतः इस रहस्य को न समझने के कारण ही कुछ आधुनिक विद्वान् प्राचीन महर्षियों के इस ज्ञान को कपोल-कल्पना कह कर छोड़ देते हैं। प्राचीन शास्त्रोक्त स्वर-वर्णों के देवता, उनके जन्मस्थान, उनके रूप-रंगादिक विवरण को वे लोग ज्ञान की कक्षा में विचारणीय नहीं गिनते। किन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि इन रहस्यों का गंभीर अवलोकन उन्हें यह मानने के लिए बाध्य करेगा कि प्राचीन आचार्यों की ये सब केवल कोरी कल्पनाएँ नहीं हैं, वरंच उनकी विचार-सरणी संसार के गूढ़ तत्त्व को प्रकट करने वाली और उसे सरलता से समझाने वाली श्रेष्ठतम पथ-प्रदर्शिका है।

नाद के आधार को और उसके निगूढ़ कार्य को समझने से विचारशक्ति का एक महान् तत्त्व खुल जाता है और उसके खुल जाने से दृश्य अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का रहस्य स्पष्ट हो जाता हैं।

शब्द और स्वर के, व्याकरण और संगीत के समन्वयजात रहस्यों के प्रकटीकरण के लिये ही गान्धर्ववेद का प्रादुर्भाव हुआ था। किन्तु आज गान्धर्ववेद अप्राप्य है। असंस्कारी या कुसंस्कारी मानव-जाति के आक्रमण से वह विलुप्त अथवा नष्ट हुआ है। फिर भी व्याकरण और संगीत के उपलब्ध ग्रन्थों में नाद और ध्वनि के विषय पर जो कुछ संप्राप्त है, उससे विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि एतद्विषयक सिद्धान्त समझने के लिये अभी भी अबाधित विशाल मार्ग खुला है।

इस सम्बन्ध में प्राचीन विचारधारा का अल्पाधिक अवलोकन करने के पूर्व 'नाद' का सामान्य स्वरूप जान लेना समुचित होगा।

नाद को ब्रह्म का रूप माना है। योगी और महर्षियों ने उसे निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप कहा है। परात्पर ब्रह्म की अनुभूति प्रणव की साधना से अथवा नाद की उपासना से ही सिद्ध होती है। ब्रह्माण्ड में आकाश और नाद ये दो ही तत्त्व ऐसे हैं, जो विश्वव्यापी हैं, जो सर्वव्यापी हैं। 'शब्दगुणमाकाशं' इस वचन से यह सिद्ध है। शब्द या नाद आकाश का गुण होने से आकाश के सदृश सारे जगत् में व्याप्त है।

'नाद' शब्द की सामान्यतः 'नद्' धातु से व्युत्पत्ति की जाती है, जिसका अर्थ होता है अव्यक्त ध्वनि। इस अव्यक्त ध्वनि के ही व्यक्त रूप हैं वर्ण, पद, वाक्य, स्वर इत्यादि। इसकी उत्पत्ति प्राण तत्त्व एवं अग्नि तत्त्व के संयोग से होती है। यथा—

"नकारः प्राणवीजः स्यात् दकारो वन्हिरुच्यते"

इस 'नाद' के दो भेद माने गए हैं—एक आहत और दूसरा अनाहत। यथा—

अनाहतो हतश्चैव स नादो द्विविधो मतः।

(संगीत मकरन्द)

आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते।

(संगीत दर्पण)

अनाहत नाद के लिये ग्रन्थकारों ने कहा है :—

आकाशसंभवो नादो यः सोऽनाहतसंज्ञितः। तस्मिन्नाहते नादे विरामं प्राप्यः देवताः॥
योगिनोऽपि महात्मानस्तदाऽनाहतसंज्ञकः। मनो निक्षिप्य संयाति मुक्तिं प्रयतमानसाः।

(संगीत मकरन्द)

".....तयोः अनाहतस्य गुरूपदिष्टमार्गेण योगीजनमात्र उपास्यत्वेन....."

(संगीत सारामृत)

अनाहतो योगिभिरेव गम्यः।

(संगीत सुधा)

अर्थात्—वह अनाहत नाद बिना आघात के ही उत्पन्न होता है। उसे केवल योगीजन ही सुनते हैं, समझते हैं और उस के द्वारा मुक्ति पाते हैं। मन बुद्धि की साम्यावस्था में अर्थात् स्थितप्रज्ञ की स्थिति मे ही वह सुना जाता है। यौगिक क्रियाओं से मन बुद्धि एक विशेष अवस्था में पहुँचते हैं। तभी वह अनाहत नाद ध्यानस्थों को श्रुतिगोचर होता है। उसी नाद में निमग्न होकर योगीजन ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं।

योगियों का मार्ग आसि की धार है। इस तलवार की धार से कहीं भी फिसले कि प्राणसंकट अवश्यम्भावी है। उस कुलिशकठोर व्रत को कोई ही आचरण में रख सकता है और आचरण में रख कर भी विरले ही सिद्धि को पाते हैं। इसीसे भगवद्भक्तों ने भक्ति का सरल मार्ग अपनाया है। किन्तु इन भक्तों

ने भी नाद का सहारा लिया ही है। अपनी साधना पद्धति में उन्होंने भले ही कुछ भिन्न रूप से उस नाद का उपयोग किया हो, किन्तु उसके सहारे ही वे मुक्ति को पाए हैं। मन इतना चंचल है कि उसकी स्थिरता असंभव सी मानी है। हवा को बाँधा नहीं जाता, और मन को पकड़ा नहीं जाता। मनोनिग्रह के लिये योगियों के परमोपाय और सतत अभ्यास भी कभी कभी निष्फल जाते देखे गए हैं। किन्तु आहत नाद का यानी संगीत का अवलम्बन करने से चित्तवृत्ति का निरोध अपने आप सहज ही में हो जाता है। जैसे मुँह में सत्तू भरना और साथ ही हँसना असंभव है, तद्वत् गाना और मन का भटकना असंभव है। इतना ही नहीं, इस आहत नाद के यानी संगीत के वक्ता और श्रोता दोनों एक साथ एक रूप हो जाते हैं। मन और बुद्धि अपने आप उस नाद में, उस संगीत में, उन स्वरालापों में लीन हो जाते हैं।

ऐसी अवस्था में केवल उपासक और उपास्य यही दो रह जाते हैं और वह द्वैत भी स्वर की समाधि में अद्वैत हो जाता है और साधक सहज ही में सायुज्य मुक्ति को पा लेता है। 'प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाय'—ऐसा जो कहा है, वह इसी अवस्था के लिये कहा गया है। संगीत के द्वारा संप्राप्त यह सविकल्प समाधि निर्विकल्प समाधि में परिणत हो जाती है। संगीत के इस आहत नाद की ऐसी अपार महिमा है। इसी से विश्व के सभी धर्मों ने, सभी भक्तजनों ने, सभी उपासकों ने उस मनरंजक, जनरंजक, भवभंजक और आत्मनिमज्जक संगीत की शरण ली हैं; जो सुखप्रद और आनन्दप्रद है, इन्द्रियगोचर होते हुए भी जो इन्द्रियातीत है।

अब हमें अपने प्राचीनों की नाद-विषयक विशिष्ट विचारधारा का दिग्दर्शन करने के लिये भारतीय दर्शन की निम्नलिखित शाखाओं का अल्प परिचय पा लेना समुचित होगा।

१—योग दर्शन और तन्त्र।

२—वैय्याकरण दर्शन और उस पर आधारित साहित्य-शास्त्र का ध्वनि सिद्धान्त।

३—न्याय मीमांसा दर्शन।

योग-साधना और तान्त्रिक सिद्धान्तों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है अतएव इन दोनों का यहाँ एक साथ उल्लेख किया जा रहा है।

योग साधना में नाद को विशेष महत्त्व दिया गया है। नादानुसन्धान ही उस साधना का मूल है। निम्नोद्धृत शास्त्र-वचन इस कथन की पुष्टि करेंगे :—

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा। नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

[वराहोपनिषत् ३।८३]

अर्थात्—योग-साम्राज्य (सिद्धि) की जिसे इच्छा हो उसे अन्य प्रकार के सभी चिन्तन छोड़कर अवधानयुक्त चित्त से 'नाद' का ही अनुसन्धान करना चाहिये।

नास्ति नादात्परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः। नानुसन्धेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम्॥

(योगशिखोपनिषत् २।२०)

अर्थात्—नाद से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है, अपनी आत्मा से बड़ा कोई देव नहीं है, नादानुसन्धान से बड़ी कोई पूजा नहीं है और तृप्ति से बड़ा कोई सुख नहीं है।

मानसो हंसः सोऽहं हंस इति तन्मयं यज्ञो नादानुसन्धानम्।

(पाशुपतब्रह्मोपनिषत् पूर्वकाण्ड १२)

अर्थात्—'जो तू है सो ही मैं हूँ, जो मैं हूँ सो ही तू है'—इस प्रकार की अभेद-भावना ही नादानुसन्धान-रूपी-यज्ञ है।

योगीजन सिद्धि-प्राप्ति के लिये अपार कष्टों को सहकर अनेक कठोर साधनाएँ साधते हैं और जगत् के सभी सुखों का परित्याग करते हुए इस अनाहत नाद की लौ लगाते हैं।

योग-साधना में नाद की इस परम महत्ता को देखते हुए, योग-सिद्धान्त का संगीतशास्त्र के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है, इसकी सहज ही प्रतीति होगी। हाँ दोनों में एक स्थूल अन्तर अवश्य है। और वह यह कि योग में केवल अनाहत नाद उपास्य है, और संगीत में केवल आहत नाद का उपयोग होता है।

योग-दर्शन के पूरे सिद्धान्तों के ब्योरे में न जाकर, उस साधना में नाद-तत्त्व का क्या महत्त्व है, केवल इसी विषय का हम यहाँ अल्प दर्शन करें।

योग-साधना का मूल उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना है, उसे ऊर्ध्वमुखी बनाना है। जीव की बद्धावस्था में यह कुण्डलिनी अधोमुखी रहती है। साधना द्वारा उद्बुद्ध होकर जब वह ऊर्ध्वगामी बनती है, तब सुषुम्ना का पथ खुल जाता है। सुषुम्ना का द्वार खुलते ही योगी को अनाहत नाद की ध्वनि सुनाई देने लगती है। बुधजन जानते हैं कि बद्ध जीवों का श्वास-प्रश्वास प्रायः इड़ा पिंगला के मार्ग से ही चलता है। सुषुम्ना का पथ प्रायः बन्द रहता है। इस पथ के उन्मुक्त होते ही प्राण स्थिर होकर निरन्तर उस अनाहत नाद को सुनने लगता है। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह 'बिन्दु' तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान, और क्रिया। अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद का व्यष्टि में अभिव्यक्त होने वाला रूप ही 'नाद' या 'बिन्दु' कहलाता है। अर्थात् जो 'नाद' अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है, उसी की, व्यष्टि रूप में, जब व्यक्ति को अनुभूति होती है, तब उसे नाद या बिन्दु कहते हैं।*

'नाद' और 'बिन्दु' तत्वतः एक ही है, इस सम्बन्ध में कहा गया है—"**यो वै नादः स वै बिन्दुः**" जो नाद है वही बिन्दु है।

योग-साधना में 'नाद' के दो रूप माने गए हैं—एक **उपायस्वरूप** और दूसरा **उपेयस्वरूप**। उपाय-स्वरूप 'नाद' की अनुभूति साधकावस्था में होती है और उपेयस्वरूप 'नाद' (ॐकार) की अनुभूति सिद्धिलाभ के अवसर पर एवं तदनन्तर होती है।

साधकावस्था में जिस उपायस्वरूप नाद की अनुभूति होती है, उसके सम्बन्ध में नादबिन्दूपनिषत् के निम्नोद्धृत श्लोकों से विशद स्पष्टीकरण होगा :—

सिद्धासनस्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्। शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्। वर्धमानस्तथाऽभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः। मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टा काहलजस्तथा॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणा भ्रमरनिस्वनः। इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥

---

* पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' पृ० ४६ पर आधारित।

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ। तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने। रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत्॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः। तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते॥
विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः। एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते॥
उदासीनस्ततो भूत्वा सदाऽभ्यासेन संयमी। उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत्॥
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः। नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते॥
मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान् नापेक्षते यथा। नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षते॥
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलम्। नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमम्॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति। मनोन्मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः॥

[नादबिन्दूपनिषत् ३६-४६]

ऊपर उद्धृत श्लोकों का भावार्थ यही है कि मन को विषयों से विमुख करा के परतत्त्व में लीन करने के लिये 'नाद' में महान् शक्ति निहित है। अतः साधक को अभ्यास द्वारा अपने भीतर से समुत्थित 'नाद' को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। साधना की उन्नति के साथ साथ क्रमशः स्थूल से सूक्ष्मतर 'नाद' श्रवणगोचर होता है। साधना की प्रथमावस्था में स्थूल नाद सुनाई देता है, जिसका स्वरूप समुद्र-गर्जन, भेरी, निर्झरादि की ध्वनि के सदृश होता है। द्वितीयावस्था में घण्टा, मर्दल आदि की ध्वनि के सदृश नाद सुनाई देता है और चरमावस्था में किङ्किणी, वंशी, वीणा आदि की ध्वनि के सदृश नाद श्रवणगोचर होता है। इस प्रकार 'नाद' सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है। साधना की परिपक्वता जब तक नहीं होती, तब तक चित्त कभी स्थूल नाद में और कभी सूक्ष्म नाद में इधर-उधर रमता रहता है। साधक को सूक्ष्म-सूक्ष्मतर नाद में ही चित्त लगाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। 'नाद' पर मन को स्थिर करने से ही वह मन लीन हो जाएगा। संपूर्ण बाह्य जगत् मानो है ही नहीं, इस प्रकार उसे भूल कर मन 'नाद' में ऐसा एकरूप हो जायगा, जैसे दूध में पानी। और ऐसी एकरूपता के पश्चात् ही मन चिदाकाश में विलीन हो जाता है। जैसे भ्रमर को मकरन्द या पराग का पान करते समय गन्ध का ध्यान नहीं रहता है, उसी प्रकार नादासक्त चित्त विषय की कामना नहीं करता। विषयरूपी उद्यान में विचरण करनेवाले मनरूपी उन्मत्त गजेन्द्र को वश में करने के लिये वह नाद अंकुश की भाँति पूर्ण समर्थ है।

यह उपायस्वरूप 'नाद' की व्याख्या हुई। अब हम अल्प में उपेयस्वरूप 'नाद' समझ लें। उसके सम्बन्ध में नादबिन्दूपनिषत् में यों कहा है :—

ब्रह्मप्रणवसंलग्नो नादो ज्योतिर्मयात्मकः॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्। तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीर्यते। नादो यावन्मनस्तावन्नादान्ते तु मनोन्मनी॥
सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्। सदा नादानुसन्धानात्क्षीणा वासना भवेत्॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः। नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च॥
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके। सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः। शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन॥

(नादबिन्दूपनिषत् ४६-५२)

अर्थात्—प्रणवब्रह्म से संलग्न नाद ज्योतिर्मय होता है। उसमें मन लय हो जाता है। वही विष्णु का परम पद है। 'शब्द' से परे शब्दातीत अर्थात् निःशब्द अवस्था में परब्रह्म परमात्मा की स्थिति है।[१] जब तक 'नाद' (पूर्वकथित उपायस्वरूप नाद) है, तब तक मन है। 'नाद' के अन्त में मन की 'उन्मनी' अवस्था आती है। निरन्तर 'नादानुसन्धान' से वासना क्षीण हो जाती है। और 'निरञ्जन' में मन और प्राणवायु लीन हो जाते हैं। (उपेयस्वरूप) 'ब्रह्म-प्रवण-नाद' में कोटि सहस्र (पूर्वकथित उपायस्वरूप) नाद और कोटि शत बिन्दु लय को प्राप्त हो जाते हैं। सब अवस्थाओं से मुक्त और सब चिन्ताओं से रहित होकर वह सिद्धिप्राप्त योगी मृतवत् रह कर भी अमरत्व को पा जाता है। फिर उसे शङ्ख, दुन्दुभि आदि के (उपायस्वरूप) 'नाद' सुनने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता।

इसी उपेयस्वरूप 'नाद' की व्याख्या कुछ भिन्न शब्दों में हम देख लें :—

मूलाधारात् सुषुम्ना च बिसतन्तुनिभा शुभा ॥
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः। शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥
व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च। कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः। कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च ॥
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम्। रत्नानि ज्योत्स्नि नादं तु बिन्दुं माहेश्वरं पदम्।
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यमश्नुते।

(ध्यानबिन्दूपनिषत् १०१६)

अर्थात्—मूलाधार चक्र से सुषुम्ना का ऊर्ध्वगामी स्वरूप कमल के तन्तु के सदृश है। उस सुषुम्ना नाड़ीरूपी वीणादण्ड में (उपेयस्वरूप) अमूर्त नाद रहता है। जब साधक को इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना और घण्टिका इन चार द्वारों से उत्थित नाद की कपाल कुहर में अनुभूति हो जाती है, अथवा 'व्योमरन्ध्रगत नाद' जो कि शङ्ख की ध्वनि अथवा मयूर के रव के सदृश होता है, उसे जो सुन लेता है, उस के समक्ष आकाश में स्थित सूर्य के सदृश आत्मा का पूर्ण प्रकाश प्रस्फुट हो जाता है। इडा और पिंगला के मध्य पथ में (यानी सुषुम्ना में) एवं ब्रह्मरन्ध्र में स्वात्म पुरुष का दर्शन होता है। उस अवस्था में मन लय को प्राप्त हो जाता है। जो इस[२] 'नाद' 'बिन्दु' और 'माहेश्वर' पद को जान लेता है, वही कैवल्य को प्राप्त करता है।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—वाणी के ये चार भेद तन्त्रों में एवं अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इन भेदों का नाद की विविध अभिव्यक्ति के रूप में योग-शास्त्र में सुन्दर विवरण मिलता है। इन चार भेदों में 'नाद' के 'उपायस्वरूप' और 'उपेयस्वरूप' दोनों का समावेश हो जाता है। यह निम्न उद्धरण से स्पष्ट होगा :—

---

१ ब्रह्म के दो रूप माने गए हैं—शब्दब्रह्म और परब्रह्म। यथा :—

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति ॥

(अमृतबिन्दूपनिषत् १७)

अर्थात् ये दो ही वेद्य (जानने योग्य) तत्त्व हैं—एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। जो 'शब्दब्रह्म' को भली-भाँति जान लेता है, वह परब्रह्म को पा लेता है।

२ 'नाद' शब्द की एक अतीव सुन्दर व्याख्या करते हुए इस उपनिषत् के टीकारकार ने लिखा है—'जाग्रदादिचतुष्पञ्च-दशविकल्पं न ददातीति नदं तदेव नादम्'—अर्थात् जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति आदि के विकल्पों को 'न ददाति' नहीं देता है, इसलिये जो 'नद' है, वही नाद है। अर्थात् इन सब विकल्पों से वह मुक्ति दिलाने वाला है।

यन्नमस्य चिदाख्यातं यत्सिद्धीनां च कारणम् । येन विज्ञानमात्रेण जन्मबन्धात्प्रमुच्यते ॥
अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते । मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा विन्दुरूपिणी ॥
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः । तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः ॥
हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्यसंनिभः । तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते ॥
प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः । शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ॥
अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत् । अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसंभवः ॥
सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः । पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥
सप्त स्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः । एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ॥
वायुना वह्नियुक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः । द्वित्रिवर्णपदैर्वाक्यैरित्येवं वर्तते सदा ॥
य इमां वैखरीं शक्तिं योगी स्वात्मनि पश्यति । स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः ॥

[योगशिखोपनिषत् ३।१-१०]

अर्थात्—जिसका अनुभव पाकर योगी जिसे चित् कहकर वर्णन करते हैं, जो सर्व सिद्धियों का कारण है, जिसे जानने मात्र से ही जन्म-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है, वह अक्षर या परम नाद 'शब्दब्रह्म' कहलाता है। (संभवतः यही परावाक् है या उपेयस्वरूप नाद है)। मूलाधार में जो शक्ति स्थित है, जो अपने पर ही आधारित है और जो बिन्दुरूपिणी है, उसमें से 'नाद' की उसी प्रकार उत्पत्ति होती है, जैसे बीज में से अङ्कुर की। 'नाद' की उस अभिव्यक्ति को 'पश्यन्ती' (वाक्) कहते हैं, जिसके द्वारा योगी आत्मदर्शन करते हैं। जब हृदय-स्थान से मेघ-गर्जन सदृश ध्वनि सुनाई देती है, तब वह 'मध्यमा' वाक् कहलाती है। (हमारी समझ में यही मध्यमा वाक् उपेय-स्वरूप 'नाद' और उपायस्वरूप 'नाद' का सन्धिस्थान है)। 'वैखरी' की अभिव्यक्ति स्वर नामक प्राण से होती है। ताल्वादि स्थानों में प्राणवायु का संघट्टन होने से अकार से क्षकार तक के वर्ण उद्भूत होते हैं। इन वर्णों या अक्षरों से पद और पदों से वाक्य बनते हैं। हम यह जानते हैं कि मन्त्र, वेद, शास्त्र, पुराण, काव्य इत्यादि सब कुछ वाक्यात्मक ही हैं। सप्त स्वर, गाथा इत्यादि सभी नाद से ही संभूत हैं। सब प्राणियों की गुहा में स्थित सरस्वती देवी प्राणाग्नि से प्रेरित होकर वर्ण, पद और वाक्यों को प्रकट करती है। जो योगी इस वैखरी को अपनी आत्मा में देख लेता है, वह सरस्वती के प्रसाद से वाक्सिद्धि को पा लेता है।

योगशास्त्र के अनुसार नाद का स्वरूप क्या है वह हमने उपर के उद्धरण से ज्ञात किया। अब हम उसकी तन्त्रोक्त व्याख्या का अल्प दर्शन करें।

'नाद' और 'बिन्दु' के दार्शनिक स्वरूप का विवरण तन्त्रों में उपलब्ध होता है। उसमें सदाशिव-तत्त्व को नाद स्वरूप कहा गया है। साधक के साधना-क्रम में 'बिन्दु' 'रोधिनी' 'नाद' 'नादान्त' 'शक्ति' 'समना' 'उन्मनी' और अन्त में 'महाशून्य' इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में 'नाद' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सबकी व्याख्या का यहाँ अवकाश नहीं है। केवल 'नाद' की कुछ सामान्य व्याख्याएँ देखकर ही इस प्रकरण को समाप्त करना होगा। 'रोधिनी' या 'निरोधिका' शक्ति के परे नाद की स्थिति है, ऐसा तन्त्रों में कहा गया है। उस 'नाद' का स्वरूप निम्न उद्धरणों से स्पष्ट होगा :—

तस्योर्ध्वे तु स्मृतो नादः स किञ्जल्करजःप्रभः । महद्भिः पुरुषैर्व्याप्तः सूर्यकोट्ययुतप्रभैः ॥

[स्वच्छन्दतन्त्र १०।१२२४]

नाद इति समस्तवाचकामेदमयपरामर्शसत्वः श्रीसदाशिव एव पररूपः ।

[क्षेमराजकृत टीका]

नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ।

[स्वच्छन्दतन्त्र १०।१२३६]

स च नादो 'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' इत्याम्नायोक्तरीत्या सर्वभूतेष्वव्यक्तध्वनिरूपः अत एव अक्षरः अविचलस्वरूपो वदन् वक्ष्यमाण घोषादिपरामर्शमयत्वेन स्थितः ।

[क्षेमराजकृत टीका]

तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात्स्पर्शसमुद्भवः । तस्मान्नादः समुत्पन्नः पूर्वं वै कथितस्तव ॥
अष्टधा स तु *देवेशि ! व्यक्तं शब्दप्रभेदतः । घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥
झङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः । नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापकः स्मृतः ॥
नदत्यसौ सदा यस्मात्सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

[स्वच्छन्दतन्त्र ११।५-८]

अर्थात्—'रोधिनी' या 'निरोधिका' शक्ति के ऊपर 'नाद' की स्थिति है। 'नाद' का धाम कोटि सूर्यों के समान प्रभा वाले (मुक्त) पुरुषों से व्याप्त है। विश्व के समस्त 'वाचक' तत्त्वों का यानी शब्द तत्त्वों का जिस परतत्त्व में अभेद परामर्श* होता है, वही सदाशिव है अथवा वही नाद का पररूप है। 'नाद' नामक परम बीज सब भूतों में अव्यक्त ध्वनि के रूप में अवस्थित है। वह अक्षर है और अविचलस्वरूप है। शिव और शक्ति का उसमें अधिष्ठान है। शक्त्यात्मक शिव के स्पर्श द्वारा 'शून्य' में से 'नाद' उत्पन्न होता है। 'शून्य' शब्द से उस अवस्था को सूचित किया है जहाँ वाच्य और वाचक (यानी अर्थ और शब्द) एकाकार हों, अभिन्न हों, उनका पृथक्करण न हुआ हो। वाच्य और वाचक का, शब्द और अर्थ का जो अविभक्त समष्टि रूप है उसी का नाम 'नाद' है, वह 'नाद' शब्द-भेद से आठ प्रकार के रूपों में अभिव्यक्त होता है। यथा—घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झङ्कार और ध्वङ्कृत। नवम महाशब्द इन सब में व्याप्त रहता है।

'नाद' के उपर्युक्त आठ प्रकारों की व्याख्या करने के लिये टीकाकार क्षेमराज ने अपनी टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं :—

श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः संप्रवर्तते । दीप्तवह्निस्वनाभासः सः शब्दो घोष उच्यते ॥
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिजः । भिन्नकांस्यनिभो रूक्षः स रावः स्यात्तदन्तगः ॥
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निर्वाते सौम्यवर्षवत् । स नादः स्वन इत्युक्तस्तत्परः कथितो ह्यसौ ॥
चतुर्थः स तु वै शब्दः सर्वशब्दभवारणिः । आत्मानं रावयन्नादः रवो यथा भ्रमरीरवः ॥
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासकः । स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्त्रभिस्ततः ॥
ततोऽतितानधर्मित्वान्नादः श्रोत्रसुखावहः । विपञ्च्या पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नतः ॥
यथा व्यज्यतः आकाशे स षष्ठो ध्वनिसंज्ञितः । सर्वतन्त्रीसमाघाताद्वीणायामेव साधु यः ॥
मृदुस्तब्धं निनदति झङ्कारः सप्तमस्त्वसौ । घण्टानिनादानुकृति कदाचिदुव्यज्यतेऽन्यथा ॥
तुङ्गघोष्यध्वनिनिभः सोऽष्टमो ध्वङ्कृतः स्मृतः ॥

अर्थात—कान में अँगुली डालने से जो शब्द सुनाई देता है, जो जलती हुई आग के शब्द के सदृश होता है, वह 'घोष' कहलाता है। उस घोष के अन्त में जो शब्द सुनाई देता है, जो फूटे कांसे के शब्द के सदृश रूखा होता है, उसे 'राव' कहते हैं। बांस की ध्वनि के सदृश जो नाद होता है, उसे 'स्वन' कहते हैं। चौथा प्रकार 'शब्द' है,

*'परामर्श' शब्द का यहाँ पारिभाषिक अर्थ लेना चाहिए, हिन्दी में रूढ अर्थ नहीं।

जो कि सब शब्दों का अरणिस्वरूप (अर्थात् प्रकाशक आधार स्वरूप) है। पञ्चम नाद है 'स्फोट' जिसके द्वारा वाक्य, पद और वर्ण अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप में स्फुटतया भासित होते हैं। नाद का छठा प्रकार, जो कि कान के लिये सुखप्रद होता है, वह वीणा की पञ्चम की तार को जोर से बजाने से जो नाद उत्पन्न होता है, उसके सदृश होता है। उसी का नाम 'ध्वनि' है। वीणा की सभी तारों पर एक साथ आघात करने से जो नाद निकलता है, उसे 'झङ्कार' कहते हैं। आठवाँ प्रकार है ध्वङ्कृत, जो कभी-कभी घण्टे के निनाद के सदृश होता है। अन्यथा सामान्य रूप से जिसकी ध्वनि प्रचंड घोष अथवा ऊँचे तीखे आवाज के सदृश होती है उसे 'ध्वङ्कृत' नाद कहा है।

सृष्टि-तत्त्व के सम्बन्ध में भी नाद की क्रमप्राप्त स्थिति, तन्त्रोक्त व्यवस्थानुसार हम समझ लें। 'शारदा-तिलक' नामक विख्यात तन्त्र-ग्रन्थ में सृष्टि-तत्त्व को समझाते समय कहा गया है कि शिव के दो रूप हैं– निर्गुण और सगुण। जब शिव का प्रकृति से योग होता है, तब सगुण शिव का आविर्भाव होता है। सगुण शिव से शक्ति उत्पन्न होती है और शक्ति से 'पर-नाद' और 'पर-बिन्दु' की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इसका सगुण शिव ——> शक्ति ——> परनाद और परबिन्दु—ऐसा क्रम बनता है। यहाँ तक नाद और बिन्दु अव्यक्त रहते हैं किन्तु यहीं से वे व्यक्त होकर प्रकट होते हैं। उस अवस्था में परबिन्दु से तीन प्रकार की अभिव्यक्ति होती है– परबिन्दु, बीज और अपर नाद।

यही

जो कि शिव का जिस प्रकृति के साथ योग उल्लिखित किया गया है, वह प्रकृति सांख्यदर्शनोक्त प्रकृति के अभिन्न जड़ नहीं है। निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त चैतन्य है। उपाधि-युक्त चैतन्य यानी सगुण शिव से उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक क्षोभ होता है, वही 'नाद' है और उस क्षोभ का क्रियाशील होना ही 'बिन्दु' है, क्योंकि बिन्दु सदा क्रियाशक्ति-प्रधान माना जाता है। यह 'परनाद' और 'परबिन्दु' सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त निर्विशेष नाद और बिन्दु के द्योतक हैं। इन्हीं से अपर या सविशेष नाद, बीज और सविशेष बिन्दु उत्पन्न होते हैं। अपर नाद इच्छा का, बीज ज्ञान का और अपर बिन्दु क्रिया का प्रतीक है। इन्हीं से क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु की उत्पत्ति मानी गई है।*

योग और तन्त्र में 'नाद' की जो महत्ता स्वीकृत हुई है, वही मध्ययुगीय संत कवियों की वाणी में भी प्रतिध्वनित होती है। उदाहरणार्थ संतप्रवर कबीरजी की वाणी के कुछ अंश हम यहाँ देख लें।

योगी को अपनी शरीर के भीतर से ही जिस अनाहत नाद की अनुभूति होती है, जो नाद समष्टि में व्याप्त तत्त्व का ही व्यष्टि में अभिव्यक्त होने वाला रूप है, उस 'नाद' के सम्बन्ध में कबीरजी कहते हैं—

कबीर शब्द सरीर में, बिन गुन बाजे तांत। बाहर भीतर रमि रह्या, ताते छूटी भ्रांत॥
(सबद कौ अंग १)

उस 'नाद' की अनुभूति होने से ही ब्रह्मज्ञान होता है :—

निझर झरै अनहत बजै, तब उपजे ब्रह्मज्ञान। अविगत अन्तर प्रगट ह्वै, लगा प्रेम निज ध्यान।
(सबद कौ अंग १६)

सासि हर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा। जब अनहत बाजा बाजै, तब सांई संग बिराजै॥
(कबीर ग्रन्थावली पृ० १४६)

---

* पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' पृ० ४१-४२ पर आधारित।

अन्तर गगन होत अन्तर धुनि, बिन सासनि है सोई ॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० १४५)

उस 'अनाहत' नाद की लौ लगाते हुए कबीरजी गा उठते हैं :—

अवधू ज्ञान लहरि धुनि माँडी रे।
सबद अतीत अनाहत राता,
इहि बिच त्रिष्णा छांडी रे॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० ९१)

जगत गुरु अनहद किंगरी बाजै,
तहँ दीरघ नाद ल्यौ लागै।

(कबीर ग्रन्थावली पृ० ३७)

चन्द सूर दोइ तूँम्बा करिहूँ, चित चेतन की डांडी।
सुषमन तंती बाजन लागी, इहि विध तृष्णा छांडी॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० १५४)

शब्दातीत परब्रह्म का वर्णन करते हुए कबीर साहिब कहते हैं :—

कहौ धौ सबद कहाँ थै आवै, अरु फिरि कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रम भूलि दुनियाई॥
प्यंड मुकति कहाँ ले कीजै, जौ पद मुकति न होई।
प्यंडै मुकति कहत हैं मुनिजन, सबद अतीत था सोई॥

(कबीर ग्रन्थावली पृ० १००)

योग और तन्त्र के अनुसार नाद-तत्त्व की व्याख्या का हमने न्यूनाधिक अवलोकन किया। अब हम व्याकरण, न्याय, मीमांसा दर्शन, एवं वैय्याकरणों के स्फोट सिद्धान्त के साम्य पर आधारित साहित्य शास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त का भी अवलोकन कर लें। इनमें नाद तत्त्व की किस प्रकार विवेचना की गई है, उसे हम संक्षिप्त रूप में देख लें, समझ लें। हमें यहाँ इस बात का ध्यान रखना होगा कि ऊपर उल्लिखित नाद तत्त्व की जिस निगूढ़ विवेचना का हम दर्शन कर आए हैं, उससे कुछ भिन्न प्रकार का दर्शन एवं प्रतिपादन हमें उपर्युक्त शास्त्रों में मिलेगा। योगदर्शन और तन्त्र की भाँति इनमें नाद-तत्त्व के सम्बन्ध में किसी साधना पद्धति का सीधा वर्णन नहीं होगा, नहीं है। शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है, शब्द से किस प्रकार अर्थबोध होता है, प्रमुखतया इसी विषय को दार्शनिक विवेचना इन शास्त्रों में की गई है।

कुछ अर्वाचीन विद्वान ऐसा कहते हैं कि शब्द और अर्थ का वास्तविक सम्बन्ध कुछ नहीं है। उन विद्वानों के विचार में प्राचीनों की यह केवल असम्बद्ध कल्पना मात्र है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। वे मानते हैं कि कभी किसी ने, किसी समय पर किसी भी वस्तु का, बिना सोचे, बिना समझे अकारण ही कोई नाम रख दिया, लोगों ने वह याद रखा और तदनुसार व्यवहार चलने लगा, वास्तव में शब्द का अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। तद्वत् अर्वाचीन पण्डित यह भी ठोक ठोक कर कहते हैं कि संगीत के स्वरों के द्वारा शृंगार हास्य, वीर, करुण इत्यादि रसों का आविर्भाव होता है, ऐसा जो माना जाता है, वह भी परम्परा-

गत मन के संस्कार का ही परिणाम है। उनकी इस मान्यता का क्या आधार है, यह तो वे ही जानें, किन्तु उनकी दृष्टि से शब्द और स्वर के, भाषा और संगीत में जो अर्थ उपजाए जाते हैं, वे मात्र सांकेतिक हैं।

प्राचीन आचार्यों के विचार और अभिप्राय इन अर्वाचीन पण्डितों से सर्वथा भिन्न हैं। उनका स्वानुभूतिसिद्धि कथन है कि स्पन्दनरूप वस्तु और नादरूप शब्द—इन दोनों में नितान्त प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इसी कारण प्रत्येक अर्थ के लिए भिन्न-भिन्न शब्द बने हुए हैं और उन शब्दों में ही स्पष्ट एवं निगूढ़ अर्थ पूर्णतया सन्निहित हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी से कहा है :—

गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न, न भिन्न।

'राम' शब्द का उच्चार होते ही सर्वप्रथम भले ही दाशरथि राम का स्मरण हो आए। परन्तु उस 'राम' मन्त्र के निगूढ़ अर्थ और परम तत्त्व को उस शब्द के पारायण करनेवाले ही जानते हैं और पाते हैं क्योंकि उनके सम्मुख वह अर्थ और तत्त्व खुल गया होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है :—

जाना चहहिं गूढ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानेउ तेऊ।

भक्तों के द्वारा किया हुआ यह शब्द-अर्थ का विशुद्ध भाष्य प्राचीन ऋषियों के मत को ही पुष्ट करता है। मन्त्रों के निगूढ़ अर्थ भी इसी से स्पष्ट होते हैं।

शब्दों का स्वाभाविक अर्थ, यह मन्त्र का कारण है और स्वरों का स्वाभाविक अर्थ, यह राग का कारण है। शब्द का जप और स्वर का अभ्यास मोक्ष मार्ग को सरल बनाता है एवं प्रशस्त करता है। गीता में इसी से गाया है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरं'। योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने भी इसी से कहा है :—

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति ३।११५)

अर्थात्—जो वीणा वादन के तत्त्व को जानता है, जो श्रुति-जातियों का कुशल ज्ञाता है और जो तालज्ञ है, वह बिना प्रयास ही मोक्ष पा जाता है।

स्वर सगुण ब्रह्म है। वह निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। स्वर को इसीलिए मोक्ष का साधन कहा है। यथा—

अहो गीतप्रपञ्चस्य श्रुत्यादेस्तत्त्वदर्शनात्। अपि स्यात्सच्चिदानन्दरूपिणः परमात्मनः॥

अर्थात्—संगीत के श्रुत्यादिक तत्व-दर्शन से भी सच्चिदानन्द परमात्मा की प्राप्ति होती है।

शब्द और अर्थ की स्वाभाविक एवं गूढ़ अर्थवत्ता के सम्बन्ध में इतना जान लेने के बाद हम यह भी समझ लें कि शब्द और स्वर द्वारा यह अर्थबोध किस प्रकार होता है। शब्दों के वर्णादि रूपों का अर्थों के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर विभिन्न दृष्टिकोण से भारत में बहुत ही निगूढ़ और सूक्ष्म विवेचना की गई है। हम गौरव का अनुभव करते हैं कि भारत की यह अपनी निजी विशेषता है। इसका अल्प दर्शन हम यहाँ पर कर लें।

वैय्याकरणों ने, शब्दों की जो अर्थबोधिका शक्ति है, उसका शब्द के साथ नित्य सम्बन्ध माना है। शब्द कोई भी क्यों न हो, शब्दमात्र का जो अर्थ है, उसका बोध करानेवाली शक्ति का उस शब्द के साथ अनादि सम्बन्ध सिद्ध है।' इसी से कहा है :—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादियोंग्यता यथा। अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥

(वैय्याकरणभूषणसार, शक्तिनिर्णयप्रकरण ३६)

अर्थात्—जिस प्रकार इन्द्रियों की अपने अपने विषय को ग्रहण करने की योग्यता नित्य और नियत होती है, उसी प्रकार शब्दों का अर्थों के साथ नित्य सम्बन्ध है। प्रत्येक शब्द में अपने अर्थ का बोध कराने की योग्यता अनादि है और इस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। कर्ण का विषय शब्द, त्वक् का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस और घ्राण का गन्ध—इस प्रकार से इन्द्रियों में अपना अपना विषय ग्रहण करने की योग्यता नित्य और नियत होती है। तद्वत् ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी समझना चाहिए।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन भर्तृहरि ने यों किया है :—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः। सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः॥

(वाक्यपदीय १। २३)

अर्थात्—सूत्रों, अनुतन्त्रों (सहायक सिद्धान्तों) और भाष्यों के प्रणेता महर्षियों ने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को नित्य बताया है।

न्याय और मीमांसा दर्शन ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का अपने अपने ढंग से प्रतिपादन किया है, जिसे हम कुछ आगे चलकर देखेंगे। इसके पूर्व वैय्याकरणों के स्फोट सिद्धान्त का हम संक्षिप्त परिचय पा लें।

दार्शनिकों ने ऐसे तीन पदार्थ माने हैं जो अपने स्वरूप का एवं अन्य वस्तुओं का एक साथ प्रकाशन करते हैं अर्थात् जो अपने स्वरूप के प्रकाशन के साथ साथ अन्य वस्तुओं का भी प्रकाशन करते हैं। वे हैं—ज्ञान, दीप और शब्द। ज्ञान में आत्मरूप अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयरूप एक ही साथ प्रकाशित होते हैं। तद्वत् दीपक भी अपने आप को तो प्रकाशित करता ही है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है, किन्तु साथ ही घटादिक अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार शब्द अपने आप को एवं अपने अर्थ को आलोकित करता है। इसी को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने कहा है :—

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते। अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥

(वाक्यपदीय १। ५०)

शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर भी एक प्रश्न शेष रह ही जाता है और वह यह है कि किस प्रकार के शब्दों से अर्थ का ग्रहण होता है। अथवा अन्य शब्दों में कहें तो यह कि किस विधि द्वारा शब्द बुद्धि तक पहुँच कर अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रश्न के उत्तर में वैय्याकरणों ने स्फोट सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस स्फोट सिद्धान्त को समझने के लिए, अर्थबोध के सम्बन्ध में नैयायिकों का जो मत है, उसे पूर्वपीठिका के रूप में समझ लेने से सुविधा होगी।

नैयायिकों का कथन है कि 'श्रूयमाण' शब्द अर्थात् सुने जाते हुए शब्द ही अपने अर्थ का स्मरण कराते हैं। परन्तु वैय्याकरण इस कथन के प्रति अरुचि रखते हैं, अर्थात् उससे सहमत नहीं होते। उस अरुचि अथवा मतभेद का बीज निर्देश करते हुए वे कहते हैं कि नैयायिकों का कथन लोक के अनुभव के साथ मेल नहीं खाता। कारण यह है कि अनुभव से तो हम यही जानते हैं कि एक अखण्ड पद से ही अर्थ का बोध होता है, खण्डशः सुने जाते हुए पदगत वर्णों से नहीं। नैयायिकों के कथनानुसार यदि श्रूयमाण शब्द को ही अर्थस्मारक माना जाए तो पद की अखण्डात्मकता नहीं रह जाती।

इस तर्क की गहराई में वैय्याकरणों ने नैयायिकों का यह मत उद्धृत किया है कि सभी वर्ण क्षणिक हैं। अतः जिस क्रम से किसी पद के वर्ण श्रूयमाण होते जाएँगे, उसी क्रम से उत्तरोत्तर उन वर्णों का विनाश भी होता जाएगा अर्थात् ज्यों ज्यों एक एक वर्ण सुनाई पड़ते जाएँगे, त्यों त्यों नये वर्ण के उच्चार के साथ ही पूर्व के वर्ण अश्रुत होते जाएंगे। और अन्त में केवल अन्तिम वर्ण ही अनुभव में अवशिष्ट रह जाएगा। उतने मात्र से पूरे शब्द के अर्थ का बोध कैसे होगा? यह प्रश्न शेष रह ही जाता है।* अतः वैय्याकरणों में अर्थप्राप्ति की नवीन पद्धति की स्थापना की, जो कि स्फोट सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है।

वैय्याकरणों का कहना है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक ध्वन्यात्मक, दूसरे वर्णात्मक। उनमें से पहिला (ध्वन्यात्मक) व्यञ्जक होता है और दूसरा (वर्णात्मक) व्यंग्य। व्यंग्य का ही दूसरा नाम स्फोट रखा गया है। ध्वन्यात्मक शब्दों का उच्चारण वैखरी वाक् द्वारा होता है। और मध्यमा वाक् से उत्थित नाद ही शब्द के वर्णात्मक रूप को अभिव्यक्त करता है। शब्दों के इसी व्यक्त रूप को वैय्याकरण स्फोट कहते हैं। इस स्फोट में श्रोता को पदगत वर्णों के पूर्वापर क्रम का ध्यान नहीं रहता और अखण्ड रूप में पद का या वाक्य का अर्थग्रहण होता है। नागेश भट्ट इस स्फोट के विषय में कहते हैं--

मध्यमया कृतो नादः स्फोटो व्यञ्जकः उच्यते॥

(लघुमञ्जूषा)

पदों या वाक्यों का यह 'स्फोट' रूप ही अर्थ का बोध कराता है। स्फोट का अर्थ ही है—'स्फुटत्यर्थो ऽस्मिन्निति स्फोटः,—अर्थात् जिसमें या जिससे अर्थ प्रस्फुटित हो, वही स्फोट है। यह स्फोट—तत्त्व आकाश के सदृश सर्वव्यापक और अखण्ड है। इस अखण्ड और व्यापक तत्त्व में सखण्ड नाद जिस रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी रूप में स्फोट अपना प्रकाशन करता है। जिस प्रकार एक ही सर्वव्यापी चैतन्य भिन्न भिन्न उपाधियों के संसर्ग से, अखण्ड होते हुए भी, सखण्ड रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है, तद्वत् स्फोट तत्त्व भी अखण्ड होते हुए भी सखण्ड रूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार स्फोट सिद्धान्त के अनुसार अखण्ड पद या अखण्ड वाक्य का प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध होता है। लोक का सामान्य अनुभव भी इस सिद्धान्त से पुष्ट होता है। जिस क्रम से वर्णों का उच्चारण होता जाता है, उसी क्रम से उन के अनुभवजनित संस्कार भी बनते जाते हैं, जो कि अन्तिम

---

* इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिक यह तर्क उपस्थित करते हैं कि प्रत्येक उच्चरित वर्ण से वायुमण्डल में एक तरंग-परंपरा उत्थित होती है। उस परम्परा द्वारा कान तक पहुंचा हुआ पद का अन्तिम वर्ण (जिसे वे शब्दज शब्द कहते हैं) उस पदगत पूर्व पूर्ण वर्णों का उद्बोधक अथवा स्मारक बन जाता है। इस प्रकार पद के पूर्व २ वर्णों की स्मृति द्वारा संपूर्ण पद का अर्थ ध्यान में आ जाता है। परन्तु यह तर्क भी वैय्याकरणों को मान्य नहीं है, क्योंकि पद की अखण्डात्मकता इससे भी नहीं बन पाती। पद के अन्तिम वर्ण का प्रत्यक्ष अनुभव हो और पूर्व वर्णों की स्मृति हो इस प्रकार नैयायिकों के इस तर्क द्वारा एक ही अनुभव के दो खण्ड बन जाते हैं। 'अर्धं शृणोमि अर्धं स्मरामि'—यह व्यवस्था वैयाकरणों को युक्तिसंगत नहीं लगती।

वर्ण तक पहुँचते हैं। उस अन्तिम वर्ण द्वारा पूरे पद अथवा वाक्य की अखण्ड रूप से जो अभिव्यक्ति होती है, उसी को स्फोट कहा है और उसी से अर्थ का बोध होता है। शास्त्रीय भाषा में इसी बात को यों कहेंगे—पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहकृतचरमवर्णाभिव्यंग्य स्फोट है।

अर्थ को उपस्थापित करने की वैय्याकरणों की इस पद्धति को भर्तृहरि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:-

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह। आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥

(वाक्यपदीय १।८५)

अर्थात्—शब्द के स्वरूप का ग्रहण ऐसी बुद्धि द्वारा होता है, जिसके बीज अर्थात् संस्कार को नादों ने व्यक्त कर दिया हो और पूर्वपूर्व-संस्कार-सहकृत-आवृत्ति (स्फोट द्वारा वर्णों की पुनः उपस्थिति) को ग्रहण करने की जिसमें योग्यता हो। इसी बात को सामान्य भाषा में यों कह सकते हैं कि नाद ने जिस बुद्धि के संस्कार-बीजों को आहत अर्थात् जाग्रत किया हो, जिस बुद्धि में पद या वाक्य की अन्तिम ध्वनि से पुनरावृत्त होने वाले पूर्व पूर्व वर्णों अथवा पदों का परिपाक हो अर्थात् उन्हें ग्रहण करने की जिसमें शक्ति हो, ऐसी बुद्धि द्वारा ही शब्द का (उसके साथ ही अर्थ का भी) अवधारण होता है।

वैय्याकरणों की विचारधारा के अल्प अवलोकन के पश्चात् शब्दार्थ के परस्पर नित्य सम्बन्ध के विषय में न्याय मीमांसा दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त उल्लेख कर देना समुचित होगा।

नैयायिकों ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना है। उनके मत से ईश्वर की इच्छा ही शब्द की अर्थबोधिका शक्ति है। 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः, अथवा 'अस्यार्थस्येदं पदं बोधकम् इत्याकारिका ईश्वरेच्छा'—अर्थात् इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो अथवा इस अर्थ का यह पद बोधक हो इस प्रकार की ईश्वरेच्छा ही शब्दों की अर्थबोधिका शक्ति है। इस शक्ति को न्याय की परिभाषा में 'संकेत' कहते हैं।

पूर्व- मीमांसा-दर्शन में भी शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध माना है। इसी आधार पर मीमांसकों का वेद के अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त टिका हुआ है। इस सम्बन्ध में खण्डन-मण्डन के ब्योरे में जाना यहाँ अनावश्यक है।

अब हम अपने क्रमप्राप्त विषय अर्थात् साहित्यशास्त्रोक्त ध्वनि-सिद्धान्त को देख लें। ध्वनि-सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिये अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना -इन तीन शब्द-वृत्तियों अथवा शब्दशक्तियों की संक्षिप्त व्याख्या करना आवश्यक है।

यह बात सामान्य अनुभव से सिद्ध है कि प्रकरण-भेद से एवं देश काल इत्यादि की विशेषता के कारण शब्दों के प्रसिद्ध अर्थों के अतिरिक्त अन्य अर्थों का भी बोध हुआ करता है। शब्दों के मुख्य अर्थों का एवं तदतिरिक्त अन्य अर्थों का बोध कैसे होता है, इसी सम्बन्ध में ये तीन शब्दशक्तियाँ मानी गई हैं।* शब्दों के मुख्य अथवा प्रसिद्ध अर्थों का बोध कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा है। जहाँ यह मुख्यार्थ बाधित हो जाए अर्थात् असमंजस हो जाए, वहाँ लक्षणा शक्ति कार्य करती है। जैसे, यदि कहा जाए कि 'पूरा घर बाहर गया हुआ था'—तो वाक्य का मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। घर भला कैसे बाहर जा सकता है? तब लक्षणा अपना कार्य करती है और 'घर' का मुख्यार्थ 'मकान' न समझकर 'घर के लोग' समझा जाता है। यह दूसरा अर्थ

* शब्द शक्तियों की संख्या के सम्बन्ध में दार्शनिकों में जो मतभेद हैं, उसके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

गौण कहलाता है, मुख्य नहीं। तीसरी शब्दशक्ति है, व्यञ्जना और वह ध्वनि का आधार है। उसकी व्याख्या करते हुए मम्मट ने कहा है :—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्ताघदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

(काव्यप्रकाश ३। २१-२)

अर्थात्—वक्ता (बोलनेवाला), बोद्धा (जिससे कहा जा रहा हो), काकु (भावनिदर्शक कण्ठ-ध्वनि-विकार), वाक्य (पूर्ण अर्थबोधक पदसमूह), वाच्य (मुख्य अर्थ), अन्यसन्निधि (किसी और व्यक्ति का सामीप्य)*, प्रस्ताव (प्रकरण) देश, काल इत्यादिक के वैशिष्ट्य के प्रभाव से, प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों को वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति जिस व्यापार द्वारा होती है उस व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं।

कुछ सरल शब्दों में इसका स्पष्टार्थ हम समझ लें। ऊपर लिखे हुए कारणों के रहने पर मुख्यार्थ से विपरीत अथवा उससे बिलकुल भिन्न अर्थ का बोध होता है, यह हम सभी अनुभव से जानते हैं। काकु-भेद से एक 'हूँ' शब्द के अनेकों अर्थ हो सकते हैं। प्रश्न, आश्चर्य, हकार, नकार, स्वीकार, अस्वीकार, व्यंग, मसखरी, आह, हताश इत्यादि अनेकों भाव एक 'हूँ' के काकु-भेद से याने उच्चार-भेद से अभिव्यक्त होते हैं।

व्यंग्यार्थ का हम एक दूसरा उदाहरण ले लें। 'सूर्यास्त हो गया' इस एक ही वाक्य का भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न भिन्न अर्थ होगा। मजदूर उससे समझेगा कि छुट्टी का समय हो गया है। ब्रह्मचारी समझेगा कि सन्ध्यावन्दन के लिये उठना चाहिए। गृहिणी समझेगी कि प्रदीप जलाने का समय हो गया। इस प्रकार समझने वाले के वैशिष्ट्य से मुख्यार्थ के अतिरिक्त अनेकों अर्थों का बोध हुआ करता है। मुख्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों का बोध प्रकरण, देश, कालादि और भी कई कारणों से होता है। काव्य में इस व्यञ्जना व्यापार को विशेष चमत्कार का अनुभव कराने वाला माना गया है। जिस काव्य में व्यञ्जना द्वारा आया हुआ अर्थ यानी व्यंग्यार्थ प्रधान हो, और शब्दों का मुख्यार्थ गौण हो, वहाँ 'ध्वनि' का अस्तित्व माना जाता है।†

'ध्वनि'—यह शब्द व्याकरणशास्त्र से उधार लिया गया है। जिस प्रकार वैय्याकरणों की दृष्टि से ध्वनि वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट का अभिव्यञ्जक है, उसी प्रकार व्यञ्जकत्व के साम्य के आधार पर साहित्यशास्त्रियों ने भी व्यंग्यार्थ के प्रकाशक या व्यञ्जक शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि'‡ संज्ञा का व्यवहार किया है। इस प्रकार वैय्याकरणों की विचारधारा को साहित्यशास्त्र ने बहुत आगे बढ़ा दिया है।

---

*व्यवहार में देखा जाता है कि कई बार, एक व्यक्ति के साथ बात करते समय, पास में बैठे किसी दूसरे व्यक्ति को लक्ष्य कर के कुछ कहा जाता है, जिसका अर्थ उस लक्षित व्यक्ति के लिए शब्दों के मुख्यार्थ से भिन्न होता है। 'अन्यसन्निधि' शब्द से ऐसे ही व्यवहार से अभिप्राय है।

† ध्वन्यालोक की टीका में अभिनवगुप्त ने 'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थ बताए हैं। यथा, १—व्यञ्जना व्यापार, २—वह काव्य जिसमें व्यंग्यार्थ प्रधान हो, ३—व्यञ्जक अर्थ, ४—व्यञ्जक शब्द और ५—व्यंग्यार्थ।

‡ 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन लिखते हैं—

प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुयायिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

[ध्वन्यालोक प्रथमोद्योत पृ० १३५]

इसका भावार्थ ऊपर स्पष्ट किया गया है।

साहित्यशास्त्र में शब्द और अर्थ दोनों ही मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के व्यञ्जक माने गए। व्याकरण में तो अर्थ की व्यञ्जकता का प्रश्न ही नहीं उठता, वरंच वहाँ तो शब्द को भी अर्थ का व्यञ्जक मानने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। केवल उच्चरित वर्णों को स्फोट का व्यञ्जक मानकर उन्हें 'ध्वनि' कहा गया है। अस्तु।

इस ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना से साहित्य-जगत् में एक क्रान्ति सी आ गई, जिसके कारण वह सिद्धान्त आज तक अबाधित रूप से प्रायः सर्वमान्य रहा है। किन्तु यह सिद्धान्त साहित्य तक ही सीमित नहीं, अपितु संगीत के लिए भी उसका विशेष महत्त्व है।

सब जानते हैं कि संगीत में शब्द के अर्थ का बोध हुए बिना ही भाव की या रस की प्रतीति हो जाती है। यहाँ तक कि शब्द हो या न हो, केवल नाद के ही बल से संगीत में रसनिष्पत्ति हो जाती है। इसी से यह मानना पड़ता है कि नाद में कोई ऐसी शक्ति सन्निहित है, जो कि शब्द की वाचकशक्ति की सहायता के बिना ही अर्थ, भाव या रस की प्रतीति करा देती है। इस शक्ति की वैज्ञानिक विवेचना के ग्रन्थ (गान्धर्ववेदादि) तो अब लुप्तप्राय हैं। परन्तु 'ध्वन्यालोक' के कुछ स्थलों में नाद की इस शक्ति की महत्ता का प्रबल संकेत उपलब्ध होता है। इनका उल्लेख नीचे किया जाएगा।

काव्य की काया शब्द और अर्थ से ही निर्मित होती है। शब्द के बिना काव्य का जन्म ही संभव नहीं। ऐसे काव्य में भी जब शब्दों के मुख्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को विशेष चमत्कार का कारण माना गया, तब स्वर ही जिसका प्राण है, ऐसे संगीत के शब्दातीत होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। संगीत निश्चय ही शब्द से परे है। इस प्रकार कैमुत्य-न्याय से संगीत में स्वरों की व्यञ्जकता की महत्ता प्रमाणित होती है। इतना ही नहीं, अपितु ध्वनि-सिद्धान्त के स्थापक आनन्दवर्धनाचार्य ने भी 'ध्वन्यालोक' के कई एक स्थलों पर संगीत के राग आदि का उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि की है। इससे भी सिद्ध होता है कि संगीत में रसनिष्पत्ति या भावाभिव्यक्ति के लिए शब्दों की वाचकशक्ति की किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए संगीत की भाषा विश्वव्यापी है, देश काल के बन्धनों से अतीत है और मानव क्या, प्राणिमात्र के हृदय तक उसकी पहुँच है।

'ध्वन्यालोक' के जिन स्थलों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन्हें उद्धृत करके इस प्रकरण को समाप्त करना समुचित होगा। विस्तार भय से ध्वनि की विस्तृत विवेचना छोड़ दी है।

'ध्वनि' की स्थापना में ध्वन्यालोककार ने निम्नलिखित स्थानों पर संगीत का उदाहरण दिया है :—

१—न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादि-शब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।

(तृतीय उद्योत, पृ० ४०५)

अर्थात्—शब्द के वाच्यार्थ की प्रतीति होने के पश्चात् ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी, ऐसा कोई नियम नहीं है। गीतादि शब्दों (जिनमें वाद्य-ध्वनि का भी समावेश हो जाता है)* से सीधे रसाभिव्यक्ति हो जाती है। गीत के शब्दों को सुनना और उनसे इसका बोध होना—इन दोनों व्यापारों के मध्य में वाच्यार्थ-परामर्श नामक व्यापार कहीं होता ही नहीं। काव्य में भी शब्दों का दो प्रकार का व्यञ्जकत्व होता है—एक स्वरूपविशेष-निबन्धन दूसरा वाचकशक्ति-निबन्धन। हम जानते हैं कि काव्यपाठ के अवसर पर रसानुकूल वर्णों की संघटना द्वारा ही रसप्रतीति हो जाती है।

---

*अभिनवगुप्त 'ध्वन्यालोक' के ऊपर उद्धृत अंश की टीका में लिखते हैं :—
तेषामिति गीतशब्दानामिति। आदिशब्देन वाद्यविलपितशब्दादयो निर्दिष्टाः। (पृ० ४०५—लोचन)

काव्य के भिन्न-भिन्न शब्दों के अर्थ का बोध हुए बिना ही शब्द सुनने मात्र से वहाँ रसप्रतीति हो जाती है। गीतादिशब्दों द्वारा भी इसी प्रकार सीधे रस का बोध हो जाता है।

२—येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां.....

(ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत पृ० ४०७)

यहाँ भी उसी बात को दोहराया गया है कि गीतादि शब्दों के श्रवण मात्र से वाच्चार्थ की प्रतीति हुए बिना ही रसबोध हो जाता है।

३—न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादेः रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्।

(ध्वन्यालोक उद्योत पृ० ४१७)

अर्थात्—अभिधा और व्यञ्जना शक्ति एक नहीं हो सकती, क्योंकि अभिधा तो शब्द की ही शक्ति है और व्यञ्जना तो **अवाचक** (वाचक शक्ति रहित) गीतशब्दादिक में भी पाई जाती है।

४—तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लभ्यते।

(वही पृ० ४२८)

अर्थात्—गीतध्वनियों में तो अभिधा (वाचकत्व) होती ही नहीं, परन्तु फिर भी उनमें व्यञ्जकत्व रहता है, जिसके द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार हमने देखा कि संगीत की रसाभिव्यञ्जकता और साहित्य का ध्वनिसिद्धान्त एक दूसरे को दृढ़ रूप से पुष्ट करते हैं।

जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर हमारे यहाँ निगूढ़ और सूक्ष्म विचार किया गया है, जिसका दिग्दर्शन हम ऊपर कर आए हैं, उसी प्रकार संगीत के स्वर और अर्थ का सम्बन्ध भी गान्धर्व विद्या के शास्त्रों में गहन विवेचना का विषय बना होगा। परन्तु आज तो उस परम्परा के आचार्य नन्दिकेश्वरादिक के नाममात्र ही अवशेष रह गए हैं। इस दार्शनिक विचारधारा के ग्रन्थ अब लुप्तप्राय हैं। संगीत के उपलब्ध शास्त्र-ग्रन्थ केवल संगीत के प्रयोग पक्ष से ही सम्बन्धित हैं। फिर भी अपनी निजी विचारधारा के आधार पर एवं यत्र तत्र बिखरे हुए कुछ प्राचीन उद्धरणों की सहायता से इस विषय की कुछ विवेचना नीचे की जा रही है।

स्वर से विचारों का प्राकट्य होता है और विचारों के प्रकटीकरण से आनन्द का रहस्य खुलता है। शब्द—यह स्वर का स्थूल रूप है। अथवा यों कहिए कि स्वररूप वाक्—यह वर्णरूप शब्द का सूक्ष्म स्वरूप है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—, वाणी के ये चार भेद विश्रुत हैं। उनमें से वैखरीवाक् शब्द का आधार है और मध्यमावाक् स्वरों का आधार है। मध्यमावाक् पश्यन्ती के व्यक्त विमर्श का परिणाम है। मध्यमावाक् नादरूप होकर श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य है। फिर भी वह वर्णरूप या शब्दरूप तो नहीं ही है। संगीत के स्वररूप नाद में इसीलिए भिन्न-भिन्न अक्षरों का प्रयोग नहीं होता और इसीलिए उसके अर्थ एकत्रित और अखण्डित रहते हैं। इतना ही नहीं, एक एक स्वर में अनेकों अर्थ सन्निहित हैं। गान-क्रिया प्रायः मध्यमा वाक् से ही संपन्न होती है। ऐतरेयब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि वेदों की वैखरी का उच्चार मध्यमा वाक् से ही करना चाहिए। इसका स्पष्टार्थ यही है कि वेद का गान करना चाहिए। मन्त्र की सिद्धि तभी हो सकती है। इसीसे ऋग्वेद के मंत्रों को गानबद्ध किया गया, स्वरबद्ध किया गया और इस प्रकार सामवेद प्रकट हुआ। वेद ही ने कहा है कि वेद के शब्दों को स्वर में निबद्ध करने से आत्मा सुसंस्कृत बनती है—

तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मानमेव तत्संस्कुरुते ॥

संगीत के स्वरों के सम्यक् ज्ञान के लिए व्याकरण के स्वर-व्यञ्जनों से सम्बन्धित जो तात्त्विक विवेचना हमारे यहाँ की गई है, उसको यहाँ हम संक्षेप में समझ लें। संगीत और व्याकरण के स्वरों में कुछ साम्य अवश्य है; एक का ज्ञान दूसरे का पूरक है। यह बात निम्नोद्धृत पौराणिक वचन से सिद्ध होती है :—

एतद्भवान् मत्प्रसादात् पन्नगेन्द्रापरं च यत् ॥
अस्यान्तर्गतमायत्तं स्वरव्यञ्जनसम्मतम्।
तदशेषं मया दत्तं भवतः कम्बलस्य च ॥*

(मार्कण्डेयपुराण २३। ५४,५५)

अतएव इस विषय का कुछ स्पष्टीकरण करना यहाँ समुचित होगा।

माहेश्वर सूत्र के नियमानुसार अ, इ, उ, ऋ, ऌ—ये पाँच शुद्ध स्वर हैं, जो कि पाँच स्थानों से उच्चारित होते हैं। ए और ओ ये दोनों क्रमशः अ+इ और अ+उ के मिश्र रूप हैं। ऐ और औ क्रमशः अ+ए और अ+ओ के मिश्र रूप हैं। अ, इ, उ, इन तीन मूलभूत स्वरों के दीर्घ रूप भी हैं। इन सबको मिलाने से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ—ऐसे कुल बारह स्वर निर्दिशित होते हैं।

संगीत के सप्त स्वरों में से भी कइयों के मतानुसार पाँच स्वर ही प्रधान हैं और शेष दो गौण हैं। यह देखा गया है कि वन्य मानव-जातियाँ, शैलनिवासी और अन्य ग्राम्य मानवकुल शिक्षा या संस्कार के बिना स्वयंभूरीत्या जब गाते हैं, तो उनके गीतों में भी पाँच स्वरों का ही प्रयोग होता है। सामग या छन्दोग भी सामगान में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र—इन पाँच स्वरों को ही मुख्य मानते हैं एवं कृष्ट और अतिस्वार्य इन दोनों को उन्होंने गौण गिना है। उनके मत से गान्धर्वगान में इन पाँच स्वरों के नाम क्रमशः मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज और निषाद हैं। शैवगान में क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और पञ्चम—इन पाँच स्वरों को प्रमुख और धैवत निषाद को गौण माना है। मुख्य और गौण इन दोनों को मिला कर जो सात स्वर हुए, उनके क्षेत्र के ही अन्तर्गत दो मझले स्वर भी माने गए हैं, जो अन्तर काकली के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ऋषभ, धैवत और मध्यम के विकृत रूपों को मिलाकर स्थूल मान से संगीतोपयोगी बारह स्वर-स्थान माने गए हैं, जिनके पर्दे वीणादण्ड पर बाँधे गए हैं।†

सामान्यतः, स्थूल मान से, संगीत में बारह स्वर माने हैं, सूक्ष्म श्रुतियाँ बाईस मानी हैं और नाद के सूक्ष्मतर प्रभेद छासठ माने हैं। यों नाद के सूक्ष्मतम प्रभेद तो अनन्त भी माने गए हैं। यथाः—

द्वाविंशतिः केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥

(बृहद्देशी धृत कोहल का वचन)

---

* ये श्लोक सरस्वती के आशीर्वाद-वचन में से लिये गए हैं। कम्बल और अश्वतर इन नागराजों को गान्धर्वविद्या में पारंगत बनने का वरदान देते हुए वे कहती हैं कि वे दोनों उनके प्रसाद से सात स्वर, ग्रामराग, मूर्च्छना, ग्राम, तान, पद, ताल, लय, इत्यादि के तत्त्व को जान लेंगे। इन सबके अतिरिक्त तत्सम्बन्धित ज्ञान के अन्तर्गत वे स्वर-व्यञ्जन तत्त्व को भी जान लेंगे।

† संगीत में प्रयुक्त सूक्ष्म स्वरों से यहाँ अभिप्राय नहीं है। वीणादण्ड पर बँधे पर्दों द्वारा निर्दिशित स्वरों से ही आशय है।

यहाँ हमें व्याकरण और संगीत के स्वरों का समन्वय ही देखना है। संगीत के उन सूक्ष्म नादों की चर्चा यथास्थान की जाएगी।

माहेश्वर सूत्रानुसार वैखरी वाणी के व्यञ्जनों की दस जातियाँ हैं। संगीत में मध्यमा वाक् में रस-निष्पत्ति का निदर्शन करने के लिए श्रुतियों की, उससे आधी संख्या की अर्थात् पाँच जातियाँ मानी हैं। यथा—दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या और करुणा। इन श्रुति-जातियों के दो भेद हैं—एक का आधार गणित है, जिसका सम्बन्ध उन श्रुतियों की ऊँचाई या नीचाई से है, और दूसरे का रस। तद्वत् श्रुतियों के भी दो रूप माने हैं—एक गणित-रूप, दूसरा भाव-रूप जो उन श्रुतियों द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता है।

श्रुतियों के गणित-रूप से, प्रापञ्चिक अर्थों के साथ नाद का क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट होता है और उससे संसार की रचना का गूढ़ रहस्य खुल जाता है। साथ ही, नाद-विद्या के द्वारा उस गूढ़ रहस्य की किस प्रकार रस में परिणति होती है, उसका अद्भुत आनन्द प्रत्यक्ष होता है और तभी यह स्पष्ट होता है कि तत्त्वज्ञ महर्षियों ने स्वरों के देवता, ऋषि, ग्रह, नक्षत्र, छन्द इत्यादि का जो उल्लेख किया है, वह निरर्थक नहीं है, अपितु उसमें नितान्त सत्य का दर्शन निहित है। तभी हम उन महर्षियों की उत्तम प्रसादी का निगूढ़ रहस्यानन्द ले सकते हैं एवं तन्मय होकर सायुज्य का सुखानुभव पा सकते हैं।

माहेश्वर-सूत्रानुसार समस्त संसार का प्रादुर्भाव रुद्र के डमरू से हुआ है। माहेश्वर सूत्र अपने मूल रूप में तो उपलब्ध नहीं है। नन्दिकेश्वर की 'कारिका' अथवा 'काशिका'* में उसके कियदंशों का सारार्थ उपलब्ध होता है। उसकी प्रथम कारिका में इस प्रकार सृष्टि के आदि तत्त्व का निर्देश है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

(नन्दिकेश्वर कारिका १)

अर्थात्—नटराज शिव ने अपने नृत्य को समाप्त करने के पश्चात् सनकादि सिद्धों का उद्धार करने की कामना से अपने वागादि अगोचर रूप परमतत्त्व का ज्ञापन करने के लिए चौदह बार ढक्का (डमरू) को बजाया। उसी से वाणी के मूलभूत चौदह सूत्रों का आविर्भाव हुआ†। इन चौदह सूत्रों में निगूढ़ रहस्य निहित हैं।‡

माहेश्वर सूत्र का प्रथम सूत्र अइउण् है। इसमें का प्रथम स्वर 'अ' कण्ठ में स्थित है। इस 'अ' का उच्चार बिना प्रयास हो सकता है। मूक भी 'अ' की ध्वनि तो निकाल ही सकता है। वह 'अ' सभी स्वरों का आधार है। 'अकारो वै सर्ववाक्'। नन्दिकेश्वर ने इसी से कहा है :—

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।

(नन्दिकेश्वर कारिका २)

भगवान् कृष्ण ने भी गीता में 'अक्षराणामकारोऽस्मि'—ऐसा कहकर भाषा के आदिमूल उस 'अ' का महत्त्व स्वीकार किया है। विश्व की अन्य भाषाओं का आद्य अक्षर भी 'अ' ही है। अरेबिक, पर्शियन, लेटिन एवं अन्य भाषाओं के आरंभक वर्ण अ, आ या ए—ये 'अ' के ही रूप में प्रकट होते हैं।

---

* काशीस्थित राजकीय पुस्तकालय (सरस्वती भवन) में सुरक्षित हस्तलिखित प्रतिलिपि संख्या ८३८।

† ये चौदह सूत्र इस प्रकार हैं :—

(१) अइउण् (२) ऋलृक् (३) एओङ् (४) ऐऔच् (५) हयवरट् (६) लण् (७) ञमङणनम् (८) झभञ् (९) घढधष् (१०) जबगडदश् (११) खफछठथचटतव् (१२) कपय् (१३) शषसर् (१४) हल्।

‡ नन्दिकेश्वर कारिका की उपमन्युकृत टीका पर आधारित।

जैसे वाणी में 'अकार' आद्य स्वर है, और सभी स्वरों तथा व्यञ्जनों का आधार है, वैसे ही संगीत में षड्ज सभी अन्य स्वरों का आधार है। बिना षड्ज के अन्य सभी स्वरों का अस्तित्व ही असंभव है। षड्ज शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है—'षड्भिर्जायते' अथवा 'षड्भ्यो वै जायते'—अर्थात् जो छैः से उत्पन्न होता है अथवा छैः स्वरों की उत्पत्ति का जो कारण है। एक प्रकार से भाषा का 'अ' और संगीत का षड्ज दोनों एकरूप ही हैं। इसी से 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण'* में कहा है :—

.....अइउण् सरिगाः स्मृताः ॥

(रुद्रडमरू० २६)

अर्थात्—अ, इ और उ, ये तीन भाषा के स्वर संगीत के स रि ग के साथ एकरूप हैं।

भाषा का दूसरा स्वर है 'इ'। वह तालु स्थान में स्थित है। प्राणवायु को बाहर निकालने का वह 'इ' कारण है। और साथ ही वह 'इ' कामबीज होकर शक्ति का द्योतक है। यथाः—

इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात्कारणं मतम्। जगत्सृष्टुमभूद्ब्राह्मी इच्छा यदा ह्यासीत्तदाभवत् ॥
कामबीजमिति प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः ॥

(नन्दिकेश्वर कारिका की टीका में उद्धृत)

और भी कहा है :—

अकारो ज्ञप्तिमात्रः स्यात् इकारश्चित्कला मतः।

(नन्दिकेश्वर कारिका की टीका में उद्धृत)

अर्थात्—'अकार' केवल ज्ञानस्वरूप है और 'इकार' ज्ञान का साधन चित् है। शक्ति की महत्ता का तन्त्रों में पुनः पुनः उल्लेख किया गया है। यथाः—

शक्तिं विना महेशानि ! प्रेतत्वं तस्य निश्चितम्। शक्तिसंयोगमात्रेण कार्यकर्ता सदाशिवः ॥

शक्तिरूप 'इकार' के विना 'शिव' 'शव' हो जाता है। 'शिव' शब्द में से इकार निकाल दिया जाए तो वह 'शव' ही तो होगा। इसी से कहा है कि 'इकार' अर्थात् शक्ति के संयोग से ही शिव सदा कर्म करता है अथवा सदाशिव कर्म करता है। संगीत में ऋषभ शिव का वाहन है। इसी से, जो वीर्य और पराक्रम का का द्योतक है, ऐसा वह शक्तिस्वरूप ऋषभ और 'इकार' दोनों एक रूप हैं। संगीत के ग्रन्थों में इसी से ऋषभ को वीर रस का द्योतक माना है। यह ऋषभ बल और वीर्य को जाग्रत करता है।

जब कण्ठ और जिह्वादिक अवयव 'इकार' का उच्चारण करने के लिए उद्यत हों और कियदंश में अकार के बदले इकार के उच्चारण का यत्न किया जाए, तब उकार का सहज उद्भव होगा। उकार का अर्थ है शुद्ध परिच्छिन्न ब्रह्म यानी सगुण ब्रह्म। ठीक ही कहा है:—

उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरि ॥

(नन्दिकेश्वर कारिका की टीका में उद्धृत)

---

*तात्त्विक दृष्टि से व्याकरण और संगीत शास्त्र में नाद-तत्त्व की जो विवेचना प्राचीनों ने की है, उसका समन्वित रूप अभिव्यक्त करनेवाली विचारसरणी के ग्रन्थ अब लुप्तप्राय हैं। एकमात्र 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' (New Indian Antiquary, June, 1943) में प्रकाशित से इस परम्परा का कुछ संकेत मात्र मिलता है।

संगीत में यही 'उकार' गान्धार है, जो शृङ्गार और करुण रस का निर्माता है। भगवान् विष्णु के सौन्दर्य दर्शन का अनुभव इस गान्धार से अभिव्यक्त होता है। गान्धार वाक् का वाहन है—'गां धारयतीति गान्धारः' अर्थात् 'गां' यानी वागिन्द्रिय को जो धारण करता, उसे गान्धार कहते हैं। 'गान्धार' शब्द की दूसरी व्याख्या यों है:—

वायुः समुत्थितो नाभेः कण्ठशीर्षसमाहतः। नानागन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना॥

(नारदीय शिक्षा ९)

अर्थात्—नाभि से वायु उत्थित होकर कण्ठ और शीर्षस्थान* पर टकराता है। नासिका गन्धों को ग्रहण करती है, इसलिये इस स्वर को गान्धार कहा है। वह गान्धार दिव्यगन्धों से युक्त है। इसलिए भी उसे गान्धार कहा है।

अ, इ, उ—ये तीन स्वर जिस प्रकार समस्त वाणी के आधार हैं, तद्वत् षड्ज, ऋषभ, गान्धार—ये तीन स्वर समस्त संगीत के आधार हैं। निगूढ़ता से देखा जाए तो सा रे ग की सप्तक के पूर्वांग में जो अवस्था है, वही अवस्था प ध नि की उत्तरांग में है। 'म' स्वर क्योंकि पूर्वांग और उत्तरांग के मध्य में स्थित है, इसलिये शास्त्रकारों ने उसे 'मध्यम' कहा है। इस दृष्टि से सा रे ग, यही तीन स्वर संगीत के आधार हैं। इतना ही नहीं, संगीत में जो तीन ग्राम माने गए हैं, उनके आधार भी यही तीन स्वर हैं। नन्दिकेश्वर के नाम से प्रचारित निम्नलिखित कारिका इस कथन की पुष्टि करती है:—

स ग्रामोऽस्तीवति विज्ञेयस्तस्य भेदास्त्रयः स्मृताः। षड्जऋषभगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥

(१)

इस कारिका के अनुसार षड्ज, ऋषभ और गान्धार—ये तीन स्वर क्रमशः षड्ज-ग्राम, मध्यम-ग्राम और गान्धार-ग्राम के जन्मदाता हैं। सामान्यतः संगीत का अनुशीलन करने वालों में यह दृढ़ीभूत मान्यता पाई जाती है कि षड्ज, मध्यम और गान्धार ही उन २ नामों वाले ग्रामों के आधार-स्वर या आरम्भक स्वर हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। संभवतः यह पढ़कर लोग चौंकेंगे। किन्तु सत्य का दर्शन होते ही तिमिर तिरोहित हो जायगा। वास्तव में षडज, ऋषभ और गान्धार ही इन तीनों ग्रामों के आधार स्वरूप हैं। मध्यमग्राम का आरम्भक स्वर जो ऋषभ है—वह षड्ज और गान्धार के मध्य में स्थित है। इसीलिए उस ग्राम को 'मध्यम' नाम दिया गया है। जैसे सप्तक के पूर्वांग और उत्तरांग के मध्य में स्थित होने के कारण 'म' को 'मध्यम' कहा गया है, उसी प्रकार यह ऋषभ,—सा और ग के मध्य में स्थित होने के कारण, उस ऋषभ से आरम्भ होने वाले ग्राम को 'मध्यम ग्राम' कहा गया है। स्वर-ग्राम प्रकरण में इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण किया जाएगा।

ऋ ऌ इन स्वरों को नपुंसक माना जाता है, क्योंकि इनका स्थान गौण है।

यथा:—

सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋ ऌ नपुंसकौ॥

[रुद्रडमरू० २४]

संगीत में ऋ, ऌ का स्थान अन्तर गान्धार और काकली निषाद को दिया गया है।

ऋ मूर्धन्य स्वर है और उस ऋ का अर्थ परमेश्वर होना है। 'ऋतं सत्यं परब्रह्म'। संगीत में ऋ अन्तर गान्धार है, जो आज शुद्ध गान्धार के नाम से परिचित है।

---

* टीका में शीर्ष का अर्थ नासिका दिया है।

ऌ दन्त्य स्वर है और परमात्मा की वृत्ति का कारण है। शास्त्रकारों ने सामान्यतः दाँतों को माया का सांकेतिक रूप माना है। कहा भी है--

दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायाचालक उच्यते।

जैसे चन्द्र अपनी चन्द्रिका से निराला नहीं है, वैसे शक्ति शक्तिमान से अभिन्न है; जैसे अर्थ शब्द से भिन्न नहीं हो सकता, वैसे ही ऋ और ऌ की अभिन्नता मानी गई है। ऋ, ऌ के उपरिलिखित विवरण का आधार नन्दिकेश्वर की कारिका और उसकी टीका में इस प्रकार मिलता है—

ऋॡक् सर्वेशो मायाख्यां विस्तारितचराचराम्। वृत्तिमाश्रित्य चिद्रूपो जनयामास केवलः॥

(नन्दिकेश्वर कारिका ३)

ऋ परमेश्वरः ऌ मायाख्यां मनोवृत्तिमाश्रित्य इदं चराचरं जनयामास।
'कृत' सत्यं परब्रह्मनेत्यादि'—ऋपरं ब्रह्म सत्यमित्यर्थः।
वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते। चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद्वागर्थाविव सुन्दरि!॥

(नन्दिकेश्वर कारिका पर उपमन्युकृत टीका)

ऋ और ऌ एक रूप के दो पहलू हैं। संगीत में ऌ काकली नाम से प्रसिद्ध है और ऋ अन्तर गान्धार है। आज काकली शुद्ध या तीव्र निषाद के नाम से परिचित है, जो शृङ्गार भाव को व्यक्त करता है। अर्थात् जो वृत्तिरूप काम है। 'सोऽकामयत'।

ऋ ऌ की भाँति ये दोनों स्वर भी एक रूप के दो पहलू हैं। षड्जग्राम का काकली मध्यमग्राम में अन्तर गान्धार का स्थान पाता है, और मध्यमा-ग्राम का अन्तर गान्धार षड्जग्राम में काकली का स्थान पाता है। इस प्रकार अन्तर काकली की एकरूपता है। इसका स्पष्टीकरण स्वर-ग्राम-प्रकरण में किया जायगा।

अन्तर गान्धार और काकली निषाद वृद्धि के और विकास के द्योतक हैं। अन्तर गान्धार के बाद तत्काल मध्यम की तरफ बढ़ने की सहज प्रवृत्ति होती है। तद्वत काकली निषाद के बाद सद्य ही षड्ज में मिलने की कामना होती है। इसलिए ये दोनों स्वर पूर्वांग और उत्तरांग में विकास के द्योतक हैं। अन्तर गान्धार की श्रुति का नाम प्रसारिणी है और काकिली की श्रुति का कुमुद्वती। ये दोनों श्रुति-नाम विस्तार और विकास के सूचक हैं।

सब जानते हैं कि अकारादि उच्चारों के मुख्यतः पाँच स्थान हैं। संभवतः इसी से व्याकरण में मूल शुद्ध स्वरों की संख्या पाँच मानी गई है। शिवमतानुसार संगीत में भी आधारभूत पाँच ही स्वर माने हैं। सामवेद का आदिगान भी पाँच स्वरों से ही होता था*।

राग परम्परा में भी राग की न्यूनतम स्वर-संख्या पाँच ही मानी गई है। राग-रागिनी व्यवस्था को माननेवालों ने शंकर के पाँच मुखों से पाँच रागों की उत्पत्ति मानी है। छठा राग पार्वती-रचित कहा गया है।

---

*आर्चिक गाथिक सामिक और स्वरान्तर--ये पारिभाषिक शब्द क्रमशः एक, दो, तीन और चार स्वरों से सम्बन्धित पाठ-परम्परा के द्योतक हैं। देवार्चन में प्रायः एक ही स्वर प्रयुक्त होता है। इसलिए संभवतः आर्चिक कहा। गाथा पढ़ते समय ऊपर नीचे दो स्वरों का प्रयोग किया जाता है। इसलिए उसे गाथिक कहा। सामपाठ में (गान में नहीं) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों का उच्चार होता है। इसलिए उसे सामिक कहा। स्वरान्तर में चार स्वर प्रयुक्त होते हैं। सप्तक के पूर्वांग और उत्तरांग —यों दो भाग करने से प्रत्येक भाग में चार चार स्वर आए जाते हैं। इसी से उसे स्वरान्तर कहा है।

यानी शिव-संभूत रागों की संख्या भी पाँच ही है। स्वर-संवाद की दृष्टि से भी षड्ज-पञ्चम-भाव विश्रुत है और वह भी पाँच का ही द्योतक है। पाँच की संख्या के सांकेतिक महत्त्व के ये कुछेक उदाहरण हुए।

व्याकरण की दृष्टि से अकार में 'इकार' के मिलने से एकार होता है। हम पहिले ही कह चुके हैं कि 'अ' यानी ब्रह्म और 'इ' यानी शक्ति—और इन दोनों की एकता यानी 'ए' है। वह 'ए' शिव-शक्ति की तद्रूपता सूचित करता है। और इसी से एकार, यह ज्ञानस्वरूप होकर परमतत्त्व की प्राप्ति का उपाय माना गया है। एकार के सम्बन्ध में नन्दिकेश्वर और उसके टीकाकार उपमन्यु ने ठीक ही कहा है :—

एओङ् महेश्वरावैक्यं विज्ञानं सर्ववस्तुषु। सान्निध्यात्सर्ववस्तूनां स एक इति निश्चितम्॥

(नन्दिकेश्वर कारिका ४)

अ अक्षरः इ मायारूपस्सन्। सम्यग्ज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा स्वयं प्रविश्य तद्रूपेण वर्तते। वटबीजन्यायेनेति।

(उपमन्यु की टीका)

संगीत में एकार मध्यम स्वर है और उसे गंभीर भाव और शान्तरस का आधार माना है। उस मध्यम की मूर्ति की चन्द्रमा के रूप में कल्पना की गई है। षड्ज मध्यम-संवाद को उस दृष्टि से देखने सुनने-वाले उस मध्यम में चन्द्र की सी शीतलता और शान्ति का अनुभव करते हैं। 'एओङ् मपौ' ऐसा रुद्रडमरू० (कारिका २६) में उल्लिखित है।

अकार और उकार का मिश्रित रूप है ओकार। अकार रूप परब्रह्म का, उस ब्रह्म से ही संभूत 'उकार' रूप विश्व-प्रपञ्च में प्रवेश पाना, उसी का नाम है 'ओकार'। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति'। 'अ' परब्रह्म का निर्गुण स्वरूप है। और 'उ' उसका सगुण स्वरूप है। सगुण में निर्गुण का भास, यही 'ओ' का रहस्य है। और इसी से ओकार से ओंकार यानी प्रणव का प्रादुर्भाव हुआ है। ओंकार यह निर्गुण सगुण के वास्तविक अद्वैत का द्योतक है। और उसकी मूर्ति कहें या आकृति कहें, वह गणपति है।

ॐ की यह आकृति जो नक्शे की दृष्टि से पश्चिम-पूर्व है, उसे यदि उल्टा करके उत्तर-दक्षिण—ॐ यों किया जाए—तो गणपति की आकृति का दर्शन स्पष्ट होगा। यदि हम कन्धे से सीधे कान की सीधी रेखा में ऊपर को भुजा उठाएँ तो धड़ से ऊपर के भाग की आकृति भी आधी ॐ की बन जाएगी। दोनों हाथ उकार के दोनों ओर के गोलार्ध बन जाएँगे और मस्तक उकार के बीच की घुंडी बन जाएगा। नीचे का धड़ का भाग ओङ्कार की अर्धमात्रा बन जाएगा।

संगीत में यह ओ पञ्चम स्वर है। स्वरों के क्रम में पञ्चम पाँचवाँ स्वर है। वह पञ्चम कारण-तत्त्व आकाश का द्योतक है। अतः उसकी मूर्ति सूर्य है। सूर्य का उदय होने से जैसे विश्व जागृत होता है, और प्रफुल्लित बनता है, तद्वत् पञ्चम स्वर को सुनने से जीवमात्र उत्थित और आनन्दित होते हैं। जो स्वरज्ञ हैं, स्वर के भाव रस को जो जानते हैं, वे भली भान्ति समझते हैं कि पञ्चम स्वर का उपर्युक्त वर्णन कितना यथार्थ है।

अकार में एकार के मिलने से ऐकार होता है और अकार में ओकार के मिलने से औकार बनता है। 'अ' के साथ 'ए' का सम्बन्ध यानी परब्रह्म के साथ ज्ञान का सम्बन्ध—ब्रह्म और ज्ञान की एकरूपता को इस ऐकार से सूचित किया गया है। संगीत में ऐ धैवत स्वर है। 'धनी ऐऔचू' (रुद्रडपरू० का० २६)। धैवत

स्वर के दो रूप हैं—एक शान्त मृदु, दूसरा क्रियात्मक। उसका क्रियात्मक रूप उग्रता, भय और जुगुप्सा का द्योतक है।

'औ' विश्व में परमतत्त्व की व्यापकता का सूचक है। यथाः—

ऐओच् ब्रह्मणो रूपः सन् जगत्स्वान्तर्गतं ततः। इच्छया विस्तरं कर्तुमाविरासीत् कृपानिधिः॥

(नन्दिकेश्वर कारिका २)

संगीत में 'औ' निषाद के नाम से प्रसिद्ध है। आधुनिक काल में वह निषाद कोमल कहलाता है। स्वरों की गिनाई में नी अन्तिम स्वर है। स्वरों की पराकाष्ठा का वह सूचक है। इसी से उसे निषाद कहा है। यथाः—

निषीदन्ति स्वराः सर्वे निषादस्तेन कथ्यते॥

(बृहद्देशी ६४)

निषाद और निषद् यह उपनिषद् का तत्त्व है। उसका दूसरा नाम वासुदेव भी है।

व्याकरण और संगीत के स्वरों का जो समन्वित रूप हमने देखा, उसी को निम्नलिखित सारणी में पुनः स्पष्टतया देख लें।

व्याकरण के स्वर	व्याकरण के स्वरों का दार्शनिक स्वरूप	व्याकरण के स्वरों के समकक्ष अथवा उनके साथ एकरूप संगीत के स्वर	संगीत के स्वरों का भाव-रूप अथवा उनकी विशेषता
अ	अक्षर ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म	षड्ज	षट्चक्रों से उत्पन्न और षट्स्वरों का जनक
इ	शक्ति	ऋषभ	वीर्य, पराक्रम का द्योतक
उ	परिच्छिन्न ब्रह्म या सगुण ब्रह्म	गान्धार	शृङ्गार, करुण रस का निर्माता
ऋ	परब्रह्म	अन्तर गान्धार	विस्तार का द्योतक
ऌ	परमेश्वर की मनोवृत्ति माया	काकली निषाद	विकास का द्योतक
ए	शिव-शक्ति की तद्रूपता ज्ञानस्वरूप	मध्यम	शान्तरस, गंभीर भाव
ओ	सगुण, निर्गुण ब्रह्म का मिश्र रूप	पञ्चम	जागृतिसूचक
ऐ	ब्रह्म और ज्ञान की एकरूपता	धैवत	दो रूप—एक शान्त मृदु, दूसरा क्रियात्मक। दूसरे रूप में उग्रता, भय और जुगुप्सा।
औ	विश्व में परमतत्त्व की व्यापकता	निषाद	शृंगार, करुण रस

इस प्रकार व्याकरण और संगीत का, शब्द और स्वर का परस्पर कैसा और कितना प्रगाढ़ सम्बन्ध है, और उनके निगूढ़ अर्थों का शास्त्रों में किस प्रकार समन्वय किया गया है, इसका उपरिलिखित अत्यल्प विवरण से कुछ आभास मिल सकेगा। इतने ही पर से यह स्पष्ट होगा कि गान्धर्व वेद या संगीतविद्या कितनी विराट् और अथाह है। उसके विधिपूर्वक अध्ययन से सभी विद्याओं का रहस्य खुल जाता है। इसी से संगीत को भारतीय संस्कृति का एक अनुपम अंग माना है। उसके जानने से, समझने से एवं मनन करने से मन और

बुद्धि चकित ही नहीं रह जाते हैं, अपितु मंज जाते हैं, स्थैर्य लाभ करते हैं और आत्मनिमज्जन पाते हैं। उससे अन्तर में भारत के उन तपस्वी मनीषियों के प्रति परम आदर जागृत होता है, उनके प्रति विनम्र भाव से मस्तक नत होता है तथा हृदय गौरव से भर जाता है। अस्तु।

गान्धर्व-विद्या के मूलभूत तत्त्वों का दर्शन-शास्त्रोक्त विश्वव्यापी तत्त्वों के साथ कितना निगूढ़ सम्बन्ध है, इसे हम एक अन्य दृष्टि से पुनः देख लें।

यह सृष्टि तीन और सात की संख्या के तत्त्वों से व्याप्त है। वेद के इस वचन—'ये त्रिसप्ता पर्यन्ति विश्वारूपाणि'—से इस सत्य की पुष्टि होती है कि तीन और सात की संख्या पर जगत् आधारित है। एक, अद्वितीय ब्रह्म, माया के संसर्ग से द्वैतभाव को पाता है। उस द्वैत में से, सांख्य-मतानुसार सत्, रज, तम और वैशेषिक मतानुसार द्रव्य, गुण, क्रिया—ये तत्त्व विभक्त होते हैं। विभिन्न वर्णों (रंगों) का त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम) के साथ इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ा गया है। प्रथम, रज से रक्त और पीत वर्णोंमें विभाजन होता है और इन दो वर्णों के साथ सत्त्व और तम के क्रमशः श्वेत और कृष्ण वर्णों का संयोग होने से अनन्त वर्णों का निर्माण होता है। फिर भी उन अनन्त वर्णों के पृथक्करण से पौरस्त्य और पाश्चात्य विज्ञान ने मुख्यतः सात वर्ण निश्चित किये हैं। जो नियम वर्ण या रंग सृष्टि को लागू होते हैं, वही ध्वनि-सृष्टि यानी स्वरों को भी लागू होते हैं। इसलिये स्वरों की संख्या भी सात ही मानी गई है।

हम पहिले ही कह आए हैं कि सप्त स्वरों में से सा, रि, ग और व्याकरण के अ, इ, उ—ये तीन स्वर ही मुख्य हैं। तीन की संख्या के मूलभूत रूप के अन्य अनेकों उदाहरण हमें मिलते हैं। यथा—त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम, त्रिदेव—विष्णु, ब्रह्मा, महेश, त्रिदेवी—महालक्ष्मी, महासरस्वती, महाकाली, त्रिशक्ति—चित् शक्ति, जीवशक्ति, मायाशक्ति, त्रिवेद—ऋक्, साम, यजु, त्रिलोक—भूः, भुवः, स्वः, त्रिवर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, (शूद्रों को वेद में अधिकार न होने से, उन्हें मूल वर्णों में नहीं गिना जाता), त्रिताप—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, तीन अवस्था—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीन स्थिति—अधो, ऊर्ध्व, मध्य, पुरुष, जीव और प्रकृति का त्रिकोण, तीन लय—द्रुत, मध्य, विलम्बित, संगीत के तीन स्थान—मन्द्र, मध्य, तार—इत्यादि, तीन के अनेकों प्रकार विश्व में व्याप्त हैं जो देखनेवालों को दिखाई दे सकते हैं। तद्वत् सप्त की संख्या भी सारे विश्व में व्याप्त है। यथा—सप्त स्वर, सप्त वर्ण (रंग), शरीरस्थ सप्त धातु, सप्त वात, सप्त ग्रह (आठवें और नवें ग्रह राहु और केतु को मूल ग्रहों में नहीं गिना जाता), सप्त ऋषि, सप्त व्याहृति, सप्त ऊर्ध्वलोक, सप्त अधः लोक, सूर्य की सप्त रश्मियाँ (जिन्हें सूर्य के रथ के सात घोड़ों का रूपक दिया गया है)—इत्यादि सात की व्यापकता के प्रमाण हैं।

तद्वत् संख्या-शास्त्र की दृष्टि से भी संख्याओं की मर्यादा सात तक ही है। कारण उसके आगे आठ, यह चार का दुगना है या दो का चौगुना है, नौ यह तीन का तिगुना है, और दस, यह पाँच का दुगना है। इस दस संख्या में संख्या का मूल एक जोड़ने से ग्यारह की विषम संख्या सिद्ध होती है और इस ग्यारह की द्विगुण करने से बाईस संख्या में समत्व की मर्यादा पूर्ण होती है। इसी से $\frac{२२}{७}$ की अपूर्ण संख्या जगत् का अपूर्णत्व निर्दर्शित करती है। क्या आश्चर्य है कि भारतीय संगीत में भी बाईस श्रुतियाँ और सप्त स्वर हैं। इन बाईस श्रुतियों और सप्त स्वरों का इन संख्याओं के साथ कैसा सुन्दर समन्वय है, यह स्वाभाविकतः हमें दृष्टिगोचर होता है।

श्री राजवाडे* के कथनानुसार जगत् के वर्तुल में जो केन्द्र-बिन्दु रहता है, उसी को 'अणोरणीयान्' कहने से Euclid के महत्त्वरहित बिन्दु यानी magnitudeless point का स्पष्टीकरण होता है और इसके

* देखिए श्री शंकर रामचंद्र राजवाड़े कृत 'ईशावास्योपनिषद्भाष्य'।

बाहर जो चक्राकार वर्तुल का विस्तार है, उसी को 'महतो महीयान्' कहने से Einstein का अन्तर्हित वर्तुल यानी boundless circle दीख पड़ता है। वेद में कहा हुआ आदित्य यही है। जिसको 'दिति' यानी बन्धन नहीं है, ऐसी अदिति का पुत्र ही आदित्य कहलाता है।

नाद, स्वर और श्रुति की 'अणोरणीयान्' की शक्ति इस विवरण से अभिज्ञात होती है और हमें अनन्त के 'महतो महीयान' की ओर ले जाने वाले संगीत की अपार महत्ता का आदित्य-दर्शन हो जाता है।

अब तक हमने विभिन्न दृष्टिकोणों से, नाद की शास्त्रीय चर्चा की। ध्वनि के भिन्न भिन्न पहलुओं का हमने दर्शन किया। योग, तन्त्र, व्याकरण, न्याय-मीमांसा, साहित्यशास्त्र इत्यादि के अनुसार नाद की व्याप्ति और महत्त्व को हमने देखा। साथ ही व्याकरण के स्वरों और संगीत के स्वरों का समन्वय, सृष्टि की उत्पत्ति के साथ उन स्वरों का सम्बन्ध इत्यादि ऋषिकथित विचारधारा को भी हमने देखा। अब हम, नित्य के व्यवहार में इस नाद का जो विशद उपयोग होता है, उसे भी देख लें।

वन्य जाति, ग्रामीण और नागरिक मानवकुल ही नहीं, प्राणीमात्र इस नाद या ध्वनि से कितने अधिक प्रभावित होते हैं और उनके जीवन में नाद का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसे देख लेना यहाँ अस्थानीय नहीं होगा।

यों तो सब जानते हैं कि भगवान् कृष्ण की मुरली के नाद की अपार महिमा गाते हुए वेदव्यास थके नहीं हैं और उनकी वाणी के पढ़ने सुनने वाले भी, सदियाँ बीत जाने पर भी अघाये नहीं हैं। कुछ लोग श्रीमद्भागवत् में वर्णित उस बंसीलीला को वेदव्यास की काव्य-प्रतिभा की प्रसादी मानते हैं। उसके वास्तविक सत्य के प्रति उनकी श्रद्धा नहीं है। हमारे मत से, व्रजवासी प्राणीमात्र पर वेणु के उस नाद की जो अपार महिमा छाई हुई थी, उसी को, उन प्राणियों के अन्तर से उद्‌घोषित उसी भाव को वेदव्यास ने अपनी वाणी में अवतरित मात्र किया है। कतिपय शब्दों में व्यासदेव ने तो उस वास्तविक सत्य का अल्प दिग्दर्शन मात्र ही किया है।

महर्षि वेदव्यास की वाणी का एक उदाहरण मात्र यहाँ देना पर्याप्त होगा। यथा:—

वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाऽह्वयति स यदा हि।
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेम हृष्टतनवः ससृजुः स्म॥

(श्रीमद्भागवत् १०।३५।८९)

जड़ को चेतन और चेतन को जड़ बना देने वाले, मुरली के उस अनुपम नाद को अनेकों भक्त कवियों ने संस्कृत और अन्य देशी भाषाओं में अपने काव्य का विषय बनाकर अपनी लेखनी को धन्य किया है।

आज के वैज्ञानिक, भगवान् श्रीकृष्ण की कालियमर्दन की कथा को भी कवि-कल्पना कहते हैं। मुरली के नाद से भगवान् कृष्ण ने कालिय नाग को सम्मोहित कर उसे नथ लिया, इस सत्य की स्वीकृति देने के लिए वे तैय्यार नहीं हैं। वैज्ञानिक अपने मत की पुष्टि के लिए यह कहते सुने गए हैं कि नाग को तो कान ही नहीं होते। वह मुरली के नाद को कैसे सुनेगा और सम्मोहित होगा? तर्क तो अच्छा है। जिसे कान ही नहीं हैं, वह मुरली का नाद कैसे सुनेगा? और जो सुन ही नहीं सकता, मुरली के नाद द्वारा उसके सम्मोहित होने की बात कहाँ रही? हम ऐसे लोगों का प्रतिवाद करना नहीं चाहते। किन्तु हमारे पूर्वज वैज्ञानिकों द्वारा नाग के लिये दिये हुए एक नाम की ओर उनका ध्यान अवश्य दिलाना चाहते हैं। प्राचीनों ने नाग के लिए चक्षुःश्रवा यानी आँख से सुनने वाला, इस शब्द का प्रयोग किया है। उस नाग को कान न होने के जिस तथ्य को आज के वैज्ञानिक अभी अभी जान पाए हैं, उसे उस युग के वैज्ञानिक, जानते ही थे। फिर भी स्वानुभव के आधार

पर उसको चक्षुःश्रवा नाम देकर उन्होंने यह दर्शाया होगा कि नाग कान से सुनता है। संभव है, आज के वैज्ञानिक भी कालान्तर में इसकी प्रतीति पा लेगें और नाग को चक्षु से सुनने वाला घोषित करेंगे।

हम सब जानते हैं कि हमारे बीच रहने वाला अन्धा मनुष्य आँखें न रहने पर भी बहुत कुछ देख लेता है जो कि आँखों वाले भी नहीं देख पाते। एक इन्द्रिय की न्यूनता से उसकी अन्य इन्द्रियाँ इतनी जागृत और सक्रिय हो जाती हैं कि जिसे देख कर आँख वालों को भी चकित रह जाना पड़ता है। यह नितान्त सत्य है कि अन्धे को भगवान् ने दिव्यदृष्टि दी होती है। तद्वत् जिसे कान नहीं हैं, ऐसे नाग की आँख की इन्द्रिय ही इतनी बलवती होती होगी, जिससे वह सुन भी सकता होगा। नाग अवश्य सुनता है, उसमें हमें सन्देह नहीं। सदियों से विषधर नाग की नादलुब्धता समाज में प्रचलित है। संगीत के शास्त्रकारों ने भी नाद पर नाग के मोहित हो जाने का वर्णन किया है। यथा—

क्रुद्धो विषं वमन् सर्पः फणानान्दोलयन्मुहुः। गानं जाङ्गलिकाच्छ्रुत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥
[सं० पा० १।१४]

नाग की भान्ति हरिण की नादलुब्धता भी प्रसिद्ध है। यथा—

वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः। लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्॥
(सं० र० १।१।२९)

मृगः सोऽपि तृणाहारो विचरन्नटवीं सदा। लुब्धकादपि संगीतं श्रुत्वा प्राणान्प्रयच्छति॥
[स० पा० १।१३]

प्राणीमात्र पर संगीतमय नाद के व्यापक प्रभाव का 'संगीत सुधा' में इस प्रकार निदर्शन किया गया है—

न केवलं मानवमोदमात्रं तनोति गीतं प्रमदं तिरश्चाम्॥
[संगीत सुधा १।१५]

भील, किरात, गोंड, सन्थाल वगैरह जातियों के लोग अपने जीवन में नाद का एक निराला ही उपयोग करते हुए देखे गए हैं। जब किसी हिंस्र पशु का शिकार करने का अवसर आता है, तब वे लोग कुछ विचित्र वाद्यों से एक अद्भुत घोष गुंजाते हैं, जिस नाद को सुनकर हिंस्र प्राणी भी स्तब्ध रह जाता है और मुड़कर, जिस दिशा से नाद सुनाई देता हो, उधर देखने लगता है। नाद से उस प्राणी में स्तम्भितावस्था उत्पन्न होते ही ये वनमानव उसका शिकार कर लेते हैं।

कुछ कीटकों में, मछलियों में और ऐसे अन्य प्राणियों में भी यही प्रवृत्ति देखी गई है। वे अपने शिकार को पकड़ने के पूर्व एक विशेष प्रकार की आवाज प्रसारित करते हैं, जिस आवाज के असर से शिकार रुक जाता है और उसे आसानी से पकड़ लिया जाता है।

प्रवासियों से यह अज्ञात नहीं है कि मृगों का शिकार करनेवाले, अपने घोड़े के गले में भिन्न भिन्न नाद के घूंगरू बाँध लेते हैं, जिनकी आवाज को सुनकर मृग खड़े हो जाते हैं और चकित होकर कुछ क्षण देखते रह जाते हैं। भीतर से वे जानते हैं कि हमें मारने वाला कोई आया है। इसलिए प्राणभय से भागते भी हैं। किन्तु भागने पर भी उन घूंगरुओं के नाद को सुनने के लिए पुनः पुनः रुक जाते हैं। और उनके रुकने के अवसर पर ही शिकारी अपना काम साध लेते हैं।

बैजू बावरा की, बीन बजाकर मृगों को बुला लेने की और उनके गले में माला डाल देने की कथा लोगों में प्रसिद्ध ही है।

अपनी अपनी गौओं, बकरियों, भेड़ों और मुर्गियों के दलों को सन्ध्या समय वापिस बुलाने के लिए किये जाने वाले नाद के प्रयोग तो देहात में सभी जानते हैं।

हम मानव, जो अनेक भाषा सीखते हैं, बोलते हैं और उनके द्वारा अपना व्यवहार चलाते हैं, यह भूल जाते हैं कि अन्य प्राणी जो शब्द की भाषा नहीं बोल पाते, वे सभी नाद के ही द्वारा अपना परस्पर व्यवहार चलाते हैं। उनमें भी सुख-दुःख, स्नेह-तिरस्कार, काम, क्रोध इत्यादि सभी भावनाएँ विद्यमान हैं और उन सभी भावनाओं का उद्रेक वे नाद के मध्यमा वाक् से ही अभिव्यक्त करते हैं, वैखरी से नहीं।

कुछ लोग शायद कह उठेंगे कि, तो क्या जगत् के सभी नादों में कोई अर्थ है? बादल की गड़गड़ाहट, समुद्र की गर्जना प्रभञ्जन का बहना, झरनों की कलकल और ऐसे अनेकों नाद इस आकाश में होते रहते हैं। क्या इनका भी कुछ अर्थ है? श्रद्धालु जन से हमारा निवेदन है कि हाँ, इन सभी नादों का अर्थ है। विश्व में यदि कोई वस्तु निरर्थक नहीं है, तो नाद भला कैसे निरर्थक हो सकता है?

आप घर में बैठे हुए हैं, किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। उस आहट ने कह दिया कि फलाने आ रहे हैं। घर में बैठे आप आराम कर रहे हैं या किसी काम में जुटे हुए हैं; द्वार पर टक्टक् की आवाज आई। उस टक्टक् ध्वनि ने सन्देश दिया कोई आए हैं, किवाड़ खोलो। गौ के रम्भाने का अर्थ आज के नागरिक क्या समझेंगे? जो उस गौ के सान्निध्य का सेवन करते हैं, वे जानते हैं कि उसके रम्भाने में कितना निगूढ़ अर्थ और निगूढ़ प्यार भरा हुआ है। वसंत में कोकिल, वर्षा में मयूर—विशेष अवसर पर पपीहा, बुलबुल, गानेवाला लार्क (Lark) क्या उन्हें पागलपन सवार हुआ है जो बार-बार कुहक-कुहक कर ब्रह्माण्ड को गुँजाया करते हैं? नहीं, वे पागल नहीं हैं, उनकी वह प्रेम की पुकार है, अपनी प्रेयसी का आवाहन है, संवेदना का उद्रेक है, मूक अन्तर की अभिव्यक्ति है। हाँ, यह वे कान ही सुन सकते हैं, जिनके पास इस अपार नाद समुद्र की अनगिनत तरंगों को भावुक अन्तःकरण से सुन सकते हैं, देख सकते हैं। मेघ की गड़गड़ाहट में रहे हुए अपार अर्थ को सुनने और समझने के लिये हमें कालिदास के कान चाहिए और उसके जैसा दिल चाहिए। मेघ को दूत बनानेवाले कालिदास को नाद के किस अर्थ ने प्रेरित किया होगा? महाकवि को प्रेरणा देनेवाला वह नाद क्या निरर्थक हो सकता है?

हमारी राय में ब्रह्माण्ड का कोई नाद, चाहे वह स्वरमय हो या निःस्वर, झङ्कृत हो या अनुरणनहीन, आहत हो या अनाहत निरर्थक नहीं ही है।

हम सभी जानते हैं कि मानव-शिशु, जिसे वर्ण, पद, वाक्य की भाषा क्या है, यह कुछ भी ज्ञात नहीं है, वह भी नाद से आकृष्ट होता है, माँ की या बहिन की लोरियों से, रोना छोड़कर प्रगाढ़ निद्रा का सुख पाता है। यहाँ तक कि उसको रिझाने के लिए जो खिलौने दिये जाते हैं, उनमें भी झुनझुने जैसे नादमय खिलौनों का प्राधान्य रहता है। नगरवासियों के बच्चे खा रहे हों, खेल रहे हों या माँ की गोद में बैठे हों, फिर भी बाहर रस्ते पर बाजा बजाते ही वे भाग खड़े होते हैं और दौड़े चले आते हैं। संगीत के अनेक ग्रन्थकारों ने नाद के प्रति शिशुओं के प्रबल आकर्षण का वर्णन किया है। यथा :—

अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यङ्किकागतः। रुदन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥

(सं० र० १।१।२८)

दोलायां शायितो बालो रुदन्नास्ते यदा क्वचित्। तदा गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥
सं० पा० १।१२)

बालोऽपि डोलाशयने शयालुराकर्ण्य गीतं रुदितं जहाति।
(संगीत सुधा १।१५)

नाद का प्राणीमात्र के लिए कितना अपार आकर्षण है, इसका वर्णन कौन कर सकता है?—'अहो नादस्य महात्म्यं कः प्रशंसितुमीशते'।

नाद के चमत्कारों का अल्पाधिक अवलोकन करने के पश्चात् अब हम एक अन्य क्षेत्र में उसके विशेष उपयोग का अल्प परिचय पा लें। संगीत के प्राचीन ग्रन्थों में सप्त स्वरों के सप्त ऋषि, सप्त देवता, सप्त वर्ण (रंग), सप्त द्वीप, उन स्वरों के ब्राह्मणादि वर्ण—इत्यादि अनेक बातें उल्लिखित हैं। उन सबके विषय में लिखने का यहाँ अवकाश नहीं है। किन्तु स्वरों के रंगों का सूर्य की सप्त किरणों, सप्त ग्रहों, शरीर की सप्त धातुओं एवं पारदादि खनिज द्रव्यों के साथ जो सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध के आधार पर स्वरों द्वारा जो एक विशेष प्रकार की चिकित्सा की जा सकती है, उस सम्बन्ध में अल्प में कुछ उल्लेख यहाँ करें तो अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि वह भी नाद की शक्ति का ही एक अंग है।

सामान्य रूप से सूर्य की किरणों में हम रंग नहीं देख पाते। किन्तु इन्द्रधनुष में वह सप्त रंग हमें साफ़ दिखाई देते हैं अथवा 'प्रिज्म' (काँच का हीरा) को सूर्य के प्रकाश में रखने से वह सप्त रंग दृष्टिगोचर होते हैं। सूर्य के रथ के साथ सात घोड़े जुते रहते हैं, ऐसा जो कहा जाता है, वह भी इन सप्त रंगों को सूचित करता है। इन्हीं सप्त किरणों के सप्त रंगों के साथ भारतीय संगीत के सप्त स्वरों के सप्त रंगों का सम्बन्ध है। 'क्रोमोपेथी' नामक चिकित्सा में सप्त रंगों की बोतलों में सादा पानी भर कर सूर्य के प्रकाश में उन्हें रखा जाता है और भिन्न भिन्न रोगों में भिन्न भिन्न रंगों की बोतलों का जल दिया जाता है। इससे रोग निर्मूल होता है। जामनगर में वहाँ के महाराजा जामसाहब ने इन्हीं सूर्य किरणों का उपयोग अपने सोलेरियम (Solarium) अथवा सूर्य-चिकित्सा-शाला में किया है। इसी प्रकार की चिकित्सा रागों में प्रयुक्त स्वरों द्वारा की जा सकती है, क्योंकि सप्त रंगों वाले सप्त स्वरों का शरीर की सप्त धातुओं पर उसी प्रकार असर होता है, जैसा कि सूर्य किरणों का।

आयुर्वेद की दृष्टि में वात, पित्त, कफ और इन तीनों के संयोग से बने हुए अन्य तत्त्वों का तन और मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। तद्वत् इन सप्त स्वरों में भी वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, वातपित्तकफज और सन्निपातज या त्रिदोषज—इस प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रकृति पाई गई हैं। तदुपरान्त रागों में प्रयुक्त विभिन्न स्वर-संगतियाँ भी कटु, अम्ल, तिक्त, उष्ण, मधुर आदि रसों को आविर्भूत करती हैं और मृदु, उग्र, शान्त, दीप्त आदि भावों को अभिव्यक्त करती हैं, जिनके देह पर विभिन्न परिणाम होते हैं। नाद के भौतिक (Physical) परिणाम के अतिरिक्त उसके मनोवैज्ञानिक (Psychological) परिणाम भी हैं और इन दोनों के समन्वय से एक नई चिकित्सा पद्धति का आविष्कार किया जा सकता है जिसका उपयोग पहिले हमारे यहाँ किया जाता था और आजकल नये देशों में किया जाने लगा है। जिसे हम भूल बैठे हैं, उसे नये सिरे से जगा दें और उत्तिष्ठित करके प्रतिष्ठित कर दें।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि जो न पूर्ण जड़ हैं, न पूर्ण चेतन हैं, जिन पर नाद के भौतिक या मनोवैज्ञानिक असर को जाँचना कठिन है, ऐसे उद्भिज अर्थात् वनस्पति जगत् पर नाद का कोई परिणाम होता है या नहीं।

वनस्पति-शास्त्र के विशेषज्ञों से हमने इस सम्बन्ध में पृच्छा की थी, किन्तु वे समाधानकारक उत्तर नहीं दे सके थे। फिर भी हमारी आत्मा कह रही थी कि वनस्पति-सृष्टि पर भी नाद का असर अवश्य पड़ता होगा। मनुष्य योनि में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं का हमारे नित्य के जीवन में हम अनुभव पाते हैं। योगियों की दृष्टि में ऐसी ही तीन अवस्थाएँ, प्राणियों के चैतन्य के विकास के सम्बन्ध में मानी जाती हैं। यथा—उद्भिज या वनस्पति, ये प्रसुप्त चैतन्य-अवस्था के प्राणी हैं, पशु पक्षी आदि चैतन्य की स्वप्न-अवस्था में और मनुष्य जाग्रत चैतन्य-अवस्था में हैं। जाग्रत अवस्था में सुख-दुःख का परिणाम तत्काल शरीर पर भी होता है, स्वाप्नावस्था में सुख-दुःख का अनुभव तो होता है, किन्तु शरीर पर उसका परिणाम अल्प मात्रा में होता है और प्रसुप्तावस्था में सुख-दुःखानुभव नहींवत् होता है। वनस्पति जगत् का चैतन्य प्रसुप्तावस्था में होता है। इसलिए उन्हें सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का असर अत्यन्त क्षीण मात्रा में होता है, लेकिन होता अवश्य है।

सर जे. सी. बोस. जिन्होंने वनस्पति-शास्त्र पर विशेष अनुसन्धान करके आधुनिक युग को यह प्रमोक्षित कर दिखाया था कि वनस्पति में भी जीव है, उनकी प्रयोग-शाला में जाकर हमने भैरवी गाई थी। गाने के पूर्व यन्त्र द्वारा पौधों के पत्तों की अवस्था देखी थी और गाने के बाद उन पत्तों पर आई हुई नई चमक का दर्शन भी किया था। इसी प्रयोग से यह अनुभूति हुई थी कि इन वनस्पतियों पर नाद-तत्त्व का और भिन्न-भिन्न रागों का असर अवश्य होता होगा। किसी वनस्पति को छूने मात्र से या उँगली दिखाने मात्र से यदि वह मुरझा सकती है, तो फिर स्वर का परिणाम उन वनस्पतियों पर हो और उससे वह प्रसन्न या अप्रसन्न, प्रफुल्लित या दुःखित, विकसित या मूर्छित हो उठें तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है? श्री राग द्वारा वृक्षों की डालियों के नवपल्लवित होने की और तद्वत् अन्य रागों की अन्य कथाएँ सुनी गई हैं। यदि इस दिशा में यथायोग्य अनुसन्धान किया जाए तो नाद-तत्त्व के असर की विशालता के एक नए क्षेत्र का दर्शन होगा।

नादानुसन्धान से कुण्डलिनी जागृत करने वाले योगियों की कथाएँ, नाद शक्ति से अणिमा, लघिमा, महिमा इत्यादि अष्टसिद्धियों के चमत्कार प्राप्त करने वाले सिद्धों की गाथाएँ, नाद से व्यक्ति को अदृश्य करने वाले जादूगरों के प्रयोग की कहानियाँ, दीपक राग से दिये जलाने और मल्हार से पानी बरसाने की किंवदन्तियाँ आज भी लोक-प्रचलित हैं। आज का युग इन बातों पर विश्वास करे या न करे, किन्तु इन कहानियों और किंवदन्तियों के मूल में सत्य के बीज विद्यमान हैं, ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी। वत्सराज उदयन घोषवती वीणा बजा कर हाथी को वश करते थे, यह महाकवि भास का कथन क्या हम असत्य मानें या उन पर विश्वास करें? हाथी के पैरों तले रौंदे जाने का दण्ड पाए हुए मृदंगाचार्य कुदोसिंह ने गणेश परन बजा कर, प्राण लेने वाले मतवाले हाथी को अपने वश में कर लिया था। यह तो कल की बात है। कुदोसिंह के पुत्र के मुख से वही गणेश परन हमने स्वयं सुनी है। उनके पुत्र कहते थे—'बजाने का मुझ में बल नहीं है, किन्तु याद है, सुना देता हूँ।'

राजाओं के जन्म, मरण, युद्ध और शासन से भरे हुए इतिहास में कलाकारों को कहाँ स्थान? यदि उन्हें उचित स्थान दिया गया होता तो भारत की कला और भारतीय संस्कृति का परकीय शासन में जो घोर पतन हुआ, वह न होता।

दीपक और मल्हार की किंवदन्तियों के पीछे भी जो तत्त्व काम कर रहा है, उसे वैज्ञानिक अनुसन्धान से जाँचना चाहिए। अब तक तो जाँचने का कोई अवसर हीं नहीं था क्योंकि परकीय शासन में हम परवश थे। किन्तु अब इसके पीछे प्रगाढ़ अनुसन्धान की आवश्यकता है।

दीपक राग के लिए एक ओर से तो यह कहा जा सकता है कि 'दीपक' यानी दीपन करने वाला, मानव के मन को उद्दीप्त करने वाला। स्वरों के मनोवैज्ञानिक असर को देखते हुए दीपक का उद्दीपन के साथ सम्बन्ध जोड़ना सहज है। अथवा 'दीपक' नाम के साथ किसी विशेष प्राचीन रूपक का सम्बन्ध भी हो सकता है।

स्वरों की भिन्न भिन्न frequency, उनका गणित-मूल्य और उनके मनोवैज्ञानिक परिणाम—इन सब का प्रत्यक्ष अनुभव लिया जा सकता है, लेकर उन्हें जाँचा जा सकता है, जाँचने की अब आवश्यकता भी है।

'नाद' शब्द जिन दो वर्णों से बना है, उन 'न' और 'द' के लिए शास्त्र में कहा है कि 'नकारः प्राणबीजः स्यात् दकारो वह्निरुच्यते'—अर्थात् नकार प्राणवायु का द्योतक है और दकार अग्नितत्त्व का सूचक है। प्राण और अग्नि के संयोग से नाद की उत्पत्ति होती है।

प्राण और अग्नितत्त्व के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रकारों ने जो विधान किया है, उसको किसी अंग्रेज के कहे हुए निम्नोक्त वचन के साथ मिलाकर उसकी विचारणा की जाए, तो संभव है अनुसन्धान करने वालों को उसमें से कुछ नया मार्ग और दृष्टिकोण मिल सकेगा—Music is vibration. Vibration means motion and where there is motion, there is heat.

दीपक के सदृश मल्हार के लिए भी कई किंवदन्तियाँ लोक में प्रचलित हैं। गुजरात के परम भक्त नरसी मेहता के जीवन चरित में और वीसनगर की नागर-कन्या ताना रीरी के नामों के साथ मल्हार और वर्षा का सम्बन्ध जोड़ा गया है। इन कथाओं को सत्य की कसौटी पर कसने का अवसर नहीं मिला है। हाँ, यह सत्य है कि मल्हार राग में गाए जानेवाले सभी गीतों में वर्षा का ही वर्णन पाया जाता है। किसी किसी गीत में वर्षाकाल में अनुभूत होने वाली विरह-वेदना का भी वर्णन मिलता है। वैष्णव संप्रदाय के मन्दिरों में परम्परा से जो कीर्तन गाए जाते हैं, उनमें जो मल्हार के गीत हैं, वे सभी वर्षा के वर्णन से भरे पड़े हैं। किन्तु इतने मात्र से, मल्हार राग से पानी बरसेगा, ऐसी कुछ अनुभूति नहीं होती। गायक जब गा रहा हो, उस समय सुनने वालों को प्रत्यक्ष वर्षा का आभास हो, अनुभव हो, यह नितान्त संभवनीय है और यह सत्य मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या मल्हार के स्वरों में कोई ऐसा बल है, जिससे बादल उमड़ आएँ और बरस जाएँ?

हम देखते हैं कि नाद का जड़ और चेतन दोनों पर प्रभाव पड़ता है। स्थूल मान से भी देखा जाए तो यह हम जानते हैं कि वीणा या सारंगी की ऊपर की तार बजते ही नीचे की, उस नाद से मिली हुई तरफ की तारें बिना छुए ही झंकृत हो उठती हैं। तद्वत् जिन्हें सूक्ष्म निरीक्षण का अभ्यास है, वे जानते हैं कि सामान्य स्नान-गृह से लेकर बड़े बड़े मन्दिरों तक और सामान्य कमरे से सभामण्डप तक जो भवन बने हुए होते हैं, उनकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, नीचाई के अनुसार हरेक का एक निराला स्वर बना हुआ रहता है। और यह स्वानुभव के आधार से कहा जा सकता है कि वह सविशेष नाद, जो उन स्थानों में व्याप्त रहता है, ठीक उसी का उच्चार होते ही वहाँ की दीवारें तक गूँज उठती हैं।

नाद का जड़-तत्त्व पर जो असर होता है, उसका एक उदाहरण यूरोप में प्रचलित है। वहाँ नियम है कि जब सैनिकदल किसी पुल पर से गुजर रहा हो, तब बैण्ड न बजे और न ही लयबद्ध गति से (मार्च करते हुए) चला जाए। क्योंकि एक विशेष नाद से एक बार सारा पुल हिल गया था, जिससे पुल के टूट जाने की आशंका इंजीनियरों को हुई थी। स्वर और लय का जड़ पर भी कितना अमिट प्रभाव पड़ता है, वह इस उदाहरण से स्पष्ट होगा।

जैसे नाद की इस व्याप्ति के असर का इन छोटे छोटे मकानों के कमरों के आकाश में अनुभव होता है, वैसे ही बृहदाकाश में भी उसका असर फैलता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह तो मानी हुई बात है कि नाद आकाश का गुण है और उसी नाद के विभिन्न प्रकारों के संयोग का ऐसा परिणाम होता हो, कि जो बृहत् आकाश में जल-तत्त्व को आकर्षित करता हो, उस आकाश की तन्त्रियों को छेड़ देता हो और वरुणदेव का आवाहन करता हो और परिणामस्वरूप वर्षा अवतरित होती हो तो क्या आश्चर्य है ?

यह बात भी बहुतों की अनुभव की हुई है कि भिन्न-भिन्न स्वरों के संयोगों से बने हुए रागों का भिन्न-भिन्न परिणाम होता है। मल्हार के परिणाम के बारे में जो कहानियाँ बनी हुई हैं, उन्हें इस दृष्टिकोण से देखा जाए, इस विषय पर अनुसन्धान किया जाए और अभी के मल्हार और उस युग के मल्हार में परिवर्तन से कुछ भिन्नता आ गई हो तो उसे दूर कर दिया जाए और यदि वह प्राचीन कथा सत्य हो तो उसे सिद्ध करने का यत्न किया जाए।

आज hydrogen gas को आकाश में वितरित करके पानी बरसाने के प्रयोग किए जा रहे हैं। यह तो विज्ञान ने सिद्ध किया है कि hydrogen gas or oxygen gas मिलने से पानी बनता है। और वैज्ञानिक इसी नियम के अधार कृत्रिम वर्षा के प्रयोगों में यत्नशील हैं। हमारे प्राचीन महर्षि यज्ञ में ऐसी वस्तुओं की आहुति देते थे, जिनका धुआँ आकाश में जाकर बादल में परिणत होकर वर्षा का अवतरण कराता था। कालिदास ने मेघदूत में ठीक ही कहा है:—

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।

(मेघदूत पूर्व० ६५)

तात्पर्य यही है कि धूम, ज्योति, सलिल और मरुत—इनके संयोग को ही मेघ कहते हैं। क्या नाद-संभूत स्वरों के संयोग में इतनी शक्ति है, जिससे वे इस धूम ज्योति, सलिल और मरुत को यथा परिमाण बटोर कर, एकत्रित करके उन्हें भूमि पर अवतरित कर सकें ? यह अनुसन्धान का विषय है।

आज के वैज्ञानिक नाद-तत्त्व की ओर अभी जितना चाहिए उतना नहीं झुके हैं। जब नाद का अन्वेषण होगा, तब 'एटम' के चमत्कार भी यदि न्यून मालूम पड़ने लगें तो आश्चर्य नहीं।

———

*

द्वितीय तन्त्री

श्रुति स्वर ग्राम

योग, तन्त्र, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, साहित्य आदिक शास्त्रों में उल्लिखित नाद का स्वरूप, संगीत तथा व्याकरण के स्वरों का समन्वय एवं सामान्य नित्य के व्यवहार में नाद की महत्ता का हमने पहले अध्याय में न्यूनाधिक अवलोकन किया। अब हम सीधे संगीत के विषय को हाथ में लें, तथा संगीत के श्रुति-स्वरादि की विशद विवेचना आरम्भ करें, उसके पूर्व उन श्रुति स्वरों का जनक जो नाद है, उस नाद की संगीत-शास्त्रोक्त व्याख्या का कुछ विवरण हम समझ लें।

'नाद' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत मौन हैं। नाट्यशास्त्र प्रमुखतः नाट्य से ही सम्बन्धित है, सम्भवतः इसलिये उसमें आए हुए संगीत के अल्प विवरण में 'नाद' की विशद विवेचना की उन्होंने आवश्यकता न समझी हो। 'दत्तिलम्' में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। मतंग, शार्ङ्गदेव और उनके अनुगामी अन्य ग्रन्थकारों ने 'नाद' की जो व्याख्या दी है, वह इस प्रकार है। यथा :—

नकारः प्राण इत्याहुर्दकारश्चानलो मतः। नादस्य द्विपदार्थोऽयं समीचीनो मयोदितः॥
नादोऽयं नदतेर्धातोः.....

(बृहद्देशी २२—३)

अर्थात्—नकार, यह प्राण है और दकार यह अग्नि है। 'नाद' के घटक अवयव प्राण और अग्नि ये दो पदार्थ माने गए हैं।

'नाद' शब्द 'नद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है, अव्यक्त ध्वनि। 'नद् अव्यक्तायां ध्वनौ' (धातुपाठ)।

इसी तथ्य को शार्ङ्गदेव इन शब्दों में कहते हैं :—

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः। जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥
(सं० र० १।३।६)

इस सम्बन्ध में और भी कहा है :—

यदुक्तं ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मग्रन्थिश्च यः स्मृतः। तन्मध्ये संस्थितः प्राणः प्राणाद्वह्निसमुद्गमः॥
वह्निमारुतसंयोगाद्यादः समुपजायते। नादादुत्पद्यते बिन्दुर्नादात् सर्वं च वाङ्मयम्॥
(बृहद्देशी १८—२०)

अर्थात्—जो ब्रह्म का स्थान है और जिसे ब्रह्मग्रन्थि भी कहते हैं, उसके मध्य में प्राण स्थित है। प्राण से अग्नि का उद्गम होता है। अग्नि और प्राणवायु के संयोग से नाद उत्पन्न होता है। नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है और नाद से ही पूरे वाङ्मय की सृष्टि होती है। (यह हम पूर्व प्रकरण में देख ही चुके हैं)।

'संगीतसुधा' में इसी बात को कुछ भिन्न शब्दों में निदर्शित किया गया है :—

नादस्वरूपं प्रवदन्ति केचित् प्राणं नकारमनलं दकारम्।
प्राणाग्नियोगात् उदितो हि नादः स नादसंज्ञां समुपैति नित्यम्॥
धातोर्नदेर्घञि नादशब्दो व्युत्पाद्य इत्येव च केचिदाहुः।

(सङ्गीत सुधा)

नाद की उत्पत्ति का क्या क्रम है ? हृदयस्थ अथवा गुहास्थित आत्मा को बोलने की इच्छा हुई। उसने मन को प्रेरित किया। आत्मप्रेरित उस मन ने देहस्थ अग्नि पर आघात किया। आघात पाकर उस अग्नि ने प्राणवायु को संचालित किया। ब्रह्मग्रन्थिस्थित वह प्राणवायु अग्नि द्वारा संचालित होने पर ऊपर को उठा और उसने नाभि, हृत्, कण्ठ, मूर्धा और मुख-इन पाँचों स्थानों में ध्वनि को उत्पन्न किया।

शार्ङ्गदेव ने ठीक ही कहा है :—

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते, मनः। देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितैः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्। नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्॥

(सं० र० १।३।३,४)

इसकी टीका करते हुए सिंहभूपाल लिखते हैं :—

वक्तुमिच्छन् विवक्षमाण आत्मा मनोऽन्तःकरणं प्रेयते। तदन्तःकरणामात्मप्रेरितं सद्देहस्थमुदर्यमग्निमाहन्ति ताडयति। स वह्निर्मारुतं वायुं प्रेरयति। स पूर्वं ब्रह्मग्रन्थिस्थितस्तेन वह्निना प्रेरितः सन्नूर्ध्वमार्गे गच्छन्नाघातेन नाभिहृदयकण्ठमूर्धमुखेषु ध्वनिं प्रकटयति। ऊर्ध्वपथ इति प्रकृतमानोपयोगार्थम्, अधोऽप्यानाहतस्य नादस्योत्पत्तेः।*

इस नाद के उत्पत्तिस्थान के भेद से पाँच प्रकार माने गए हैं। यथा :—

.....स च पञ्चविधो भवेत्।
सूक्ष्मश्चैवातिसूक्ष्मश्च व्यक्तोऽव्यक्तश्च कृत्रिमः।
सूक्ष्मो नादो गुहावासो हृदये चातिसूक्ष्मकः। कण्ठमध्ये स्थितो व्यक्तः अव्यक्तस्तालुदेशके॥
कृत्रिमो मुखदेशे तु ज्ञेयः .....

(बृहद्देशी २३—५)

अर्थात्—नाद के पाँच भेद हैं—सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म, व्यक्त, अव्यक्त और कृत्रिम। सूक्ष्म नाद गुहा में, अतिसूक्ष्म हृदय में, व्यक्त कण्ठ में, अव्यक्त तालु में और कृत्रिम मुख में स्थित है।

'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के स्थान पर 'रत्नाकर' कार ने 'पुष्ट' और 'अपुष्ट' संज्ञाओं का प्रयोग किया है।

शास्त्रकारों ने इस प्रकार सामान्य नाद के, स्थानभेद से, पाँच भेद माने हैं। किन्तु जो नाद स्वयं रञ्जक है, जो मन, बुद्धि और आत्मा को आह्लाद देता है, ऐसा संगीतोपयोगी नाद तीन प्रकार का माना गया है। इस संगीतोपयोगी नाद को हम आहत नाद के नाम से जानते हैं। आघात करने पर ही वह अभिव्यक्त

* प्राणवायु जब ऊर्ध्वपथ में सञ्चरण करता है, तब गानोपयोगी नाद अर्थात् आहत नाद उत्पन्न करता है और जब वह अधोगामी होता है, तब अनाहत नाद की उत्पत्ति होती है।

होता है। यों तो जगत् में सर्वत्र नाद व्याप्त है। परन्तु जैसे काष्ठादिक में अग्नि रहने पर भी, वह घर्षण से ही प्रकट होता है, वैसे ही नाद का सर्वत्र अस्तित्व रहने पर भी वह आघात से ही ध्वनित होता है। जैसे बाँस के छिद्रों में वायु के आघात से स्वर निनादित होता है, तद्वत् कण्ठ से भी वायु के आघात से ही स्वर उत्पन्न होता है। तार, घण्टा, गिलास आदि सभी वस्तुएँ, जिनमें अनुरणन है, गूंज है, झंकार है, आघात से ही निनादित होती हैं, झंकृत हो उठती हैं। जलतरंग, काष्ठतरंग, नलीतरंग आदिक वाद्य प्यालों, काठ या धातु की पट्टियों पर आघात करके ही बजाए जाते हैं। इतना ही नहीं, दक्षिण भारत के देवमन्दिरों में वहाँ के शिल्पियों ने खम्भों से भी संगीत के नाद गुंजाए हैं। यह सब आहत नाद का ही विस्तार है।

संगीतोपयोगी नाद यों तो सात, बाईस, छासठ और अनन्त माने हैं, जिनका विवरण आगे आएगा ही। किन्तु इन नादों के स्थानान्तर से, अधः उच्च भेद से, तीन प्रकार माने हैं जो निम्नांलखित हैं :—

व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते। कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥
(सं० र० १।३।७)

.....गात्रे त्रेधा भवेदसौ। हृदि मन्द्रो गले मध्यो मूर्ध्नि तार इति क्रमात्॥
(सं० द० १।४९)

अर्थात्—(संगीत के) व्यहार में नाद के तीन भेद माने गए हैं—मन्द्र, मध्य और तार। हृदय में मन्द्र का, कण्ठ में मध्य का एवं मूर्धा में तार का स्थान माना गया है। ये भेद क्रमशः एक से एक द्विगुण अधिक ऊर्ध्व माने गए हैं।

शरीर रूपी वीणा में मन्द्र, मध्य और तार ये तीन नाद क्रमशः नीचे से ऊपर जाते हैं पर दारवी वीणा अर्थात् काष्ठ की बनी सितारादिक वीणा में उससे उल्टा क्रम रहता है। शरीर में हृदय से कण्ठ और मूर्धा क्रमशः ऊर्ध्व हैं और वीणा आदिक वाद्यों में मन्द्र स्थान ऊपर, मध्य स्थान बीच में और तार स्थान सबसे नीचे होता है।

श्रुति

इन स्थानों में से प्रत्येक स्थान में जो संगीतोपयोगी नाद अभिव्यक्त होते हैं, उनके, शास्त्रकारों ने सामान्यतः बाईस भेद माने हैं और वे बाईस भेद श्रुतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। सभी जानते हैं कि ये बाईस नाद या श्रुतियाँ भारतीय संगीत का मूलाधार हैं, क्योंकि हमारे शुद्ध और विकृत स्वरों के स्थान को और उनके परस्पर अन्तर को निर्दर्शित करने का साधन ये श्रुतियाँ ही मानी गई हैं। तीन ग्रामों के विभाजन का आधार भी ये श्रुतियाँ ही हैं। अतः शुद्ध और विकृत स्वरों एवं तीन ग्रामों के निदर्शन के पूर्व हम अब श्रुति को समझ लें।

'श्रुति' शब्द की सामान्य व्युत्पत्ति 'रत्नाकर' में 'श्रवणाच्छ्रुतयो मता' :—(सं० र० १।३।८) यह कह कर दी गई है। इसी को दूसरे शब्दों में 'श्रूयन्त इति श्रुतयः' यों भी कह सकते है। अर्थात् जो सुनाई दे, वह श्रुति। मतंग ने 'श्रुति' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है :—

श्रुश्रवणे चास्य धातोः क्तिन्प्रत्ययसमुद्भवः। श्रुतिशब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैर्भावसाधनः॥
(बृहद्देशी २६)

अर्थात्—श्रु धातु श्रवणार्थक होती है। उसमें क्तिन् प्रत्यय लगाने से 'श्रुति' शब्द बनता है, ऐसा शब्दज्ञ लोग जानते हैं।

इस सम्बन्ध में मतंग ने विश्वावसु का निम्नलिखित वाक्य भी उद्धृत किया है :—

श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वात् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत्॥

अर्थात्—श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही श्रुति कहलाती है।

इन सब व्याख्याओं का स्पष्टार्थ यही है कि जो कानों से सुने जाएँ, समझे जाएँ, और जिनकी ऊँचाई नीचाई के पृथक्त्व का स्पष्ट अनुभव किया जा सके, ऐसे नादों को ही श्रुति कहा है। साथ ही एक शर्त यह भी है कि ये नाद संगीतोपयोगी हों अर्थात् उनमें रञ्जकत्व अवश्य हो।

किसी-किसी ने स्थानभेद से इन श्रुतियों के तीन भेद माने हैं। यथा :—मन्द्रस्थानगत श्रुतियाँ, मध्यस्थानगत श्रुतियाँ और तारस्थानगत श्रुतियाँ। मतंग ने कहा है :—

केचित् स्थानत्रययोगात् त्रिविधां श्रुतिं प्रतिपद्यन्ते।

श्रुतियों का एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण बताते हुए वे कहते हैं :—

अपरे त्विन्द्रियवैगुण्यात् त्रिविधां श्रुतिं मन्यन्ते। इन्द्रियवैगुण्यं च त्रिविधं—सहजं, दोषजं, अभिघातजं चेति। अपरे तु वातपित्तकफसन्निपातभेदभिन्नां चतुर्विधां श्रुतिं प्रपेदिरे। तथा चाह चतुर:—

उच्चैस्तरो ध्वनि रूक्षो विज्ञेयो वातजो बुधैः। गम्भीरो घनशीलश्च* ज्ञातव्यः पित्तजो ध्वनिः॥
स्निग्धश्च सुकुमारश्च मधुरः कफजो ध्वनिः। त्रयाणां गुणसंयुक्तो विज्ञेयः सन्निपातजः॥

अर्थात्—कुछ लोग इन्द्रिय-वैगुण्य से श्रुति के तीन भेद मानते हैं। इन्द्रिय-वैगुण्य तीन प्रकार का होता है—सहज, दोषज और अभिघातज। कोई दूसरे लोग वात, पित्त, कफ और सन्निपात से श्रुतियों की उत्पत्ति के अनुसार उनके चार भेद मानते हैं। इन चार भेदों की व्याख्या चतुर† ने यों दी है—उच्च और रूक्ष ध्वनि को वातज, गम्भीर और घनशील अथवा घनपीन ध्वनि को पित्तज, स्निग्ध, सुकुमार और मधुर ध्वनि को कफज, और जिसमें तीनों के गुणों का संयोग हो, ऐसी ध्वनि को सन्निपातज कहा है।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि इन श्रुतियों की संख्या सामान्यतः बाईस मानी गई है। इनकी संख्या के विषय में मतभेद का उल्लेख करते हुए मतंग कहते हैं :—

तत्र केचिन्मीमांसामांसलितधियो धीरा द्वाविंशतिश्रुतीर्मन्यन्ते। केचन पुनः षट्षष्टिभेदभिन्नाः श्रुतय इति मन्यन्ते। अन्ये पुनरानन्त्यं वर्णयति श्रुतीनाम्। यथा चाह कोहल :—

द्वाविंशतिः केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति॥

(बृहद्देशी पृ० ५)

---

* सङ्गीतसारामृत में 'घनपीनस्तु' पाठ है।

† मतंगोल्लिखित 'चतुर' नामक किसी प्राचीन आचार्य के स्थान पर यहाँ आधुनिक चतुर पण्डित न समझ लिया जाए।

अर्थात्—मीमांसा द्वारा जिनकी बुद्धि परिपुष्ट हो चुकी है*, ऐसे कई विद्वान् बाईस श्रुतियाँ मानते हैं, कोई छासठ श्रुतियाँ मानते हैं और कोई उनको अनन्त मानते हैं। कोहल का वचन इस कथन का साक्षी है।

बाईस श्रुतियों की सिद्धि के लिए प्राचीनों ने जिस प्रक्रिया (सारणाप्रक्रिया) का प्रयोग किया है, उसका विवरण इसी 'तन्त्री' (अध्याय) में आगे चलकर हम देखेंगे। छासठ श्रुतियाँ मानने की परम्परा का मतंग ने एवं उनके परवर्ती अन्य ग्रन्थकारों ने कोहल के उपरिलिखित वचन के आधार पर, नामोल्लेख मात्र किया है। इस परम्परा की विवेचना कहीं उपलब्ध नहीं होती। विश्वावसु के निम्नोद्धृत कथन के आधार पर छासठ श्रुति वाली परम्परा की स्वल्प चर्चा नीचे की जाती है। मतंग ने विश्वासु का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है। यथा :—

श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वात् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत्। सा चैका द्विविधा ज्ञेया स्वरान्तरविभागतः॥
नियतश्रुतिसंस्थानो गीयन्ते सप्तगीतिषु। तस्मात्स्वरगता ज्ञेया श्रुतयः श्रुतिवेदिभिः॥
अन्तःश्रुतिविवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः। एतासामपि चैश्वर्यं क्रियाग्रामविभागतः॥

(बृहद्देशी पृ० ४ में उद्धृत)

अर्थात्—श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही श्रुति कहलाती है। ये श्रुतियाँ दो प्रकार की मानी गई हैं—एक स्वर श्रुति जो कि स्वरों के अन्तर को निदर्शित करती है और दूसरी अन्तर श्रुति जो श्रुतियों के परस्पर अन्तर को सूचित करती हैं। ये दूसरे प्रकार की सूक्ष्म श्रुतियाँ ग्रामों में विभाजित होकर उन ग्रामों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष गायन-वादन क्रिया में प्रयुक्त होती हैं। यही इनकी उपयोगिता या महत्ता (ऐश्वर्य) है।

हम जानते हैं कि बाईस श्रुतियाँ सप्त स्वरों के नियत अन्तर में विभाजित हैं। इसलिए उन्हें स्वरगता श्रुति कहा। और जो श्रुतियाँ इन बाईस श्रुतियों के बीच में जो सूक्ष्म अन्तर हैं, उन्हें निर्दर्शित करती हैं, वे अन्तर श्रुति कहलाती हैं। इसीलिये विश्वावसु ने "अन्तःश्रुतिविवर्तिन्यः" शब्द का प्रयोग किया है। ऐसा हम दृढ़ रूप से मानते हैं। 'रत्नाकर' की सुधाकर टीका में 'अन्तःश्रुति-विवर्तिन्यो' के स्थान पर 'अन्तःस्वरवर्तिन्यो' पाठ मिलता है। इस पाठ से ऐसा भ्रम होने की संभावना है कि ये अन्तर श्रुतियाँ भी स्वरगत ही हैं। इससे सप्त शुद्ध स्वरों की निदर्शक सात श्रुतियों को स्वरगत मान कर शेष पन्द्रह श्रुतियों को अन्तरगत कह कर उन्हें सप्त स्वरों के परस्पर अन्तर की निदर्शक मानने की भ्रान्त प्रवृत्ति हो सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सप्त स्वरों की सप्त श्रुतियों के अतिरिक्त अन्य जो श्रुतियाँ इन स्वरों के बीच में स्थित हैं, संभवतः उन्हें ही 'अन्तरस्वरवर्तिन्यो', इस वचन से समझ लिया गया हो। 'संगीतसारामृत' कार ने अन्तरश्रुति की कुछ भिन्न व्याख्या दी है। 'अन्तरश्रुतिवर्तिन्यः' पाठ दे कर, उन्होंने कहा है 'विकृतस्वररूपा इत्यर्थः'। इसका अर्थ हुआ कि सप्त स्वरों की सप्त श्रुतियों के अतिरिक्त अन्य श्रुतियों को विकृत स्वरों की निदर्शक मानना चाहिए।

हमारी दृष्टि से अन्तरश्रुति की उपरिलिखित दोनों व्याख्याएँ भ्रान्तिजनक हैं। मतंग ने कोहल का वचन उद्धृत करके यह दिखाया है कि उनके काल में छासठ श्रुति मानने की भी परम्परा थी। आज भी हम तानपुरा या वीणादिक तन्तुवाद्यों को मिलाते समय बाईस श्रुतियों के अतिरिक्त सूक्ष्मतर ध्वनियों का भी अनुभव करते हैं। षड्ज-षड्ज, षड्ज-पञ्चम, षड्ज-मध्यम इत्यादि की तारें मिलाते समय श्रुतियों से भी सूक्ष्मतर ध्वनि

* 'मांसलितधियः' का यह अर्थ भी निकल सकता कि मीमांसा द्वारा जिनकी बुद्धि स्थूल हो गई है, वे छासठ सूक्ष्मान्तर न मानकर बाईस ही श्रुतियाँ मानते हैं। किन्तु, साथ ही 'धीरा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए हमने 'परिपुष्ट' अर्थ लिया है।

का अन्तर हम प्रत्यक्ष रूप से सुन पाते हैं और उन तारों के बीच की सूक्ष्म विसंवादिता हम दूर करते हैं। इन्हीं सूक्ष्म ध्वनियों का मींड में, घसीट में गायक वादक प्रयोग करते हैं। संभवतः इन्हीं सूक्ष्म ध्वनियों को लक्ष्य करके 'अन्तःश्रुतिव्यवर्तिन्यो' कहा गया हो और इस प्रकार दो श्रुतियों के बीच के सूक्ष्मान्तर को सूचित किया गया हो। ऐसी सूक्ष्म ध्वनियाँ एक से दूसरी श्रुति के बीच में तीन-तीन मानने से २२×३=६६ छासठ संख्या सिद्ध हो जाती है और कोहल का वचन सार्थक हो जाता है। ऐसा भी किसी किसी का मत है।

इन छासठ श्रुतियों को पृथक् ग्रहण करने, समझने और समझाने की शक्यता होने पर भी इन सूक्ष्म नादों के परस्पर संवाद को प्रत्यक्ष क्रिया में प्रयुक्त करना और नित्य के व्यवहार में स्वर के स्थान में व्यवहृत करना असंभव सा है। इसीलिए बाईस श्रुतियाँ ही, जो कि भिन्न भिन्न रागों में प्रयुक्त होकर स्वर का रूप लेती हैं, उन्हीं को शास्त्रकारों ने स्वर-श्रुति के रूप में स्वीकार किया और उनके मध्यगत सूक्ष्म ध्वनियों को अन्तरश्रुति के नाम से अभिहित किया।

किसी किसी का मत है कि कोहल प्रभृति ने जो छासठ श्रुतियाँ मानीं, वह तीनों सप्तकों को मिला कर मानी होंगी। मतंग ने इस मत का उल्लेख यों किया है :—

इदानीं षट्षष्टिभेदभिन्नाः श्रुतयः कथ्यन्ते। मन्द्रमध्यतारेषु उरःकण्ठशिरस्सु त्रिषु स्थानेषु प्रत्येकं द्वाविंशतिप्रकारतया भिद्यमानेषु श्रुतयो हि षट्षष्टिभेदभिन्ना भवन्तीति केचिन्मन्यन्ते।

कोहल-कथित छासठ श्रुतियों को पाश्चात्य विद्वानों ने जिस प्रकार समझने का यत्न किया है, उसका सारांश भी यहाँ दे देना अस्थानीय न होगा। यथा :—

सर्वप्रथम बाईस श्रुतियों में यथास्थान अपने सात शुद्ध और पाँच विकृत स्वरों को स्थापित कर लिया जाए। उसके पश्चात् प्रत्येक स्वर का जो नाद है, उससे नीचे और ऊपर दोनों ओर एक एक प्रमाण-श्रुति* रखें, जिसका गणित-मूल्य $\frac{2}{3}$ है। हम आगे देखेंगे कि बाईस श्रुतियाँ सम-प्रमाण की नहीं हैं। इसलिए प्रत्येक स्वर के दोनों ओर प्रमाण-श्रुति लगाने से हमें मूल बाईस श्रुतियों से भिन्न ऐसे अन्य ध्वन्यन्तर मिलेंगे ही। जैसे पहिले एक एक प्रमाण श्रुति लगाई गई, तद्वत् पुनः प्रत्येक स्वर के ऊपर या आगे पीछे दो दो प्रमाण-श्रुतियाँ रखी जाएँ। इस क्रिया से हमें ५३ श्रुत्यन्तर मिल जायेंगे, जिनमें मूल २२ श्रुतियां भी सम्मिलित हैं। हम कह चुके हैं कि २२ श्रुतियों के अन्तर समान नहीं हैं। इसलिए उन श्रुतियों के बीच बीच में यानी ऊपर नीचे इस प्रमाण-श्रुति का प्रयोग करने से हमें भिन्न भिन्न नाद अथवा भिन्न भिन्न श्रुत्यन्तर उपलब्ध होते हैं और इस प्रकार २२ श्रुतियों के अतिरिक्त हमें अन्य ३१ नाद अधिक मिल जाते हैं और इस प्रकार कुल मिलाकर हमें ५३ श्रुत्यन्तर संप्राप्त होते हैं। यह स्पष्ट है कि हमारी २२ श्रुतियों के सम प्रमाण न होने के कारण उनके बीच बीच में उपरिलिखित क्रमानुसार प्रमाण-श्रुति का उपयोग करने से इन नए श्रुत्यन्तरों का मिलना स्वाभाविक ही है। उसी प्रकार यदि दो श्रुत्यन्तर वाले सभी स्वरों से प्रत्येक के अन्तर को चार चार भागों में विभक्त कर दें तो हमें १२ नए ध्वन्यन्तर मिल जायेंगे और इस प्रकार एक सप्तक में ५३+१२=६५ श्रुत्यन्तर प्राप्त होंगे। सप्तक पूर्ण करने के लिए अन्तिम 'सा' की श्रुति जोड़ देने से श्रुतियों की ६६ संख्या पूर्ण होगी।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भरत के पुरोगामी कोहलादि आचार्यों ने जो ६६ श्रुतियों का उल्लेख किया है, वह निराधार कल्पना नहीं है, अपितु, उन पारदर्शी महर्षियों ने श्रुतियों के गणित-मूल्य इत्यादि को सिद्ध कर के ही अपने सिद्धांतों की स्थापना की होगी, ऐसा हम दृढ़ अनुमान कर सकते हैं।

* प्रमाण श्रुति का स्पष्टीकरण इस अध्याय में आगे चलकर किया जाएगा।

अनन्त श्रुतियाँ मानने वालों के मत का प्रतिपादन मतंग ने इन शब्दों में किया है :—

आनन्त्यं तु श्रुतीनां तु दर्शयन्ति विपश्चिताः। यथा ध्वनि विशेषाणामानन्त्यं गगनोदरे॥
उच्चण्डपवनोद्वेगजलराशिसमुद्भवाः। कियंतः प्रतिपद्यन्ते न तरङ्गपरम्पराः॥
(बृहद्देशी २९,३०)

अर्थात्—विद्वान् लोग उसी प्रकार से श्रुतियों का आनन्त्य बताते हैं, जिस प्रकार कि आकाश में ध्वनियों का एवं पवनोद्वेलित समुद्र में तरङ्गों का आनन्त्य होता है।

इस सम्बन्ध में हमारा मन्तव्य निम्नोक्त है।

वीणादण्ड पर बँधे हुए तार पर केशाग्र-अन्तर के परिवर्तन से भिन्न-भिन्न सूक्ष्म नाद उपाजाए जा सकते हैं और ऐसे बहुसंख्यक नादों की सिद्धि बताई जा सकती है। किन्तु ये नाद परस्पर संवादात्मक होकर रंजक नहीं हो सकते। उनके पृथकत्व को ग्रहण करना, समझना और समझाना दुष्कर है। साथ ही वे नाद गीतोपयोगी नहीं हो सकते। कोई यह कहे कि मींड में इनका उपयोग हो सकता है, तो वह कथन भी तर्क-सिद्ध नहीं है, बुद्धिग्राह्य भी नहीं है, क्योंकि मींड में तो नाद कभी भी पृथक् नहीं लिया जाता। मींड का तो सदैव नाद को तोड़े बिना ही प्रयोग किया जाता है। जहाँ नाद का भिन्नत्व गोचर हुआ, वहीं मींड समाप्त हो गई। अतः इन अनन्त श्रुतियों की कल्पना गीतग्राह्य न होने से त्याज्य है। इसीलिए भरत, नारद, मतंगादि सभी ऋषियों ने संगीतोपयोगी बाईस नाद ही श्रुति के रूप में स्वीकृत किये हैं।

इस श्रुति-आनन्त्य के विषय को और एक ढंग से समझा जा सकता है। एक ही सप्तक के अन्तर्गत अथवा वीणा के पूरे मेरुदण्ड पर अनन्त श्रुतियों की कल्पना करने के बजाय हमें निम्नोक्त प्रकार से विचार करना होगा।

षड्ज-पञ्चम-भाव से स्वरों का जो चक्र चलता है, जिसे Cycle of ffiths कहते हैं, यह चक्र सतत चलता ही रहता है; उसका कहीं भी अन्त नहीं होता है। सा से प, प से रे, रे से ध, ध से ग, ग से नी, नी से तीव्र म, तीव्र म से कोमल रे, कोमल रे से कोमल ध, कोमल ध से कोमल ग, कोमल ग से कोमल नी, कोमल नी से शुद्ध म, और शुद्ध म से सा—इस प्रकार बारह बार षड्ज—पञ्चम-भाव से स्वरों को आगे बढ़ा कर हम पुनः षड्ज पर पहुँचते हैं। इस प्रकार षड्ज से आरम्भ हुआ चक्र अन्तिम षड्ज पर पूर्ण होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं होता। आरम्भ के षड्ज से वह अंतिम नाद का षड्ज एक श्रुति ऊँचा रहता है। इसी अन्तर को Comma या प्रमाण-श्रुति कहते हैं, जिसके कारण यह चक्र पूर्ण नहीं होता है। पुनः उस एक श्रुति ऊँचे षड्ज से आरंभ किया हुआ चक्र भी उसी प्रकार पूर्ण नहीं होता और इस प्रकार आगे बढ़ने को अवकाश रहता ही है। इस प्रकार आरम्भ किए हुए बिन्दु पर हम कभी लौट नहीं सकते हैं। हमारा अनुमान है कि प्राचीन काल के श्रुति-गणितज्ञों ने श्रुतियों का यह आनन्त्य देखा होगा। और तभी उसे लेखबद्ध किया होगा।

कभी कभी शास्त्र-वचनों के अर्थ समझने में और शब्दों द्वारा ग्रन्थकर्ताओं के हार्द को ग्रहण करने में भूल होने की संभावना रहती है। यदि बाईस श्रुतियों के सम्बन्ध में उपरिलिखित कथन सत्य प्रतीत हो, तो यह अनुमान करने में भी कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि भरत के पूर्वगामी आचार्य भी बाईस नाद ही मानते होंगे और यह कहने में भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती कि भरतादि ऋषियों ने चतुःसारणा द्वारा जो बाईस श्रुतियाँ सिद्ध की हैं, वे भी परम्परा से ही आई होंगी।

आचार्यों ने स्वरों में बटी हुई इन श्रुतियों को देख कर इन्हें नौ प्रकार की माना है। यथा :—

द्विश्रुतिस्त्रिश्रुतिश्चैव चतुःश्रुति एव च। स्वरप्रयोगः कर्तव्यो वंशच्छिद्रगतो बुधैः॥

(संगीतसारामृत श्रुतिप्रकरण में उद्धृत)

भरत ने भी कहा है :—

द्विकस्त्रिकश्चतुष्कास्तु ज्ञेया वंशगताः स्वराः। इति तावन्मया प्रोक्ताः सवंशश्रुतयो नव॥

(ना० शा० २८।)

अर्थात्—चार, तीन और दो श्रुतियों के स्वरान्तर को मिलाकर कुल नौ प्रकार की श्रुतियाँ होती हैं।

यहाँ 'वंशगताः स्वराः' अथवा 'सवंशश्रुतयो नव'—ये शब्द विचारणीय हैं। प्राचीन स्वरज्ञ महर्षियों ने वंशगत स्वरों को देखा, यानी बंसरी, मुरली, सहनाई जैसे सुषिर वाद्यों के छिद्रों से निकलने वाली ध्वनि को सुना और उन ध्वनियों में तीन प्रकार के अन्तर को देखा। पाश्चात्य जन इन तीन प्रकार के अन्तर को मेजरटोन, माइनरटोन और सेमीटोन के नाम से पहिचानते हैं। अपने यहाँ भी इन स्वरों के अन्तर को जाँच कर इनके मुख्यतः तीन ही भेद स्वीकार किए गए हैं। और वही भेद चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक अन्तर के नाम से प्रसिद्ध हैं। सा, म, प—ये चार श्रुति के स्वर हैं, रि-ध ये तीन श्रुति के और ग-नि, ये दो श्रुति के स्वर हैं। इन तीन प्रकार के स्वरान्तरों को जोड़ने से ४+३+२=९ नौ ही बनेंगे।

वाद्यों का क्रमिक विकास देखने से यह सिद्ध होता है कि सर्वप्रथम एवं सर्वसुलभ वाद्य बाँस से ही बना हुआ हो सकता है। जीवन के आरम्भकाल में बाँस के जंगलों में भ्रमरों द्वारा किये गए बाँस के छिद्रों में बहते हुए पवन के संचार से स्वयमेव जो स्वर उद्भूत होते हैं, उन्हें सुन कर बाँस के टुकड़ों में अधिक सूराख बनाने की मानवीय प्रवृत्ति से बाँसुरी का जन्म हुआ हो तो क्या आश्चर्य है? अपितु वह स्वाभाविक ही है और उसी बाँसुरी के स्वरों की जाँच कर स्वज्ञों ने 'वंशगताः स्वराः' अथवा 'सवंशश्रुतयो नव' ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया होगा, ऐसा हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

चार श्रुत्यन्तर वाले तीन स्वर, तीन श्रुत्यन्तर वाले दो स्वर और दो श्रुत्यन्तर वाले दो स्वर—इस प्रकार एक सप्तक में श्रुतियों की संख्या बाईस ही होती है।

श्रुतियों की संख्या की विवेचना के पश्चात् इन श्रुतियों की संज्ञा, उनकी जाति, परिमाण, स्थान इत्यादि विषयों को समझ लेना अब समुचित होगा।

इन बाईस श्रुतियों के सर्वसम्मत नाम और सप्तस्वरों में उनकी बाँट निम्नोक्त है :—

तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवत्यस्तु षड्जगाः॥ दयावती रञ्जनी च रक्तिका चर्षभे स्थिता।
रौद्री क्रोधा च गान्धारे वज्रिकाऽथ प्रसारिणी॥ प्रीतिश्च मार्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाश्रिताः।
क्षिती रक्ता च सन्दीपन्यालापिन्यथ पञ्चमे॥ मदन्ती रोहिणी रम्येत्येतास्तिस्रस्तु धैवते।
उग्रा च क्षोभिणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती॥ (सं० र० १/३/३५-३८)

अर्थात्—तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा और छन्दोवती ये चार षड्ज की, दयावती, रञ्जनी और रक्तिका ये तीन ऋषभ की, रौद्री और क्रोधा ये दो गान्धार की, वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति और मार्जनी ये चार मध्यम की, क्षिती, रक्ता, सन्दीपनी और आलापिनी ये चार पञ्चम की, मदन्ती, रोहिणी और रम्या—ये तीन धैवत की और उग्रा एवं क्षोभिणी—ये अन्तिम दो श्रुतियाँ निषाद की मानी गई हैं।

नारद (?) प्रणीत 'संगीत मकरन्द'* में इन श्रुतियों के कुछ भिन्न नाम दिये गए हैं :

सिद्धा प्रभावती कान्ता सप्रभा च मनोहरा । साधयन्ति श्रुतिः (?) षड्जे प्रजापतिमुखोद्गताः ॥
शिखा दीप्तिमती चैव उग्रा चाग्निसमुद्भवाः । श्रुतयः साधयन्त्येनमृषभं नामतः स्वरम् ॥
ह्लादी च निविरी चैव श्रुती व्याहृतिसंभवे । गान्धारं च साधयतः यथार्थे गुणसंश्रये ॥
दिरा सर्पसहा क्षान्तिविभूतिस्तदनन्तरम् । मध्यमं साधयन्त्येताः श्रुतयः पृथिवीभवाः ॥
मालिनी चपला बाला सर्वरत्ना प्रभावती । श्रुतयः सोमपुत्र्यस्तु साधयिष्यन्ति पञ्चमम् ॥
शान्ता विकलिनी चैव हृदयोन्मालिनी तथा । धैवतं साधयन्त्येता यक्षराजविनिर्मिताः ॥
विसारिणी प्रसूना च निषादेन समुत्थितम् । श्रुती साधयतो नित्यं यमराजसमुद्भवे ॥

अर्थात्—सिद्धा, प्रभावती कान्ता और मनोहरा—प्रजापति के मुख से उद्भूत ये चार श्रुतियाँ षड्ज की सिद्धि करती हैं। शिखा, दीप्तिमती और उग्रा—अग्नि से उत्पन्न ये तीन श्रुतियाँ ऋषभ स्वर को साधती हैं। ह्लादी और निविरी—व्याहृति (मन्त्रविशेष) से उद्भूत ये दो श्रुतियाँ गान्धार की हैं। दिरा, सर्पसहा, क्षान्ति और विभूति—पृथ्वी से उत्पन्न ये चार श्रुतियाँ मध्यम की सिद्धि करती हैं। मालिनी, चपला, बाला और सर्वरत्ना—सोम की ये चार पुत्रियाँ (श्रुतियाँ) पञ्चम को साधती है। शान्ता, विकलिनी और हृदयोन्मीलिनी—यक्षराज से उत्पन्न ये तीन श्रुतियाँ धैवत को साधती हैं। विसारिणी और प्रसूना—यमराज के मुख से उत्पन्न ये दो श्रुतियाँ निषाद की सिद्धि करती हैं।

'संगीत पारिजात' का जो संस्करण संगीत कार्यालय, हाथरस से प्रकाशित हुआ है, उसके हिन्दी टीकाकार ने दत्तिल के नाम से निम्नलिखित श्रुति नामों के श्लोक उद्धृत किये हैं। किन्तु 'दत्तिलम्' (त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में प्रकाशित) में ये श्लोक नहीं मिलते हैं।

नान्दी चालनिका रसा च सुमुखी चित्रा विचित्रा घना ।
मातङ्गी सरसा भूता मधुकरी मैत्री शिवा माधवी ।
बाला शार्ङ्गरवी कला कलरवा माला विशाला जया ।
मात्रेति श्रुतयः पुराणकविभिर्द्वाविंशतिः कीर्त्तिताः ॥

श्रुति नामों के भिन्न भिन्न परम्परा के निर्देश के लिए ही इन दोनों नाम भेदों का उल्लेख किया गया है। तीव्रादिक नाम, जो सबसे पूर्व लिखे गए हैं, वे ही आज प्रचार में सर्वसम्मत हैं।

इन श्रुतियों की पाँच जातियाँ शास्त्रकारों ने निर्णीत की हैं। इस जाति-निर्णय के पीछे रस की अभिव्यक्ति का ध्यान रखा गया है। श्रुति-जातियों के निरूपण का उद्देश्य या हेतु बताते हुए 'संगीतसारामृत' कार ने ठीक ही कहा है—

अथ श्रुतीनामन्योन्यमसंकीर्णतया स्वरूपपरिज्ञानार्थं क्वचित्तासां साजात्येन संगत्या रक्तिलाभार्थं चावान्तरभेदसहिता जातयो निरूप्यन्ते । (संगीतसारामृत शुद्धस्वरप्रकरण)

अर्थात्—श्रुतियों का परस्पर असंकीर्ण अर्थात् एक दूसरी से स्पष्टतया पृथक् स्वरूप जानने के लिए जातियों का निरूपण किया जाता है। इसका एक दूसरा भी उद्देश्य है। वह यह कि श्रुति-जातियों को जानने से सजातीय

---

* 'संगीत पारिजात' में पं० अहोबल ने 'तीव्रा कुमुद्वती' इत्यादि नाम ही नारदकथित कह कर उद्धृत किए हैं। किन्तु नारद के नाम से जो 'संगीत मकरन्द' नामक ग्रन्थ प्रचलित है, उसमें कुछ भिन्न नाम दिये गये हैं।

श्रुतियों की संगति अथवा मिश्रण द्वारा रञ्जकता उपजाई जा सकती है। सजातीय श्रुतियों की संगति ही स्वभावतः रञ्जक होगी, विजातीय की नहीं। इसलिए श्रुति-जातियों का ज्ञान उपयोगी माना गया है।

इन पाँच श्रुति-जातियों के नाम इस प्रकार हैं—दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु और मध्या। इनके नाम ही इनके भाव-रूप को सूचित करते हैं, यह आगे स्पष्ट किया जाएगा।

कुछ लोग ऐसा तर्क करते हैं कि इन श्रुति नामों के पीछे अथवा इन जाति-नामों के पीछे कोई विशेष अर्थ नहीं है। जैसे मनुष्य के नाम के पीछे आजकल कोई अर्थ अभिप्रेत नहीं रहता, नाम रखने के लिए रखा जाता है 'यथा नाम तथा गुणः' को चरितार्थ नहीं किया जाता, तद्वत् इन श्रुतियों के और उनकी जातियों के नाम के पीछे भी नामकरण के अतिरिक्त और कोई हेतु नहीं है, ऐसी उनकी मान्यता है। स्थूल रूप से उनके कथन को देखने वाले उनके विचारों के साथ सहमत हो सकते हैं, किन्तु हम जब प्रतिपल स्वर और श्रुतियों में भावाभिव्यक्ति को देखते हैं, तो ऋषियों के दिये हुए इन नामों की सार्थकता का अनुभव करते हैं। ऐसी अवस्था में उन अर्वाचीनों के विचारों के साथ हम कैसे सहमत हो सकते हैं? संपूर्ण संस्कृत साहित्य में 'नाम-नामि-अभेदः' (अर्थात् नाम और नामी में कोई भेद नहीं है) वाले सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दरता से परिपालन हुआ है। इस तथ्य की अनुभूति से उन प्राचीन महर्षियों के प्रति सम्मान सहित नतमस्तक होना पड़ता है।

अब हम श्रुति-नाम और जाति-नामों के भावार्थों के कुछ उदाहरण देख लें।

षड्ज की प्रथम श्रुति तीव्रा है। प्राचीन शुद्ध निषाद यानी आधुनिक कोमल निषाद को एक श्रुति ऊपर चढ़ाने से यह तीव्रा कर्णगोचर होगी। वीणा में प्रत्यक्ष उसे बजाकर अनुभव लेने से वह कान को, मन को और दिल को कैसी चुभती सी लगती है, यह स्वानुभूति से ही ज्ञात हो सकता है। प्राचीनों ने जिसे काकली कहा है और आज हम जिसे तीव्र निषाद या बिलावल अंग का शुद्ध निषाद कहते हैं, उस काकली के और प्राचीन शुद्ध (आधुनिक कोमल) निषाद के बीच में यह तीव्रा श्रुति है। सामान्य स्वरज्ञान रखने वालों और उन स्वरों के असर का अल्पाधिक अनुभव करने वालों को क्षोभिणी और कुमुद्वती के बीच की यानी प्राचीन शुद्ध और काकली निषाद के बीच की उस श्रुति का उच्चारण या श्रवण किस प्रकार का संवेदन जगाता है, उसका अनुभव करने से साफ हो जाएगा कि प्राचीनों ने बहुत सोच समझकर स्वानुभव लेकर उसका नाम तीव्रा रखा है।

षड्ज की अन्तिम श्रुति है छन्दोवती। इस नाम के पीछे भी एक विशेष गूढ़ अर्थ सन्निहित है। छन्दोवती यानी छन्दोबद्ध करने वाली अर्थात् सारे सप्तस्वरों को नापने वाली, उन्हें नियमित बनानेवाली जो श्रुति है, उसी को प्रचीनों ने छन्दोवती कहा।

सब जानते हैं कि अक्षरों के जोड़ से ही शब्द बनते हैं, किन्तु शब्द बनाने के पूर्व इन अक्षरों के अर्थों का भी नियमन आवश्यक होता है। ऐसे अक्षरों के अर्थ को नियमित रूप देकर शब्द बनाए गए हैं और शब्दों को अन्वित वाच्यार्थ देने के लिए वाक्य बनाए जाते हैं। उन वाक्यों को नियमबद्ध करने का साधन छन्द कहलाता है। इसीलिए 'छन्दो वाक्यप्रयोगेषु' ऐसा विधान दिया गया है। संगीत शास्त्र में भी "षड्ज" सप्त स्वरों को नियमबद्ध करने वाला स्वर है। इसी से इस षड्ज की श्रुति का नाम छन्दोवती रखा गया है। सारे संगीत को छन्दोबद्ध करनेवाली, स्वरों को नियमबद्ध रखने वाली जो श्रुति है, वही छन्दोवती है।

उसी प्रकार दयावती श्रुति को ले लें। दयावती ऋषभ की प्रथम श्रुति है। उसे दयावती ही क्यों कहा? रञ्जनी, रक्तिका, क्रोधा, रम्या क्यों नहीं कहा? कोई यहाँ तर्क कर सकता है कि श्रुति नामों को

छन्द में बद्ध करते समय छन्द में जितनी मात्राओं का जो श्रुति नाम फब गया, वहाँ उसी को लगा दिया होगा। किन्तु यह तर्क भी यथार्थ नहीं प्रतीत होता, कारण शब्दों को या नामों को छन्दोवद्ध करनेवाले आचार्य मात्राओं को देख कर ऐसे उचित शब्दों को ही चुनते थे, जो कि सार्थ हों और जिनमें सार्थकता के साथ साथ मात्राभंग, छन्दोभंग और अर्थभंग न होने पाए। कविता करने का जिन्होंने कभी अल्प भी यत्न किया हो, वे जानते हैं कि छन्द के नियमों में ठीक से बैठ जाए, ऐसे अर्थ-भाव को दिखलाने वाले शब्दों को खोजने में कवि दिन और रात बिता देता है। इसलिये यह तर्क कि दयावती शब्द का प्रयोग यों ही, छन्द की मात्रा में बिठाने के लिये किया होगा, जँचता नहीं है। दयावती शब्द का प्रयोग हेतुपूर्वक, पूर्ण समझदारी के साथ हृदय में उस श्रुति की करुणा और दया का पूर्ण अनुभव पाने के बाद ही किया गया होगा, ऐसा हमारा अनुमान है। इस सम्बन्ध में अनुभव की एक सच्ची कथा सुन लें।

गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व कुलपति विद्यामार्तण्ड पं० बुद्धदेवजी, जो आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष भी रह चुके हैं, उन्होंने एक बार किसी विशेष कारण से मेरे यहाँ छैः मास वास किया था। उन दिनों मैं एकान्त में स्वर और श्रुतियों की, राग और रागिनियों की आराधना किया करता था। उनके रसदर्शन के लिये, भावानुभूति के लिए, घंटों तक उपासना में निमग्न रहता था। एक दिन गुर्जरी तोडी का आवाहन कर रहा था। तोडी के ऋषभ गान्धार की आलापचारी करते करते उन स्वरों को बार बार छूते छूते हृदय कुछ ऐसी अवस्था में डूब गया कि सहज ही में आँखों से जल बहने लगा। ज्यों ज्यों उन स्वरों का दिल पर असर होता गया, करुणा बढ़ती ही गई। घंटों तक यही अवस्था रही। मेरी धर्मपत्नी बार बार पुचकारती रहीं, सान्त्वना देती रहीं, कारण पूछती रहीं और मुझे शान्त करने के लिये शीत जल मस्तक पर छिड़कती रहीं। पण्डित बुद्धदेवजी भी इस अवस्था को देख कर किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गए, क्योंकि मेरी वह अवस्था, जहाँ तक मुझे स्मरण है, प्रायः चौबीस घंटे तक रही। जब शान्त हुआ, तब मानों कितने बरसों का भार हल्का हो गया, मानों वाञ्छित ध्येय पा गया, मानो उस तोडी ने स्वयं आश्लेष द्वारा मुझे सान्त्वना दी। शान्त होने के बाद का वह सुख, वह आनन्द अवर्णनीय था; वह अनुभवगम्य है, शब्दातीत है।

किन्तु किस कारण से मेरी यह अवस्था हुई थी, इसको मैं समझ नहीं सका था। एक बार इस ग्रन्थ-लेखन की सहायिका मेरी परम प्रिय छात्रा प्रेमलता को मैं श्रुतियों के भेद, उनके भाव समझा रहा था, सप्रयोग दिखा रहा था। उस समय मेरे अपने बनाए हुए श्रुति हार्मोनियम पर मैं तोड़ी का वह ऋषभ और गान्धार दिखा रहा था, सुना रहा था। उस समय उस प्राचीन अनुभूति का पुनर्दर्शन हुआ और तब उस प्रश्न का उत्तर मिला, जो बरसों पहिले हृदय में उद्भूत हुआ था और आँखों के आँसुओं से पूछा गया था। तब ज्ञात हुआ कि वह दयावती श्रुति का परिणाम था। उस दयावती श्रुति की जाति करुणा है, ऐसा जब शास्त्रों में उल्लेख पाया, तब तो मैं हर्षोत्फुल्ल हो उठा और आँखों से हर्ष के आँसू बह निकले। इस प्रकार दयावती श्रुति के नाम और उसकी करुणा जाति की सार्थकता अनुभव द्वारा साकार हो गई।

इसी प्रकार अन्य श्रुति-नामों और जातिनामों की सार्थकता भी अनुभवसिद्ध है। शब्दों में उसे कैसे और कहाँ तक गूँथ सकेंगे? शब्द बाँधे जा सकते हैं, भाव बाँधने की वस्तु नहीं है। रस की अनुभूति सहृदय आत्मा ही पा सकता है और वह अनुभूति तर्कातीत है। वह 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' है। जो बुद्धि से नापा नहीं जा सकता, जो शब्दों में पिरोया नहीं जा सकता, उसकी व्याख्या कैसे की जा सकती है? इसी से एक स्वानुभव की कथा मैंने कह दी। जिन्हें आँखें होंगी, वे पढ़ेंगे, कान वाले सुनेंगे और हृदय वाले अनुभूति पाएँगे।

इतनी विवेचना के बाद श्रुतियों की जातियों के नाम और स्वरों में उनकी स्थिति यहाँ उल्लिखित करना पर्याप्त होगा। यथा :—

दीप्ताऽऽयता च करुणा मृदुर्मध्येति जातयः ॥ श्रुतीनां पञ्च, तासां च स्वरेष्वेवं व्यवस्थितिः।
दीप्ताऽऽयते मृदुर्मध्या षड्जे स्यादृषभे पुनः ॥ संस्थिता करुणा मध्या मृदुर्गान्धारके पुनः।
दीप्ताऽऽयते मध्यमे ते मृदुर्मध्ये च संस्थिते ॥ मृदुर्मध्याऽऽयताख्या च करुणा पञ्चमे स्थिता।
करुणा चायता मध्ये धैवते सप्तमे पुनः ॥ दीप्ता मध्येति तासां च जातीनां ब्रूमहे भिदाः।
तीव्रा रौद्री वज्रिकोग्रेत्युक्ता दीप्ता चतुर्विधा ॥ कुमुद्वत्यायता याऽस्याः क्रोधा चाथ प्रसारिणी।
संदीपनी रोहिणी च भेदा पञ्चेति कीर्तिताः ॥ दयावती तथाऽऽलापिन्यथ प्रोक्ता मदन्तिका।
त्रयस्ते करुणाभेदा मृदोर्भेदचतुष्टयम् ॥ मन्दा च रतिका प्रीतिः क्षितिर्मध्या तु षड्विधा।
छन्दोवती रञ्जनी च मार्जनी रक्तिका तथा ॥ रम्या च क्षोभिणीति.....।

(स० र०१।३।२७-३५)

अर्थात्—श्रुतियों की पाँच जातियाँ हैं—(१) दीप्ता (२) आयता (३) करुणा (४) मृदु और (५) मध्या।

सप्तस्वरों में इन श्रुति जातियों की स्थिति जो ऊपर उद्धृत श्लोकों में बताई गई है, उसका स्पष्टीकरण सिंहभूपाल की निम्नोद्धृत टीका से होगा।

षड्जे दीप्ताऽऽदयश्चतस्रः श्रुतिजातयः, प्रथमा श्रुतिर्दीप्ता, द्वितीयाऽऽयता, तृतीया मृदुश्चतुर्थी मध्या। ऋषभे तु प्रथमा श्रुतिः करुणा; द्वितीया मध्या, तृतीया मृदुः। गान्धारे प्रथमा श्रुतिर्दीप्ता, द्वितीयाऽऽयता। मध्यमे ते दीप्ताऽऽयते मृदुमध्ये च संस्थिते। ततश्च मध्यमस्य प्रथमा श्रुतिर्दीप्ता द्वितीयाऽऽयता, तृतीया मृदुश्चतुर्थी मध्या, पञ्चमे प्रथमा श्रुतिर्मृदुद्वितीया मध्या, तृतीयाऽऽयता चतुर्थी करुणा। धैवते प्रथमा श्रुति करुणा, द्वितीयाऽऽयता, तृतीया मध्या। सप्तमे निषादे प्रथमा श्रुतिर्दीप्ता, द्वितीया मध्येति।

अर्थात्—षड्ज की चार श्रुति-जातियाँ हैं। पहिली श्रुति की जाति दीप्ता, दूसरी की आयता, तीसरी की मृदु और चौथी की मध्या है। ऋषभ की पहिली श्रुति की जाति करुणा, दूसरी की मध्या और तीसरी की मृदु है। गान्धार की प्रथमा श्रुति दीप्ता और द्वितीया आयता है। मध्यम में पहिली श्रुति दीप्ता, दूसरी आयता, तीसरी मृदु और चौथी मध्या हैं। पञ्चम में पहिली श्रुति मृदु, दूसरी मध्या, तीसरी आयता और चौथी करुणा है। धैवत में पहिली श्रुति करुणा, दूसरी आयता और तीसरी मध्या है। निषाद में पहिली श्रुति दीप्ता और दूसरी मध्या है।

इन बाईस श्रुतियों को उपर्युक्त पाँच जातियों में विभक्त करते समय प्रत्येक जाति के अवान्तर भेदों के रूप में बाईस श्रुति नामों का उल्लेख भी 'संगीतरत्नाकर' के ऊपर उद्धृत श्लोकों में किया गया है। एक ही बात को कहने का यह दूसरा ढंग है। इस अंश पर सिंहभूपाल की टीका इस प्रकार है :—

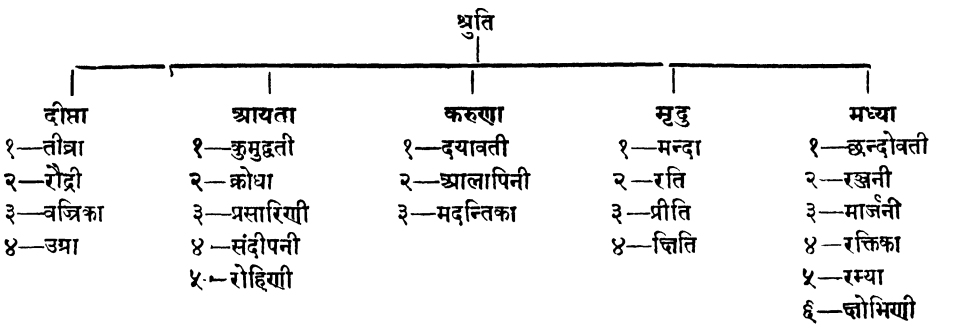
दीप्ता चतुर्विधा, तीव्रा रौद्री वज्रिकोग्रेति। आयतायाः पञ्चभेदाः—कुमुद्वती, क्रोधा, प्रसारिणी, संदीपनी, रोहिणी चेति। करुणाया भेदत्रयं दयावत्यालापिनी मदन्तिकेति। मृदोश्चत्वारो भेदा मन्दा रतिः प्रीतिः क्षितिरिति। मध्या तु षड्विधा षट्प्रकाराच्छन्दोवती, रञ्जनी, मार्जनी, रक्तिका, रम्या, क्षोभिणीति।

अर्थात्—दीप्ता के चार भेद हैं—तीव्रा, रौद्री, वज्रिका और उग्रा। आयता के पाँच भेद हैं—कुमुद्वती, क्रोधा, प्रसारिणी, संदीपनी और रोहिणी। करुणा के तीन भेद हैं—दयावती, आलापिनी और मदन्तिका। मृदु के

चार भेद हैं—मन्दा, रति, (रक्ता) प्रीति और क्षिति। मध्या छः प्रकार की है—छन्दोवती, रञ्जनी, मार्जनी, रक्तिका, रम्या और क्षोभिणी।

उपर्युक्त विवरण निम्नलिखित सारिणियों से स्पष्ट हो जाएगा।

श्रुतिनाम	जाति नाम	स्वर
१—तीव्रा	दीप्ता	षड्ज
२—कुमुद्वती	आयता	
३—मन्दा	मृदु	
४—छन्दोवती	मध्या	
५—दयावती	करुणा	ऋषभ
६—रञ्जनी	मध्या	
७—रक्तिका	मृदु	
८—रौद्री	दीप्ता	गान्धार
९—क्रोधा	आयता	
१०—वज्रिका	दीप्ता	मध्यम
११—प्रसारिणी	आयता	
१२—प्रीति	मृदु	
१३—मार्जनी	मध्या	
१४—क्षिति	मृदु	पञ्चम
१५—रक्ता	मध्या	
१६—सन्दीपनी	आयता	
१७—आलापिनी	करुणा	
१८—मदन्ती	करुणा	धैवत
१९—रोहिणी	आयता	
२०—रम्या	मध्या	
२१—उग्रा	दीप्ता	निषाद
२२—क्षोभिणी	मध्या	



ऊपर हम ने 'संगीत रत्नाकर' में दी हुई श्रुति-जाति-व्यवस्था को देखा। 'रत्नाकर' के परवर्ती ग्रन्थकारों ने यह विवरण ज्यों का त्यों उतार लिया है। 'रत्नाकर' के पूर्व के ग्रन्थों में इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भरत ने श्रुति-स्वर-प्रकरण में इन जातियों का कोई उल्लेख नहीं किया है। नाट्यशास्त्र के २९वें अध्याय में अलंकारों का विवरण देते समय निम्नलिखित श्लोकों में पाँचों श्रुति-जाति-नामों का उल्लेख अवश्य हुआ है, परन्तु उन श्लोकों का आशय कुछ स्पष्ट नहीं होता। 'सम' नामक अलंकार को समझाते समय भरत कहते हैं :—

सर्वसाम्यात्समो ज्ञेयः स्थितस्त्वेकस्वरेऽपि यः।
श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्था मृदुमध्यायताः स्मृताः॥
आयतत्वं तु चेन्नीचं मृदुत्वं तु विपर्ययम्।
स्वस्वरे मध्यमत्वं च श्रुतीनामेष निर्णयः॥
दीप्त्यायते करुणानां मृदुमध्यमयोस्तथा।

(ना० शा० २९/३८-४०)

मृदु, मध्या और आयता—इन तीन श्रुति-जातियों का अर्थ इन श्लोकों में से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर जिस श्रुति पर स्थित रहता है, उस श्रुति को मध्या या मध्यमा समझना चाहिए, उस श्रुति से नीचे वाली श्रुति को आयता और उससे ऊपर वाली श्रुति को मृदु समझना चाहिए। 'दीप्ता' और 'करुणा' जातियों का तो कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। 'अभिनव भारती' की हस्तलिखित प्रति में नाट्यशास्त्र के इस अंश की टीका देखने से भी कोई स्पष्टीकरण नहीं हो पाया, क्योंकि उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है। मध्या, मृदु और आयता की जो अस्फुट सी व्याख्या दी गई हैं, उससे यह प्रतीत होता है कि श्रुतियों की परस्पर ऊँचाई नीचाई की स्थिति समझाने के लिए ही इन शब्दों का प्रयोग किया गया है; उनके भावरूप दिखाने के लिए नहीं। 'प्रमाण श्रुति' को निर्दिशत करते समय भी भरत ने 'मार्दव' और 'आयतत्व'—इस प्रकार 'मृदु' और 'आयता' श्रुति-जातियों के नामों के भाववाची रूपों का प्रयोग किया है। यथाः—पञ्चमस्य श्रुत्युत्कर्षापकर्षाभ्यां यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तावत्प्रमाणश्रुतिः। (ना० शा० २८)

इस वाक्य का आशय यही है कि पञ्चम जिस श्रुति पर स्थित है, उससे एक श्रुति नीचे के अन्तर को 'आयतत्व' कहते हैं और उससे विपरीत अवस्था को 'मार्दव' कहते हैं। मध्यम से पञ्चम तक का चार श्रुति का अन्तर है। पञ्चम दो प्रकार से त्रिश्रुतिक बनाया जा सकता है। एक तो मध्यम से एक श्रुति चढ़ाने से, दूसरे पंचम की एक श्रुति उतारने से। इसे समझाने के लिए ही 'मार्दवादायतत्वाद्वा' इन शब्दों का

प्रयोग किया गया है। इस व्याख्या से भी यही प्रतीत होता है कि 'मृदु' और 'आयता' श्रुति-जातियों का सम्बन्ध श्रुति—परिमाण से है, श्रुतियों के भाव-रूप से नहीं। उपर्युक्त 'प्रमाण श्रुति' की विशद विवेचना तो आगे चल कर की जाएगी। यहाँ केवल प्रसंगवश इस विषय की अवतारणा करनी पड़ी है। निम्नलिखित तख्ते से 'मार्दव' और 'आयतत्व' की उच्च-नीचता की सार्थकता समझ में आ जायगी—

स्वर— मध्यम	...	...	...	पञ्चम
श्रुति-नाम—मार्जनी	क्षिती	रक्ता	सन्दीपनी	आलापिनी
श्रुति-जाति—मध्या	मृदु	मध्या	आयता	करुणा

मध्यम जिस श्रुति पर स्थित है, उसके बाद की अर्थात् मार्जनी के बाद की श्रुति की जाति मृदु है और पञ्चम जिस श्रुति पर स्थित है, उस से पहिले की श्रुति की जाति आयता है। मध्यम को एक श्रुति चढ़ाने से पञ्चम जब त्रिश्रुतिक बनता है, तब उस प्रक्रिया को 'मार्दव' कहा जाएगा और पञ्चम को एक श्रुति उतारने की क्रिया 'आयतत्व' कहलाएगी। अतः 'मार्दव' और 'आयतत्व' की उत्कर्ष और अपकर्ष संज्ञा सार्थक हैं।

भरत की दी हुई 'मध्या', 'मृदु' और 'आयता' श्रुति-जातियों की उपरिलिखित व्याख्या के अनुसार यदि 'रत्नाकर' में दी हुई श्रुति जाति व्यवस्था का निरीक्षण करें तो पता चलता है कि ऋषभ-गान्धार और पञ्चम को छोड़कर सभी स्वरों की अन्तिम श्रुति, जिस पर कि स्वर स्थित रहते हैं, 'मध्या' जाति की है। केवल ऋषभ,-गान्धार और पञ्चम के सम्बन्ध में इस नियम का भंग हुआ है। क्योंकि ऋषभ की अन्तिम श्रुति मृदु, गान्धार की अन्तिम श्रुति आयता और पञ्चम की अन्तिम श्रुति करुणा है। पञ्चम की अन्तिम श्रुति की 'करुणा' जाति का पञ्चम के भाव-रूप के साथ भी सामंजस्य नहीं बैठता, क्योंकि पञ्चम से करुण रस या भाव की अभिव्यक्ति होती हो, यह बात अनुभव द्वारा पुष्ट नहीं होती। 'आयता' के सम्बन्ध में भरत का जो विधान है, उसका केवल पञ्चम और धैवत के सम्बन्ध में उपयोग हुआ है, क्योंकि इन स्वरों की उपान्त्य श्रुतियों (अन्तिम श्रुति से ठीक पूर्व की श्रुतियों) की जाति 'आयता' कही गई है। मध्यम की दूसरी संख्या की श्रुति अर्थात् अन्तिम श्रुति से दो संख्या पूर्व की श्रुति को आयता कहा गया है। यह भी 'आयतत्वं तु चेन्नीचैः' भरत के इस विधान के अनुकूल है।

मतंग और दत्तिल के ग्रन्थों में भी श्रुति—जातियों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार गान्धर्वगान—परम्परा में 'रत्नाकर' के पूर्वकाल में भरत के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कहीं स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। हाँ, शिक्षा ग्रन्थों में, सामगान—परम्परा में इन श्रुति-जातियों के प्रयोग और विधि का निदर्शन किया गया है। वह निम्न उद्धरण से स्पष्ट होगा—

दीप्तायतकरुणानां मृदुमध्यमयोस्तथा। श्रुतीनां योऽविशेषज्ञो न स आचार्य उच्यते॥

अविशेषस्याचार्यस्याधिको दोषः न केवलमज्ञत्वात्स्वयं प्रत्येति अन्यान्यपि प्रत्यवायेन योजयतीत्याचार्यग्रहम्॥

दीप्ता मन्द्रे द्वितीये च प्रचतुर्थे तथैव तु। अतिस्वारे तृतीये च क्रुष्टे तु करुणाश्रुतिः॥

पञ्चानां स्वराणां दीप्ता श्रुतिः, प्रथमस्य मृदुभूता, सप्तमस्य करुणा॥

श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्यागताः स्मृताः। तासामपि तु वक्ष्यामि लक्षणानि पृथक् पृथक्॥

द्वितीयस्वरस्य पूर्वं दीप्ता श्रुतिरुक्ता संप्रति श्रुतित्रयमुपाधिवशेनोच्यते ।
आयतत्वं भवेन्नीचे मृदुत्वं तु विपर्यये । स्वे स्वरे मध्यमत्वं तु तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥

नीचे तृतीये स्वरे परतः स्थिते द्वितीयस्वरस्यायता श्रुतिः विपर्यये चतुर्थस्वरे परे भूते मृदुभूता स्वे स्वरे स्वरान्तरे अपरभूते मध्यमा श्रुतिः एवमवधार्य सामस्वरप्रयोगः कर्तव्यः, स न इन्द्रः शिवः सखा, उद्वेदभिश्रुतामयं वर्तीहा इत्युदाहरणानि, द्वितीये दीप्ता पूर्वोक्ता कदा भवतीत्याह ॥

द्वितीये विरता या तु क्रुष्टश्च परतो भवेत् । दीप्तां तां तु विजानीयात्प्रथमे न मृदु स्मृता ॥
अत्रैव विरता या तु चतुर्थेन प्रवर्तते । तथा मन्द्रे भवेद्दीप्ता साम्नश्चैव समापने ॥

क्रुष्टे परभूते द्वितीये स्वरे या विरताऽवस्थिता श्रुतिः सा दीप्ताह ।

ई ऊ इ इत्युदाहरणं प्रथमे स्वरे मृदुभूता यदि तत्रैव विपरीताऽवस्थिता चतुर्थे स्वरेऽवस्थिता मृदुभूता भवति स्वरान्तरगमने सति अन्यथा दीप्ता भवति । उग्रा इ इति तथा मन्द्रे दीप्ता भवति स्वरान्तरगमने सति एवं सामसमाप्तौ यत्र तत्र स्वरेऽवस्थिता श्रुतिर्दीप्ता भवतीति ओ हो ३२ वा ३ ही ३३ ही ३ वा ३ । हा ३ ३ इडा ३ इत्यादि विरता दीप्ता या श्रुतिर्निर्दिष्यते ॥

.....

दीप्तामुदात्ते जानीयादीप्तां च स्वरिते विदुः । अनुदात्ते मृदुर्ज्ञेया गन्धर्वा श्रुतिसम्पदः ॥
गान्धर्वे गाने श्रुतेरभावेऽपि तत्सदृशः स्वरः कार्य इत्याह ॥

इस उद्धरण से, सामागान-परम्परा में उच्च-नीच स्वरों के सम्बन्ध से स्वरों के परस्पर अन्तराल के परिवर्तन के कारण बदलती हुई उन स्वरों की अवस्थाओं को दिखाने के लिये इन श्रुति-जातियों का उपयोग किया गया है, ऐसा बलवत्तर अनुमान कर सकते हैं । ऊपर उद्धृत अंश में से निम्नलिखित पंक्तियाँ इस अनुमान को पुष्ट करती हैं :—

श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्यायताः स्मृताः । तासामपि तु वक्ष्यामि लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥
द्वितीयस्वरस्य पूर्वं दीप्ता श्रुतिरुक्ता, संप्रति श्रुतित्रयमुपाधिवशेनोच्यते ।

उपाधि-भेद से स्वर की श्रुति-जाति में परिवर्तन आता है, यह बात इस उद्धरण से स्पष्ट होती है । आधुनिक गीत-प्रयोग में भी इस प्रकार के परिवर्तन को हम स्पष्ट देखते हैं । समान्यरीत्या हम जानते हैं कि गान्धार के साथ तीव्र मध्यम का स्वरान्तर हिण्डोलादिक राग-प्रयोग में सचमुच तीव्रता लिये हुए प्रतीत होता है । किन्तु वही तीव्र मध्यम जब ललित में प्रयुक्त होता है, तब वह शुद्ध मध्यम के संयोग से नितान्त मृदुत्व धारण कर लेता है । ऐसे ही अन्य रागों में भी, देखनेवालों को, स्वरों के परस्पर अन्तराल में परिवर्तन के साथ-साथ बदलती हुई उन स्वरों की अवस्थाओं का दर्शन होगा । संभवतः इसी अवस्था-परिवर्तन को निदर्शित करने के लिये, स्वरों के पारस्परिक उच्च-नीच भाव को दर्शाने के लिये ही भरत ने इन श्रुति-जातियों का, श्रुति-स्वर-प्रकरण में निर्देश न कर के, अलंकार-प्रकरण में इनका उल्लेख किया है । हम सप्रयोग जानते हैं कि अलंकारों में स्वरों की अवस्था और उनके क्रम में उलट पुलट होती है ।

संभवतः सामगान में इन श्रुति-जातियों द्वारा, स्वरों के उलट सुलट भेद के अतिरिक्त उन

स्वरों के उच्चार का और उच्चार से प्रभावित भाव-सृष्टि पर होनेवाले परिणाम का भी निदर्शन होता होगा। स्वरों को भाव की दृष्टि से देखने से नारदीय शिक्षोक्त और भरतोक्त श्रुति-जातियों से इन पाँच अवस्थाओं का एक नूतन अर्थ हमें उपलब्ध होता है। उसी दृष्टि से हमने इस ग्रन्थ में उसे देखा है और जैसा देखा है, उल्लिखित किया है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना समुचित होगा कि यद्यपि श्रुतियों की जातियाँ शार्ङ्गदेव ने निश्चित कर दी हैं, जिनमें किसी परिवर्तन की शक्यता या आवश्यकता उन्होंने संभवतः नहीं मानी है। किन्तु हम, भाव-दृष्टि से, शार्ङ्गदेव के इस विचार के साथ सहमत नहीं हो सकते। क्योंकि आज प्रत्यक्ष प्रयोग में, उलट-सुलट स्वरों का प्रयोग करते समय स्वरों के अन्तराल बदलने से उनकी करुणादिक भावाभिव्यक्ति में परिवर्तन होता ही है। सामान्य स्थूल मान से इन श्रुति-जातियों का भावाभिव्यक्ति के साथ क्या मेल हो सकता है, उसका दिग्दर्शन करने का, हमने उन-उन श्रुतियों की जातियों के नामों के अर्थों के सहारे, यत्न किया है।

इन पाँच श्रुति-जातियों का सम्बन्ध उन-उन स्वरों की ऊँचाई-नीचाई अथवा भावाभिव्यक्तता के अतिरिक्त उनके उच्चार के साथ भी हो सकता है। दीप्ता जाति का बुलन्द उच्चार के साथ, मृदु जाति का कोमल उच्चार के साथ, आयता जाति का दीर्घ उच्चार के साथ, मध्या का मध्यम प्रकार के उच्चार (न बहुत बुलन्द न बहुत कोमल) के साथ और करुणा जाति का कम्पसहित उच्चार के साथ सम्बन्ध हो सकता है।

शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से, उनमें प्रयुक्त 'श्रुति' शब्द गान्धर्व-गान में प्रयुक्त बाईस श्रुतियों से सम्बन्धित है या नहीं, यह विषय कुछ संदेहात्मक रह जाता है। यह विषय अधिक विचारणीय है और सामगान के निगूढ़ अभ्यासियों द्वारा प्रकाश पाने योग्य है। संप्रति, सामगान हमारा विषय नहीं है। इसलिए अनावश्यक विस्तार-भय से हमने शोध-कार्य करनेवालों के लिये यहाँ दिशासूचन मात्र किया है।

अब हम श्रुति-जातियों के नामों के आधार पर, इन श्रुतियों से होनेवाली भावाभिव्यक्ति का यत्किञ्चित् प्रतिपादन करेंगे। इन नामों से, उन उन नादों का श्रोता के चित्त पर जो भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है, उसका संकेत मिलता है। इस सम्बन्ध में साहित्यशास्त्रोक्त माधुर्यादि गुणों की अल्प चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा।

साहित्य-शास्त्र में काव्य के तीन गुण माने गए हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते...।

(काव्यप्रकाश ८।८९)

रस यह काव्य की आत्मा है और ये गुण उस रस के स्वाभाविक धर्म हैं। जैसे शौर्यादिक मनुष्य की आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं, उसी प्रकार इन गुणों को काव्य की रसरूपी आत्मा के धर्म माना है, काव्य के शरीर (शब्दार्थ) के नहीं। साथ ही समुचित वर्णों के विनियोग से इन गुणों की अभिव्यक्ति होती है, यह भी स्वीकार किया गया है। इसलिये कौन सी वर्ण-संघटना कौन से गुण के लिये उपयुक्त है, इस सम्बन्ध में भी साहित्य-शास्त्र में नियम दिये हुए हैं। नव रसों में तीन गुणों की स्थिति निम्न प्रकार से मानी गई है।

रस	गुण
शृङ्गार, करुण, शान्त	माधुर्य
वीर, बीभत्स, रौद्र	ओज
सर्वरस	प्रसाद

इन गुणों का चित्त पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में काव्यप्रकाश के निम्नोद्धृत वचनों से स्पष्टीकरण होगा। साथ ही इन गुणों का स्वरूप भी स्पष्ट होगा।

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्। करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः। बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः। व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

(काव्यप्रकाश ८।६८-७०)

अर्थात्—माधुर्य गुण से आह्लादकत्व अभिप्रेत है। वह चित्त की द्रुति कराने वाला अर्थात् चित्त को पिघलाने वाला है। यह गुण संयोग शृंगार में तो रहता ही है, किन्तु उससे भी अधिक प्रबल रूप में यह करुण, विप्रयोग शृंगार और शान्त रस में पाया जाता है। ओजगुण दीप्ति का अर्थात् आत्मविस्तार (चित्त के विस्तार) का कारण होता है। यह गुण वीररस में रहता है। बीभत्स और रौद्र रस में क्रमशः इसका आधिक्य रहता है। तीसरा गुण है—प्रसाद। वह तुरन्त ही चित्त में इस प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे कि सूखे ईंधन में अग्नि। यह गुण सभी रसों मे रहता है। इससे चित्त का विकास होता है, ऐसा माना गया है।

ऊपर हमने देखा कि साहित्य शास्त्र में काव्य द्वारा होने वाली चित्त की तीन प्रकार की अवस्थाएँ मानी गई हैं—आत्मद्रुति, आत्मदीप्ति और आत्मविकास। संस्कृत के परम्परागत साहित्यशास्त्र में तो इन्हीं तीन गुणों की मान्यता प्रचलित है, परन्तु वैष्णव रसशास्त्र के प्रणेता श्रीमद्रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिरसामृतसिन्धु (१/५/६३-४) में भक्ति-रसास्वाद से संभूत चित्त की पाँच अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है। यथा—पूर्त्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप और क्षोभ। परम्परागत साहित्यशास्त्र में तो नौ रस ही माने हैं। किन्तु श्री रूप ने वैष्णवरसशास्त्र में द्वादश प्रकार के भक्ति रस माने हैं। उन द्वादश प्रकार के भक्ति रसों द्वारा जनित इन अवस्थाओं का उन्होंने निम्नोक्त प्रकार से वर्णन किया है :—

रस	आस्वादजनित अवस्था
शान्त	पूर्ति
दास्य, सख्य, वत्सल	विकास
मधुर (शृंगार) हास्य	विस्तार
वीर, अद्भुत	विक्षेप
करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स	क्षोभ

तद्वत् श्रुतियों की जातियों के जो नाम रखे गए हैं, उनके पीछे भी, उन उन नादों का चित्त पर क्या परिणाम होता है, उनसे किन किन भावों की अभिव्यक्ति होती है, इसको निदर्शित करने का गूढ़ अभिप्राय रहा होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं।

'आयता' का शब्दार्थ है—विस्तृता। इसका सम्बन्ध चित्त की विस्तृति से जोड़ा जा सकता है। तद्वत् 'दीप्ता' से चित्त की दीप्ति का संकेत मिलता है, जिसे विक्षेप भी कह सकते हैं। 'मृदु' से चित्त के मार्दव या विकास का संकेत मिलता है, क्योंकि मार्दव आए बिना, कठोरता रहने से, चित्त का विकास संभव नहीं है। 'मध्या' की स्थिति एक सी रहती है और इसलिए वह मन की इच्छारहित अवस्था को अथवा तृप्ति या पूर्ति की अवस्था को सूचित करती है। शान्तरस में चित्त की यह अवस्था होती है, यह सर्वविदित है। जब तक चित्त में क्षोभ नहीं होता, उस पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता, तब तक मन विचलित नहीं होता, यह सिद्ध वस्तु है। अतः क्षोभ और करुणा में परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध है। करुण के अतिरिक्त रौद्र, भयानक तथा बीभत्स—ये तीन रस भी क्षोभ के सर्जक हैं। अतः करुणा जाति द्वारा इन रसों से होने वाली चित्त की अवस्था का सूचन किया जा सकता है। रुद्र शब्द का रूढ़ अर्थ भयोत्पादक माना जाता है५ किन्तु वास्तव में इसका यौगिक अर्थ अथवा शब्दार्थ रुलानेवाला होता है। रुदन का और करुणा का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। तद्वत् 'भयानक' जो भय का द्योतक है, वह भय के साथ-साथ करुणा का भी जनक है, क्योंकि भयभीत व्यक्ति में भय के बाद करुणा का सञ्चार हो ही जाता है। युद्ध-क्षेत्र में पड़े हुए रक्त, मांस, मज्जा से लथपथ शव और गृद्धादिक पक्षियों तथा शृगालादिक पशुओं का उनके प्रति व्यवहार देखकर जो जुगुप्सा उत्पन्न होती है, उस बीभत्स दृश्य को देखकर जो घृणा उत्पन्न होती है, उस घृणा के साथ ही चित्त में करुणा का भी आविर्भाव हो आता है। इसीलिये रौद्र-भयानक और बीभत्स—ये तीनों करुणोत्पादक हैं, यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। इस प्रकार श्री रूप गोस्वामी के वैष्णव-रसशास्त्र में चित्त की जो पाँच अवस्थाएँ वर्णित हुई हैं, उनके साथ श्रुतियों की इन पाँच जातियों का स्वाभाविकरीत्या सम्बन्ध जुड़ जाता है, जो इस प्रकार होगा :—

रस	रसास्वादजनित चित्त की अवस्था	श्रुति-जाति
शान्त	पूर्ति	मध्या
दास्य, सख्य, वत्सल	विकास	मृदु
मधुर (शृङ्गार) हास्य	विस्तार	आयता
वीर, अद्भुत	विक्षेप	दीप्ता
करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक	क्षोभ	करुणा

श्रुति-जातियों का रसशास्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है, यह हमने ऊपर देख लिया। शार्ङ्गदेव ने श्रुतियों का एक अन्य प्रकार से भी विचार किया है। उसका यहाँ अल्प में उल्लेख कर देना असामयिक न होगा। शार्ङ्गदेव कहते हैं :—

तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः।
हृद्यूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्या द्वाविंशतिर्मताः॥
तिरश्चयस्तास्तु तावत्यः श्रुतयो मारुताहतेः।
उच्चोच्चतरतायुक्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम्॥
एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतयो द्वाविंशतिर्मताः।

(सं०र० १।३...)

इससे प्रतीत होता है कि बाईस श्रुतियों का मानव-शरीर-स्थित बाईस नाड़ियों के साथ शार्ङ्गदेव ने

सम्बन्ध जोड़ा है। उन्होंने हृदयस्थित ऊर्ध्व नाड़ी सुषुम्ना के साथ सम्बद्ध आड़ी तिरछी बाईस नाड़ियों की सत्ता मानी है। उनके साथ वायु का संघात होने से बाईस प्रकार के नाद उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है और इन्हीं नादों को श्रुति माना है। ये नाड़ियाँ बाईस ही हैं या न्यूनाधिक, इसके सम्बन्ध में चर्चा कहीं पढ़ने सुनने में नहीं आई है। जैसा शार्ङ्गदेव ने कहा है, वैसा ही हमने उल्लिखित किया है।

शायद योगारूढ़ योगी इन नाड़ियों द्वारा उत्पन्न नादों की प्रत्यक्ष अनुभूति पाते होंगे, जिनकी चर्चा शार्ङ्गदेव ने की है। मेरे पिता भी अपनी वृद्धावस्था में यौगिक क्रियाओं का, उनके नादों का, उन नादों के स्थानों का और उन नादों से कुण्डलिनी जाग्रत होने का विवरण पं० दुर्गाशंकर शास्त्री इत्यादि विद्वानों के समक्ष किया करते थे, और प्रत्यक्ष क्रिया से समझाते थे। उनकी उस चर्चा का संगीतोपयोगी बाईस श्रुतियों के नादों से कुछ सम्बन्ध था या नहीं, यह कहना कठिन है। क्योंकि उनकी भाषा में संगीत की शब्दावली का प्रयोग नहीं होता था। यह भी संभव है कि उनकी चर्चा में रत्नाकर-कथित २२ नाड़ियों और श्रुतियों का स्थान न रहा हो। बाल्यावस्था के कारण उनकी सूक्ष्म योग-परिभाषाओं को मैं समझ नहीं सका था। इसलिए इस विषय पर अधिक प्रकाश डालना मेरे लिये संभव नहीं है।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने इन बाईस श्रुतियों की सिद्धि करने के लिए चतुःसारणा—प्रक्रिया का उपयोग किया है। इस चतुःसारणा को समझते समय सप्त स्वरों में श्रुतियों के विभाजन का विषय हमारे समक्ष अनिवार्यरूप से उपस्थित होगा। अतः चतुःसारणा-प्रक्रिया का विवरण आरम्भ करने के पूर्व स्वर की परिभाषा एवं श्रुति और स्वर का सम्बन्ध—इन दो विषयों को समझ लेना समुचित होगा।

स्वर

स्वर की परिभाषा या उसके लक्षण के रूप में भरत का कोई वचन उपलब्ध नहीं होता। मतंग एवं उनके परवर्ती प्रधान ग्रन्थकारों का इस विषय में मन्तव्य नीचे उद्धृत किया जाता है—

'राजृ दीप्ताविति धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च ॥ स्वयं यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृतः।
ननु स्वर इति किम्? उच्यते। रागजनको ध्वनिः स्वर इति।

(बृहद्देशी ६३)

स्वयं यो राजते नादः स्वरः सः परिकीर्तितः।

(संगीतसमयसार)

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः॥ स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते।

(सं० र० १।३।२४-२५)

श्रुतेरनन्तरं भवतीति श्रुत्यनन्तरभावी। प्रथमतन्त्र्यामाहतायां यो ध्वनिरनुरणनशून्य उत्पद्यते सः श्रुति, यस्तु ततोऽनन्तरमनुरणनरूपः श्रूयते स स्वरः। (सं० र० पर सिंह भूपाल की टीका)

श्रुत्यनन्तरभावित्वं यस्यानुरणनात्मकः।
स्निग्धश्च रञ्जकश्चासौ स्वर इत्यभिधीयते॥
स्वयं यो राजते नादः स स्वरः परिकीर्तितः॥

(संगीत दर्पण ५७-५८)

इन उद्धरणों से 'स्वर' के लक्षण के रूप में अनेक ग्रन्थ-कारों के दिए हुए निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं—

(१) जो नाद या ध्वनि किसी अन्य सहकारी कारण से निरपेक्ष रह कर, स्वयमेव रञ्जक हो।

(२) जो ध्वनि राग की जनक हो।

(३) जो ध्वनि स्निग्ध हो अर्थात् रुक्ष न हो।

(४) जो ध्वनि श्रुति के अनन्तर उत्पन्न होती हो अर्थात् अनुरणनात्मक हो। इसके सम्बन्ध में 'रत्नाकर' के टीकाकार ने एवं संगीतदर्पण के रचयिता दामोदर पण्डित ने अपना मन्तव्य व्यक्त किया है* कि तार पर आघात करते ही सबसे प्रथम जो अनुरणनहीन नाद उत्पन्न होता है, उसे श्रुति कहते हैं और उसके पश्चात् के अनुरणनात्मक नाद को 'स्वर'।

स्वर-श्रुति की परिभाषा या लक्षण पर भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों के मन्तव्य का सारार्थ हमने देखा। आज के प्रत्यक्ष संगीत-प्रयोग को ध्यान में रखते हुए, हम इस विषय को अपने शब्दों में निम्नोक्त रूप से समझाने का यत्न करते हैं।

स्वर—वह अनुरणात्मक नाद जो किसी प्रकार के आघात से स्वयमेव उद्भूत होता हो, जो अनुरञ्जक हो, जो श्रोतृचित्त को सुखद हो, जो नियत श्रुति-स्थान पर स्थित होते हुए भी अपने स्थान से अधो-ऊर्ध्व गति पाने से विकृत होता हो और आत्मा के सुख-दुःखादि संवेदनों को अभिव्यक्त करने में जो सहायक हो, ऐसे नाद को स्वर कहते हैं।

श्रुति—जो स्वरों की शुद्धाशुद्ध अथवा अविकृत-विकृत अवस्था का कारण हो, जो स्वरों के अधो उच्च अन्तर को नापने का परिमाण या मापदण्ड हो, जो स्पष्टतया प्रयुक्त होने पर स्वर कहलाती हों और उसकी विपर्यस्त यानी अप्रयुक्त अवस्था में श्रुति कहलाती हों, जो स्वर से भिन्न होकर भी अभिन्न हों, एवं गमकादि प्रयोगविशेष में गुप्त रूप से रसाभिव्यक्ति का जो कारण हों, ऐसे अनुरणनात्मक और अनुरञ्जक नाद को श्रुति कहते हैं।

'रत्नाकर' कथित 'श्रुत्यनन्तरभावी' शब्द का आशय यदि वही हो, जैसा कि टीकाकारों ने कहा है कि प्रथम आघात करते ही जो आघातात्मक अनुरणनहीन नाद उत्पन्न होता है, वह श्रुति है और उसके बाद जो अनुरणन होता है, वह स्वर है, तो इस वचन से हम सहमत नहीं होते, जैसा कि हमारी ऊपर दी हुई व्याख्या से स्पष्ट होगा।

टीकाकारों ने 'रत्नाकर' के 'श्रुत्यनन्तरभावी' का जो अर्थ लगाया है, वह उन्हीं के अपने कथन से विपरीत जाता है, क्योंकि सारणा—प्रकरण में "आद्या कार्या मन्द्रतमध्वाना" की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वयं ही कहा है कि बाईस श्रुति तारों में से प्रथम तार को ऐसे मन्द्रतम नाद में मिलाया जाए कि जिससे नीचा नाद रञ्जक न हो, अथवा अनुरणनहीन हो। यदि अनुरणनहीन प्रथम आघातात्मक नाद को ही श्रुति मानना हो तो फिर मन्द्रतम के लिये यह जो शर्त लगाई गई है, कि वह नाद रञ्जक हो, वह निरर्थक हो जाती है। इसलिये

---

* श्रुति' की व्याख्या 'संगीत दर्पण' में इस प्रकार दी है—

स्वरूपमात्रश्रवणान्नादोऽनुरणनं विना। श्रुतिरित्युच्यते भेदास्तस्या द्वाविंशतिर्मताः॥

(सं० द० ५१)

'श्रुत्यनन्तरभावी' का अर्थ हमारी दृष्टि से निम्नोक्त लेना चाहिए। 'अनन्तर भावी' का अर्थ यह नहीं कि जो नाद श्रुति के 'अनन्तर' अर्थात् बाद में स्थित हो, अपितु उनके 'अन्+अन्तर' में अर्थात् श्रुतियों के परस्पर अन्तर में नहीं, उसके बीच में नहीं, अपितु उन श्रुतियों के स्थानों पर ही जो नाद स्थित होता है, उसे ही स्वर कहते हैं। हम पहिले ही लिख आए हैं कि इन श्रुतियों के पारस्परिक सूक्ष्मान्तर स्वर का रूप नहीं ले सकते। इसीलिए मूल २२ श्रुतियों को स्वर-श्रुति संज्ञा दी गई है और उनके पारस्परिक सूक्ष्मान्तरों को अन्तर-श्रुति कहा गया है, जो कि स्वर का रूप नहीं ले सकतीं। इसी बात का स्पष्टीकरण 'रत्नाकर' कार को अभीष्ट रहा होगा।

चतुःसारणा करते समय हम जिन श्रुतियों की सिद्धि पाते हैं, वे भी तो अनुरणानयुक्त ही हैं। अतः यह कहना कि श्रुति अनुरणानहीन है और स्वर अनुरणानयुक्त है, सयुक्तिक नहीं है। जो स्वरज्ञ हैं, वे इस बात को भली भाँति जानते हैं।

जिन्हें 'अनन्तर' शब्द से 'पश्चात्' का ही अर्थ लेना हो, वे इसे यों समझ सकते हैं कि स्वर सर्वदा अपनी अन्तिम श्रुति पर ही स्थित रहता है, अर्थात् स्वर अपनी पूर्व श्रुतियों के पश्चात् ही निनादित होता है। इस प्रकार भी 'अनन्तर' का पश्चात् अर्थ उस अन्तिम श्रुति के सम्बन्ध में तो नहीं ही लगाया जा सकता, जिस पर कि स्वर स्थित रहता है, जैसा कि कुछ लोगों ने लगाया है। प्रथम अनुरणानहीन नाद को 'श्रुति' कहना और तत्पश्चात् के अनुरणानयुक्त 'नाद' को स्वर कहना, यह व्याख्या इस प्रकार भी समीचीन नहीं प्रतीत होती।

उपरिलिखित चर्चा से यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि स्वर और श्रुति क्या एक हैं अथवा भिन्न? और यदि भिन्न हैं, तो उनमें किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस विषय में प्राचीन एवं मध्ययुगीय ग्रन्थकारों के मत को उद्धृत करने के पश्चात् हमारा निजी मन्तव्य देना समुचित होगा।

भरत ने इस विषय को छेड़ा नहीं है। मतंग ने इस सम्बन्ध में पाँच विकल्प कहे हैं। यथा—

तादात्म्यं च विवर्तत्वं कार्यत्वं परिणामिता। अभिव्यञ्जकता चापि श्रुतीनां परिकथ्यते॥

(बृहद्देशी)

अर्थात्—श्रुति और स्वर के परस्पर सम्बन्ध के विषय में पाँच विकल्प कहे गए हैं—१) तादात्म्य २) विवर्त ३) कार्यत्व ४) परिणामिता एवं ५) अभिव्यञ्जकता।

इन विकल्पों की व्याख्या करते हुए मतंग कहते हैं :—

विशेषस्पर्शशून्यत्वाच्छ्रवणेन्द्रियग्राह्यता।
स्वरश्रुत्योस्तु तादात्म्यं जातिव्यक्त्योरिवानयोः॥
नराणां च मुखं यद्वद्दर्पणे तु विवर्तितम्।
प्रतिभाति स्वरस्तद्वच्छ्रुतिष्वेव विवर्तितः॥
श्रुतीनाँ* श्रुतिकार्यत्वमिति केचिद्वदन्ति हि।
मृत्पिण्डदण्डकार्यत्वं घटस्येह यथा भवेत्॥

---

* 'श्रुतीनां' पाठ यहाँ समीचीन प्रतीत नहीं होता। उसके स्थान पर 'स्वराणां' होना चाहिए।

श्रुतयः स्वररूपेण परिणमन्ति न संशयः।
परिणमेत (?) यथा क्षीरं दधिरूपेण सर्वथा ॥
षड्जादयः स्वराः सप्त व्यज्यन्ते श्रुतिभिः सदा।
अन्धकारस्थिता यद्वत् प्रदीपेन घटादयः ॥
(बृहद्देशी ३१-३६)

अर्थात्—श्रुति-स्वर के सम्बन्ध के पाँच विकल्प इस प्रकार से हैं :—

(१) तादात्म्य—स्वर और श्रुति में जाति और व्यक्ति की भाँति तादात्म्य-सम्बन्ध है। दोनों ही श्रवणेन्द्रियग्राह्य हैं। अतः उनमें 'विशेष' का अभाव है।

(२) विवर्तत्व—जैसे मनुष्य का मुख दर्पण में विवर्तित होता है, उसी प्रकार स्वर श्रुतियों में विवर्तित होकर प्रतिभासित होते हैं।

(३) कार्यत्व—कुछ लोगों का कहना है कि श्रुति कारण और स्वर कार्य है अर्थात् दोनों में मृत्पिण्ड और घट की भाँति कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध है।

(४) परिणामित्व—श्रुतियाँ ही निःसंशय स्वर रूप से परिणत होती हैं, जैसे कि क्षीर दधि में परिणत होता है।

(५) अभिव्यञ्जकता—श्रुतियों द्वारा ही षड्जादिक स्वर अभिव्यक्त होते हैं, जिस प्रकार प्रदीप द्वारा घटादि प्रकाशित होते हैं।

इन पाँचो विकल्पों की विस्तृत विवेचना करके मतंग ने पहिले तीनों पक्षों को न्यायविरुद्ध ठहराया है और अन्तिम दो को न्यायसंगत माना है। पाँचो की विवेचना इस प्रकार है।

प्रथम विकल्प—तादात्म्य

भेदः स्वरलक्षणानां* (?) सामान्येनान्यवस्तुवत्सिद्धः। तद्धि विशेषैः शून्यं भवति नभःपुष्पसंकाशम् ॥
नानाबुद्धिप्रसाध्यत्वात् स्वरश्रुत्योस्तु भिन्नता। आश्रयाश्रयिभेदाच्च तादात्म्यं नैव सिध्यति ॥
(बृहद्देशी ३९)

अर्थात्—स्वर और श्रुति में भेद अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि दोनों 'भिन्न-बुद्धिग्राह्य' हैं। दोनों में आश्रया-श्रयिभाव-सम्बन्ध भी है अर्थात् श्रुति आश्रय है और स्वर आश्रयि है। अतएव श्रुति और स्वर में 'तादात्म्य-सम्बन्ध' मानना समीचीन नहीं है।

द्वितीय विकल्प—विवर्तत्व

यदभाणि विवर्तत्वं श्रुतीनां तदसंगतम्। विवर्तित्वे स्वराणां हि भ्रान्तिज्ञानं प्रसज्यते ॥
(बृहद्देशी ४०)

'विवर्त' का पक्ष मानने से स्वर को भ्रान्तिज्ञान-गम्य ही मानना होगा। 'विवर्त' द्वारा वास्तव वस्तु का भ्रान्तिज्ञान ही हो सकता है, यथार्थ ज्ञान नहीं। परन्तु स्वर की अनुभूति भ्रान्तिज्ञान द्वारा नहीं होती। क्योंकि स्वरों का अबाधित प्रयोग होता है। भ्रान्तिज्ञान तो सदैव बाधित हो सकता है। किन्तु स्वर उस प्रकार भ्रान्तिज्ञान का विषय नहीं ही है। इसलिए यह पक्ष भी न्यायसंगत नहीं है।

---

* यहाँ 'स्वरलक्षणानां' के स्थान पर 'स्वर श्रुतीनां' यह पाठ होना चाहिये।

तृतीय-पक्ष—कार्य-कारण-भाव

कार्यकारणभावस्तु स्वरश्रुत्योर्न संभवेत्। श्रुतीनामिह सद्भावे प्रमाणं नैव विद्यते॥
अर्थापत्त्या यदि वा व्याप्तिग्रहणपूर्वकप्रमाणबलात्। सिद्धस्वरजनकानां गगनगुणानां स्वरो भेदः॥
सत्यम्।
कार्यकारणभेदोऽपि यद्यपि स्फुटमेव हि। तथापि कारणत्वं च श्रुतीनां नैव संभवेत्॥
कार्येषु विद्यमानेषु कारणस्योपलम्भनात्। घटादौ विद्यमानेषु मृत्पिण्डो नोपलभ्यते॥
(बृहद्देशी ४१-४४)

अर्थात्—स्वर और श्रुति में कार्य-कारण-भाव नहीं माना जा सकता। यद्यपि स्वर और श्रुति में कार्य और कारण-रूप भेद स्पष्ट प्रतीतिगोचर होता है, तथापि श्रुतियों को स्वर का कारण नहीं मान सकते, क्योंकि घटादि कार्य में मृत्पिण्डरूप उपादान कारण की पृथक्तया उपलब्धि नहीं होती। किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है कि स्वर की निष्पत्ति होने पर श्रुति की प्रतीति न होती हो।*

चतुर्थ और पञ्चम विकल्प—परिणामित्व और अभिव्यञ्जकता—

परिणामोऽभिव्यक्तिस्तु न्याय्यः पक्षः सतां मतः॥
(बृहद्देशी ४५)

अर्थात्—परिणाम और अभिव्यक्ति—इन दो पक्षों को विद्वज्जन न्याय्य मानते हैं।

श्रुति और स्वर के परस्पर सम्बन्ध के विषय में मतंग ने जो पाँच विकल्प कहे हैं, और उनका जो खण्डन मण्डन किया है, वह सब हम ऊपर समझ चुके हैं। मतंग के परवर्ती ग्रन्थकारों ने इस विषय की कोई विशद विवेचना नहीं की है। 'रत्नाकर' कार ने 'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः'—अर्थात् श्रुतियों से स्वर बनते हैं, इतना ही कहकर इस विषय को छोड़ दिया है। 'रत्नाकर' के टीकाकार कल्लिनाथ ने भी मतंग के ही मत का उल्लेख मात्र किया है। 'रत्नाकर' के पश्चात् केवल पं० अहोबल और पं० व्यङ्कटमखी ने इस विषय की अल्प चर्चा की है। पं० अहोबल ने श्रुति और स्वर को अभिन्न माना है, क्योंकि दोनों ही कानों से सुनने के विषय हैं। वे कहते हैं कि यदि उनमें कुछ भेद है तो मात्र सर्प और उसकी कुण्डलीवत् ही है। सभी श्रुतियाँ भिन्न भिन्न रागों में प्रयुक्त होते ही स्वर का स्थान पा जाती हैं। वे श्रुतियाँ रागों का कारण होने से उन्हें 'श्रुति' संज्ञा दी गई है। यथा :—

श्रुतयः स्युः स्वराभिन्नाः श्रावणत्वेन हेतुना। अहिकुण्डलवत्तत्र भेदोक्तिः शास्त्रसम्मता॥
सर्वाश्च श्रुतयस्तत्तद्रागेषु स्वरतां गताः। रागहेतुत्व एतासां श्रुति संज्ञैव सम्मता॥
(सं० पा० ३८-३९)

पं० व्यङ्कटमखी ने श्रुति को स्वर का कारण माना है और श्रुति-स्वर में 'स्वर्णाटङ्क' और 'किरीट' के सदृश भेद स्वीकार किया है। यथा—

---

* स्वर-श्रुति में कार्यकारण-भाव नहीं है, इस सिद्धान्त पक्ष के विरुद्ध मतंग ने यह पूर्वपक्ष उल्लिखित किया है कि यदि स्वर को श्रुति का कार्य न मानें तो श्रुतियों की सत्ता कैसे सिद्ध होगी? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि अर्थापत्ति अथवा अनुमान द्वारा श्रुतियों की सत्ता सिद्ध हो सकती है। कार्य-कारण-भाव मानने की आवश्यकता नहीं। इस चर्चा के विस्तार को अनावश्यक मानकर इसे हमने यहीं समाप्त कर दिया है।

श्रुतिर्नाम भवेन्नादविशेषः स्वरकारणम्। ननु नास्ति स्वरश्रुत्योर्भेदो नादैकरूपयोः॥
विद्यते परिणामित्वपरिणामित्वसंभवः। अस्ति भेदस्तयोर्यद्वत् स्वर्णटङ्ककिरीटयोः॥
(चतुर्दण्डिप्रकाशिका २ ३, ४)

आजकल सामान्यतः गुणीजन इस पेचीदा प्रश्न में नहीं उलझते हैं। शुद्ध, कोमल और तीव्र अथवा चढ़ी उतरी, इतने तक ही उनका स्वर-श्रुति का ज्ञान सीमित रहता है। कुछ ऐसे गायक वादक भी हैं, जिन्होंने गायन-क्रिया या वादन-क्रिया में स्वरों की सूक्ष्मता को सुना है। वे भिन्न भिन्न राग सिखाते समय अपने विद्यार्थियों से कहते रहते हैं कि—'बेटा! तोड़ी के गान्धार को मत चढ़ाओ, नहीं तो उस तोड़ी का मजा (रस) किरकिरा हो जाएगा।' मल्हार के गान्धार और कान्हड़ा के गान्धार में भी वे ऐसा ही भेद दिखाते हैं। तद्वत् मालकौंस के निषाद और भीमपलासी के निषाद का भिन्नत्व भी वे अपने छात्रों को गा-बजा कर समझाते हैं और कहते हैं कि—'बेटा! इसी ढङ्ग से इन स्वरों को लगाओ।'

प्राचीन ग्रन्थोक्त श्रुति-स्वरों को सिद्ध करने के लिए Mr. Clement राय साहब देवल, पं० गं० भी० आचरेकर प्रभृति ने दीर्घ परिश्रम किया है और अपने अथक यत्न से प्राप्त तत्त्व भारत के इस विषय के जिज्ञासुओं और तत्त्वज्ञों के सामने प्रकट किया है। इन्होंने परम्परा प्राप्त बाईस श्रुतियाँ अपनी दृष्ट्यनुसार सिद्ध की हैं और षड्ज-ऋषभादि स्वरों के स्थान निर्णीत किये हैं। किन्तु श्रुति और स्वर में एकता या भिन्नता के सम्बन्ध में मतंग के सदृश कोई विशेष विवरण नहीं दिया है। उन्हें उसकी आवश्यकता भी नहीं प्रतीत हुई होगी, कारण उनकी दृष्टि के सामने मुख्यतः बाईस श्रुतियाँ और उन श्रुतियों की स्वरों में बाँट, यही विषय रहे होंगे। और इन्हीं का उन्होंने निदर्शन किया है।

आधुनिक ग्रन्थकार पं० भातखण्डे उपनाम चतुर पण्डित ने भी अपने 'लक्ष्यसंगीत' एवं 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' ग्रन्थों में श्रुति स्वरों की प्राचीनोक्त चर्चा ज्यों की त्यों उतार ली है। किन्तु उन्होंने श्रुति और स्वर की एकता अथवा भिन्नता पर कुछ प्रकाश नहीं डाला है। संभवतः यह विषय उन्हें अपने ग्रन्थ के लिए विचारणीय एवं विवेचनीय नहीं प्रतीत हुआ होगा, क्योंकि यह सर्वविदित ही है कि पं० भातखण्डे ने एक सप्तक में सात शुद्ध और पाँच विकृत यों कुल मिलाकर बारह ही स्वर माने हैं। बाईस श्रुतियों के रूप में भिन्न भिन्न नादों के झमेले से उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत में बारह स्वर मान कर मुक्ति पा ली है। संभवतः इस युग के अशिक्षित कलाकारों, जिनके परिचय में वे आए होंगे, उनके 'चढ़ी उतरी' या 'तीवर' 'कोमल' शब्द-प्रयोग को ही 'लक्ष्य' मानकर तदनुसार उन्होंने अपने नूतन शास्त्र का ढाँचा ढाला होगा। सामान्यतः शास्त्र से अनभिज्ञ गायक वादक भी श्रुतियों के निगूढ़ पचड़े में न जाकर व्यवहार की सुहूलियत के लिए इन्हीं शब्दों को उपयोग में लाते हैं। जो गुणीजन अपनी गायन-वादन क्रिया में अधिक सूक्ष्म नादों का समझपूर्वक उपयोग करते हैं, वे भी सामान्य रूप से इन्हीं शब्दों को व्यवहार में लाते हैं। फिर भी 'अधिक चढ़ी' या 'अधिक उतरी' इन शब्दों से विद्यार्थियों को सूक्ष्म नाद-भेद समझाने का यत्न करते हैं। इन क्रिया-कुशलों को छोड़कर सामान्य गायक वादकों ने आज कल पं० भातखण्डे की परिपाटी को ही अपनाया है और उसमें भी यूरोप से आए हुए हार्मोनियम के प्रचार से तो इस युग के अनजान कलाकारों के मन पर उन्हीं बारह स्वरों की छाप पूरी तरह छा गई है जिन्हें पं० भातखण्डे द्वारा प्रचारित कहने में अत्युक्ति का दोष नहीं होगा।

यह सर्वानुभव है कि जटिलता से सब कोई बचना चाहते हैं। विशेष व्यक्ति ही इस मार्ग के पथिक बनते हैं और अपने जीवन के श्रम का निचोड़ दुनियाँ को दे जाते हैं, देने पर भी उसको ग्रहण करनेवालों की संख्या सीमित ही रहती है, यदि उसके पीछे प्रगाढ़ प्रचार का बल न हो। इस युग के तपस्वियों का, जिन्होंने श्रुत्यादिक निर्णय के पीछे अपना जीवन न्योछावर किया, प्रचार के अभाव से और विषय की गहनता के कारण सामान्य जन की बुद्धि तक उनका निदर्शित तत्त्व न पहुँच पाया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु भारतीय

संगीत का और भारत का सद्भाग्य है कि अब संगीत के विशद प्रचार के बाद जनता में इस विषय के सार और निगूढ़ तत्त्व को जानने के प्रति जिज्ञासा बढ़ी है, जिससे हमें आशा है कि अब शीघ्र ही भारतीय संगीत के श्रुत्यादिक तत्त्वों का पूर्ण रूप से विश्लेषण होगा, सत्य आलोकित होगा और असत्य तिरोहित होगा।

श्रुति और स्वर के सम्बन्ध के विषय में ग्रन्थकारों के कथन, प्रचार और विशेष गुणीजनों की मान्यता पर विवेचन करने के बाद हमें अपना निर्णय कह देना भी समुचित होगा। श्रुतियाँ उच्च नीच नाद के रूप में परस्पर विभिन्न हैं। वही श्रुतियाँ जब रागों में प्रयुक्त होती हैं, तब वे स्वर बनती हैं। इस दृष्टि-बिन्दु से स्वर और श्रुति में अभिन्नत्व है। श्रुति ही स्वर का स्थान पाती हैं। इसी से एक रूप में कह सकते हैं कि श्रुति कारण है और स्वर कार्य। जब श्रुति 'स्वरत्व' को प्राप्त होती है, तब उसका 'श्रुतित्व' तिरोहित हो जाता है। और जब वह 'स्वरत्व' नहीं पाती, तब वह श्रुति ही रहती है। यथा—छन्दोवती पर षड्ज है, रक्तिका पर ऋषभ है, क्रोधी पर गान्धार है, मार्जनी पर मध्यम है, आलापिनी पर पञ्चम है, रम्या पर धैवत है और क्षोभिणी पर निषाद है। इन षड्ज-ऋषभादि के रूप में स्वरत्व को प्राप्त हुई वह वह श्रुतियाँ श्रुति न जनकर स्वर बन जाती हैं। जैसे ये छन्दोवत्यादि श्रुतियाँ जब स्वर स्थान को पाती हैं, तब इनका 'श्रुतित्व' तिरोहित हो जाता है, तद्वत् अन्य विकृत स्वरों की श्रुतियाँ भी जब स्वर बन जाती हैं, तब उनका 'श्रुतित्व' नहीं रह जाता। जिन जिन रागों में जो जो श्रुतियाँ स्वर-स्थान पाई हुई हैं, उनके अतिरिक्त जो नाद बच जाते हैं, वे श्रुति कहलाएंगे। स्वर और श्रुतियों में यही ऐक्य और भिन्नत्व दर्शित होता है। इसकी स्पष्टता के लिए एक उदाहरण हम और समझ लें। स्थूल रूप से सभी जानते हैं कि मालकौंस और भीमपलासी में कोमल निषाद स्वर का प्रयोग होता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इन दो निषाद-स्वरों में एक श्रुति का अन्तर है। मालकौंस के मध्यम के साथ नव-श्रुति संवाद करनेवाला निषाद क्षोभिणी श्रुति पर स्थित है। उस समय 'क्षोभिणी' श्रुति न रह कर कोमल निषाद स्वर बन जाती है। तद्वत् भीमपलासी के पञ्चम के साथ षट्श्रुति संवाद करनेवाला कोमल निषाद तीव्रा श्रुति पर स्थित है। उस अवस्था में 'तीव्रा' श्रुति न रह कर कोमल निषाद स्वर का रूप धारण करती है। इस प्रकार मालकौंस में 'तीव्रा'—श्रुति रहती है और क्षोभिणी स्वर बन जाती है और भीमपलासी में 'क्षोभिणी' श्रुति रहता है और 'तीव्रा' स्वर बन जाती है। इस उदाहरण से स्पष्ट होगा कि श्रुतियाँ स्वर बनते ही श्रुति-रूप से अपना अस्तित्व खो देती हैं, उनका श्रुति-रूप तिरोहित हो जाता है, अन्यथा उनका श्रुतित्व निर्बाधित रहता है।

श्रुति और स्वर की विवेचना के सम्बन्ध में प्रायः लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि श्रुति पहले या स्वर पहिले। किसी किसी ग्रन्थकार ने मानो शुरू से ही बाईस श्रुतियों के स्थान निश्चित कर लिए हों और फिर क्रमशः चौथी श्रुति पर षड्ज, सातवीं पर ऋषभ, नवीं पर गान्धार, तेरहवीं पर मध्यम इत्यादि—इस प्रकार से स्वरों की स्थापना की हो, ऐसा प्रतीत होता है। और संभवतः इसी से लोगों में यह भ्रान्ति फैली है कि प्रथम श्रुति या प्रथम स्वर ?

इस प्रश्न का साम्य ऐसे प्रश्न के साथ दिखा सकते हैं कि प्रथम बीज या प्रथम वृक्ष। यहाँ यह कहना समुचित प्रतीत होता है कि जैसे व्याकरण बनने से पहिले भाषा का अस्तित्व होता है, तद्वत् श्रुतियों की सिद्धि के पूर्व स्वर-स्थान निश्चित रहे ही होंगे। बरसों और पीढ़ियों तक गायन-वादन की क्रिया के प्रचार पाने के बाद ही किसी विरल व्यक्ति के मस्तिष्क में उसके नियमों को देखने की, जाँचने की, तोलने की और नापने की जिज्ञासा जागी होगी।

आज भी हम जानते हैं कि प्रसिद्ध गायक वादक अपनी कला में तो विशेष क्रियाकुशल होते हैं, किन्तु इस शास्त्रीय श्रुति चर्चा की ओर उनका ध्यान सर्वदा आकर्षित नहीं होता। तद्वत् प्राचीन काल में भी किन्हीं

क्रियाकुशल और शास्त्रीय दृष्टि-संपन्न विरल कलाकारों के द्वारा ही उन क्रियाओं को नियमबद्ध किया गया होगा। सभी विषयों के लिये यही नियम लागू होता है कि उनके आरम्भ, प्रयोग, विकास और प्रचार के अनन्तर ही उनको नियमबद्ध किया जाता है, और उसी नियमबद्ध रूप को शास्त्र कहा जाता है। इस दृष्टि से संगीत के आरम्भ, प्रयोग, प्रचार और विकास की अवस्था में स्वर का स्थान प्रथम रहा होगा, श्रुति का नहीं।

परापूर्व से वीणा पर स्वरों के जो पर्दे बँधे रहते हैं, उनके बीच में अर्थात् उनके परस्पर अवकाश में शास्त्रकार के कानों ने भिन्न भिन्न परिमाण का अनुभव किया। आज भी षड्ज और ऋषभ के दर्म्यान, ऋषभ और गान्धार के दर्म्यान और गान्धार और मध्यम के दर्म्यान समान अन्तर नहीं है। सुनने और समझने वाले कान ही यह बात जानते हैं। ऐसे अनुभवी कानों ने स्वरों के भिन्न भिन्न परिमाण का जो अनुभव किया, उस अनुभव को किसी विशेष प्रक्रिया से नाप कर स्पष्ट निदर्शित करने के लिए श्रुति का परिमाण गृहीत किया गया होगा। वीणा पर बँधे हुए पर्दों ने अर्थात् पर्दों के बीच के अन्तर ने ही इन श्रुतियों के परिमाण का निदर्शन किया होगा। कैसे ?

मान लें कि वीणा की प्रथम तार मध्यम में मिली हुई है। उस मध्यम की तार को मेरु से एक पर्दा छोड़कर दूसरे पर्दे पर दबाने से पञ्चम बोलता है। उसी पञ्चम के साथ एकरूप होकर मिलनेवाली पंचम की अन्य तार वीणा पर बँधी रहती है। उस पर्दे वाले पञ्चम का और तार वाले पञ्चम का पूर्ण समत्व रहता है। उस पञ्चम वाले पर्दे से आगे बँधे हुए धैवत के पर्दे पर पहिली तार को उँगली से दबा कर उस नाद को सुनें और वीणा पर लगी हुई पञ्चम की तार से उसी पर्दे वाले पञ्चम पर धैवत लगाकर देखें। दोनों नादों में एक सूक्ष्म भेद सुनाई देगा। शास्त्रकार ने इस भेद को जाँचा। जाँचने के बाद स्थिर किया कि दोनों में एक श्रुति का अन्तर है। इस श्रुत्यन्तर को आत्मसात् करने के बाद अन्य स्वरों के भीतर किन किन परिमाणों का अन्तर है, इसकी जाँच करना आवश्यक प्रतीत हुआ। उसे जाँचने की प्रक्रिया के लिए, उन परिमाणों को मापकर सिद्ध करने के लिए सारणा का प्रयोग किया गया। जाँच की प्रक्रिया में देखा गया कि सबसे अधिक अन्तर जिन स्वरों में है, उन स्वरों का अवकाश चार श्रुति से अधिक नहीं है। इसीलिये सारणा का प्रयोग चार बार ही किया गया, उससे कम या अधिक बार नहीं।

इस सम्बन्ध में एक बात पुनः कह देना आवश्यक है। शास्त्र-निर्माण के पूर्व स्वरों का प्रचलन रहा होगा एवं उनके अन्तर को निदर्शित करने के लिए शास्त्रकारों ने श्रुति का आविष्कार किया होगा, यह हम कह ही चुके हैं। परन्तु शास्त्र-निर्माण के बाद विषय-प्रतिपादन की सुविधा के लिए, प्रथम श्रुतियों के रूप में सूक्ष्म नादों की विवेचना करने के बाद ही स्वरों के रूप में स्थूलतया दृष्टिगोचर होने वाले नादों की विवेचना करने की परिपाटी चल पड़ी। उसी परिपाटी का प्रस्तुत ग्रन्थ में भी पालन किया गया है। किन्तु विषय की चर्चा की सुविधा के लिए किए गए इस व्यतिक्रम से स्वर-श्रुति के उपरिकथित पूर्वापर क्रम की सत्यता में कोई व्याघात नहीं होता।

प्राचीन महर्षियों ने संगीत के स्वरों का पशु पक्षियों के नादों में श्रवण किया है और उन उन पशु पक्षियों के नाम को स्वरों के साथ जोड़ा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वरों के रंग, देवता, द्वीप, ऋषि इत्यादि का भी वर्णन विस्तृत रूप से दिया है। इस सब विवरण को यहाँ देना आवश्यक न समझ कर हमने इस ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में उसका समावेश किया है। जिज्ञासु पाठक उसे वहाँ पर देख लें।

चतुःसारणा

श्रुति और स्वर का परस्पर सम्बन्ध समझ लेने के पश्चात् अब हम बाईस श्रुतियों की सिद्धि के क्रमप्राप्त विषय पर आ जाएँ। ये सब श्रुतियाँ संवादसिद्ध हैं। संवाद के आधार पर ही प्राचीनों ने इन श्रुतियों को सिद्ध किया है। इन सभी श्रुतियों में नव और त्रयोदश के अन्तर से परस्पर संवाद सम्बन्ध प्रसिद्ध हैं। भरत कोहलादि आचार्यों के पूर्व जब ये श्रुतियाँ सिद्ध की गई होंगी, तब उस काल में नाद की कंपन संख्या को नापने की प्रक्रिया का प्रचार हो या न हो, उनका गणित-मूल्य देखकर उन्हें सिद्ध करने के यत्न की शक्यता या आवश्यकता प्रतीत हुई हो या न हुई हो, किन्तु यह नितान्त सत्य है कि इन सब श्रुतियों का संवाद-सम्बन्ध कानों से सुन कर ही, नाप कर ही निर्णीत किया गया होगा। यह कहने की आवश्कता नहीं है कि संगीतोपयोगी नादों में संवाद होना अनिवार्य है। नाद के इस अनिवार्य लक्षण से ही उन्होंने ये बाईस श्रुतियाँ सिद्ध की होंगी। हमारी राय में, उसमें तनिक भी सन्देह को स्थान नहीं है। इन बाईस श्रुतियों को सिद्ध करने के लिये जिस संवाद-प्रक्रिया को साधन बनाकर उसका प्रयोग किया गया है, और जिस प्रयोग से वे बाईस श्रुतियाँ खरी उतरी हैं, हम अब उस प्रक्रिया को, जिसे प्राचीनों ने चतुःसारणा के नाम से अभिहित किया है, देख लें और जाँच लें।

सारणा-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भरत और शार्ङ्गदेव के विधान निम्नोक्त हैं :—

द्वे वीणे तन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छिते षड्जग्रामाश्रिते कार्ये। तयोरेकतरस्यां मध्यमग्रामिकीं कृत्वा पञ्चमस्यापकर्षं श्रुतिं तामेव पञ्चमवशात्षड्जग्रामिकीं कुर्यात्। एवं श्रुतिरपकृष्टा भवति। पुनरपि तद्वदेवापकर्षात् गान्धारनिषादावपि इतरस्यां धैवतर्षभौ प्रविशतः द्विश्रुत्यधिकत्वात्। पुनस्तद्वदेवापकर्षाद्धैवतर्षभावितरस्यां पञ्चमषड्जौ प्रविशतः (त्रि) श्रुत्यधिकत्वात्। तद्वत् पुनरपकृष्टायां तस्यां पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमनिषादगान्धारवन्तः प्रवेक्ष्यन्ति चतुः श्रुत्यधिकत्वात्। एवमनेन श्रुतिदर्शनविधानेन द्वे ग्रामिक्यो द्वाविंशाः श्रुतयः प्रत्यवगन्तव्याः।

(ना० शा० २८)

व्यक्तये कुर्महे तासां वीणाद्वन्द्वे निदर्शनम्॥ द्वे वीणे सदृशौ कार्ये यथा नादः समो भवेत्।
तयोर्द्वाविंशतिस्तन्त्र्यः प्रत्येकं तासु चादिमा॥ कार्या मन्द्रतमध्वाना द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक्।
स्यान्निरन्तरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेः॥ अधराधरतीव्रास्तास्तज्ज्ञो नादः श्रुतिर्मतः।
वीणाद्वये स्वराः स्थाप्यास्तत्र षड्जश्चतुःश्रुतिः॥ स्थाप्यस्तन्त्र्यां तुरीयायामृषभस्त्रिश्रुतिस्ततः।
पञ्चमीतस्तृतीयायां गान्धारो द्विश्रुतिस्ततः॥ अष्टमीतो द्वितीयायां मध्यमोऽथ चतुःश्रुतिः।
दशमीतश्चतुर्थ्यां स्यात् पञ्चमोऽथ चतुःश्रुतिः॥ चतुर्दशीतस्तुर्यायां धैवतस्त्रिश्रुतिस्ततः।
अष्टादश्यास्तृतीयायां निषादो द्विश्रुतिस्ततः॥ एकविंश्या द्वितीयायां वीणैकात्र ध्रुवा भवेत्।
चलवीणा द्वितीया तु तस्यां तन्त्रीस्तु सारयेत्॥ स्वोपान्त्यतन्त्रीमानेयास्तस्यां सप्त स्वरा बुधैः।
ध्रुववीणास्वरेभ्योऽस्यां चलायां ते स्वरास्तदा॥ एकश्रुत्यपकृष्टाः स्युरेवमन्याऽपि सारणा।
श्रुतिद्वयलयादस्यां चलवीणगतौ गनी॥ ध्रुववीणोपगतयो रिधयोर्विंशतः क्रमात्।
तृतीयस्यां सारणायां विंशतः सपयो रिधौ॥ निगमेषु चतुर्थ्यां तु विंशन्ति समपाः क्रमात्।
श्रुति द्वाविंशतावेवं सारणानां चतुष्टयात्॥

(सं० र० १।३।१०-२१)

नाट्यशास्त्र और संगीतरत्नाकर के इन उद्धरणों का शब्दार्थ न देकर, इनके आधार पर सारणा—प्रक्रिया की विस्तृत विवेचना नीचे की जाती है।

समान आकार, समान परिमाण और समान नाद वाली दो वीणाएँ ली जाएँ, जिन्हें एक साथ बजाने से एक ही वीणा की प्रतीति हो, ऐसा विधान भरत और शार्ङ्गदेव ने दिया है। प्रत्येक वीणा पर बाईस तन्त्रियाँ लगी हों, ऐसा 'संगीतरत्नाकर' कार ने लिखा है। 'तन्त्री' का अर्थ सामान्य रूप से तार ही लिया जाता है। प्राय: सभी ने यही अर्थ लगाया है। वीणा के मेरुदण्ड पर बाईस तार बाँधना असम्भव नहीं, कठिन अवश्य है और ऐसे तारों को मिला कर उनके पारस्परिक संवाद को देखना और भी कष्टसाध्य है। किन्तु शार्ङ्गदेव के शब्दों का तो यही अर्थ निकलता है कि बाईस तारों को क्रम से, एक से एक ऊँचे नाद में मिलाया जाए।

इन तारों को मिलाने की विधि बतलाते हुए शार्ङ्गदेव स्वयं लिखते हैं—

....तासु चादिमा।

कार्या मन्द्रतमध्वाना.....॥

(सं० र०)

अर्थात् सबसे पहिली तार मन्द्रतम ध्वनि में मिलाई जाए। 'मन्द्रतम' का स्पष्टीकरण टीकाकार सिंहभूपाल ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

स मन्द्रतमो यस्माद्धीनो मन्द्रोऽन्यो नादो रञ्जको न निष्पद्यते।

इसका अर्थ हुआ कि उन बाईस तारों में से प्रथम तार इतनी ढीली मिलाई जाए कि जिससे मन्द्रतम ध्वनि उत्पन्न हो। मन्द्रतम ध्वनि उसे कहेंगे जिस ध्वनि के नीचे अन्य किसी ध्वनि को अवकाश न हो। दूसरी भाषा में कह सकते हैं कि उस ध्वनि से नीचे की ध्वनि में रञ्जकत्व न रहे—अर्थात् वह अनुरणनहीन हो, क्योंकि जिसमें अनुरणन होगा, उसमें रञ्जकत्व होगा ही।

क्षण भर के लिए मान लें कि ऐसा नाद मिला लिया गया। उसके बाद दूसरी तार को दूसरी श्रुति में मिलाना है, वह कैसे मिलाएँ ? कितनी ऊँची मिलाएँ ? प्रथम ध्वनि से उसका स्थान कितने परिमाण में उच्च हो ? शार्ङ्गदेव स्वयं उसके लिए कहते हैं :—

.....द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक्।

(सं० र०)

'उच्चध्वनि मनाक्' यानी क्या ? प्रथम ध्वनि से किञ्चित् ऊँची ध्वनि ? 'मनाक् उच्च' का तो किञ्चित् उच्च—यही अर्थ निकलता है। किन्तु इससे, कितनी उच्च, इसका स्पष्टीकरण कैसे हो ? आज सितार या सारंगी की तर्फें मिलाते समय मिलानेवालों के अभ्यस्त कान क्रमश: उच्च, कोमल, शुद्ध, तीव्र आदि स्वर मिला लेते हैं। किन्तु उन स्वरों के बीच अन्य कई ध्वनियों का स्थान है। यह देखते हुए 'मनाक् उच्च' से हम किस ध्वनि को समझें ? इसकी स्पष्टता शार्ङ्गदेव ने स्वयं यों की है :—

स्यान्निरन्तरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेः।

(सं० र०)

इसकी टीका इस प्रकार है : —

यथा मध्ये विसदृशं ध्वन्यन्तरं नोत्पद्यते तथा नैरन्तर्यं विधेयम्।

अर्थात् दो नादों के बीच में अन्य कोई पृथक् नाद उत्पन्न न हो, इस प्रकार दोनों तार मिलाये जाएँ।

मूल और टीका दोनों को बार बार देखने, समझने पर भी यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि दो श्रुति-ध्वनियों के बीच अन्य कोई तृतीय सूक्ष्म ध्वनि सुनाई न दे, ऐसा जो विधान दिया गया है, वह क्या प्रत्यक्ष प्रयोग में सम्भव है? दो श्रुति-ध्वनियों के बीच अन्य सूक्ष्म ध्वनियाँ, अभ्यस्त कान आज भी सुनते हैं। सामान्यतः, जिन्हें दो तार मिलाने का अभ्यास है, और दो तारों के बीच के संवाद को समझने का जिन्हें अभ्यास है, वे भली भाँति जानते हैं कि इन श्रुति-ध्वनियों के बीच अन्य सूक्ष्म ध्वनियाँ सुनाई पड़ती ही हैं। भरत के पूर्व के ग्रन्थकार कोहल इत्यादिक ने एक सप्तक के भीतर छासठ श्रुतियों का उल्लेख किया है। यदि उस परम्परा को मान कर श्रुति ध्वनियों को मिलाने बैठें, तो बाईस के बीच की अन्य ध्वनियों का समावेश हो सकता है। किन्तु शार्ङ्गदेव तो बाईस नादों की ही सिद्धि के लिए बाईस तार और उनको मिलाने की पद्धति का उल्लेख करते हैं। यह देखते हुए, उनके शब्दों से हम जो समझना और समझाना चाहते हैं, वह स्पष्ट नहीं होता। या तो उन की भाषा और टीका को हम समझ नहीं सके हैं, या वे जो कुछ कहना चाहते हैं, समझ्झ भाषा में स्वयं नहीं कह सके हैं। किसी-किसी का कथन है कि 'रत्नाकर' कार यदि स्वयं इस विषय को समझे होते, सुलझे होते, तो वे सुलझी हुई भाषा में समझा सके होते। हम यह आक्षेप उन पर करना नहीं चाहते। किन्तु यह सत्य है कि उनकी भाषा से हम कोई स्पष्ट अर्थ नहीं समझ सके हैं। जो भी हो, किन्तु हमें उस विषय को सुलझाना है। इसलिये उनकी इस बाईस तार और उनको मिलाने की पद्धति को छोड़ कर अन्य मार्ग का अवलम्बन करना हमें उचित जान पड़ता है।

हमारी राय में, इस उलझन को सुलझाने के लिये, वीणा पर परम्परानुसार स्वरों के जो पर्दे बँधे रहते हैं, उन पर्दों के बीच में श्रुति-स्थानों के अन्य पर्दे बाँध कर अथवा उन पहिले ही बँधे हुए स्वरों के पर्दों को यथास्थान खिसका कर इस प्रक्रिया की सिद्धि की जा सकती है।

जो विद्वान् रत्नाकरोक्त बाईस तार बाँध कर चतुःसारणा का प्रयोग करेंगे, और विद्वत् सभा में रखेंगे, वे उस आदरणीय श्रम के लिये विद्वत् प्रशंसा के पात्र ठहरेंगे। हम अपना प्रयोग और अनुभव ही यहाँ पर निवेदन कर रहे हैं। यदि वह विबुध-जन-ग्राह्य हो सका तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे।

सारणा करने के पूर्व 'रत्नाकर' के कथनानुसार और भरत की आज्ञानुसार हम समान लंबाई चौड़ाई की दो वीणा तैय्यार कर लें और उन दोनों को षड्जग्रामिक स्वरों में समान रूप से मिला लें। उनमें से एक को हम ध्रुव या अचल वीणा कहेंगे, जो अपरिवर्तनशील होगी, जिसका कोई पर्दा सरकाया या खिसकाया न जाएगा। दूसरी का नाम 'चल वीणा' होगा। ध्यान रहे कि यह चल-वीणा ही बाईस श्रुतियों को सिद्ध करने का साधन है, क्योंकि उसी वीणा पर हमे चतुःसारणा करनी है। श्रुति-नादों के संवाद को जाँचने के लिये अचल वीणा का हमें सहारा लेना है। हम पहिले कह आए हैं कि पर्दे खिसका कर अथवा अपेक्षित स्थान पर नये पर्दे बाँध कर हम उसकी सिद्धि कर सकते हैं।

यहाँ यह कहना समुचित होगा कि वीणा पर इन सारणाओं का प्रयोग मध्य-सप्तक में ही किया जाएगा। मन्द्र सप्तक पर हमें नहीं जाना चाहिए, क्योंकि मन्द्र में जाने के लिये तीन तारें बदलनी होंगी। और हमें एक ही तार पर यह क्रिया सिद्ध करनी है। तार सप्तक में उतने पर्दे बाँधने का स्थान नहीं होता क्योंकि तार सप्तक में जाते हुए स्थान संकुचित हो जाता है। इसलिये भी मध्य सप्तक में ही सारणा-प्रक्रिया करनी होगी। प्राचीनों का षड्ज जहाँ पर स्थित है, वहीं से उनका मध्य सप्तक आरम्भ होता है।

इन सारणाओं के प्रयोग के पूर्व प्राचीन ग्रन्थकारों के कथनानुसार हमें दोनों वीणाओं को षड्-जग्रामिक* स्वरों में मिलाना है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि षड्जग्रामिक स्वरों में मिलाना यानी क्या करना? पहले यह तय करना होगा कि इन वीणाओं पर जो षड्जग्रामिक स्वरों के पर्दे बाँधने को कहा गया है, वे किस परिमाण से बाँधे जाएँ? उनका निश्चित स्थान क्या होगा? ग्रन्थकारों ने षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था इस प्रकार लिख दी है:—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः।
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रीऋषभधैवतौ॥

(ना० शा०)

अर्थात्—(षड्ग्राम में) षड्ज, मध्यम और पञ्चम चार चार श्रुति के, निषाद और गान्धार दो दो श्रुति के एवं ऋषभ और धैवत तीन तीन श्रुति के होते हैं।

चतुःश्रुति त्रिश्रुति और द्विश्रुति का अन्तर क्या है? कितना है? उन श्रुत्यन्तरों का कर्ण-प्रत्यय हुए बिना हम कैसे मान लें कि ये स्वर उन कथित श्रुतियों के अन्तर के ही हैं? षड्जग्रामिक स्वरों का श्रुत्यन्तर ४-३-२-४-४-३-२—यों सभी ग्रन्थों में उल्लिखित है। किन्तु इन श्रुत्यन्तरों की और तन्निस्थित स्वरों को हम प्रत्यक्ष अनुभूति कैसे पा सकते हैं? जब तक सप्त स्वरों के पर्दे ठीक परिमाण से षड्जग्रामिक न बनें, तब तक हम सारणा किसकी करें? कैसे करें? इसलिये अचल और चल वीणा बनाने के लिये हम सर्वप्रथम इस विषय को ही ठीक से समझ लें।

यहाँ पर एक कठिन समस्या सामने आती और है वह यह कि इन श्रुत्यन्तरों को कैसे नापा जाए, कैसे समझकर जाँचा जाए और वीणा के पर्दों के ऊपर कैसे इनकी अभिव्यक्ति की जाए? उन नादों को सुन कर कैसे निश्चय किया जाए कि जो पर्दे बाँधे गये हैं या बाँधे जाएँगे वे उन्हीं श्रुत्यन्तरों के परिमाण के हैं? इन उलझनों को सुलझाने का सरल मार्ग दिखाना, यह ग्रन्थकार का परम कर्तव्य है। सुलझाने के लिये तपःसाधना करे और सुलझाने के बाद ही उस विषय को अक्षरदेह दे। कई ग्रन्थों में यह उलझन वैसी की वैसी उतार ली गई है, शब्दशः उद्धृत कर दी गई है। इन आधुनिक ग्रन्थकारों ने कहीं भी, किसी भी प्रकार स्पष्टता नहीं की है। यदि किसी ने कुछ यत्न किया है, तो वह इतना अस्पष्ट है कि कुछ समझ में ही नहीं आता। कई इसे सुलझाने का यत्न करते करते स्वयं ही उलझ गए हैं। सत्य है, यह गुत्थी ऐसी ही विलक्षण है। बरसों तक ग्रन्थों का बार बार परिशीलन करने पर भी हम भी इसमें उलझे ही रहे थे। वह गुत्थी एक बार भगवान् की कृपा से अपने आप सुलझ गई थी। जैसे वह सुलझी, वैसी की वैसी यहाँ हम अंकित करते हैं। वह अनुभव की कहानी निम्नोक्त है।

अनेकों बार ग्रन्थों का पठन-परिशीलन करते-करते और इस गुत्थी को सुलझाने का यत्न करते करते एक दिन मूर्च्छना-प्रकरण में 'शुद्धषाड्जी' शब्द ने हमें आकृष्ट किया। षड्जग्राम के मूलस्थान की संप्राप्ति की आशा लगा कर, जिन श्रुति-स्वर-ग्रामादिक विषयों का हम बार-बार अध्ययन करते थे, अनेकों ग्रन्थों को देखते थे, पुनः-पुनः 'मल्लिनाथी'-'कल्लिनाथी' का परिशीलन करते थे, जहाँ उसे हम खोजते थे, वहाँ उसकी चाभी हमें नहीं मिली। किन्तु मूर्च्छना-प्रकरण में मूर्च्छनाओं के नामों को पढ़ते-पढ़ते एक दिन भगवान् ने 'शुद्धषाड्जी' शब्द की ओर हमारा ध्यान खींचा। इन मूर्च्छना-नामों को उसके पूर्व भी कई बार पढ़ चुके थे, रट चुके थे, किन्तु उसी दिन इस 'शुद्धषाड्जी' नाम ने हमें चौंका दिया। बुद्धि ने कहा—'देखो तो इस

---

* 'ग्राम' की विशद विवेचना सारणा-प्रकरण के पश्चात् की जायगी।

शुद्धषाड्जी मूर्च्छना का ग्रहस्वर प्राचीन काल का आद्य स्वर तो नहीं है ? भरतादि संगीत-योगियों का यह मूल षड्ज तो नहीं है ?' हम विचार में डूब गए। रात को विचार-तन्द्रा की दशा में हमने एक स्वप्न सा देखा। कोई महर्षि उस प्राचीन षड्ज से आरम्भ कर ४-३-२-४-४-३-२ इन श्रुत्यन्तरों वाले पुरातन सप्त स्वर वीणा पर बजा रहे थे, सुना रहे थे। सुनते ही हृदय झंकृत हो उठा, आत्मा जाग गई। जागते ही रात ही में हमने वीणा उठाई और जहाँ से उस ऋषि ने षड्ज मानकर आरम्भ किया था, वहीं से हमने स्वरों का परिमाण जाँचा। उन स्वरों की प्रत्यक्ष अनुभूति पाई और प्रसन्नता से हम नाच उठे, परमानन्द से किल्लोल कर उठे।

वह कौन सा स्थान है ? वह षड्ज कहाँ पर मानना है ?

वीणा, सितार, इसराज आदि पर्देवाले जो तन्तु-वाद्य हैं, उन पर आज जो पर्दे बँधे हुए हैं, उनमें मेरुदण्ड से एक पर्दा छोड़कर, जो दूसरा पर्दा है, वहीं पर यह प्राचीन षड्ज निनादित होता है। वीणा के ऊपर तनी हुई जो पहली तार है, जिसे आज हम मध्यम की तार कहते हैं, और जिसे गुणीजन बाज की तार कहते हैं (क्योंकि मुख्यतः उसी तार पर वीणा, सितारादिक की वादन-क्रिया की जाती है), उसी तार के नीचे बँधे हुए पर्दों में, ऊपर से नीचे चलते हुए, एक को त्याग कर जो दूसरा पर्दा है, वही वह 'सा' है, जो आज मन्द्र पञ्चम के नाम से पहिचाना जाता है। यही प्राचीनों का मूल षड्ज है। यही वह आदि स्थान है जहाँ से षड्जग्राम का आरम्भ होता है। इसी पर्दे को सा मानकर यदि हम प्राचीन स्वर-सप्तक को उन्हीं पर्दों पर, जो आज सितारादिक वाद्यों पर बँधे हुए हैं, देखेंगे और जाँचेंगे तो ४-३-२-४-४-३-२—इन श्रुत्यन्तरों के षड्जग्रामिक स्वर पूर्ण रूप से हमें संप्राप्त हो जाएँगे।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्राचीनों का वह षड्ज जिसे हम आज पञ्चम कहते हैं, और प्राचीनों का वह ऋषभ जिसे हम आज धैवत कहते हैं, क्रमशः चतुःश्रुतिक और त्रिश्रुतिक हैं, इसका प्रमाण क्या ? इसके प्रमाण के लिये जिन्हें स्वरों की सूक्ष्मता का, दो स्वरों के मिलने न मिलने का, उनके संवाद का, ऊँचे और नीचेपन का थोड़ा सा भी बोध हो, वे सितार के ऊपर जो तने हुए तार हैं और बँधे हुए पर्दे हैं, उन तारों को ठीक मिला कर और पर्दों की भी शुद्ध अभिव्यक्ति जाँचकर निम्नलिखित प्रक्रिया का अवलम्बन करें। यथा—

प्रथम बार, जिसे हम मध्यम की तार कहते हैं, उसके पञ्चम के पर्दे पर अंगुली स्थिर करके उसे बजा देखें। उस पर्दे के पञ्चम के साथ, सितार पर तना हुआ जो चौथा (जोड़ की तारों के बाद का) तार है, जो पञ्चम ही में मिलाया जाता है, उसे बिना दबाए बजाकर इन दोनों पञ्चमों के समान नाद को पूर्णतया जाँच लें। उन दोनों की नादैक्यता कान से निश्चित करने के बाद, पञ्चम की तार के नीचे पञ्चम के पर्दे पर अंगुली दबाकर स्थिरता से, किन्तु धीरे से, उस पञ्चम की तार पर आघात करें। उस आघात से पञ्चम की तार पर धैवत का नाद निनादित होगा। उस धैवत के नाद के साथ, सितार की पहिली तार जो मध्यम में मिली हुई है, उस तार पर जो धैवत बजता है, उसका मिलान करें। दोनों नादों को एक के बाद एक सुनने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि धैवत के इन दोनों नादों में भिन्नत्व है, समानत्व नहीं है, कुछ अन्तर अवश्य है। वह अन्तर एक श्रुति का है, किन्तु इसका प्रमाण क्या ? जिनके कान स्वर-संवाद को और स्वर-संवाद के भीतर के अन्तराल को समझने के लिए अभ्यस्त हैं, वे उन दोनों धैवतों के संवाद या विवाद को वीणा के षड्ज से या वीणा से स्वयम्भूरीत्या उत्थित गान्धार से मिला कर देख सकते हैं। उन्हें इस प्रयोग से स्पष्ट होगा कि मध्यम की तार पर निकलने वाले धैवत के साथ षड्ज या गान्धार का एक प्रकार का इष्ट संवाद होता है। और पञ्चम की तार पर निकलने वाला धैवत, षड्ज या षड्जोत्थित गान्धार के साथ विसंवाद करता है और

जिसे अंग्रेजी में beats कहते हैं या हम जिसे कम्प अथवा डोल कहते हैं, उसे उत्पन्न करता है। इन दो धैवतों के बीच, ध्वनि-विज्ञान के हिसाब से $\frac{81}{80}$ या एक 'कोमा' का अन्तर है। इस 'कोमा' का जो अंतर है वह एक श्रुति का अंतर है, यह स्वर विज्ञान ने ही निश्चित किया है। इन सब दृष्टियों से यह सिद्ध है कि इन दो धैवतों के बीच एक श्रुति का अन्तर है। और यह अन्तर जाँचने के बाद स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम (मध्यम की) तार पर बजनेवाला वह पञ्चम जो प्राचीनों का मूल षड्ज है, वह चतुःश्रुतिक ही है। और इसके पश्चात् बजने वाला जो आज का धैवत और प्राचीनों का ऋषभ है, वह त्रिश्रुतिक ही है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रयोग सिद्धि से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आज की वीणा के मन्द्र पञ्चम से प ध नि॑ सा रे ग म— यों स्वर-सप्तक लिया जाए और उसी को क्रमशः सा – रि – ग – म – प – ध – नि – कहा जाए तो उसका श्रुत्यन्तर निम्नोक्त होगा। —४-३-२-४ ४-३-२ स्वर दृष्टि से नीचे से ऊपर और वीणा की दृष्टि से ऊपर से नीचे चलते समय मेरु से चार श्रुति पर पञ्चम, तीन श्रुति पर धैवत, दो श्रुति पर आज का कोमल निषाद, उसके बाद चार श्रुति पर षड्ज, तत्पश्चात् चार श्रुतिपर ऋषभ, तीन श्रुति पर आज का गान्धार और दो श्रुति पर मध्यम बोलेगा। इसी पञ्चम को अब सा मान कर चलें तो प्रथम षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति, गान्धार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पञ्चम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति और निषाद द्विश्रुति होगा। अगले पृष्ठ पर दिये हुए चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

इस प्रकार प्राचीनों के षड्ग्रामिक स्वर हमने पा लिये, और जाँच लिये। इन्हीं षड्जग्रामिक स्वरों से बद्ध दो समान वीणाएँ हम लेंगे, जिनमें से एक को अचल समझेंगे और दूसरी को चल मानेंगे। और तब चल वीणा पर सारणा की प्रक्रिया की जाएगी।

यहाँ पर यह दोहराना समुचित होगा कि सारणा करते समय भिन्न-भिन्न श्रुति-स्थानों को जाँचते हुए या तो चल वीणा के पर्दों को यथास्थान सरकाया जाए या अपेक्षित स्थान पर नये पर्दे बाँधे जाएँ। नये पर्दे कहाँ कहाँ बाँधने होंगे ? उत्तर निम्नोक्त है।

षड्जग्रामिक स्वरों का जो षड्ज है, वह प्राचीनों की छन्दोवती श्रुति है। इससे यह सिद्ध है कि इस छन्दोवती के पूर्व हमें मन्दा, कुमुद्वती और तीव्रा के पर्दे बाँधने हैं, जिनमें से कुमुद्वती का पर्दा तो प्राचीन काकली के रूप में या आधुनिक तीव्र मध्यम के रूप में बँधा हुआ ही है। इसलिये मेरु और आज के मन्द्र पञ्चम के बीच में अधिक दो पर्दे बाँधने की आवश्यकता रहेगी। वीणा पर जो पर्दे बँधे हुए हैं, उनके बीच में उसी श्रुति-क्रमानुसार अन्य अधिक पर्दे बाँधे जाएँ, जिनकी एक सप्तक में बाईस संख्या पूर्ण हो।

यह ध्यान रहे कि षड्जग्रामिक सप्त स्वर भरत के कथनानुसार त्रयोदश-श्रुत्यन्तर से अर्थात् षड्ज-पञ्चम-भाव से परस्पर संवादी है। यथा—

'षड्जपञ्चमौ, ऋषभधैवतौ गान्धारनिषादौ इति षड्जग्रामे।'

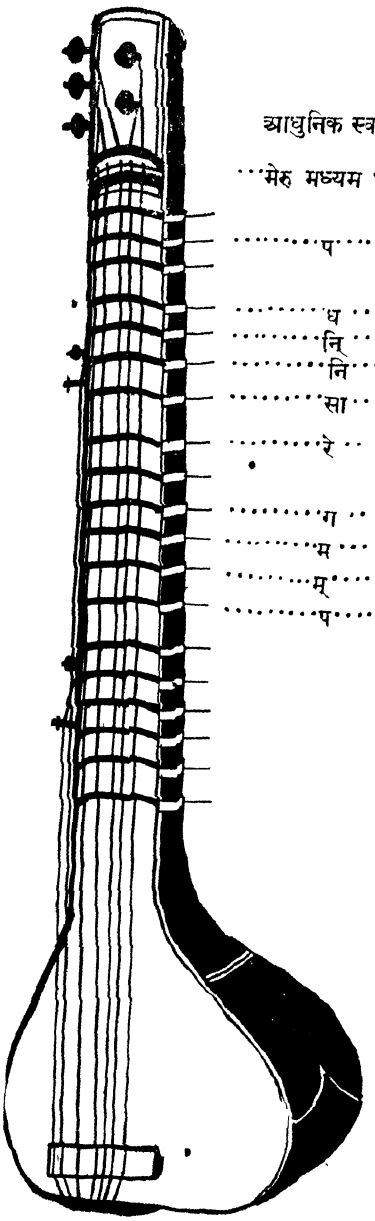
षड्ज—पञ्चम

ऋषभ—धैवत

गान्धार—निषाद

मध्यम—तार षड्ज

यह स्पष्ट है कि जब तक ये स्वर-संवाद सिद्ध नहीं होते, तब तक षड्जग्रामिक स्वर भी सिद्ध नहीं होंगे। इनका परस्पर संवाद पहले दोनों वीणा के स्वरों को जाँच कर सिद्ध किया जाए। क्योंकि यह भी इनकी



आधुनिक स्वर	षड्जग्रामिक स्वर	श्रुतिसंख्या
मेरु मध्यम	क्षोभिणी	०
प	सा	४
ध	रे	३
नि्	ग्	२
नि	(अं० गां०)	२
सा	म	२
रे	प	४
ग	ध	३
म	नि्	२
म्	(का० नि०)	२
प	सां	२

एक अनिवार्य शर्त है। इस स्वर-संवाद की सिद्धि के बिना हमें चतुःसारणा नहीं ही करनी चाहिये। स्वर-संवाद के ज्ञाता स्वरज्ञ ही इस संवाद को समझ सकते हैं, इसीलिये अहोबल ने 'षड्जपञ्चमभावेन षड्जे ज्ञेयाः स्वरा बुधैः' इस प्रकार 'बुधैः' विशेषण लगाया है।

सप्त स्वरों में अधिक से अधिक चतुःश्रुति का ही अन्तर है और इसीलिये हमें एक एक श्रुति की चार बार सारणा करनी है। किन्तु यहाँ प्रश्न उद्भूत होता है कि श्रुति का प्रमाण क्या और परिमाण क्या? भरत ने उसके लिये निम्नोक्त कहा है।

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्यः।

यानी मध्यमग्राम में पञ्चम की एक श्रुति अपकृष्ट करनी चाहिए। किन्तु इतना कहने मात्र से स्पष्टता नहीं होती। इसलिये फिर वह कहते हैं—

पञ्चमस्य श्रुत्यत्कर्षापकर्षाभ्यां यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तावत्प्रमाणश्रुतिः॥

इसका निगूढ़ार्थ यह है कि पञ्चम को त्रिश्रुतिक बनाने के दो मार्ग हैं—उत्कर्ष से यानी चढ़ाने से या अपकर्ष से यानी उतारने से। मध्यम से पञ्चम तक चतुःश्रुति का अन्तर है। उत्कर्ष द्वारा पञ्चम को त्रिश्रुतिक बनाने के लिए मध्यम को एक श्रुति चढ़ाना होगा और अपकर्ष द्वारा त्रिश्रुतिक बनाने के लिये पञ्चम को एक श्रुति उतारना होगा। इसी 'उत्कर्ष' और 'अपकर्ष' के लिये भरत ने 'मार्दव' और 'आयतत्व'—इन शब्दों का प्रयोग किया है।

श्रुति-जातियों के विवरण में हम इसका उल्लेख कर आए हैं। पञ्चम जहाँ पर स्थित है, यदि वहीं से उत्कर्ष करते हैं यानी उसे ऊपर चढ़ाते हैं, तो वह धैवत की श्रुति पर चला जाएगा। इसलिये पञ्चम को ऊपर चढ़ाना नहीं है। पञ्चम की अपनी जो चार श्रुतियाँ हैं, उनमें ही उत्कर्ष या अपकर्ष किया जा सकता है। इसलिये मध्यम से पञ्चम की एक श्रुति पर उत्कर्ष हो सकता है। किन्तु वास्तव में यहाँ भरत को अपकर्ष ही अभिप्रेत है, क्योंकि मध्यम को एक श्रुति चढ़ा देने से पञ्चम त्रिश्रुतिक भले ही बन जाए, पर उसके स्थान में तो कोई अन्तर नहीं आता। उसका नाद तो अपरिवर्तित ही रह जाता है। इसलिये यहाँ अपकर्ष ही अभिप्रेत है, इसमें संदेह नहीं।

एक श्रुति का अपकर्ष करके पञ्चम को त्रिश्रुतिक बनाना है, इतना निश्चित होने के पश्चात् यह प्रश्न होता है कि एक श्रुति यानी कितना नीचे उतारा जाए? इस प्रश्न में बहुतों को उलझन पैदा हुई है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इसके लिये कहीं स्पष्ट विधान नहीं है। स्वरज्ञ ग्रन्थकार जानते हैं कि एक श्रुति उतारने से वह त्रिश्रुतिक पञ्चम त्रिश्रुतिक ऋषभ के साथ संवाद करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ पर हमने षड्जग्रामिक षड्ज माना है, उस प्राचीन षड्ज से जो ऋषभ है अथवा आज की परिभाषा में सितारादिक वाद्यों में जो मन्द्र का धैवत है, उस धैवत के साथ उस त्रिश्रुतिक पञ्चम का षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद होगा।

भरत की प्रमाण-श्रुति के सम्बन्ध में पञ्चम का अपकर्ष करने की जिस क्रिया का हमने ऊपर उल्लेख किया, प्रथम सारणा की प्रथम क्रिया भी वही है। प्रथम सारणा में सर्वप्रथम पञ्चम को एक श्रुति उतारने का भरत ने विधान दिया है। यथा—

तयोरेकतरस्यां मध्यमग्रामिकीं कृत्वा पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिं तामेव पञ्चमवशात्षड्जग्रामिकीं कुर्यात्।

पञ्चम को एक श्रुति अपकृष्ट करने के लिये पञ्चम का पर्दा यानी आज का ऋषभ का पर्दा वीणा की दृष्टि से ऊपर और नाद की दृष्टि से नीचे को खिसकाया जाए या उस स्थान पर एक नया पर्दा बाँधा जाए। लोगों को यह उलझन बनी ही रही है कि पञ्चम को एक श्रुति कम करने के लिये कितना उतारना होगा ? इस उलझन का बहुत सीधा उत्तर यही है कि अचल वीणा के ऋषभ के साथ उस त्रिश्रुति पञ्चम का, षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद हो, उतना ही उतारना चाहिए। अर्थात् हमारे पास जो दो समान वीणा हैं उनमें से जो अचल वीणा है, उसके त्रिश्रुति ऋषभ के साथ (आधुनिक मन्द्र धैवत के साथ, जो प्राचीनों का ऋषभ है) चल वीणा पर बनाए गए त्रिश्रुतिक पञ्चम के साथ षड्ज-मध्यम संवाद जाँच लें। स्वर-संवाद जांचनेवालों के लिए यह क्रिया बिल्कुल सामान्य है। षड्जग्रामिक पञ्चम को एक श्रुति उतारने से जो स्वर-सप्तक बना, स्वरों की वैसी ही अवस्था मध्यमग्राम में होनी है। इससे कोई यह अर्थ न लें कि षड्जग्राम का आरम्भक स्थान स्थिर रखते हुए, केवल पञ्चम को ही एक श्रुति उतारने से वीणा पर मध्यमग्राम बजेगा। यह तो केवल बाईस श्रुतियों की सिद्धि के लिये किये गये प्रयोग में पहिला सोपान है। किसी और स्वर को उतारने को न कह कर भरत ने सर्वप्रथम पञ्चम ही को एक श्रुति उतारने को क्यों कहा होगा ? इसीलिये कि उस एक श्रुति उतरे हुए नाद के साथ त्रिश्रुतिक ऋषभ का पूर्णतया संवाद जाँचकर उस नाद की accuracy या यथास्थान स्थिति को देख सकते हैं। साथ ही यह पञ्चम उत्तरांग का आरम्भक स्थान है और ग्राम-परिवर्तन का मूल बीज भी वही है। इसीलिये भरत ने सर्वप्रथम पंचम को एक श्रुति उतारने को कहा है।

जिस प्रकार पञ्चम को हमने एक श्रुति नीचे उतारा, उसी प्रकार, प्रथम सारणा में, सभी स्वरों को एक एक श्रुति नीचे उतारना होगा। पञ्चम को एक श्रुति उतारने के परिमाण को जाँचने लिये तो ऋषभ-पञ्चम संवाद का हमने अवलम्बन लिया। अन्य सब स्वरों को किस मापदण्ड के अनुसार नीचे उतारेंगे ? इसके लिये यही उत्तर है कि सब स्वर उतने ही उतारे जाएँ जिससे वीणा पर फिर से षड्जग्रामिक स्वर-सप्तक बन जाए। सभी स्वर जब एक एक श्रुति नीचे उतरेंगे, तब स्वरों का परस्पर अन्तर तो पूर्ववत् ही रहेगा। इस क्रिया से अचल वीणा के ऋषभ के साथ चल वीणा के पञ्चम के संवाद के अतिरिक्त और कोई संवाद नहीं होगा। पर चल वीणा में एक नयी स्वरावली वाला पूरा षड्जग्राम एक बार फिर से बन जाएगा। इसीलिये भरत ने कहा है—'तामेव पञ्चमवशात्षड्जग्रामिकीं कुर्यात्'—अर्थात् जिस वीणा को चल बनाया है और प्रथम-सारणा की प्रथम क्रिया में पञ्चम के अपकर्ष द्वारा जिसमें मध्यमग्राम की स्वर-व्यवस्था बनाई गई थी, उसी को प्रथम सारणा की अवशिष्ट क्रियाओं द्वारा (सब स्वरों को एक एक श्रुति नीचे उतारकर) षड्जग्रामिकी बनाया जाए। 'तयोरेकतरस्यां मध्यमग्रामिकीं कृत्वा' का अर्थ यह नहीं है कि एक वीणा को मध्यमग्रामिकी बना कर रख छोड़ा जाए।

इस प्रकार हमने देखा कि सब स्वरों को एक एक श्रुति नीचे उतारने से वे स्वर ध्रुव या अचल वीणा के किसी स्वर के साथ मेल नहीं खाएँगे। केवल ऋषभ और पञ्चम का ही संवाद इस सारणा में प्राप्त हुआ। मतंग ने इसीलिये लिखा है कि—'प्रथमसारणायां श्रुतिलाभो नास्ति'—(बृहद्देशी पृ० ६) अर्थात् प्रथम सारणा में श्रुति लाभ नहीं होता। तात्पर्य यह कि ध्रुव-वीणा के किसी स्वर की सिद्धि प्रथम सारणा द्वारा हमें प्राप्त नहीं होती।

दूसरी सारणा में भी पुनः उसी प्रकार सब स्वरों को एक एक श्रुति नीचे उतारना होगा। यानी प्रथम सारणा में जो नया स्वर-सप्तक बना, उसमें पुनः पहिले पञ्चम की एक श्रुति का अपकर्ष करना होगा। इस प्रकार आदि पञ्चम से हम दो श्रुति नीचे आएँगे। दूसरी सारणा में पुनः एक श्रुति अपकर्ष करना है, उसे हम कैसे जाँचेंगे ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि दूसरी श्रुति उतनी उतारी जाए कि जिससे चलवीणा के गान्धार निषाद अचल वीणा के ऋषभ धैवत में लीन हो जाएँ। इसी प्रकार सब स्वरों को पुनः एक एक श्रुति नीचे

उतारने से चल वीणा के गान्धार और निषाद अचल वीणा के ऋषभ और धैवत में लीन हो जाएँगे, क्योंकि ऋषभ और धौवत ही गान्धार और निषाद के पूर्ववर्ती स्वर हैं; षड्ज, मध्यम और पञ्चम द्विश्रुतिक रह जाएँगे और ऋषभ धैवत एकश्रुतिक रह जाएँगे। इस सारणा में पर्दों को उतना नीचे उतारना है, जिससे चल-वीणा के दो श्रुति नीचे उतरे हुए गान्धार-निषाद अचल या ध्रुव वीणा के ऋषभ धैवत में मिल जाएँ। इस सारणा से यह सिद्ध हो गया कि गान्धार निषाद की दो दो ही श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार द्वितीय सारणा में से हमें चार श्रुतियों की सिद्धि प्राप्त हुई। इसीलिये मतंग ने कहा है—'द्वितीयायां चतुःश्रुतिलाभः'।

(बृहद्देशी पृ० ६)

तृतीय सारणा में फिर से सब स्वरों की एक एक श्रुति कम की जाएगी। इस क्रिया से चल वीणा के ऋषभ धैवत का अचल वीणा के षड्ज और पञ्चम में लय हो जाएगा और चलवीणा के षड्ज, मध्यम, पञ्चम एकश्रुतिक रह जाएँगे। इस सारणा से यह सिद्ध हुआ कि ऋषभ धैवत त्रिश्रुतिक ही हैं। इस प्रकार तृतीय सारणा में से छैः श्रुतियों की सिद्धि प्राप्त हुई। 'तृतीयायां षट्श्रुतिलाभः'।

(मतंग-बृहद्देशी पृ० ६)

चतुर्थ सारणा में फिर से उसी प्रकार सभी स्वरों की एक एक श्रुति कम की जाए। ऐसा करने से चल-वीणा के षड्ज, मध्यम और पञ्चम अचल वीणा के निषाद गान्धार और मध्यम में लीन हो जाएँगे। इस सारणा से यह सिद्ध हुआ कि षड्ज, मध्यम और पञ्चम चतुःश्रुतिक ही हैं। इस प्रकार इस सारणा से बारह श्रुतियों की सिद्धि हुई। 'चतुर्थ्यां द्वादशश्रुतिलाभः' (मतंग-बृहद्देशी पृ०) उपयुक्त रीति से, दूसरी तीसरी और चौथी सारणाओं द्वारा क्रमशः चार, छैः, बारह और कुल मिलाकर बाईस श्रुतियों की सिद्धि हुई।

एवं द्वाविंशति-भेदभिन्नाः श्रुतयस्त्रिषु स्थानेषु प्रत्येका वा द्वाविंशतिप्रकारतया श्रुतिलाभः।

(मतंग—बृहद्देशी पृ० ६)

अगले पृष्ठ के सारिणी से सारणाओं का विवरण स्पष्ट हो जाएगा।

अगले पृष्ठ के विवरण से चतुःसारणा का व्योग, उसकी विधि और उस विधि से संप्राप्त सिद्धि का बोध हुआ होगा। फिर भी इस विषय को एक अन्य रूप से भी हम समझ लें। इस विषय को पुनः-पुनः समझने से ही परिपक्वता आ सकती है। आशा है यह पुनरुक्ति दोषाहे नहीं होगी, क्योंकि यह श्रुति-विषय इतना गहन है कि इसका बार-बार मथन किये बिना इसका नवनीत निकलना असंभव है। बार-बार प्रयोग से ही वह साध्य हो सकता है, संतत परिशीलन से ही वह पच सकता है। और बिना पचे वह तन, मन और बुद्धि में घुल नहीं सकता। इसीलिये पाठकों और अभ्यासियों के विचारार्थ और हितार्थ इन चतुःसारणाओं का एक और दृष्टि से हम अवलोकन करें।

हम इतना तो समझ गए हैं कि प्राचीन स्वरज्ञ ऋषियों ने इन स्वरों को जाँच कर उन्हें बाईस श्रुतियों में विभाजित किया था। श्रुति के आधार पर ही उन्होंने अपने स्वरों को नापा था। बाईस श्रुतियों के संवादात्मक रूप जाँच कर ही उन्होंने अपने स्वरों के स्थान या अन्तर ४-३-२-४-४-३-२ इन श्रुतियों पर निर्दिष्ट किये थे। यानी इन बाईस नादों में से चौथे पर षड्ज, सातवें पर ऋषभ, नवें पर गान्धार, तेरहवें पर मध्यम, सत्रहवें पर पञ्चम, बीसवें पर धैवत और बाईसवें पर निषाद उन्होंने जाँच लिया था और सिद्ध किया था। भरतादि ऋषियों के उस काल के षड्जग्रामिक स्वरों को आज भी उनके मूल रूप में ही हम

अचल वीणा पर स्वर (श्रुति संख्या सहित)	चल-वीणा पर सारणा-क्रिया के परिणाम			
	प्रथम सारणा	द्वितीय सारणा	तृतीय सारणा	चतुर्थ सारणा
० मेरु ..... निषाद ...	... ...	... ...	... ...	षड्ज (अचल वीणा के निषाद में लीन)
१—	... ...	... ...	षड्ज ...	
२—	... ...	षड्ज ...	... ...	
३—	षड्ज ...	... ...	... ...	... ...
४— ... षड्ज	...	... ...	ऋषभ (अचल-	... ...
५—	... ...	ऋषभ ...	वीणा के षड्ज	... ...
६—	ऋषभ ...	... ...	में लीन)	... ...
७— ... ऋषभ	... ...	गान्धार (अचल वीणा के ऋषभ में लीन)		
८—	गान्धार ...	... ...		
९— ... गान्धार ...	... ...	... ...	... ...	मध्यम (अचल
			... ...	वीणा के गान्धार
			... ...	में लीन)
१०—	... ...	... ...	मध्यम ...	
११—	... ...	मध्यम ...		
१२—	मध्यम ...	... ...		
१३— ... मध्यम ...	... ...	... ...	... ...	पञ्चम (अचल
१४—	... ...	... ...	पञ्चम ...	वीणा के मध्यम
१५—	... ...	पञ्चम ...	... ...	में लीन)
१६—	पञ्चम ...	.. ...		
१७— ... पञ्चम ...	... ...	... ...	धैवत (अचल वीणा के पञ्चम में लीन)	
१८—	... ...	धैवत ...		
१९—	धैवत ...	... ...		
२०— ... धैवत ...	... ...	निषाद (अचल वीणा के धैवत में लीन)		
२१—	निषाद ...	... ...		
२२— ... निषाद ...	... ...	... ...		

प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा देख सकते हैं। अब हम इन बाईस नादों के नामों से उन षड्जग्रामिक स्वरों के श्रुति-विभाजन को देख लें। यथा—

मेरु—० क्षोभिणी

१. तीव्रा

२. कुमुद्वती

३. मन्दा

४. छन्दोवती—षड्ज

५. दयावती

६. रञ्जनी

७. रक्तिका—ऋषभ

८. रौद्री

९. क्रोधा—गान्धार

१०. वज्रिका

११. प्रसारिणी

१२. प्रीति

१३. मार्जनी—मध्यम

१४. क्षिती

१५. रक्ता

१६. सन्दीपनी

१७. आलापिनी—पञ्चम

१८. मदन्ती

१९. रोहिणी

२०. रम्या—धैवत

२१. उग्रा

२२. क्षोभिणी—निषाद

अब इन श्रुतियों के नाम के साथ हम लोग पुनः चतुःसारणा करें।

अचल वीणा पर स्वर (श्रुतिनाम सहित)	चल-वीणा पर सारणा-क्रिया के परिणाम			
	प्रथम सारणा	द्वितीय सारणा	तृतीय सारणा	चतुर्थ सारणा
० (मेरु) ··· क्षोभिणी ··· निषाद	··· ···	··· ···	··· ···	षड्ज (अचल वीणा के निषाद में लीन)
१—तीव्रा ··· ···	··· ···	··· ···	षड्ज ···	
२—कुमुद्वती ··· ···	··· ···	षड्ज ···	··· ···	
३—मन्दा ··· ···	षड्ज ···	··· ···	··· ···	
४—छन्दोवती ··· षड्ज	··· ···	··· ···	ऋषभ (अचल वीणा के षड्ज में लीन)	
५—दयावती ··· ···	··· ···	ऋषभ ···	··· ···	
६—रञ्जनी ··· ···	ऋषभ ···	··· ···	··· ···	
७—रक्तिका ··· ऋषभ	··· ···	गान्धार (अचल वीणा के ऋषभ में लीन)	··· ···	
८—रौद्री ··· ···	गान्धार ···	··· ···		
९—क्रोधा ··· गान्धार	··· ···	··· ···		मध्यम (अचल वीणा के गान्धार में लीन)
१०—वज्रिका ··· ···	··· ···	··· ···	मध्यम ···	
११—प्रसारिणी ··· ···	··· ···	मध्यम ···	··· ···	
१२—प्रीति ··· ···	मध्यम ···	··· ···	··· ···	
१३—मार्जनी ··· मध्यम	··· ···	··· ···	··· ···	पञ्चम (अचल वीणा के मध्यम में लीन)
१४—क्षिती ··· ···	··· ···	··· ···	पञ्चम ···	
१५—रक्ता ··· ···	··· ···	पञ्चम ···		
१६—सन्दीपनी ··· ···	पञ्चम ···	··· ···		
१७—आलापिनी ··· पञ्चम	··· ···	··· ···	धैवत (अचल वीणा के पञ्चम में लीन)	
१८—मदन्ती ··· ···	··· ···	धैवत ···		
१९—रोहिणी ··· ···	धैवत ···	··· ···		
२०—रम्या ··· धैवत	··· ···	निषाद (अचल वीणा के धैवत में लीन)		
२१—उग्रा ··· ···	निषाद ···	··· ···		
२२—क्षोभिणी ··· निषाद	··· ···	··· ···		

इन चतुःसारणाओं का आधार स्वर-संवाद है। भारतीय संगीत सारा संवाद-तत्त्व पर ही आधारित है। इसीलिये प्राचीनों ने इन स्वरों के संवाद को देखकर, कर्ण-प्रत्यय से जाँच कर ही इनके स्थान निश्चित किये थे और उसी संवाद पर सारा संगीत का शास्त्र खड़ा किया था। जब तक स्वर-संवाद को नहीं समझा जाएगा, तब तक स्वर-स्थानों का वास्तविक बोध नहीं हो पाएगा। इसलिये श्रुति स्वरों को, उनकी चतुःसारणा को जो समझना चाहें, उनके लिये और उनका प्रयोग करने वालों के लिये ग्रन्थ-कारों ने पहिली शर्त यह लगाई है कि वे स्वर-संवाद को पूर्ण रूप से समझे हुए हों। इसी से कहा गया है—

स्वरसंवादिताज्ञानं स्वरस्थापनकारणम्।

(सं० पा०)

स्वरों के अन्तर को नापने का साधन श्रुति है, यह हम पहिले कह आए हैं। अतः स्वर-संवाद को भी श्रुत्यन्तर द्वारा ही निर्दर्शित किया जाता है। जिन स्वरों में नव-श्रुति और त्रयोदश-श्रुति का अन्तर हो, वे स्वर परस्पर संवादी होते हैं, ऐसा भरत ने यथार्थ कहा है। यथाः—

ययोश्च नवश्रुतित्रयोदशश्रुत्यन्तरं ते मिथः संवादिनः।

(ना० शा०)

भरत के परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी स्वर-संवाद के यही दो प्रकार स्वीकृत किये हैं। नव-श्रुत्यन्तर का संवाद षड्ज-मध्यम-भाव के नाम से प्रसिद्ध है और त्रयोदश श्रुत्यन्तर का संवाद षड्ज-पञ्चम-भाव की संज्ञा से विश्रुत है।

जो लोग आठ और बारह श्रुत्यन्तर को संवादी बताते हैं, उनका कथन भी यहाँ उल्लेखनीय है। इस सम्बन्ध में भ्रमनिरसन के लिये 'रत्नाकर' की निम्नलिखित कारिका उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। यथा—

श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा यायोरन्तरगोचरः। मिथः संवादिनौ तौ स्तो निगावन्यविवादिनौ॥

(सं० र० १।)

भरत-कथित नव-त्रयोदश श्रुत्यन्तर के स्थान पर यहाँ अष्ट-द्वादश श्रुत्यन्तर का उल्लेख किया गया है। इन दोनों विधानों के शब्दों में भेद होने के कारण भ्रान्ति होना स्वाभाविक है। इसी से जो लोग प्राचीनों की कही हुई बाईस श्रुतियाँ न मानकर चौबीस श्रुतियाँ मानने को ललचाए हैं; अथवा जो लोग आज के स्थूल बारह स्वरों को दुगना कर के चौबीस श्रुतियों में बाँटना चाहते हैं, वे भरत के नव त्रयोदश श्रुत्यन्तर को लेकर तर्क करते हैं कि दो स्वरों के केवल बीच की श्रुतियाँ गिनाई में नौ और तेरह होनी चाहिए। बाईस श्रुतियों की व्यवस्थानुसार तो ये बीच की श्रुतियाँ आठ और बारह ही ठहरती हैं, यदि संवादी स्वर-जोड़ियों के स्वरों की अपनी अपनी अन्तिम श्रुति को गिनाई में न लिया जाए तो। इसीलिये 'रत्नाकर' कार ने उपर्युक्त विधान दिया है और भरत के शब्दों को देखते हुए षड्ज और ऋषभ के बीच एवं पञ्चम और धैवत के बीच एक अधिक श्रुति मानने से ही उनके नव-त्रयोदश-श्रुत्यन्तर की संगति बैठ सकती है, ऐसा उन लोगों का तर्क है। उनका कथन है कि इन दो श्रुतियों को गुप्त मान कर उन्हें प्रत्यक्ष गिनाई में प्रयुक्त न करके कुल श्रुति-संख्या बाईस मानी गई होगी। हमारी समझ में यह तर्क भ्रान्ति-मूलक है, क्योंकि भरत ने स्वयं स्पष्टतया बाईस श्रुतियाँ ही कही हैं, चौबीस नहीं। संवाद को बताते समय श्रुतियों की कुल संख्या के अतिरिक्त अन्य श्रुतियों का प्रयोग करने की भरत को भला क्यों आवश्यकता होती? स्वर-संवाद को देखने से भी यही स्पष्ट है कि षड्ज से नवीं और तेरहवीं श्रुति पर ही मध्यम और पञ्चम संवाद करते हैं। षड्ज-मध्यम और षड्ज-पञ्चम इन दोनों जोड़ियों के स्वरों को छोड़ कर गिनें तो बीच का अन्तर

आठ और बारह श्रुति का होगा और वही शार्ङ्गदेव ने स्पष्ट किया है। भरत ने इन दोनों जोड़ियों के प्रथम स्वर की अन्तिम श्रुति को गिनकर नव-त्रयोदश के अन्तर का विधान दिया है। शब्दों के इस हेर-फेर से स्वरों के स्थान में कोई परिवर्तन नहीं होता। आशा है इस विवरण से पाठक भ्रान्त तर्कों की उलझन से मुक्त हो जाएँगे।

नव और त्रयोदश श्रुत्यन्तर का संवाद तो प्रसिद्ध है और सर्वमान्य है, यह हमने देख ही लिया। किन्तु इसके अतिरिक्त षट्श्रुति और सप्तश्रुति के अन्तर का भी एक सूक्ष्म संवाद स्वरों के भीतर समाया हुआ है। वह निगूढ़ है. स्थूल मान से दिखाई नहीं दे सकता। षड्ज के साथ स्वयम्भू गान्धार यानी अन्तर गान्धार का जो सहज सम्बन्ध है, वह सप्तश्रुति-संवाद का निदर्शक है। जितना यह सप्तश्रुति अन्तर का संवाद कर्णगोचर होता है और आनन्ददायी है, उससे कुछ न्यून मात्रा में षट्श्रुति का अन्तर भी स्वरों के परस्पर स्नेह-सम्बन्ध को जोड़ता है।

जो लोग तन्तुवाद्य बजाने के अथवा सुनने के अभ्यस्त हैं, अथवा जो तानपुरे पर गायन-क्रिया करते हैं, उन्हें तानपुरे के मन्द्र षड्ज के तार से अथवा अन्य वाद्यों के उस प्रकार के तारों से अपने आप उद्भूत होने वाले गान्धार (जिसके लिए हमने स्वयम्भू शब्द का प्रयोग किया है) की प्रत्यक्ष और स्पष्ट अनुभूति होती है। वह गान्धार षड्ज से सप्तश्रुति अन्तर पर स्थित है। और षड्ज के साथ उसका इतना मधुर सम्बन्ध है कि उसे सुनकर भगवान् वेदव्यास ने निम्नोद्धृत उल्लेख किया था :—

वीणेव मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्च्छति॥

(महाभारत)

जैसे इस सप्तश्रुति गान्धार का षड्ज के साथ स्वयमेव संवाद है, तद्वत् षट्श्रुति गान्धार का भी उससे कुछ न्यून, किन्तु फिर भी इष्ट संवाद होता है। यह बात निम्नोक्त प्रयोग से अधिक स्पष्ट होगी।

किसी तन्तु-वाद्य के दो तार ठीक से मिला लें। दोनों ऐसे मिल जाएँ, कि इनके नाद में अभिन्नता प्रतीत हो, दोनों एक रूप हो जाएँ। उससे संपूर्ण सुरीलापन निर्दिशत होगा। अब उनमें से एक तार को स्थिर रखकर दूसरे तार को धीरे धीरे चढ़ाते जाएँ। ज्यों ज्यों खूँटी मरोड़ते जाएँगे, और स्वर चढ़ता जाएगा, त्यों त्यों स्थिर तार के नाद के साथ वह चढ़ता हुआ नाद बेसुरा होता जाएगा और विसंवाद की मात्रा बढ़ाता जाएगा। किन्तु क्रमशः चढ़ता हुआ वह नाद जब षट्श्रुति गान्धार पर आ कर स्थिर होगा, तब वह बेसुरापन दूर हो जाएगा और दोनों तारों के नाद की संगति कानों को प्रिय और इष्ट मालूम देगी। षड्ज के साथ इस षट्श्रुति गान्धार का गुणोत्तर प्रमाण $\frac{6}{5}$ है। इसके बाद उस तार को थोड़ा सा और चढ़ाने से जब उसका नाद सप्तश्रुति गान्धार पर पहुँचेगा, जिसके कि तानपुरे के खरज से स्वयंभूरीत्या उद्भूत होने का उल्लेख हम पहिले कर आए हैं, तब षड्ज के साथ अधिक रूप से प्रिय और इष्ट संवाद-सम्बन्ध कर्णगोचर होगा। इस सप्तश्रुति गान्धार का षड्ज के साथ $\frac{5}{4}$ गुणोत्तर प्रमाण है।

षड्ज-मध्यम और षड्ज-पञ्चम के संवाद से तो सभी भली भाँति परिचित हैं। किन्तु इस षट्श्रुति और सप्तश्रुति के संवाद का यहाँ पर इसीलिए उल्लेख किया गया है कि इन दो सम्बन्धों का भी भारतीय संगीत में कम महत्त्व नहीं है। यह भी ध्यान रहे कि जैसे षड्ज से षट्श्रुति और सप्तश्रुति संवाद दिखाया है, तद्वत् अन्य स्वरों में भी परस्पर षट्श्रुति और सप्तश्रुति के अन्तर से संवाद होता है। जिन दो नादों के बीच क्रमशः $\frac{6}{5}$ और $\frac{5}{4}$ का गुणोत्तर प्रमाण है, उन सभी में इन षट्श्रुति और सप्तश्रुति का संवाद निश्चित रूप से होता है और वह प्रिय ही नहीं, वाञ्छनीय भी है। भारतीय संगीत की यही विशेषता है कि उसके सारे स्वरों

में परस्पर षट्श्रुति, सप्तश्रुति, नवश्रुति और त्रयोदश श्रुति के अन्तर से संवाद होता है। षट्श्रुति और सप्त-श्रुति के संवाद की अधिक स्पष्टता के लिए हम नीचे एक विस्तृत उदाहरण दे रहे हैं।

गायक-वादक इस बात को क्रिया से जानते हैं कि मालकौंस गाते समय तानपुरे की प्रथम तार मध्यम में मिलाई जाती है और मालकौंस का कोमल निषाद जो क्षोभिणी श्रुति पर स्थित है, मध्यम के साथ नौ श्रुति के अन्तर से संवाद करता है। किन्तु जब हम भीमपलासी गाते हैं, तब जिस कोमल निषाद का प्रयोग करते हैं, वह मालकौंस के कोमल निषाद से सर्वथा भिन्न होता है। स्थूल दृष्टि और सामान्य समझ वाले व्यक्ति इस भिन्नत्व को नहीं समझ सकेंगे और बारह ही स्वर मानने वाले तो संभवतः यही कह उठेंगे कि दोनों ही तो कोमल निषाद हैं, उनमें क्या भेद है ? किन्तु जिनके कान सूक्ष्म हैं, वे जानते हैं, जानते ही नहीं, प्रतिपल अनुभव करते हैं कि भीमपलासी के निषाद और मालकौंस के निषाद में अवश्य अन्तर है। श्रुति की भाषा में स्वरों के भेद न जानने वाले कलाकार शायद यह न कह सकें कि दोनों में क्या और कितना अन्तर है। किन्तु वे इतना तो कहते ही हैं कि भीमपलासी का निषाद कुछ ऊँचा है। हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भीमपलासी का निषाद मालकौंस के निषाद से एक श्रुति ऊँचा है। उसका स्वाभाविक कारण यही है कि जैसे मनुष्य अपने सम-स्वभाव वाले मनुष्यों की टोली में ही बैठता है, बैठना चाहता है, तद्वत् स्वर भी अपने सम्बन्धित स्वर के साथ ही रहना पसन्द करता है। सभी स्वरों को संवाद प्रिय हैं, विवाद किसी को प्रिय नहीं। इसी से भीमपलासी का पञ्चम अपने से षट्श्रुति ऊँचे स्वर से यानी क्षोभिणी से एक श्रुति ऊँचे कोमल निषाद से जो कि तीव्रा पर स्थित है, उससे संवाद करता है। इसीसे वह निषाद मालकौंस के कोमल निषाद से एक श्रुति ऊँचा है और स्थूल मान से बारह स्वरों को मानने वालों को चेतावनी देता है—"ऐ भारतीय संगीत शास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वालो! मुझे भी सुनो, मेरी कहानी अनसुनी मत करो। केवल बारह नादों में सारे संगीत को न जकड़ लो। प्राचीन परम्परा के जो बाईस संवादात्मक नाद हैं, उनके सान्निध्य के सेवन से संगीत की विशाल भाव-सृष्टि का निर्माण करो। माता सरस्वती की वीणा से उद्भूत इन सूक्ष्म नादों की अवहेलना न करो। श्रुतियाँ तप से वशीभूत होती हैं, तप करो और सिद्धि पाओ।"

जैसे सा के साथ षट्श्रुति और सप्तश्रुति गान्धार का संवादात्मक सम्बन्ध है, तद्वत् दोनों धैवतों का तार षड्ज के साथ वही नाता है। शुद्ध धैवत और तार षड्ज में षटश्रुति का अन्तर है एवं कोमल धैवत और तार षड्ज में सप्तश्रुति का अन्तर है।

प्राचीनों ने इसी दृष्टि-बिन्दु को ध्यान में रखकर भैरव में मध्यम को अंश माना है। मध्यम के साथ कोमल धैवत का षट्श्रुति संवाद है, और कोमल ऋषभ से वह मध्यम सप्तश्रुति संवाद करता है। मध्यम के स्थान पर पंचम को रखने से, स्वर-संवाद के सिद्धान्तानुसार, कोमल ऋषभ और कोमल धैवत, विवादी स्वर हो जाएँगे। सा के साथ कोमल रे तथा प के साथ कोमल ध दोनों में विवाद सम्बन्ध है, क्योंकि दो श्रुत्यन्तर को सदा विवादी* माना है। तद्वत् दो से उल्टा यानी बीस (उल्टे क्रम से श्रुतियों की गिनाई करने से) श्रुति

---

* जिन दो नादों के अनुरण में ऐसे कम्पन हों जो अभीष्ट न हों, जिन्हें Helmholtz ने beats कहा है, वही विवाद होता है। ये beats कान को और कान द्वारा मन को बेचैन कर देते है। जिस प्रकार किसी दिये की लौ यदि स्थिर होती है तो देखनेवाली आँखों को और मन को कष्ट नहीं पहुँचता किन्तु यदि वह लौ सतत हिलती रहे, डोलती रहे, तो देखनेवालो की आँखों को कष्ट पहुँचता है और वे तत्काल ही मुँह मोड़ लेते हैं, जैसी यह दीपक की लौ की अवस्था है, वैसे ही विवादी स्वरों की भी अवस्था है। संगीत कष्ट पहुँचाने के लिए नहीं, अपितु विशेष रूप से आनन्द-निमज्जित करने के लिए है। और विवादी स्वरों से वह आनन्द नष्ट होता है। इसलिए भारतीय संगीत में संवाद को अटूट रखा गया है।

का अन्तर भी विवादी होता है। उसी प्रकार स्वरों के भीतर जहाँ जहाँ पाँच श्रुति का अन्तर हैं, वह भी अनिष्ट माना गया है और विवादी है, जो प्रत्यक्ष प्रयोग से सिद्ध है। इसका उल्लेख हम तृतीय मध्याम में 'मध्यम-साधारण' को स्पष्ट करते समय करेंगे।

पाश्चात्य Harmony की व्यवस्था भी इसी चार प्रकार के संवाद के आधार पर बनी हुई है (यद्यपि आज के पियानो, ऑर्गन या हार्मोनियम जैसे tempered scale के बाजों पर ये संवाद ठीक से निदर्शित नहीं हो पाते)। मुख्यत; सा ग प, और सा ग् प, वैसे ही म ध सा और म ध् सा, और इसी प्रकार की अन्य स्वर-संगतियों से वह Harmony बनी हुई है। इससे भी हमारे षट्श्रुति और सप्तश्रुति के संवाद को पुष्टि मिलती है। जहाँ जहाँ जब जब किसी भी देश में, किसी भी काल में प्राकृत स्वर सप्तक का प्रयोग प्रचार में रहा है, वहाँ सर्वत्र, सभी देश और काल में यह षट्, सप्त, नव और त्रयोदश श्रुति का संवाद सर्वमान्य रहा है।

इन चार प्रकार के संवादों को अगले पृष्ठ पर दी हुई सारिणी में श्रुति-नामों सहित निदर्शित किया गया है।

ये सब संवाद और विवाद गणितसिद्ध हैं। किन्तु उनके गणित-मूल्य यहाँ देकर विषय को बढ़ाना, सामान्य पाठकों को उलझाना और ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं समझा है। इसलिए जिन्हें गणित-सिद्धि में जिज्ञासा और रुचि हो, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे प्रो० ललितकिशोर सिंह एम० एस-सी० (फिजिक्स अध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) की 'ध्वनि और संगीत' नामक पुस्तक को अभ्यासदृष्टि से देख लें।

इन सब निर्णयों के बावजूद भी इस श्रुति-व्यवस्था के प्रति अनादर रखनेवाले अथवा किसी न किसी बहाने इसे अप्रतिष्ठित करने का यत्न करनेवाले अथवा परिश्रम से उस व्यवस्था को समझकर उसका इस युग में उपयोग करने में उलझन का अनुभव करनेवाले, कुछ न कुछ आशंकाएँ खड़ी करते ही रहते हैं। सच्चे सन्देह को सुलझाने की दृष्टि से यदि आशंका उठाई जाए, तो उसका समुचित उत्तर मिल सकता है। केवल तर्क के लिये तर्क करने से तत्त्वबोध की कभी भी संभावना नहीं है।

इस श्रुति-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक विशेष तर्क यह है कि ये सब श्रुतियाँ सम प्रमाण की हैं अथवा विषम प्रमाण की। आधुनिक भारतीय विद्वानों में इस तर्क के मुख्य तार्किक पं० भातखण्डे हैं। जो श्रुति-विचार-दक्ष हैं, उनके लिये तो यह तर्क सुलझा हुआ है, क्योंकि वे जानते हैं कि ये श्रुतियाँ सम प्रमाण की नहीं हैं। जैसे सप्त स्वरों का प्रमाण भी एक नहीं है, उनकी ऊँचाई नीचाई भिन्न है, तद्वत् इन श्रुतियों के परस्पर अन्तर में भी भिन्नता है, यह सहजगम्य है। किन्तु तर्क करनेवाले भरत की 'प्रमाण-श्रुति' को लेकर कहते हैं कि भरत ने सभी श्रुतियाँ सम-प्रमाण की मानी होंगी*। वास्तव में षड्जग्रामिक स्वरों में से मध्यम-ग्रामिक स्वर बनाने के लिये जिस श्रुति का आधार लिया गया है और जिसका उत्कर्ष या अपकर्ष करने को कहा गया है, उसके अन्तर को ही भरत ने प्रमाण श्रुति कहा है, जो कि ग्रीकों का Comma है और जिसका प्रमाण $\frac{81}{80}$ है। भरत का यह अर्थ कदापि नहीं कि इस श्रुति के प्रमाणानुसार

---

*एक पाश्चात्य विद्वान् का तर्क इस प्रकार है—

"The ancients held the erroneous opinion that these intervals (srutis) were equal.....By an interval of one sruti they understood the comma 81/80." (E. clements—'Introduction to the study of Indian Music.')

बाईस श्रुतियों के क्रमिक नाम	षट्श्रुत्यन्तर से संवादी श्रुतियाँ	सप्त श्रुत्यन्तर से संवादी श्रुतियाँ	नव श्रुत्यन्तर से संवादी श्रुतियाँ	त्रयोदश श्रुत्यन्तर से संवादी श्रुतियाँ
१—तीव्रा	रक्तिका	रौद्री	वज्रिका	क्षिती
२—कुमुद्वती	रौद्री	क्रोधा	प्रसारिणी	रक्ता
३—मन्दा	क्रोधा	वज्रिका	प्रीति	सन्दीपनी
४—छन्दोवती	वज्रिका	प्रसारिणी	मार्जनी	आलापिनी
५—दयावती	प्रसारिणी	प्रीति	क्षिती	मदन्ती
६—रञ्जनी	प्रीनि	मार्जनी	रक्ता	रोहिणी
७—रक्तिका	मार्जनी	क्षिती	सन्दीपनी	रम्या
८—रौद्री	क्षिती	रक्ता	आलापिनी	उग्रा
९—क्रोधा	रक्ता	सन्दीपनी	मदन्ती	क्षोभिणी
१०—वज्रिका	सन्दीपनी	आलापिनी	रोहिणी	तीव्रा
११—प्रसारिणी	आलापिनी	मदन्ती	रम्या	कुमुद्वती
१२—प्रीति	मदन्ती	रोहिणी	उग्रा	मन्दा
१३—मार्जनी	रोहिणी	रम्या	क्षोभिणी	छन्दोवती
१४—क्षिती	रम्या	उग्रा	तीव्रा	दयावती
१५—रक्ता	उग्रा	क्षोभिणी	कुमुद्वती	रञ्जनी
१६—सन्दीपनी	क्षोभिणी	तीव्रा	मन्दा	रक्तिका
१७—आलापिनी	तीव्रा	कुमुद्वती	छन्दोवती	रौद्री
१८—मदन्ती	कुमुद्वती	मन्दा	दयावती	क्रोधा
१९—रोहिणी	मन्दा	छन्दोवती	रञ्जनी	वज्रिका
२०—रम्या	छन्दोवती	दयावती	रक्तिका	प्रसारिणी
२१—उग्रा	दयावती	रञ्जनी	रौद्री	प्रीति
२२—क्षोभिणी	रञ्जनी	रक्तिका	क्रोधा	मार्जनी

सारी श्रुतियों का अन्तर समान है। यह प्रमाण-श्रुति भी संवाद के आधार पर ही कही गई है। पञ्चम से एक श्रुति का अपकर्ष करने से मध्यमग्राम बनता है। किन्तु वह अपकर्ष कितने प्रमाण में किया जाए, इसी प्रश्न के उत्तर में यह प्रमाण-श्रुति दिखाई गई है, जो कि संवादात्मक है, क्योंकि त्रिश्रुति ऋषभ के साथ में उस पञ्चम का संवाद होता ही है। अर्थात् ऋषभ-पञ्चम का संवाद हो सके, उतना ही अपकर्ष होना चाहिये। यहाँ भी संवाद-तत्त्व को अलग नहीं किया गया है, अपितु संवाद को ही आधार माना गया है। उस संवाद-तत्त्व को देखकर जितना अपकर्ष आवश्यक होता है, उसी को भरत ने प्रमाण-श्रुति कहा है। इसीलिए मध्यम-ग्राम की सिद्धि बताते समय ही, केवल एक ही बार प्रमाण-श्रुति का उल्लेख किया गया है। षड्जग्राम और मध्यमग्राम में क्या अन्तर है, यह दिखाने के लिये यह यत्न था, न कि सब श्रुतियों का समान अन्तर या समप्रमाण दिखाने के लिये।

प्रमाण-श्रुति का गणित मूल्य निकालने का एक सुगम मार्ग इस प्रकार है। यदि हमें रे से रे तक एक सप्तक बनाना हो तो रे का चतुर्थ स्वर पंचम हमें गिनना चाहिए जो कि षड्ज—मध्यम-भाव से उसका संवादी स्वर है। रे और प के दर्म्यान ९ श्रुतियाँ हुईं। फिर प और ध के दर्म्यान की ३ श्रुतियाँ हुईं। फिर षड्ज-मध्यम-भाव से ध से रे तक ९ श्रुतियाँ हुईं। ९+३+९=२१—इसका अर्थ यह हुआ कि रे से रे तक एक सप्तक बनाने से वह सप्तक एक श्रुति छोटा पड़ जाता है। क्योंकि उसमें केवल इक्कीस श्रुतियाँ होती हैं। तार की लम्बाई पर स्वर-स्थानों की स्थिति के अनुसार इन श्रुति-समूहों का गुणोत्तर-प्रमाण इस प्रकार है—$९=\frac{४}{३}$, $३=\frac{१०}{९}$, $९=\frac{४}{३}$। $\frac{४}{३}\times\frac{१०}{९}\times\frac{४}{३}=\frac{१६०}{८१}$। वास्तव में जिसे हम लोग सप्तक कहते हैं, उसका अन्तर है $\frac{३}{२}$। इस $\frac{३}{२}$ वाले पूर्ण सप्तक में और रे से रे तक वाले सप्तक में जो अन्तर है, वह एक श्रुति या एक Comma का अन्तर हुआ। इसका अर्थ है कि एक श्रुति का या एक Comma का अन्तर हुआ ($२१+१=२२=\frac{१६०}{८१}\times\frac{८१}{८०}=\frac{३}{२}$) $\frac{८१}{८०}$। ग्रीकों का 'Comma of Didymus' भी यही है।

भरत की सभी श्रुतियाँ सम प्रमाण की थीं, ऐसा जो लोग कहते हैं, उनके तर्क की निराधारता दिखाने के लिये यहाँ हम प्रो० वी० जी० परांजपे के Principles of Melodic Classification in Ancient Indian Music नामक लेख के उन अंशों का ज्यों का त्यों हिन्दी अनुवाद नीचे दे रहे हैं, जो कि प्रो० कृ० ग० मुले के 'भारतीय संगीत' नामक मराठी ग्रन्थ में पृ० १२५—१२८ पर उद्धृत किये गए हैं। श्रुतियों के गणित-मूल्य के इस विवरण से वितर्कवादियों को इस युग का एक प्रबल प्रमाण मिल जाएगा।

"भरतोक्त सारणा-प्रक्रिया में हमें चल-वीणा पर पञ्चम को उतार कर ध्रुववीणा के मध्यम तक ले आना होता है। इस क्रिया में चार श्रुत्यन्तरों के सोपान लाँघने पड़ते हैं। उनका गणित-मूल्य हमें निकालना है। इन चारों सोपानों का गणित मूल्य समान है या असमान है, इन दो में से कोई भी पक्ष हम गृहीत मान कर नहीं चलेंगे। ऐसी अवस्था में इन सोपानों का सेंट्स* में मूल्य क्रमशः य १, य २, य ३ और य ४ है, ऐसा हम मान कर चलेंगे।

---

* स्वरान्तरों के गणित-मूल्य को निदर्शित करने का एक सुगम उपाय पाश्चात्य संगीतज्ञ मि० एलिस ने सेण्ट्सपद्धति के रूप में खोज निकाला है। इस पद्धति से स्वरान्तरों के गुणोत्तर-प्रमाण को पूर्णांकों द्वारा निर्दिष्ट करना संभव हो जाता है। सेण्ट्स पद्धति के अनुसार वीणा के पूरे मेरुदण्ड के १२०० सूक्ष्म भाग कर लिए जाते हैं, जिन्हें सेण्ट कहते हैं। इस प्रकार हमें मान लेना होता है कि पूरे वीणा के मेरुदण्ड पर १२०० पर्दे बँधे हुए हैं। दो पर्दों के बीच का अन्तर इस प्रकार बहुत ही सूक्ष्म आएगा और उसी सूक्ष्मान्तर को सेण्ट के नाम से पहिचानना होगा। एलिस की पद्धति के अनुसार इन सेण्ट्स की भाषा में किसी भी स्वर के गुणोत्तरप्रमाण को पूर्णांक द्वारा निदर्शित किया जा सकता है।

अब प = ७०२ सें० और म = ४९८ सें०। उसी प्रकार प–म, म–ग और सा–नि ये अन्तर समान हैं, ऐसा भरत ने कहा है।*

$$\therefore \text{प–म} = \text{म–ग} = \text{सा–नि} = \text{य १} + \text{य २} + \text{य ३} + \text{य ४} = ७०२ - ४९८ = २०४ \text{ सें०}$$

$$\therefore \text{म–ग} = २०४ \text{ और ग} = ४९८ - २९४ \text{ सें०}$$

$$\text{उसी प्रकार नी} = १२०० - २०४ = ९९६ \text{ सें०} \Big\} \ldots\ldots\ldots(१)$$

दूसरी सारणा करने पर चलवीणा का गान्धार ध्रुव वीणा के ऋषभ में मिलता है, उसी प्रकार निषाद धैवत में मिलता है।

$$\therefore \text{य १} + \text{य २} = \text{ग} - \text{रि} = \text{नि} - \text{ध} \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(२)$$

तीसरी सारणा में ऋषभ षड्ज में और धैवत पञ्चम में मिलता है।

$$\therefore \text{य १} + \text{य २} + \text{य ३} = \text{रि} - \text{सा} = \text{ध} - \text{प} \ldots\ldots\ldots\ldots(३)$$

ऋषभ और षड्ज के बीच के अज्ञात अन्तर को च्यु मान लें।

च्युतपञ्चम (पहिली सारणा करने पर आया हुआ प) यह मूल ऋषभ का मध्यम है और यह मूल पंचम की एक श्रुति कम करने से मिलता है। इसलिए च्युतपंचम = पंचम – पहिला श्रुत्यन्तर = प – य १.

किंवा, च्युतपंचम = षड्जऋषभान्तर + षड्जमध्यमान्तर

$$= \text{रि} + ४९८$$

$$= \text{च्यु} + ४९८$$

$$\therefore \text{च्यु} + ४९८ = \text{प} - \text{य १}$$

$$\therefore \text{य १} + \text{च्यु} = \text{प} - ४९८$$

$$= ७०२ - ४९८$$

$$= २०४ \text{ सें०} \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(४)$$

अब य १ + य २ + य ३ + य ४ = २०४

और च्यु + य १ = २०४

पुनः च्यु = १ + य २ + य ३ + य ४

$$\therefore \text{य १} + \text{य २} + \text{य ३} + \text{य १} = \text{य १} + \text{य २} + \text{य ३} + \text{य ४}$$

$$\therefore \text{य १} = \text{य ४} \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(५)$$

अब षड्जगान्धारान्तर = षड्जऋषभान्तर + ऋषभगांधारान्तर

$$= (\text{य १} + \text{य २} + \text{य ३}) + (\text{य १} + \text{य २})$$

$$= २\,\text{य १} + २\,\text{य २} + \text{य ३}$$

किंवा ष० गं० अन्तर = च्यु + य १ + य २

$$= २०४ + \text{य २} \text{ (कारण च्यु + य १ = २०४)}$$

परंतु ष० गं० अंतर = ग = २९४ सें० .....(१) से

$$\therefore \text{य २} = २९४ - २०४ = ९० \text{ सें०} \ldots\ldots\ldots(६)$$

इससे दूसरा श्रुत्यन्तर (य २) यह ९० सें० का है, ऐसा निश्चित हुआ।

अब य १, य ३, और य ४ इनकी कीमत निकालना है।

पुनः २ य १ + २ य २ + य ३

$$= \text{च्यु} + \text{य १} + \text{य २} = २०४ + \text{य २}$$

---

*यहाँ यह ध्यान रहे कि इस गणित प्रक्रिया में भरतोक्त ग – नि का ही उपयोग हुआ है, जो कि आधुनिक भाषा में कोमल ग – नि हैं।

तब ग = २९४ = २ य १ + २ य २ + य ३

∴ २ य १ + य ३ = २९४ − २ य २

= २९४ − १८०

= ११४ सें०..... (७)

उसमें से य १ = य ४.....(५) पर से यानी केवल य १ और य ३ की कीमत निकालने से पूरा हो जायगा।

अब २ य १ + य ३ = ११४

कोई भी श्रुति २० सेण्ट की अपेक्षा कम अन्तर की नहीं आ सकती, यह हमें गृहीत मान लेना चाहिए, क्योंकि उसकी अपेक्षा सूक्ष्म अन्तर को कान समझ नहीं सकता।

ऐसा गृहीत मान कर ऊपर के समीकरण पर से २ य १ = ११४ − य ३

∴ य १ की कीमत $\frac{(११४ - २०)}{(\quad २ \quad)}$ = ४७ से अधिक नहीं होगी। उसी प्रकार यह २० की अपेक्षा कम नहीं होगी।.....(८)

अब (५) पर से ऋषभ + य १ = २०४ सेंट

∴ ऋ० = २०४ − य १

∴ य १ की कम से कम अथवा अधिक से अधिक कीमत को ध्यान में लेने से ऋषभ की कीमत (२०४ − ४७) = १५७ की अपेक्षा कम नहीं हो सकती और (२०४ − २०) = १८४ की अपेक्षा अधिक नहीं आ सकती।

अब तक इतनी बातें निश्चित हुईं :—

(१) पहिली श्रुति [य १] ४७ सेंट से अधिक नहीं है।

(२) दूसरी श्रुति [य २] ९० सेंट की है।

(३) तीसरी श्रुति [य ३] = ऋ० − (य १ + य २)

अब स्वरशास्त्र की दृष्टि से १५७ से १८४ तक के अंतर में केवल १८२ सें० (१०।९ गुणोत्तर प्रमाण) का अंतर ही संगीतोपयोगी है। १६० सें० किंवा दूसरा एकाध अंतर गृहीत मानने पर पञ्चम पर्यंत के स्वरों में से ६ मूल स्वर जमते नहीं हैं अर्थात् गानोपयोगी नहीं सिद्ध होते, उन्हें उठा कर रख देना पड़ता है।

∴ १८२ सें० ऋषभ की कीमत ठहरती है।

∴ य १ + य २ + य ३ = १८२ सें०

पुनः य २ = ९०

∴ य १ + य २ = ९२ सें०

अब च + य १ = २०४

∴ य १ = २०४ − १८२ = २२ सें०

और य ३ = ९२ − य १ = ९२ − २२ = ७० सें०

इससे सिद्ध हुआ कि—

पहली सारणा [और पहिली श्रुति] यह २२ सेंट की है।

दूसरी " [" दूसरी "] " ९० " " "।

तीसरी " [" तीसरी "] " ७० " " "।

चौथी " [" चौथी "] " २२ " " "।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भरत के श्रुत्यन्तर सम प्रमाण के नहीं है"।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन लोगों ने भरत की असमान श्रुतियों को समान मानने का यत्न किया है, उन्होंने संभवतः शार्ङ्गदेव को ही अपना आधार माना है। चतुःसारणा को समझाते समय शार्ङ्गदेव ने वीणा पर २२ तार बाँधकर, उन्हें क्रमशः 'मनाक् उच्च ध्वनि' में मिलाकर उनके चौथे, सातवें, नवें, तेरहवें, सत्रहवें, बीसवें और बाईसवें तार के नाद पर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद— इन स्वरों की स्थापना की है। इस श्रुति-व्यवस्था को देखते हुए तो यह स्पष्ट है कि वे भरत के अनुयायी हैं। फिर भी समान श्रुति मानने वालों ने अपने आधार के लिए ऐसा अनुमान किया है कि इन २२ तन्त्रियों को एक सप्तक के अन्तर में समानरूप से विभाजित २२ समान नादों में मिलाना है। यानी एक सप्तक के २२ समान विभाग बनाकर उन समान नादों को वे मानना चाहते हैं। और यह समान श्रुति की माला भरत और शार्ङ्गदेव के गले में पहिनाना चाहते हैं। श्रुतियों को समान मानने वालों का यह अनुमान ही है, वास्तविक सत्य नहीं।

इस सम्बन्ध में प्रो० ललितकिशोर सिंह का कथन यहाँ गणित तथा ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

"यदि शार्ङ्गदेव के संकेत पर श्रुतियों का मान एक दूसरे के बराबर माना जाए तो एक सप्तक, अर्थात् सा-सां का अन्तराल २२ समान भागों में बँट जाता है। भिन्न-पद्धति में सा-सां का अन्तराल २ होता है। इसलिए २२ श्रुतियों को परस्पर गुणा करने से २ के बराबर होना चाहिए। अर्थात् यदि एक श्रुति के मान को 'श' मान लिया जाय तो।

$$(श \times श \times \ldots\ldots\ldots \times \text{बाईसवाँ श}) = २$$

$$\text{या } (श)^{२२} = २$$

$$\text{या } श = \sqrt[२२]{२}$$

अर्थात् एक श्रुति का अन्तराल २ के बाईसवें मूल के बराबर हुआ। यह मूल निकालने पर।

$$श = १.०३२ = \frac{१}{३१}$$

पर सेवर्ट की पद्धति से यह सारी गणना बड़ी सरल हो जाती है। इसलिए ऊपर भिन्न का संकेत करके अब आगे सेवर्ट में ही गणना की जायगी।

अस्तु, सा-सां अन्तराल ३०१ सेवर्ट होता है। इसलिए एक श्रुति का अन्तराल

$$श = \frac{३०१}{२२} = १३·७ \text{ सेवर्ट}।$$

इस हिसाब से

चतुःश्रुतिक स्वर = १३·७ × ४ = ५४·८ सेवर्ट
त्रिश्रुतिक स्वर = १३·७ × ३ = ४१·१ "
द्विश्रुतिक स्वर = १३·७ × २ = २७·४ "

आधुनिक स्वरों के साथ तुलना करने पर पता चलता है कि चतुःश्रुतिक स्वर गुरुस्वर (मेजरटोन) से लगभग चार सेवर्ट ऊँचा है; त्रिश्रुतिक स्वर लघुस्वर (माइनरटोन) से लगभग ५ सेवर्ट नीचा है, और द्विश्रुतिक स्वर अर्धस्वर (सेमीटोन) के लगभग बराबर है। इस हिसाब से शार्ङ्गदेव का शुद्ध ग्राम ऐसा निकलता है—

सा	रि	ग	म	प	ध	नि	सां
०	४१.१	६८.५	१२३.३	१७८.१	२१६.२	२४६.६	३०१

इसमें 'म' इष्ट मध्यम से लगभग २ सेवर्ट नीचा और 'प' इष्ट पंचम से २ सेवर्ट ऊँचा है। ग और नि भी आधुनिक कोमल ग और कोमल नि से लगभग १० सेवर्ट उतरे हुए है। ये ग $\frac{32}{27}$ और नि $\frac{16}{9}$ से भी लगभग ५ सेवर्ट छोटे हैं।

इस स्वर-प्रबन्ध में, जो किसी भी ज्ञात स्वर-प्रबन्ध से नहीं मिलता, विचारने की मुख्य बात यह है कि इसका चतुःश्रुतिक अन्तराल गुरुस्वर से भी ३·८ सेवर्ट या लगभग एक कॉमा ऊँचा है। यह गुरुस्वर मध्यम और पंचम का अन्तराल है, और वे दोनों ही स्वर प्राकृतिक हैं जो सभी देशों और सभी कालों में एक से ही पाए जाते हैं। इसलिए यह मानना पड़ता है कि शार्ङ्गदेव जैसे आचार्य इसके मान में त्रुटि नहीं कर सकते। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि शार्ङ्गदेव की श्रुतियाँ शुद्ध गणित की दृष्टि से बराबर नहीं हैं और न उनका लक्ष्य सम-साधित ग्राम की रचना ही था, जो आधुनिक पाश्चात्य संगीत में संहति की एक विशेष समस्या लेकर कल्पित हुआ है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सारणा प्रक्रिया में शार्ङ्गदेव ने २२ तन्त्रियों पर श्रुतियाँ मिलाने का जो विधान किया है, उससे यह अर्थ लगाना कि शार्ङ्गदेव ने सप्तक को २२ समान भागों में विभाजित करके अपने स्वर स्थापित किए होंगे, यह तर्क कितना भ्रान्तिपूर्ण है? इस प्रकार स्थापित किया हुआ स्वर-सप्तक, सहज-स्वर संवाद की दृष्टि से अवैज्ञानिक ठहरता है और 'रत्नाकर' जैसे विराट् ग्रन्थ के प्रणेता को ऐसा अवैज्ञानिक स्वर-सप्तक अभीष्ट रहा होगा, यह तो नहीं ही कहा जा सकता। भरत की ही भाँति शार्ङ्गदेव के स्वर भी स्वर-संवाद के नैसर्गिक सिद्धान्त पर आधारित रहे होंगे और श्रुतियों की सिद्धि के पूर्व ही उनके स्थान निश्चित रहे होंगे। क्रमशः चौथी, सातवीं, नवीं इत्यादि जिन जिन तारों पर स्वरों की स्थापना अभीष्ट रही होगी, उनके नादों को संवाद दृष्ट्या परस्पर स्वर मिलाकर ही उन पर सर्व प्रथम स्वरों की स्थापना करने का शार्ङ्गदेव का विधान रहा होगा। २२ तारों को समान अन्तर से मिलाने का विधान शार्ङ्गदेव पर आरोपित करना, संभवतः उनके साथ अन्याय करना होगा।

श्रुतियों का समान अन्तर मानने वालों के तर्क के उपरिलिखित उत्तर के पश्चात् प्रो० ललितकिशोर-सिंह की पुस्तक में से निम्न उद्धरण देना अस्थानीय न होगा। उससे प्रो० परांजपे का उद्धरण जो हम ऊपर दे आए हैं, उसकी पुष्टि होगी और एक भिन्न दृष्टि से श्रुतियों के विषम अन्तर की गणित सिद्धि प्राप्त होगी। साथ ही समान श्रुति मानने वालों की तर्क परंपरा कैसे निरर्थक है, यह साबित होगा।

"भरत के मार्ग पर चलने से स्वरों का मान पहिले निश्चित करना होगा फिर श्रुति का मान निकालना होगा। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने भरत के चतुःश्रुतिक स्वर को गुरुस्वर, त्रिश्रुतिक को लघुस्वर और द्विश्रुतिक को अर्धस्वर मान लिया है। ऐसा मान लेने पर अनायास ही भरत का षड्जग्राम इस तरह तैय्यार हो जाता है :—

सा	रि	ग	म	प	ध	नि	सा
१	$\frac{10}{9}$	$\frac{32}{27}$	$\frac{4}{3}$	$\frac{3}{2}$	$\frac{5}{3}$	$\frac{16}{9}$	२
	$\frac{10}{9}$	$\frac{16}{15}$	$\frac{9}{8}$	$\frac{9}{8}$	$\frac{10}{9}$	$\frac{16}{15}$	$\frac{9}{8}$

यह बताया जा चुका है कि :—

गुरुस्वर $\frac{9}{8}$ = ५१ सेवर्ट

लघुस्वर $\frac{10}{9}$ = ४६ सेवर्ट

अर्ध स्वर $\frac{16}{15}$ = २८ सेवर्ट

भरत की पहिली सारणा में चलवीणा का प्रत्येक स्वर अचल वीणा के प्रत्येक स्वर से एक श्रुति उतरता है। यह बताया गया है कि पहिली सारणा षड्जग्राम 'प' और मध्यमग्राम 'प' के अन्तर के बराबर होती है। इसे ही प्रमाण-श्रुति कहते हैं। इस सारणा से मध्यमग्राम 'प', (त्रिश्रुति के) ऋषभ का संवादी हो जाता है, इसलिए मध्यमग्राम 'प' का मान $\frac{२}{३} \times \frac{४}{३} = \frac{४०}{२७}$ हुआ। इस 'प' का षड्जग्राम 'प' से अन्तर $\frac{३}{२} \div \frac{४०}{२७} = \frac{८१}{८०}$ हुआ, या ५ सेवर्ट हुआ। यह गुरुस्वर और लघुस्वर का अन्तर है जिसे एक कोमा कहते हैं। अब चलवीणा के गान्धार और निषाद भी एक-एक कोमा उतर गए। दूसरी सारणा में चलवीणा के दोनों स्वर अचलवीणा के रि और ध में मिल जाते हैं। इसलिए यह दूसरा उतार २३ सेवर्ट का हुआ जिसे लीमा कहते हैं। इसलिए दूसरी श्रुति एक लीमा $\frac{२५६}{२४३}$ के बराबर हुई। इन दोनों उतारों में चलवीणा के रि और ध एक अर्ध स्वर या २८ सेवर्ट उतर गए। इसलिए वे स्वर अचलवीणा के स और प से १८ सेवर्ट ऊँचे रहे। तीसरी सारणा में रि और ध, स और प से मिल जाते हैं। इसलिए तीसरी श्रुति एक लघु अर्धस्वर $\frac{२५}{२४}$ या १८ सेवर्ट के बराबर हुई। अब स, म और प के कुल ४६ सेवर्ट उतरने से उनमें एक कोमा या ५ सेवर्ट रह गया। चौथी सारणा में ये तीनों स्वर नि, ग और म में मिल जाते हैं। अर्थात् चौथी श्रुति एक कोमा के बराबर हुई। संक्षेप में चतुःश्रुतिक स्वर = कोमा + लीमा + लघु – अर्धस्वर + कोमा।

$$= \frac{८१}{८०} + \frac{२५६}{२४३} + \frac{२५}{२४} + \frac{८१}{८०}$$

$$= ५ + २३ + १८ + ५$$

$$= ५१ \text{ सेवर्ट} = \frac{९}{८}$$

त्रिश्रुतिक = कोमा + लीमा + लघु-अर्धस्वर $= ५ + २३ + १८ = ४६$ सेवर्ट $= \frac{१०}{९}$

द्विश्रुतिक = कोमा + लीमा

$= ५ + २३ = २८$ सेवर्ट $= \frac{१६}{१५}$

सभी श्रुतियों को यदि ग्राम में सजा दिया जाए तो नीचे दिया हुआ चित्र तैयार होता है :—

स		रि		ग			म			प			ध			नि			सां
ल	ली	को	ली	को	को	ल	ली	को	को	ल	ली	को	ल	ली	को	ली	को	को	ल	ली	को

ग्राम

श्रुति स्वर की विवेचना पूर्ण करने के बाद अब हम 'ग्राम' के विषय पर आ जाएँ। यों तो स्वर, श्रुति और ग्राम ये तीनों विषय परस्पर इतने घुले हुए हैं कि जब भी इन तीनों में से किसी एक की चर्चा करने बैठते हैं, तब शेष दोनों विषयों की चर्चा किसी न किसी प्रकार आ ही जाती है। इनमें से किसी एक विषय का अन्य दोनों से संपूर्णतया विविक्त या पृथक् विवेचन करना असंभव है। प्राचीन ग्रन्थों में भी स्वर, श्रुति और ग्राम—ये तीनों पृथक्-पृथक् रूप से कहीं भी लिखे हुए नहीं पाए जाते। जब जब स्वरों की विचारणा करेंगे, श्रुति की विचारणा उसके साथ संलग्न रहती ही है। और जहाँ श्रुति-व्यवस्था को अर्थात् स्वरों में श्रुतियों के विभाजन को देखने बैठते हैं, वहाँ ग्राम का विषय आ ही जाता है। इसलिये इसके पूर्व श्रुति स्वर की

विवेचना करते समय सारणा—प्रकरण में हमें ग्राम की चर्चा भी करनी पड़ी है। फिर भी हम यहाँ ग्राम के सम्बन्ध में कुछ विशेष और पृथक् विचारणा करना चाहते हैं।

'ग्राम' की व्याख्या भरत ने नहीं दी है। 'रत्नाकर' कार ने केवल इतना कहा है—

ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः ॥

(सं० र०)

ग्राम यानी मूर्च्छनादि का आश्रयरूप स्वर-समूह—केवल इतनी व्याख्या करने मात्र से कोई विशेष खुलासा नहीं होता है। प्राचीनों का आशय 'ग्राम' शब्द से विशेष प्रकार की स्वर-व्यवस्था को सूचित करना था ऐसा प्रतीत होता है। मतङ्ग के निम्नोद्धृत वचन से यह धारणा पुष्ट होती है। यथा :—

अथ किमुच्यते ग्रामशब्देन। ननु कति ग्रामा भवन्ति।
कस्मादुत्पद्यते ग्रामः किं वा तस्य प्रयोजनम्।
अत्रोच्यते—
समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ ॥ ८९ ॥
यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूत्वा वसन्ति हि।
सर्वलोकेषु स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थितः ॥ ९० ॥
षड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल।
गान्धारं नारदो ब्रूते स तु मर्त्यैर्न गीयते ॥ ९१ ॥
सामवेदात् स्वरा जाताः स्वरेभ्यो ग्रामसम्भवः।
द्वावेतौ च इमौ ज्ञेयौ षड्जमध्यमलक्षितौ ॥ ९२ ॥
प्रयोजनं च यथा—स्वरश्रुतिमूर्च्छनातानजातिरागाणां व्यवस्थापनत्वं ग्राम प्रयोजनम्।

(बृहद्देशी पृ० २०—१)

अर्थात्—ग्राम किसे कहते हैं, ग्राम कितने प्रकार के होते है और ग्राम का प्रयोजन क्या है,—इन तीन प्रश्नों को उठा कर मतंग क्रमशः इनका उत्तर देते हैं। 'ग्राम'—यह स्वर, श्रुति आदि का समूहवाची नाम है अर्थात् एक विशेष प्रकार की स्वरश्रुति—व्यवस्था के अन्तर्गत जितने भी विभिन्न स्वर-समूह बनते हैं, उन सब को एक ग्राम में समाविष्ट किया जाता है। लोक में भी 'ग्राम' का अर्थ समूहवाची ही होता है। जहाँ अनेकों कुटुम्ब एकत्र होकर रहते हैं, उसी को 'ग्राम' कहते हैं। संगीत में ऐसे दो ही ग्राम विश्रुत हैं—षड्जग्राम और मध्यमग्राम। गान्धारग्राम को नारद ने बताया है। पर वह मर्त्यलोक में प्रयुक्त नहीं होता। सामवेद से स्वर उत्पन्न हुए हैं और स्वरों से ग्राम बनते हैं।

भरत ने तो गान्धारग्राम का उल्लेख न करके केवल दो ही ग्राम कहे हैं। षड्जग्राम और मध्यमग्राम की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च। संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च ॥

(ना० शा० २८।१२)

अर्थात् षड्जग्राम में षड्ज और पञ्चम का संवाद है और मध्यमग्राम में ऋषभ-पञ्चम का संवाद है।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि षड्जग्राम और मध्यमग्राम में केवल पञ्चम की ही अवस्था में भिन्नत्व है। पञ्चम के चतुःश्रुतिक अथवा त्रिश्रुतिक होने से ही क्रमशः षड्ज-पञ्चम यानी त्रयोदश श्रुत्यन्तर संवाद और ऋषभ-पञ्चम अथवा षड्ज-मध्यम यानी नव-श्रुत्यन्तर संवाद सिद्ध होता है।

संभवतः दोनों ग्रामों में पञ्चम की अवस्था के भिन्नत्व पर आधारित इसी संवाद-भेद को ध्यान में रख कर ही मतंग ने कहा है—

ननु कथं द्वावेव ग्रामौ। उच्यते। इह हि द्विस्वरप्रयोगमूलप्रयोगवशाद् द्वौ ग्रामावुपन्यस्तौ।
(बृहद्देशी पृ० २१)

अर्थात्—केवल दो ही ग्राम क्यों माने हैं, उससे कम या अधिक क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मतंग कहते हैं कि 'द्वि-स्वर-प्रयोग-मूलक प्रयोग' के कारण ही दो ग्राम माने हैं। मतंग के कथन का यह आशय प्रतीत होता है कि षड्जग्राम में षड्ज-पञ्चम संवाद होता है, ऋषभ-पञ्चम संवाद नहीं। यह एक प्रकार का स्वर-प्रयोग हुआ। और मध्यम ग्राम में ऋषभ-पञ्चम संवाद होता है, षड्ज-पञ्चम संवाद नहीं। यह दूसरे प्रकार का स्वर-प्रयोग हुआ। इस प्रकार इन 'द्विस्वर-प्रयोग' के कारण दो ही ग्राम माने गए, ऐसा मतंग का आशय प्रतीत होता है। अन्य भाषा में इसे यों भी कह सकते हैं कि षड्जग्राम में त्रयोदश श्रुति-संवाद है और मध्यमग्राम में नवश्रुति संवाद है।

भरत ने ग्राम-परिवर्तन के लिए पंचम की अन्तिम श्रुति का ही अवलम्बन लिया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पञ्चम की एक श्रुति कम करके ही मध्यम-ग्राम की रचना करने को भरत ने क्यों सोचा? किन्हीं अन्य स्वरों की श्रुतियाँ घटा बढ़ा कर नए ग्राम की सृष्टि क्यों नहीं की? इस प्रश्न को हमने इस दृष्टि से देखा है। यथा—

अब तक भारतीय श्रुति स्वरों पर अनुसन्धान करने वालों ने भरत की प्रमाण-श्रुति के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है। किसी किसी ने उस प्रमाण श्रुति का यह अर्थ लगाया है कि भरत की सभी श्रुतियाँ सम प्रमाण की होंगी। हम इसके पूर्व यह सिद्ध कर चुके हैं कि भरत की श्रुतियों का प्रमाण एक सा नहीं था। आधुनिक दृष्टि से देखने पर एवं आधुनिक वाद्यों पर प्रयोग करने से हमें भरत की प्रमाण-श्रुति का एक भिन्न दर्शन होता है। वह दर्शन निम्नोक्त है।

जिसे भारतीय षड्ज-पञ्चम-भाव कहते हैं और जिसे पाश्चात्य जन cycle of fifth के नाम से पहचानते हैं, उस षड्ज-पञ्चम-भाव से जब स्वरों को मिलाया जाता है, तब उस स्वर-मण्डल या चक्र का अन्तिम स्वर आरंभक स्वर से एक श्रुति ऊँचा आता है। यही एक श्रुति का अन्तर ग्रीकों का comma of Didymus है और भरत की प्रमाण श्रुति भी यही है, जिसका गणित-मूल्य $\frac{81}{80}$ है।

सा से प, प से रे, रे से ध, ध से ग, ग से नी, नी से तीव्र म, तीव्र म से कोमल रे, कोमल रे से कोमल ध, कोमल ध से कोमल ग, कोमल ग से कोमल नि, कोमल नि से शुद्ध म और शुद्ध म से पुनः सा—इस प्रकार षड्ज-पञ्चम-भाव से स्वरों को मिलाने से जो अन्तिम सा आएगा वह आरम्भक सा के साथ मेल नहीं खाएगा, क्योंकि वह उससे एक श्रुति ऊँचा ही बोलेगा। इस प्रकार पुनः पुनः चक्र आरम्भ करने से उसका कहीं अन्त नहीं आता है और इस अनन्त स्वर-चक्र के अन्तर्गत अनन्त श्रुतियाँ विश्वव्यापी अनन्त तत्त्व को प्रस्फुटित करती हुई अनन्त गगन में व्याप्त हो जाती हैं। परन्तु संगीत की मर्यादित प्रत्यक्ष क्रिया के साथ श्रुतियों के इस अमर्यादित विस्तार का कैसे सम्बन्ध जोड़ा जाए? इस प्रश्न पर विचार करके प्राचीनों ने जिस षड्ज-पञ्चम-भाव से उस नाद-चक्र का आरम्भ किया जाता है, उस पञ्चम को एक प्रमाण श्रुति कम करके एक नया ग्राम स्थापित किया। इस एक श्रुति उतरे हुए पञ्चम से cycle of fifth को आरम्भ करके हम षड्ज-ग्रामिक मूल पञ्चम पर लौट आते हैं, जो कि मध्यमग्रामिक पञ्चम से एक श्रुति ऊँचा है, यानी जिस पंचम की एक श्रुति कम करके हम ने नया स्वर-चक्र आरम्भ किया था उसी पंचम पर लौट आते हैं। इस प्रकार हमारा स्वर चक्र दो ग्रामों में मिलाकर पूर्ण होता है। अर्थात् षड्जग्राम के पञ्चम को त्रिश्रुतिक पञ्चम

में परिणत करके षड्ज-पञ्चम भाव से बनाया हुआ स्वर-मण्डल मूल षड्जग्रामिक चतुःश्रुतिक पञ्चम पर पूर्ण होता है। इस प्रकार श्रुतियों का अनन्त चक्र दो ग्रामों में मिलाकर भरत ने पूर्ण किया होगा, ऐसा हमारा नम्र अनुमान है। संभवतः इसीलिए भरत ने अपने ग्रंथों में दो ही ग्रामों का उल्लेख किया है, गान्धार ग्राम का नहीं। अस्तु।

गान्धारग्राम का भरत के परवर्ती ग्रन्थकारों ने नामतः उल्लेख करके ही छोड़ दिया है। वह स्वर्ग में ही प्रयुक्त होता है, ऐसा कह कर उसकी किसी प्रकार की विशेष व्याख्या नहीं दी है। संगीत रत्नाकर के अतिरिक्त केवल दो अन्य ग्रन्थों में इसकी यत्किञ्चित् व्याख्या उपलब्ध होती है—एक तो नारद (?) प्रणीत संगीत मकरन्द में और दूसरे 'संगीत पारिजात' में। इन तीनों की व्याख्याएँ केवल उल्लेख के हेतु या कौतूहल-तृप्त्यर्थ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं। पर इनसे इतना स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है, कि जिससे हम षड्जग्राम और मध्यमग्राम की भाँति गान्धारग्राम को भी प्रत्यक्ष क्रियोपयोगी बना सकें।

'संगीत रत्नाकर' में गान्धार-ग्राम की व्याख्या इस प्रकार दी गई है। यथा :—

रिमयोः श्रुतिमेकैकां गान्धारश्चेत्समाश्रितः॥ पश्रुतिं धो निषादस्तु धश्रुतिं सश्रुतिं श्रितः।
गान्धारग्राममाचष्टे तदा तं नारदो मुनिः। प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामोऽसौ न महीतले॥
(सं० र० १।४।४-५)

अर्थात्—जब रि म की एक-एक श्रुति गान्धार को मिल गई हो, प की एक श्रुति ध को, और ध और स की एक एक श्रुति निषाद को मिल गई हो, तब गान्धारग्राम होता है। वह स्वर्ग में ही प्रयुक्त होता है, भू पर नहीं।

'संगीत मकरन्द' में दी हुई व्याख्या इस प्रकार है—

रिमयोः श्रुतिरेकैका गान्धारस्य समाश्रया॥ पञ्चमश्रुतिरेका (?) च निषादश्रुतिसंश्रया।
गान्धारग्राममाचष्टे तदा तं नारदोऽब्रवीत्। इदं लक्षणं ब्रह्मणोक्तम्।
प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामोऽसौ न महीतले। गान्धारः श्रूयते नित्यं जरामरणवर्जितः॥
(सं० म० १।५४-६)

अर्थात्—जब रि और म की एक-एक श्रुति गान्धार को मिल जाए, (?) और पञ्चम की एक श्रुति निषाद को मिल जाए, तब गान्धार-ग्राम होता है। यह ग्राम स्वर्ग-लोक में ही प्रयुक्त होता है, मर्त्यलोक में नहीं।

इस उद्धरण का पाठ कुछ विकृत और भ्रष्ट जान पड़ता है। किन्तु इसका अभिप्राय 'रत्नाकर' से भिन्न नहीं प्रतीत होता।

'संगीत पारिजात' में गान्धार-ग्राम के लिए कहा है :—

श्रुतित्रयसमायुक्तो यदा गो मेरुगो भवेत्। गान्धारग्राम आख्यातस्तिस्रभिः श्रुतिभिः परे॥
चतुःश्रुतिर्निषादः स्यात् षड्जोऽपि तिसृभिर्युतः।
(सं० पा० १०१-२)

अर्थात्—त्रिश्रुतिक ग जब मेरु पर स्थित हो, एवं चतुःश्रुतिक निषाद को छोड़कर अन्य सभी स्वर, यहाँ तक कि षड्ज भी त्रिश्रुतिक हो, तब गान्धारग्राम होता है।

ऊपर उद्धृत तीनों व्याख्याओं में केवल शब्द-भेद है। तीनों का आशय एक सा ही जान पड़ता है और वह यह कि गान्धार ग्राम में निषाद चतुःश्रुतिक है और अन्य सब स्वर त्रिश्रुतिक हैं। इसी निष्कर्ष के अनुसार

'रत्नाकर' के आड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित संस्करण के प्रथम भाग के परिशिष्ट ४ में सारिणी दी गई है, जो नीचे उतारी गई है। इन सब पर से हम अभी तक कोई ऐसा स्पष्टीकरण नहीं संप्राप्त कर सके हैं जिससे कि हम षड्जग्राम और मध्यमग्राम की भाँति प्रत्यक्ष गायन-वादन क्रिया के आधार पर इस ग्राम की विवेचना कर सकें। इसलिए इस विषय को यहीं छोड़कर हम षड्ज-ग्राम की चर्चा आरम्भ करेंगे।

परिशिष्टम् ४

श्रुतीनां जातिस्वरग्रामप्रदर्शकं चक्रम्

श्रुतिसंख्या	श्रुतिनामानि	श्रुतिजातयः	षड्जग्रामस्वराः	मध्यमग्रामस्वराः	गान्धारग्रामस्वराः
१	तीव्रा	दीप्ता	...	...	नि
२	कुमुद्वती	आयता	...	...	...
३	मन्दा	मृदु	...	...	...
४	छन्दोवती	मध्या	सा	सा	सा
५	दयावती	करुणा	...	...	...
६	रञ्जनी	मध्या	...	...	...
७	रक्तिका	मृदु	रि	रि	रि
८	रौद्री	दीप्ता	...	...	...
९	क्रोधा	आयता	ग	ग	...
१०	वज्रिका	दीप्ता	...	...	ग
११	प्रसारिणी	आयता	...	...	...
१२	प्रीति	मृदु	...	...	...
१३	मार्जनी	मध्या	म	म	म
१४	क्षिती	मृदु	...	...	...
१५	रक्ता	मध्या	...	...	...
१६	सन्दीपनी	आयता	...	प	प
१७	आलापिनी	करुणा	प	...	...
१८	मदन्ती	करुणा	...	...	...
१९	रोहिणी	आयता	...	...	ध
२०	रम्या	मध्या	ध	ध	...
२१	उग्रा	दीप्ता	...	...	...
२२	क्षोभिणी	मध्या	नि	नि	...

षड्जग्राम और मध्यमग्राम—इन दोनों में से षड्जग्राम ही मुख्य है, क्योंकि उसी के आधार पर सर्वदा मध्यमग्राम का निरूपण किया जाता रहा है और प्रयोग में भी उसी की प्रधानता मानी गई है। इसीलिए मतंग ने कहा है :—

उभयोर्ग्रामयोर्मध्ये मुख्यत्वं कस्य गम्यते। षड्जवाहि च मुख्यत्वं गम्यते वचनान्मुनेः ॥
(बृहद्देशी पृ० २१)

सारणा—प्रकरण में हम षड्जग्राम की काफी विशद विवेचना कर आए हैं। वहाँ हमने यह स्पष्ट किया है कि प्राचीनों के षड्जग्राम का षड्ज मेरु से चौथी श्रुति पर स्थित है। अर्वाचीन वीणा या सितार का प्रथम तार जो मध्यम में मिला रहता है, उस तार पर मेरु के बाद का पर्दा जो कि आज मन्द्र तीव्र मध्यम के नाम से परिचित है, उसे छोड़कर दूसरे पर्दे को अर्थात् आज के मन्द्र पञ्चम के पर्दे को प्राचीनों ने षड्ज माना था। मेरु को शून्य मानकर गिनने से उनकी चौथी श्रुति जिसे उन्होंने छन्दोवती नाम दिया है, वह वहीं पर आती है। हम सारणा-प्रकरण में विस्तार से समझा ही चुके हैं कि आधुनिक वीणा के मन्द्र पञ्चम को सा मानने से प ध नि सा रे ग म ही क्रमशः सा रे ग म प ध नि बन जाएँगे और इस प्रकार ४-३-२-४-४-३-२ वाली षड्जग्रामिक श्रुति व्यवस्था मिल जाएगी।

वीणा पर षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था की सिद्धि हमने पा ली। किन्तु आज कल हमारी गान क्रिया तानपुरे पर ही आधारित रहती है। इसलिए यह समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि तानपुरे पर षड्ज-ग्रामिक स्वर कैसे गानोपयोगी बन सकते हैं।

आज कल तानपुरे पर गाते समय हमारे शुद्ध स्वर सप्तक की क्या श्रुति-व्यवस्था होती है, इसकी विस्तृत चर्चा तो पाँचवें अध्याय में की जाएगी। किन्तु यहाँ पर षड्ग्रामिक स्वरों को तानपुरे पर कैसे गाया जाए, इस प्रस्तुत विषय की स्पष्टता के लिए अत्यल्प रूप से आधुनिक स्वर-सप्तक का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। आज तानपुरे पर गायन में प्रयुक्त होनेवाले हमारे शुद्ध-स्वर सप्तक की श्रुति-व्यवस्था इस प्रकार रहती है—सा रि ग म प ध नि सां
—४—३—२—४—३—४—२ अर्थात् सा से रे चार श्रुति, रे से ग तीन श्रुति, ग से म दो श्रुति, म से प चार श्रुति, प से ध तीन श्रुति, ध से नि चार श्रुति और नि से सां दो श्रुति। इस अवस्था में षड्जग्रामिक व्यवस्थानुसार शुद्ध स्वर-सप्तक गाने में सबसे बड़ी समस्या जो सामने आती है, वह त्रिश्रुतिक ऋषभ की ही है। उसे कैसे गाया जाए? इसका हल निम्नोक्त है।

तानपुरे की पहिली तार जो प्रायः पञ्चम में मिलाई जाती है, उसे मध्यम में मिला लेना चाहिए। उस अवस्था में सहज ही त्रिश्रुतिक ऋषभ और त्रिश्रुतिक धैवत का हमारे अभ्यसित कण्ठ से स्वाभाविकरीत्या उच्चार होगा। उस समय हम चतुःश्रुति ऋषभ नहीं ही लगाएँगे, क्योंकि वह बेसुरा मालूम देगा। जिन्हें स्वर-संवाद की अनुभूति है, वे जानते है कि त्रिश्रुति ऋषभ का मध्यम के साथ षट्श्रुत्यन्तर मे संवाद होगा। चतुःश्रुति ऋषभ लगाने से वह अन्तर पाँच श्रुति का रह जाएगा, जो कि संवादात्मक नहीं विवादात्मक है। तद्वत् मन्द्र षड्ज से जैसे स्वयम्भू गान्धार निकलता रहता है, वैसे ही षड्ज – मध्यम के संयोग से मध्यम का गान्धार यानी त्रिश्रुति धैवत स्वयमेव उद्भूत होता है और इस प्रकार हमें त्रिश्रुति ऋषभ और त्रिश्रुति धैवत अनायास मिल जाते हैं। उसके बाद आधुनिक गांधार निषाद की जगह यदि हम दो दो श्रुति वाले प्राचीनों के गान्धार निषाद हमारे गले से लगाएँगे तो हम सहज ही में षड्ग्रामिक स्वर गा सकेंगे यानी इस प्रकार पूर्णतया षड्ज-ग्रामिक स्वर हमारे गले से निनादित होंगे। दूसरी भाषा में हम कह सकते हैं कि तानपुरे की प्रथम तार मध्यम में मिलाकर काफी के या पञ्चमयुक्त बागेश्री के स्वर लगाए जाएँ तो पूर्ण रूप से षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था कर्णगोचर होगी। यदि हम तानपुरे की पहिली तार पञ्चम में मिलाकर षड्जग्रामिक स्वर गाने का यत्न करेंगे तो वह यत्न सफल न होगा, कारण ऐसी अवस्था में स्वाभाविकरीत्या हम चतुःश्रुति ऋषभ ही गाएँगे, और उस चतुःश्रुति ऋषभ के साथ

षट्श्रुति कोमल गान्धार का ही हमसे उच्चार होगा। किन्तु पहिली तार जब मध्यम में मिलाई जाती हैं, तब ऋषभ के त्रिश्रुतिक हो जाने से वह गान्धार भी स्वाभाविकता से पञ्चश्रुति हो जाता है, जो कि षड्जग्राम में अपेक्षित है।

कुछ लोग प्राचीन षड्जग्रामिक स्वरों को आधुनिक काफी राग के स्वर कहते हैं। वास्तव में यह स्थूल मान है, क्योंकि अधुना हम लोग काफी में चतुःश्रुतिक ऋषभ का ही प्रयोग करते हैं। किन्तु ऊपर कही हुई रीत्यनुसार हम तानपुरे के पञ्चम को मध्यम बनाकर काफी के स्वर गाएँगे तो त्रिश्रुति ऋषभ धैवत के साथ पूर्ण रूप से प्राचीन शुद्ध सप्तक हमें सुनाई देगा। स्थूल कान उसे काफी ही समझेंगे, किन्तु आधुनिक काफी के चतुःश्रुतिक ऋषभ के स्थान पर इसमें त्रिश्रुति ऋषभ ही होगा।

इस बात को गुणीजन स्वानुभूति से जाँच सकते हैं और इसकी सत्यता, जो स्वयंसिद्ध है, उसकी अनुभूति पा सकते हैं।

जो लोग इस सूक्ष्मता को नहीं जानते हैं, वे भले ही कहें या लिखें कि 'षड्जग्रामिक स्वर कंठ-संगीत के लिए उपयोगी नहीं हैं।' किन्तु यह बात विचारणीय है कि आखिर प्राचीन गायक भी गाते ही तो होंगे। और जब गाते होंगे, तब वही स्वर लगाते होंगे जो प्राचीनों ने शास्त्रों में निर्धारित किए हैं। अथवा यों कह सकते हैं कि उन्हीं के गान में प्रयुक्त स्वरों को देखकर, सुनकर ही शास्त्रकारों ने अपने ग्रंथों में उन्हें ग्रथित किया होगा। इस विषय पर निगूढ़ विचार करने से और उन स्वरों को सूक्ष्म कानों से सुनने से यह बात आज भी उतनी ही स्पष्ट है, जैसा कि सूर्य का प्रकाश।

यह बात कभी ध्यान से बाहर न जाने दी जाए कि प्राचीन गान वीणा पर ही या वीणा के साथ ही होता था और वीणा पर बँधे हुए पर्दे उसी प्रकार बँधे हुए हैं, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं।

षड्जग्राम के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही विवरण पर्याप्त होगा, क्योंकि सारणा-प्रकरण में उसे विस्तार से समझा चुके हैं। अतः अब मध्यमग्राम का विवरण आरम्भ करना समुचित होगा।

मध्यमग्राम के सम्बन्ध में भरत का निम्नलिखित सूत्र ही परवर्ती ग्रन्थकारों के लिए आधार रूप रहा है—

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्यः।

अर्थात्—मध्यमग्राम में पञ्चम का एक श्रुति अपकर्ष करना है। इस वचन का सबने जो यह अर्थ लगाया है कि षड्जग्रामिक स्वर सप्तक के पञ्चम को एक श्रुति उतार देने से मध्यमग्राम बनता है और यह अर्थ लगाकर वीणा पर तदनुसार षड्जग्राम के पञ्चम की एक श्रुति उतार कर मध्यमग्राम बनाने का यत्न किया है, वह हमारी राय में यथार्थ नहीं है।

वास्तव में इसका अर्थ यह लेना चाहिए कि वीणा पर इस प्रकार पञ्चम को एक श्रुति नीचे उतारने से अथवा अपकृष्ट करने से मध्यमग्राम जैसी स्वरों की अवस्था होगी। किन्तु इस क्रिया मात्र से वीणा मध्यमग्रामिक स्वर-व्यवस्थानुसार गानोपयोगी या वादनोपयोगी नहीं बनेगी। ऊपर उद्धृत वाक्य का शब्दार्थ तो यही निकलता है कि मध्यमग्राम में पञ्चम को एक श्रुति कम करना है। उसका यह जो अर्थ लगाया गया है कि षड्जग्राम के पञ्चम को एक श्रुति कम करने से मध्यमग्राम हो जाएगा, यह समीचीन नहीं है। षड्जग्रामिक वीणा पर पञ्चम के पर्दे को एक श्रुति नीचे उतारने से वीणा में वैगुण्य आ जाएगा यानी सारी वीणा बेसुरी हो जाएगी, क्योंकि परस्पर संवाद सम्बन्ध से मिले हुए वीणा के पर्दों और तारों की संवादमय अवस्था में, उस एक श्रुति का अपकर्ष करने से विवाद उत्पन्न होगा। षड्जग्राम के पञ्चम को जो एक श्रुति अपकृष्ट करने के लिये

कहा गया है, वह केवल सारणा-प्रक्रिया के लिए ही कहा गया है। और उस प्रक्रिया में एक बार नहीं, चार बार पञ्चम को अपकृष्ट किया जाता है। सारणा द्वारा हम २२ संवादसिद्ध श्रुतियों को सिद्ध करते हैं। प्रथम सारणा की प्रथम क्रिया में पञ्चम का जो अपकर्ष करने को कहा गया है, उससे मध्यमग्राम की स्वर-व्यवस्था का विधान दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। वहाँ पर मध्यमग्राम का उल्लेख केवल इस बात का निर्देश करने के लिए है कि मध्यमग्राम में पञ्चम त्रिश्रुतिक है और उस पञ्चम का सा के साथ संवाद नहीं है, अपितु, त्रिश्रुतिक ऋषभ के साथ संवाद है।

मध्यमग्राम के सम्बन्ध में एक और भ्रान्त धारणा और मान्यता लोगों में अब तक बनी रही है कि षड्जग्राम के मध्यम को षड्ज मान कर और पञ्चम को एक श्रुति नीचे उतार कर चलने से मध्यमग्राम होगा। मध्यमग्राम का मूर्च्छना-क्रम मध्यम से आरम्भ करने को कहा गया है। सम्भवत: इसीलिए यह धारणा बन गई है कि मध्यमग्राम का शुद्ध स्वर-सप्तक षड्जग्राम के मध्यम से आरम्भ होगा। कारण जो कुछ भी हो अब तक यह भ्रान्ति बनी ही हुई है और हम भी बरसों तक इसी में उलझे रहे। इसी धारणा के आधार पर जब २ हमने वीणा पर प्रयोग किए, किसी संतोषकारक परिणाम पर नहीं पहुँच सके। किन्तु हमारे दिल पर हमेशा यह बात छाई ही रही कि जिस प्रकार षड्जग्राम मुक्त भाव से गाया बजाया जाता होगा, मध्यमग्राम भी उसी प्रकार नित्य के गान-वादन-प्रयोग में व्यवहृत होता होगा। शास्त्रकारों ने षड्जग्राम की ही भाँति मध्यमग्राम की भी मूर्च्छनादिक का विवरण दिया है। अत: यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मध्यमग्राम संगीतोपयोगी रहा ही होगा। जिसका नित्य प्रयोग होता होगा, वह मध्यमग्राम कलाकारों के लिए जटिल समस्या नहीं ही रहा होगा, जैसा कि आज हम समझ रहे हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए जो यत्न किए गए, उनकी कथा कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। किन्तु उनका ठोस परिणाम यहाँ हम निर्दिशत कर रहे हैं। साथ ही इस विषय में जो उलझनें सामान्यत: सामने आती हैं, उनका उल्लेख करना भी आवश्यक होगा।

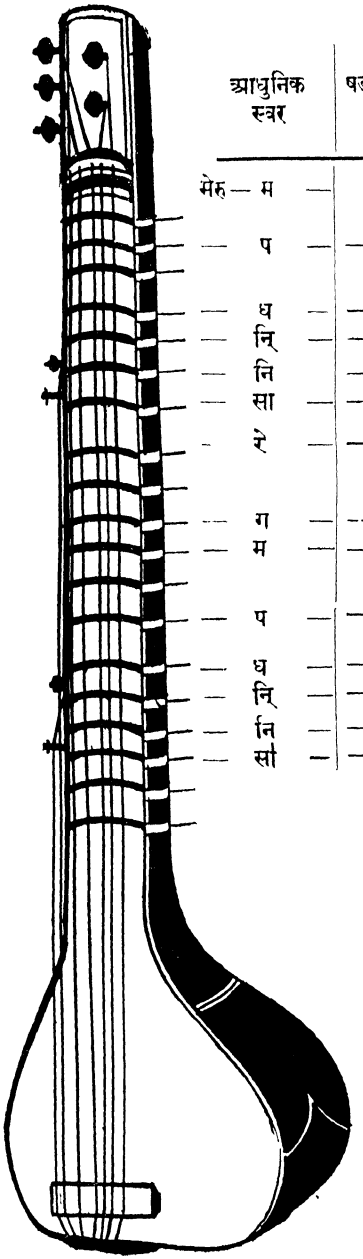
यदि हम षड्जग्रामिक षड्ज के मध्यम को, जो कि हमारा आज का सा है, उसे सा मान कर वहीं से षड्जग्रामिक स्वर आज के सितार के पर्दों में निकालेंगे तो वह स्वरावली आज के हमारे खमाज के सदृश होगी और उसका श्रुत्यन्तर प्रमाण निम्नोक्त होगा—

सा	रि	ग	म	प	ध	नि्	सां
–	४–	३–	२–	४–	३–	२–	४

यदि हम षड्जग्रामिक स्वरावली के पञ्चम को अर्थात् आधुनिक ऋषभ को सा मान कर चलेंगे और षड्जग्रामिक अन्तर गान्धार जो आज के सप्तक में तीव्र निषाद का स्थान और संज्ञा पाए हुए है, उसका उपयोग करके स्वर-सप्तक बनाएंगे, तो उसी षड्जग्रामिक स्वरावली में हमें पूर्णतया मध्यमग्राम मिल जाएगा। और बिना कष्ट के, बिना बेसुरेपन के हम त्रिश्रुति ऋषभ पञ्चम का सहज ही में उपयोग कर सकेंगे। इस प्रकार संप्राप्त स्वरावली की श्रुति-व्यवस्था निम्नोक्त होगी :—

षड्जग्रामिकस्वर—	प—ध—नि्—सा—रे—ग॰— मं—पं	॰(अन्तर ग)
आधुनिकस्वर—	रे—ग— म— प—ध—नि — सां—रें	
मध्यमग्रामिकस्वर—	सा—रे—ग्—म—प—ध — नि्—सां	
तीनों की श्रुतिव्यवस्था—	४— ३—२— ४—३ —४ — २—४	

इसी स्वर-व्यवस्था को अगले पृष्ठ पर दिए हुए सितार के चित्र में पुन: देख लें, जिससे अधिक स्पष्टता हो जाएगी।



आधुनिक स्वर	षड्ज ग्रामिक स्वर	मध्यम ग्रामिक स्वर	श्रुति संख्या	
मेरु— म	नि्	गु्	०	
प	सा	म	४	षड्जग्राम
ध	रे	प	३	
नि्	गु्		२	
नि	ग (अं.)	ध	(२)	
सा	म	नि्	४	
रे	प	सा *	४	
ग	ध	रे	३	मध्यमग्राम
म	नि्	गु्	२	
प	सां	म	४	
ध	रे	प	३	
नि्	गु्		(२)	
नि	ग(अं०)	ध	४	
सां	म	नि्	२	

*मध्यमग्राम का आरंभ स्थान यही है।

इस प्रकार हमने देखा कि षड्जग्रामिक पञ्चम को अर्थात् आधुनिक ऋषभ को मध्यमग्राम का सा मानकर चलने से आधुनिक वीणा (सितार) पर हमें बिना वैगुण्य के सहज ही में मध्यमग्राम की स्वरावली संप्राप्त होगी।

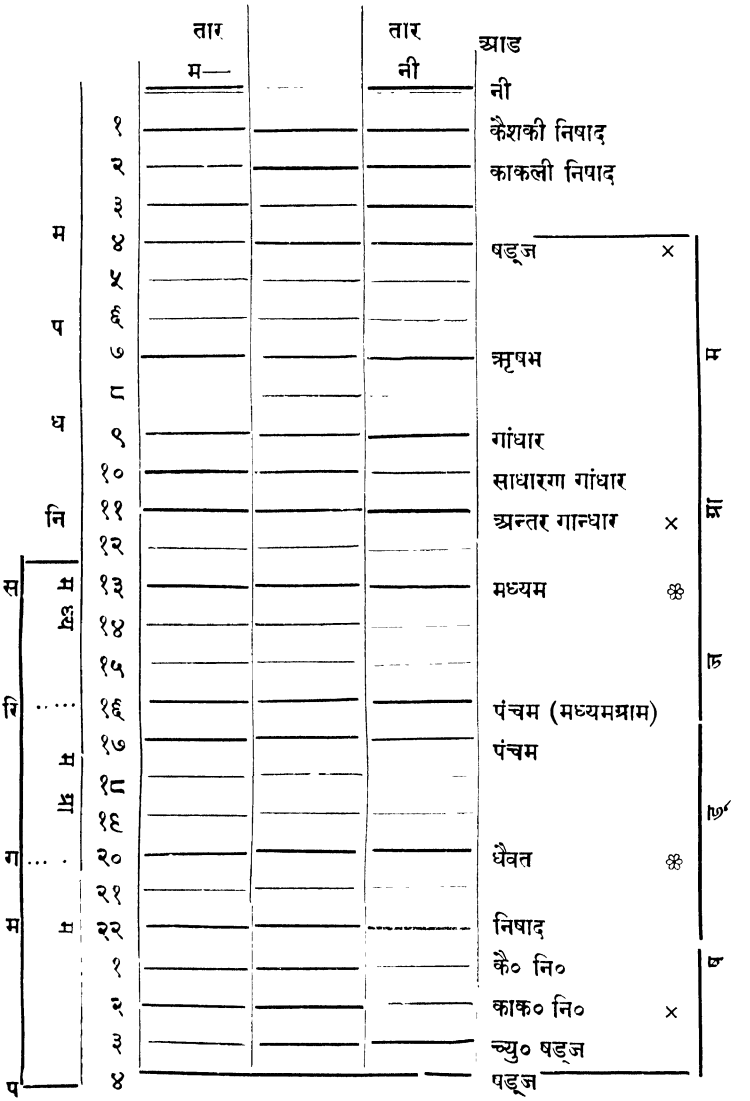
इसका भीतरी अर्थ यह भी हुआ कि षड्जग्राम में षड्ज-पंचम-संवाद है, परन्तु ऋषभ-पंचम संवाद नहीं है। यह ठीक ही है, कारण षड्जग्राम में ऋषभ त्रिश्रुति है, जो चतुःश्रुति पञ्चम के साथ संवाद नहीं ही करेगा। अर्थात् जिसमें स—प संवाद हो, पर रि—प संवाद न हो, उसे षड्जग्राम कहा। तद्वत् जिसमें षड्ज-ग्राम से उल्टा क्रम हो यानी स—प संवाद न हो पर रि—प संवाद हो, उसे मध्यमग्राम कहा। इस स्पष्टीकरण से यह साफ़ साफ़ समझ में आएगा कि षड्जग्राम और मध्यमग्राम में केवल पंचम की ही अवस्था में भिन्नत्व है।*

षड्जग्राम के मध्यम से यदि मध्यमग्राम को आरम्भ करेंगे, जैसा कि कुछ लोगों ने किया है, तो हमें त्रिश्रुति ऋषभ और त्रिश्रुति पञ्चम का संयोग नहीं ही मिलता है। और त्रिश्रुतिक पञ्चम न मिलने से इस विधान का भी पालन नहीं हो पाता कि मध्यमग्राम में षड्ज-पञ्चम का संवाद नहीं होना चाहिए। पं० क्रु० ग० मुले के ग्रन्थ 'भारतीय संगीत' में पृ० १३४. पर दिए हुए तख्ते को अगले पृष्ठ पर उद्धृत किया जाता है ताकि यह उलझन पाठकों को स्पष्ट हो जाए।

अगले पृष्ठ के चार्ट में हम देखेंगे कि षड्जग्राम के मध्यम से मध्यमग्राम का आरम्भ करने से वीणा के पर्दों पर स्वाभाविकरीत्या तो त्रिश्रुतिक पञ्चम नहीं ही मिलता है। तद्वत् चतुःश्रुतिः धैवत, जो मध्यमग्राम में मिलना चाहिए, उसे भी इस विधान में स्थान नहीं है। मध्यमग्राम में जो रि-प संवाद अनिवार्य है, वह भी इस विधि से नहीं बन पाता है। यदि पञ्चम को एक श्रुति उतार देते हैं, तब भी वाञ्छित सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस क्रिया से वीणा में वैगुण्य आ जाएगा, तथा स्वरों का पारस्परिक संवाद टूट जाएगा। पर्दों को खिसका कर भी हम वीणा पर संवादित्व साध नहीं सकते और वीणा-वादक जिस सुविधा से वादन की क्रिया करता है, वह उस वैगुण्यमयी वीणा पर संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारी स्वरानुभूति, संवादानुभूति और प्रत्यक्ष क्रियानुभूति हमें इस निर्णय पर पहुँचने को बाध्य करती है कि जिस प्रकार षड्जग्राम बनाते समय वीणा के प्रथम मुक्त तार को षड्ज न मान कर मेरु से चौथी श्रुति पर षड्ज मानने से हमें षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था प्राप्त हुई थी, तद्वत् उस षड्जग्रामिक षड्ज का मध्यम जो जोड़ की तारों में बज रहा है, उस तार-स्थित मध्यम से अर्थात् मेरु से चौथी श्रुति पर जोड़ की तार को दबाने पर जो नाद बजे, उसे मध्यमग्राम का षड्ज मानें। इसका अर्थ यह हुआ कि षड्जग्रामिक सा के पर्दे पर ही जोड़ की तार को दबा कर वहीं से सा मान कर षड्जग्रामिक स्वर बजाने से मध्यमग्रामिक शुद्ध स्वर-व्यवस्था हमें संप्राप्त हो जाएगी। वह पर्दा मेरुस्थित जोड़ की तार का तो ऋषभ ही है परन्तु साथ ही वह षड्जग्रामिक मन्द्र पञ्चम भी हैं। जोड़ की तार दबाने से उस पर्दे पर जो नाद उद्भूत होगा, वह षड्जग्राम के षड्ज से नीचे का मन्द्र पञ्चम ही होगा। इस प्रकार, ऊपर हमने जो यह कहा है कि षड्जग्राम के मध्यम से नहीं, अपितु उसके पञ्चम से हमें मध्यमग्राम आरम्भ करना चाहिए, वह कथन यहाँ से आरम्भ करने पर भी सार्थक हो जाता है। पहिले हम सितार के चित्र द्वारा यह स्पष्ट कर आए हैं कि षड्जग्राम के मध्य सप्तक के पञ्चम से अर्थात् आधु-निक ऋषभ से आरम्भ करने पर मध्यमग्रामिक शुद्ध स्वर-व्यवस्था सहज संप्राप्त होती है। उसी क्रिया का यह अन्य रूप है, जिसका स्पष्टीकरण अब किया जा रहा है।

जोड़ की तार पर से आरम्भ कर के किस प्रकार मध्यमग्रामिक स्वर संप्राप्त होंगे, इसकी यहाँ कुछ अधिक स्पष्टता करना समुचित होगा। जोड़ की मेरुस्थित तार के दूसरे पर्दे पर मध्यमग्राम का सा मान कर हम आरम्भ करेंगे। उसके आगे का धैवत का पर्दा त्रिश्रुतिक ऋषभ हो जाएगा। उसके बाद बाज की मुक्त तार का नाद

भरत की साधारणदर्शक स्वरवीणा



× गांधारीकृते धैवते.

❀ धैवतीकृते गान्धारे

स्व० श्री कृ० ग० मुले कृत मराठी ग्रन्थ 'भारतीय संगीत' के पृ० १३४ से उद्धृत।

द्विश्रुतिक गान्धार हो जाएगा। यह ध्यान रहे कि इसके बाद जोड़ की तार के पर्दों पर आगे न बढ़ कर बाज की तार पर ही आ जाना चाहिए। अन्यथा वाञ्छित स्वर-व्यवस्था नहीं मिलेगी। उसके बाद षड्जग्रामिक षड्ज चतुःश्रुतिक मध्यम हो जाएगा। षड्जग्रामिक त्रिश्रुति ऋषभ ही त्रिश्रुतिक पञ्चम बन जाएगा, षड्जग्रामिक अन्तर गान्धार चतुःश्रुतिक धैवत हो जाएगा, षड्जग्रामिक मध्यम यानी आधुनिक षड्ज द्विश्रुति निषाद हो जाएगा और अन्त में षड्जग्रामिक पञ्चम यानी आधुनिक ऋषभ, तार षड्ज बनकर सप्तक पूरा करेगा। जहाँ यह सप्तक पूर्ण हुआ, वहीं से पुनः सा मान कर चलेंगे तो मध्यमग्रामिक स्वरों की शुद्ध व्यवस्था हमें उसी क्रमानुसार पुनः प्राप्त हो जाएगी, यह हम पहिले दिए हुए चित्र में देख ही चुके हैं। जोड़ की तार पर से मध्यमग्रामिक स्वर-सप्तक बनाने की जो क्रिया हमने अभी देखी, उसे भी अगले पृष्ठ पर दिए हुए चित्र द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

अगले पृष्ठ के चित्र से स्पष्ट होगा कि इस व्यवस्था का उपयोग करने से न हमें वीणा के पर्दे खिसकाने पड़ते हैं न वीणा में वैगुण्य आता है और न ही गाने बजाने में असुविधा उत्पन्न होती है। इस प्रकार मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाओं का एवं तज्जन्य रागों का भी हम भली भाँति उपयोग कर सकते हैं।

'संगीत पारिजात' कार ने मध्यमग्राम के लिए कहा है—

मध्यमे मेरुसंस्थेऽस्मिन्मध्यमग्रामसंभवः।

(सं० पा० ९९)

अर्थात् मध्यम जब मेरु पर स्थित रहता है, तब मध्यमग्राम बनता है।

इस वचन के साथ भी ऊपर लिखी हुई हमारी व्यवस्था का मेल बैठ जाता है, क्योंकि मेरुस्थित जोड़ की तारों का नाद षड्जग्रामिक षड्ज का मध्यम है। और उसी तार पर हमने दूसरे पर्दे पर मध्यम ग्राम का आरम्भक स्थान माना है।

हम इसके पहिले कह आये हैं कि षड्जग्राम में षड्जग्रामिक षड्ज को यानी आधुनिक पञ्चम को षड्ज मानकर चलना है और मध्यमग्राम में उसी षड्जग्रामिक षड्ज को यानी आधुनिक पञ्चम को मध्यम मानकर चलना है। इससे स्वरों की श्रुति-व्यवस्था में और उनके नामों में अन्तर पड़ेगा, क्योंकि षड्ज को षड्ज न मानकर हमने मध्यम मान लिया। इस प्रकार के परिवर्तन से क्या फ़र्क पड़ता है, उसे यहाँ स्पष्ट कर देना समुचित होगा।

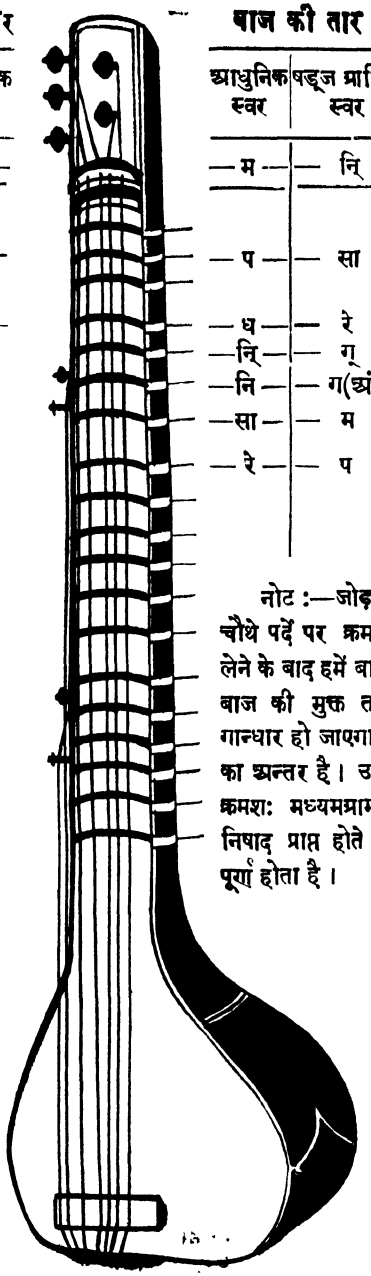
षड्जग्रामिक व्यवस्था में मेरुस्थित शुद्ध निषाद और षड्ज के बीच में स्वर-साधारण करने से जो काकली संज्ञक स्वर प्राप्त होता है, जिसका पर्दा षड्ज के पूर्व मेरु से दो श्रुति के अन्तर पर बँधा हुआ है, जिसे हम आज तीव्र मध्यम कहते हैं, मध्यमग्राम में उसी षड्जग्रामिक षड्ज को मध्यम मान लेने से वह काकली निषाद अन्तर गान्धार बन जाता है। तद्वत् षड्जग्रामिक गान्धार और मध्यम के बीच में जो अन्तर गान्धार का पर्दा है, जो आज के षड्ज के पूर्व में स्थित है और जिसे आज की भाषा में शुद्ध या तीव्र निषाद संज्ञा से पहिचाना जाता है, वही पर्दा मध्यमग्राम में चतुःश्रुतिक धैवत का स्थान पाता है। उस धैवत के साथ मध्यमग्रामिक अन्तर गान्धार षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद करता है अर्थात् षड्जग्रामिक काकली निषाद और अन्तर गान्धार क्रमशः मध्यमग्रामिक अन्तर गान्धार और चतुःश्रुतिक धैवत बन जाते हैं और परस्पर नव-श्रुत्यन्तर से षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद करते हैं।

वीणा पर प्राचीन परम्परा से जो पर्दे बँधे हुए चले आ रहे हैं, उनमें भी ऐसी व्यवस्था रखी गई है कि अन्तर-काकली-युक्त स्वर-सप्तक पूर्ण रूप से प्राप्त हो सके। चाहे मेरु को सा मान कर चलें या मेरु को म मान कर चलें, चाहे षड्जग्रामिक षड्ज को षड्ज मान के चलें, या उसे पञ्चम मान के चलें; षड्जग्रामिक मध्यम को मध्यम मान के चलें, या आधुनिक सा मान के चलें, इन तीनों व्यवस्थाओं में हमें अन्तर-काकली-युक्त स्वर-

जोड़ की तार के नीचे पर्दों पर स्वर

	मध्यम ग्रामिक स्वर	षड्ज ग्रामिक स्वर	आधुनिक स्वर
मेरु	नि्	म	सा
*४	सा	प	रे
३	रे	ध	ग

*मध्यमग्राम का आरंभ यहाँ से करने से षड्ज ऋषभ की श्रुति संख्या इस ओर से दी गई है।



बाज की तार के नीचे पर्दों पर स्वर

आधुनिक स्वर	षड्ज ग्रामिक स्वर	मध्यम ग्रामिक स्वर	श्रुति संख्या
म	नि्	ग्	२
प	सा	म	४
ध	रे	प	३
नि्	ग्		(२)
नि	ग(अं.)	ध	४
सा	म	नि्	२
रे	प	सा	(४)

नोट :—जोड़ की तार के नीचे दूसरे और चौथे पर्दे पर क्रमशः मध्यग्रामिक सा और रे लेने के बाद हमें बाज की तार पर चले जाना है। बाज की मुक्त तार का नाद मध्यमग्राम का गान्धार हो जाएगा, जिसका ऋषभ से दो श्रुति का अन्तर है। उसके बाद दिखाए हुए पर्दों पर क्रमशः मध्यमग्राम के मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद प्राप्त होते हैं और उसका मन्द्र सप्तक पूर्ण होता है।

सप्तक प्राप्त हो, ऐसी योजना उन पर्दों को बाँधने के पीछे रखी गई है। अगले पृष्ठ पर दिए हुए चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

यहाँ यह स्पष्ट करना समुचित होगा कि इस प्रकार भिन्न भिन्न पर्दों पर भिन्न भिन्न आरम्भक स्वर—स्थान मानने से स्वरों के श्रुत्यन्तर में अवश्य परिवर्तन आता है और आगे हम मूर्च्छना-प्रकरण में देखेंगे कि षड्जग्रामिक और मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाओं के स्वरों के पारस्परिक श्रुत्यन्तर में अन्तर पड़ता ही है। सब जानते हैं कि आज के षड्ज और ऋषभ के भीतर जो चतुःश्रुति का अन्तर है, वह ऋषभ और गान्धार के बीच में नहीं है। आज के ऋषभ और गान्धार के बीच में त्रिश्रुति का अन्तर ही है। यदि हम आज के ऋषभ को सा मानकर चलेंगे तो उसका आगे का गान्धार का पर्दा ऋषभ हो जाएगा और इस प्रकार वह ऋषभ त्रिश्रुतिक ही होगा। इसलिए आरंभिक स्वर बदलने से स्वरों के बीच के श्रुत्यन्तर में अन्तर पड़ता ही है। यह अन्तर पड़ने पर भी उन स्वरों के पारस्परिक सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से बने रहते हैं। भारतीय संगीत की यही विशेषता है कि उसके स्वरों में पारस्परिक नव-त्रयोदश श्रुत्यन्तरों का संवाद-सम्बन्ध बना ही रहता है।

इसी दृष्टि से पुनः हम मध्यमग्राम को देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि षड्जग्रामिक स्वर, मध्यमग्राम में नाम और स्थान का परिवर्तन पाते हैं अर्थात् षड्जग्रामिक स्वरों के नाम और स्थान मध्यमग्राम में बदल जाते हैं। अन्यथा वही पर्दे और वही स्वरावली मध्यमग्राम में भी प्रयुक्त होती है। जैसे कि हम इसके पूर्व देख आए हैं, षड्जग्राम का काकली ही मध्यमग्राम में अन्तर गान्धार बन जाता है और षड्जग्राम का अन्तर गान्धार मध्यम-ग्राम में चतुःश्रुतिक धैवत बन जाता है।

यहाँ पर एक बात का और स्पष्टीकरण करना समुचित होगा कि इसी दृष्टि-बिन्दु से भरत ने दो प्रकार का स्वर-साधारण कहा है। यथा :—

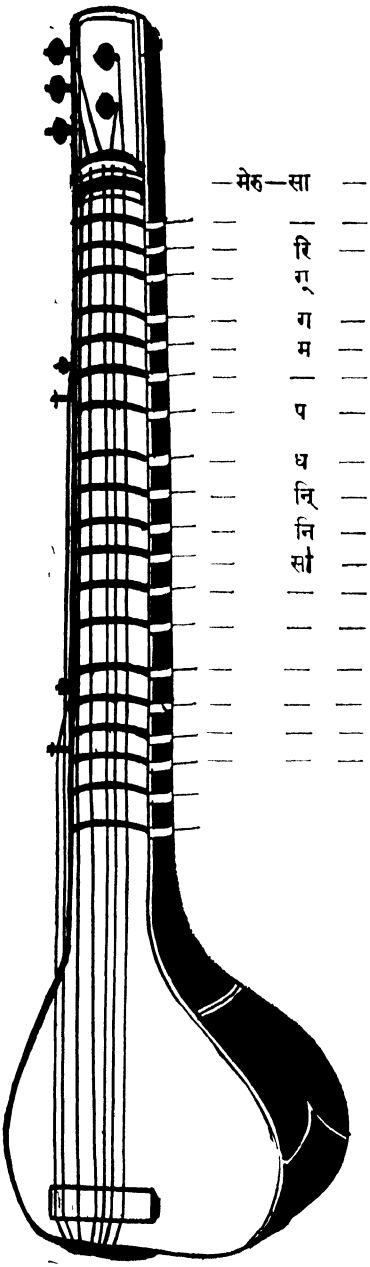
स्वरसाधारणं द्विविधं द्वैग्रामिक्यं, कस्मात्। षड्जग्रामे षड्जसाधारणं, मध्यमग्रामे मध्यम-साधारणम्। साधारणोऽत्र स्वरविशेषः, इति स्वर साधारणम्। एवं मध्यमग्रामे। अस्य प्रयोग-सौक्ष्म्यात् कैशिकं नाम निष्पद्यते।

अर्थात्—दो ग्रामों में दो प्रकार का स्वरसाधारण होता है। षड्जग्राम में षड्जसाधारण, और मध्यमग्राम में मध्यम-साधारण होता है। प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण इस स्वर-साधारण को 'कैशिक' संज्ञा दी जाती है।

इस उद्धरण से भी यह स्पष्ट होता है कि षड्जग्राम में स्वर-साधारण की जो क्रिया षड्जसाधारण कहलाती है, ठीक वही क्रिया मध्यमग्राम में मध्यमसाधारण संज्ञा पाती है। दूसरी भाषा में इसे यों समझा जा सकता है कि षड्जग्राम में जो षड्जसाधारण है, वही मध्यमग्राम में मध्यमसाधारण है अर्थात् षड्जग्राम के षड्ज को मध्यम मान कर चलने से उसी स्वर-साधारण की उपलब्धि होगी, केवल स्वरों की संज्ञा बदल जाएगी। इस बात से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि षड्जग्राम के मध्यम को षड्ज मानकर मध्यमग्राम आरंभ नहीं करना है, अपितु षड्जग्राम के षड्ज को मध्यम मानकर उसका आरंभ करना है। तभी तो षड्जग्रामिक षड्जसाधारण की मध्यमग्राम में 'मध्यमसाधारण' यह संज्ञा सार्थक हो सकेगी।

दो ग्रामों से सम्बन्धित 'षड्जसाधारण' और 'मध्यम साधारण' का इससे कुछ भिन्न प्रायोगिक अर्थ भी है। उसकी स्पष्टता अगले अध्याय में शार्ङ्ग देव की विकृत स्वर-व्यवस्था के विवरण में की जाएगी।

जैसे कि हम ऊपर कह आए हैं, इन दोनों ग्रामों में यदि कुछ अन्तर है तो वह यही है कि षड्ज-ग्राम के अन्तर काकली षड्ज-पञ्चम-भाव से संवाद करते हैं और मध्यम-ग्राम में स्वर-स्थान-परिवर्तन के कारण अन्तर गान्धार और चतुःश्रुतिक धैवत जो कि षड्जग्राम के क्रमशः काकली निषाद और अन्तर गान्धार हैं, उनमें परस्पर षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद होता है।



—मेरु—सा — म — नी
— — — — — नि — — — —का०नि०
— रि — प — सा — प
— गु
— ग — ध — रि — ध
— म — नि — गु — नि
— — — नि — ग अं०ग० नि — का०नि०
— प — सा — म — सा — सा
— ध — रे — प — रि — रिं
— नि — गु — — — गु — गु
— नि — ग अं०ग० ध — ग — ग अं० ग०
— सां — म — नि — म — म
— — — — — नि का०नि०
— — — — — सां — प — प
— — — — — — — — ध
— — — — — — — — नि
— — — — — — — — नि का०नि०
— — — — — — — — सां

ऊपर हमने देखा की षड्जग्राम का अन्तर गान्धार ही मध्यमग्राम में चतुःश्रुति धैवत का स्थान पाता है। इस स्पष्टीकरण से भरत के वचन—'धैवतीकृते गान्धारे' (अर्थात् स्वरसाधारण में गान्धार को धैवत बनाना चाहिए) का भी अर्थ ठीक से लग जाता है। भरत का वह वचन इस प्रकार है :—

द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धिः, तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षाद्धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छनाग्रामयोरन्यतरत्वम्। तद्वशान्मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादिमत्वं प्रतिपाद्यन्ते। मध्यमग्रामे धैवतमार्दवाद् द्वैविध्यं भवति। तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च। श्रुत्यन्तरं पञ्चमधैवतयोस्तद्वत् गान्धारोत्कर्षाच्चतुःश्रुतिकमन्तरं भवति।

(ना० शा० २८)

अर्थात् ग्राम के परिवर्तन से एक ही मूर्च्छना को दो प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है। गान्धार को दो श्रुति चढ़ाने से और उस चढ़े हुए गान्धार (अन्तर गान्धार) को धैवत बना देने से एक भिन्न मूर्च्छना की सिद्धि हो सकती है और मध्यमग्राम की भी सिद्धि हो सकती है। गान्धार को धैवत बना देने से मध्यमादि स्वर क्रमशः निषादादि बन जाते हैं। हम पहिले देख ही चुके हैं कि षड्जग्राम के पञ्चम से सा मानकर अन्तर गान्धार का प्रयोग करते हुए, स्वर-सप्तक बनाने से मध्यमग्रामिक स्वर मिलते हैं और इस प्रकार षड्जग्राम के मध्यमादि मध्यमग्राम में निषादादि बन जाते हैं। इसके आगे भरत कहते हैं कि जिस प्रकार षड्जग्राम में गान्धार को चढ़ाने से मूर्च्छना में भिन्नता की सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार मध्यमग्राम में धैवत का 'मार्दव' करने से अर्थात् धैवत को चढ़ाने से दो प्रकार की मूर्च्छना बनती हैं। क्योंकि षड्जग्राम में गान्धार और मध्यम में जो चतुःश्रुतिक अन्तर है, वही अन्तर मध्यमग्राम में पञ्चम और धैवत के बीच का अन्तर बन जाता है।

भरत के ऊपर उद्धृत वचन से हमारे सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि होती है, यह हमने देखा। अब एक और दृष्टि से भी ऊपर बताए गए मध्यमग्राम के आरम्भक स्वर की प्रामाणिकता की सिद्धि हम पा लें।

षड्जग्राम की मूर्च्छनाओं का क्रम देखने से भी मध्यमग्राम के आरम्भक स्वर की स्पष्टता होती है। षड्जग्राम की यह मुख्य विशेषता है कि उसमें षड्ज-पञ्चम संवाद रहना ही चाहिए। जहाँ यह संवाद भंग हुआ, वहीं षड्जग्राम मिट जाता है। आगे चलकर मूर्च्छना प्रकरण में दी हुई मूर्च्छनासारिणी को देखने से यह स्पष्ट होगा कि षड्जग्राम की सभी मूर्च्छनाओं में षड्ज और पञ्चम के बीच त्रयोदश श्रुति का संवादात्मक अन्तर है, केवल पञ्चम की मूर्च्छना में वह अन्तर द्वादश श्रुति का रह जाने से, षड्ज-पञ्चम संवाद टूट जाता है और षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था मिट जाती है। उस मूर्च्छना में शुद्ध गान्धार का प्रयोग होने से वह मूर्च्छना त्रिश्रुति ऋषभ-पञ्चम वाली आसावरी की स्वरावली की निदर्शक कही गई है (देखिए मूर्च्छना-प्रकरण में षड्जग्रामिक मूर्च्छनाओं की सारिणी)। किन्तु उस शुद्ध गान्धार के स्थान पर अन्तर गान्धार का प्रयोग करने से हमें द्विश्रुतिक कोमल धैवत की बजाय चतुःश्रुतिक धैवत मिल जाता है और इस प्रकार मध्यमग्रामिक स्वर-व्यवस्था पूर्णरूप से हमें उपलब्ध होती है। इससे भी यह सिद्ध है कि मध्यमग्राम का आरम्भक स्वर, षड्जग्रामिक पञ्चम और आधुनिक ऋषभ ही होना चाहिए। वहीं से हमें त्रिश्रुति ऋषभ-पञ्चम की स्वाभाविकरीत्या उपलब्धि हो सकती है।

कुछ लोगों ने, तीनों ग्रामों का नामकरण जिन २ स्वरों से हुआ है, उन २ स्वरों को ही उन २ ग्रामों का आरम्भक स्वर मान लिया है। इस प्रकार षड्जग्राम का षड्ज से, मध्यमग्राम का मध्यम से और गान्धार ग्राम का गान्धार से आरम्भ माना है। किन्तु इस प्रकार तो षड्जग्राम के प्रत्येक स्वर को आरम्भक स्थान मान कर चलने से सप्त स्वरों के सप्त ग्राम बन जाएँगे। पर वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि शास्त्रकारों ने तीन ही ग्राम माने हैं, और 'ग्राम' शब्द से हमें ऐसी मूल-स्वर-व्यवस्था का अर्थ लेना चाहिए, जिसे आधार मान कर मूर्च्छनादि

का विस्तार करने का शास्त्रों में विधान दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रामों के नामों के साथ उनके आरम्भक स्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। हम देख चुके हैं कि षड्जग्राम का आरम्भ भी मुक्त तार के नाद से न मानकर, उस नाद के 'ऋषभ' से ही माना गया है अर्थात् सितार के मन्द्र पञ्चम से षड्जग्राम का आरम्भ करना होता है। तभी हमें ४-३-२-४-४-३-२ वाली श्रुति व्यवस्था मिलती है, अन्यथा नहीं। तद्वत् मध्यमग्राम का आरम्भक स्वर भी मध्यम न होकर, षड्जग्राम के षड्ज का जो मध्यम है, जो जोड़ की तारों पर मेरु पर स्थित है उसके अगले षड्जग्रामिक पंचम से मध्यमग्राम का आरंभ करना चाहिए अथवा जो आधुनिक सा का पर्दा है, उसके ऋषभ से यानी षड्जग्रामिक पञ्चम से मध्यमग्राम शुरू करना चाहिए। वहीं से आरम्भ करने से हमें मध्यमग्रामिक स्वर-व्यवस्था मिल सकती है, और ऋषभ-पञ्चम-संवाद मिलता है। हमारे इस सिद्धान्त की पुष्टि, नन्दिकेश्वर के नाम से प्रचारित निम्नोद्धृत कारिका से भी मिलती है। यथा:—

स ग्रामोऽस्त्रिति विज्ञेयस्तस्य भेदास्त्रयः स्मृताः। षड्जर्षभगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥

अर्थात्—ग्राम के तीन भेद हैं, जिनके जनक स्वर क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गान्धार हैं।

नन्दिकेश्वर के कथनानुसार मध्यमग्राम का जनक स्वर या आरम्भक स्वर ऋषभ है। नन्दिकेश्वर के इस कथन से स्पष्ट है कि उनके काल में 'यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः'—'नारदीय शिक्षा' के इस वचनानुसार षड्जग्रामिक षड्ज के मध्यम को सा मानने की परिपाटी प्रचलित रही होगी। षड्जग्रामिक मध्यम को सा मानने से उसका ऋषभ, षड्जग्रामिक पञ्चम ही तो होगा और वहीं से आरम्भ करने पर सचमुच हमें मध्यमग्राम की उपलब्धि होती है, यह हम स्पष्टतया देख ही चुके हैं। ऋषभ को मध्यमग्राम का आरम्भक स्वर मानने पर हमें 'मध्यमग्राम' के 'मध्यम' नाम की सार्थकता की भी उपलब्धि होती है, जो निम्नलिखित प्रकार से है।

नन्दिकेश्वर के कथनानुसार—अ, इ, उ ये तीन स्वर समस्त वाणी के आधारभूत हैं। उसी प्रकार संगीत में सा, रे, ग—ये तीन स्वर मूलभूत हैं। सा रे ग की पूर्वांग में जो अवस्था है, वही अवस्था उत्तरांग में प ध नी की है। 'मध्यम' स्वर, पूर्वांग और उत्तरांग के मध्य में स्थित होने से, उसकी 'मध्यम' संज्ञा सार्थक है। इसी प्रकार सा रे ग—इन तीन स्वरों के बीच में स्थित होने के कारण उस ऋषभ को भी मध्यम कहा जा सकता है एवं तदनुसार उस ऋषभ से आरम्भ होनेवाले ग्राम की भी 'मध्यम' संज्ञा सार्थक हो जाती है।

मध्यमग्राम के ऊपर लिखे हुए विवरण को कुछ दूसरे शब्दोंमें हम संक्षिप्त रूप से समझ लें। इसमें विषय की पुनरुक्ति होगी, किन्तु इस उलझे हुए प्रश्न के समाधान के लिए वह पुनरुक्ति दोषार्ह नहीं मानी जाएगी।

हम देख आए हैं कि कई लोगों ने षड्जग्राम के मध्यम से मध्यमग्राम को आरम्भ करने का यत्न किया है। हम यह भी देख चुके हैं कि इस प्रकार आरम्भ करने से हमें वीणा या सितार पर त्रिश्रुति ऋषभ पञ्चम की उपलब्धि नहीं होती। यदि मध्यमग्राम में त्रिश्रुति ऋषभ की प्राप्ति के लिए षड्जग्रामिक पञ्चम अथवा आधुनिक ऋषभ के पर्दे को एक श्रुति उतार देते हैं तो सारी वीणा बेसुरी हो जाती है। और ऐसी बेसुरी वीणा स्वीकार कर लेने पर भी हमें त्रिश्रुति पञ्चम नहीं ही मिलता है। इसी बात को अन्य भाषा में समझ लें। हम जानते हैं कि षड्जग्रामिक मध्यम, वह आज का षड्ज है। वीणा पर उस षड्ज से ऋषभ का अन्तर आज चतुःश्रुति है। उस ऋषभ के पर्दे को यदि एक श्रुति नीचे उतार देंगे तो सुरों में मिली हुई वीणा की ऐसी अवस्था हो जाएगी कि बजाने वाले और सुनने वालों के कान उसी क्षण उस बेसुरेपन से व्याकुल हो उठेंगे। और ऐसी अवस्था में भी पञ्चम तो चतुःश्रुतिक ही रहता है। कोई कहें कि उसे भी ऋषभ की भाँति उतार लेंगे, तो कहना पड़ेगा कि एक पर्दे के उतारने से ही बेसुरेपन की यह दशा हुई है, तो

दो पर्दों के उतारने से न जाने क्या दशा होगी ? ऐसी वीणा बजाने के योग्य नहीं ही रहेगी। साथ ही, षड्ज-ग्राम के मध्यम को सा मानने से यह उलझन पैदा होती है कि उस सा के साथ जोड़ की तारें मिली हुई हैं और उसके साथ षड्ज-पञ्चम-भाव से मिला हुआ पञ्चम, तारों पर और पर्दों पर विद्यमान है, किन्तु षड्ज-पञ्चम संवाद तो मध्यम-ग्राम में त्याज्य है। ऐसी अवस्था में उपरिकथित धारणा कितनी भ्रान्त और निराधार है, यह स्पष्ट है। कहना न होगा कि मध्यमग्राम की पहिली मूर्च्छना मध्यम से आरम्भ करने को जो कहा गया है—उसी वचन का भ्रान्त अर्थ लगाने से यह धारणा बन गई है।

इस विवेचन से स्पष्ट होगा कि हम जो पहिले कह आए हैं कि षड्जग्राम के षड्ज को मध्यमग्राम का मध्यम मानकर चलने से अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो, षड्जग्रामिक पञ्चम या आधुनिक ऋषभ से षड्ज मानकर चलने से जो स्वरावली निनादित होती है, उसी में हमें अविकृत रूप से मध्यमग्राम की संप्राप्ति होती है, हमारा यह कथन पूर्णतया यथार्थ है। इस प्रकार हम बिना प्रयास ही मध्यमग्राम को गायन-वादन में प्रयुक्त कर सकते हैं और जिन्होंने मध्यमग्राम को स्वर्ग में पहुँचाया है, उन्हें इस भू पर उसे कुशलता से प्रयुक्त करके दिखा सकते हैं।

वीणा पर मध्यमग्रामिक स्वरों की स्थिति हमने स्पष्टतया समझ ली। अब हम, तानपुरे पर अपने गले से मध्यमग्रामिक स्वर कैसे गा सकते हैं, इस पर विचार करें।

इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा उलझाने वाला प्रश्न यही है कि क्या त्रिश्रुतिक पञ्चम गले से लगाया जा सकता है ? साधारणतः षड्ज के साथ पञ्चम का संवाद होना अनिवार्य माना जाता है। और षड्ज जब चतुःश्रुतिक है, तब पञ्चम चतुःश्रुतिक रहकर ही उसके साथ संवाद कर सकता है। चतुःश्रुतिक षड्ज के साथ त्रिश्रुतिक पञ्चम का संवाद असंभाव्य है। उस विसंवादी पञ्चम को यदि जबर्दस्ती गाया जाए, तो सुनने वाले कह उठेंगे कि 'बेसुरा गा रहे हैं'। ऐसी अवस्था में यह उलझन कैसे सुलझाई जाए ? तानपुरे पर गाते समय पञ्चम त्रिश्रुतिक रहे, वह बेसुरा न मालूम दे, उसे सुविधा से गा सकें, यहाँ तक कि तानें भी लगा सकें, इतनी सरल प्रक्रिया क्या संभवित है ?

इन प्रश्नों का उत्तर सामान्य दृष्टि से नकारात्मक ही हो सकता है। किन्तु हमारी स्वरानुभूति इस का हकारात्मक उत्तर निम्न प्रकार से देती है।

स्मरण रहे कि तानपुरे पर आसानी से षड्जग्रामिक स्वर गाने के लिए हमने तानपुरे की प्रथम तार को पञ्चम की बजाय मध्यम में मिलाया था। तानपुरे की यह स्वर-व्यवस्था वैसी की वैसी बनी रहे यानी तानपुरे की प्रथम तार मध्यम में ही मिली रहे। उस अवस्था में तानपुरा बजाते समय तानपुरा बजाने से स्वयम्भूरीत्या तानपुरे के षड्ज में से उसका संवादी पञ्चम निनादित होता रहता है। उसी पञ्चम से यानी तानपुरे में जो मध्यम बज रहा है, उसके ऋषभ को षड्ज मानकर यदि हम प ध नि सा रे ग म प इन स्वरों को सा रे ग म प ध नि सा के रूप में प्रयुक्त करेंगे, तो हमें मध्यमग्रामिक स्वरों की सहज संप्राप्ति होगी। अलबत्ता, इस क्रिया को करते समय जो धैवत संप्राप्त होगा, वह धैवत षड्जग्रामिक अन्तर गान्धार के स्थान पर यानी आधुनिक तीव्र निषाद पर आएगा। और इस प्रकार 'धैवतीकृते गान्धारे' की हमें प्रत्यक्ष सिद्धि मिल जाएगी। इस बात को हम इसके पूर्व समझ ही चुके हैं। इस प्रकार हम तानपुरे पर गाते समय मध्यमग्रामिक स्वर आसानी से गा सकते हैं, और तानें भी लगा सकते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि षड्ज, मध्यम और पञ्चम, इन तीन स्वरों को आरम्भ स्थान मान कर स्वरों का आरोहावरोह करना नितान्त सरल है। गुणीजन इसे भली भाँति जानते हैं। इस प्रकार षड्जग्रामिक पञ्चम को षड्ज मानकर चलने से स्वाभाविकरीत्या जो श्रुति व्यवस्था बनेगी, वह निम्नोक्त तख्ते से स्पष्ट होगी।

श्रुति-नाम		षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था		मध्यमग्रामिक स्वर-व्यवस्था	
		स्वर	श्रुति-संख्या	स्वर	श्रुति संख्या
०.	क्षोभिणी.....				
१.	तीव्रा.....				
२.	कुमुद्वती.....				
३.	मन्दा				
४.	छन्दोवती	षड्ज.....	४		
५.	दयावती.....				
६.	रञ्जनी.....				
७.	रक्तिका.....	ऋषभ.....	३		
८.	रौद्री.....				
९.	क्रोधा.....	गान्धार.....	२		
१०.	वज्रिका.....				
११.	प्रसारिणी.....				
१२.	प्रीति.....				
१३.	मार्जनी.....	मध्यम.....	४		
१४.	क्षिती.....				
१५.	रक्ता.....				
१६.	सन्दीपनी.....				
१७.	आलापिनी.....	पञ्चम.....	४.....	षड्ज.....	४
१८.	मदन्ती				
१९.	रोहिणी.....				
२०.	रम्या.....	धैवत.....	३...	ऋषभ.....	३
२१.	उग्रा.....				
२२.	क्षोभिणी.....	निषाद.....	२.. ...	गान्धार..... ...	२
१.	तीव्रा..... ..				
२.	कुमुद्वती.....				
३.	मन्दा...				
४.	छन्दोवती.....	षड्ज.....	४.....	मध्यम.....	४
५.	दयावती.....				
६.	रञ्जनी... ...				
७.	रक्तिका	ऋषभ.....	३.....	पञ्चम.....	३
८.	रौद्री...				
९.	क्रोधा...	गान्धार.....	२.....	.....	(२)...
१०.	वज्रिका.....				
११.	प्रसारिणी ...	अन्तर गान्धार	(२)....	धैवत.....	४
१२.	प्रीति				
१३.	मार्जनी.....	मध्यम.....	४.....	निषाद.....	२

ऊपर के तख्ते में दी हुई श्रुतिव्यवस्था को देखने से स्पष्ट होगा कि त्रिश्रुतिक पञ्चम को सरलता से लगाया जा सकता है। इस व्यवस्था में विसंवाद को कहीं भी अवकाश नहीं है। और इस प्रकार मध्यम-ग्रामिक स्वर-सप्तक आज भी नितान्त सरलता से गानोपयोगी बन सकता है।

आज भी भारतीय संगीत (तथाकथित उत्तरीय संगीत) के कुछ कलाकार, स्वर पर उनका कितना प्रभुत्व है, यह दिखाने के लिए कभी कभी एक ही राग के अलग अलग स्वरों को सा मानकर वहीं से तान-क्रिया करते हैं और यों मूर्च्छनाओं को बदलकर एक ही राग में नये नये चमत्कार दिखाते हैं। ऐसे प्रयोगों द्वारा स्वरों, श्रुतियों और ग्रामों की भिन्न भिन्न अवस्था देखी जा सकती है और जाँची जा सकती है। अलबत्ता, इन चमत्कारों की सिद्धि के लिए निरालस और प्रकृष्ट स्वर-साधना की परमावश्यकता है। साथ ही इस साधना के लिए एक शर्त अनिवार्य है कि साधक अपनी साधना के प्रति सदैव जागरूक रहें। उसी से स्वरों के विभिन्न प्रयोग, उनकी विभिन्न श्रुति रचना, उनके अलग अलग ग्राम वगैरह की प्राचीन व्यवस्था हमारे सामने सूर्य के सदृश प्रकाशित हो जाएगी।

———

तृतीय तन्त्री

प्राचीन तथा मध्ययुगीय विकृत स्वर-व्यवस्था

एवं

दाक्षिणात्य स्वर-सप्तक

पिछले प्रकरण में हम भरत-मतंग और कुछ अंश में शार्ङ्गदेव के कहे हुए श्रुति स्वर-ग्राम की व्यवस्था देख आए हैं। फिर भी उस प्रकरण में शार्ङ्गदेव के स्वरों के सम्बन्ध में हमने कोई विशद चर्चा नहीं की है। यों तो, हमारी राय में, शार्ङ्गदेव भरत मतंगादि पूर्वाचार्यों के मार्ग पर ही चले हैं और उन्हीं की ४—३—२—४—४—३—२ वाली श्रुति-व्यवस्था के स्वरों को उसी रूप में स्वीकार करके उन्होंने अपने ग्रन्थ में निरूपित किया है; किन्तु पूर्व ग्रन्थकारों के उल्लिखित स्वर व्यवस्था के अतिरिक्त उन्होंने विकृत स्वरों का भी एक विशेष विवरण दिया है। उस पर विशद विवेचना करना आवश्यक है। साथ ही, शार्ङ्गदेव के परवर्ती मध्ययुगीय प्रमुख ग्रन्थकारों की विकृत स्वर-व्यवस्था को भी हमें इस तन्त्री में देख लेना होगा।

किसी किसी के मत से शार्ङ्गदेव उत्तर-दक्षिण पद्धति के समन्वयकार हैं अथवा दक्षिण पद्धति के मूल प्रवर्तक हैं। यह धारणा सत्य पर आधारित है या भ्रान्ति पर, इसके निर्णय के लिये यह आवश्यक है कि शार्ङ्गदेव की कही हुई स्वर-व्यवस्था के साथ-साथ दाक्षिणात्यों की स्वर-व्यवस्था भी हम यथास्थान देख लें। इस विषय पर विशद विचारणा और विवेचना करने से यह समझना और निर्णय करना सुलभ होगा कि दक्षिण पद्धति के प्रतिष्ठाता शार्ङ्गदेव हैं या रामामात्य। इस के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि भरत के स्वरों की परम्परा दक्षिण में अक्षुण्ण रही है या 'उत्तर' में।

अब हम शार्ङ्गदेव के विकृत स्वर देखने के पूर्व यह देख लें कि वैदिक साहित्य में विकृत स्वरों के लिए कुछ उल्लेख है या नहीं। निम्नोद्धृत वैदिक वचन उस काल की स्वर-व्यवस्था को निदर्शित करते हैं। यथा :—

सप्त यमान्तराणि। (सामसूत्र)
सप्त स्वरा यमाहते। (ऋक् प्रातिशाख्य)

आनन्तराश्चात्र यमो विशेषः पृथग्वा स्तोभः, पृथग्भूता अन्ये यमा। एतेषां मृदुत्वं तीक्ष्णत्वं च।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में सामगान में सात स्वरों के लिए 'यम' शब्द प्रयुक्त हुआ है और तीव्र, कोमल अथवा 'चढ़ी', 'उतरी' इन विकृत स्वर-अवस्थाओं के लिए 'मृदुत्व' और 'तीक्ष्णत्व' शब्दों का उपयोग किया गया है। हाँ, ये 'तीव्र' और 'मृदु' शब्द आधुनिक तीव्र कोमल के अर्थ में प्रयुक्त होते थे या स्वरों के ऊँचे नीचे अन्तराल के द्योतक थे अथवा तीक्ष्ण मृदु उच्चार के साथ सम्बन्धित थे, यह कुछ सन्देहात्मक है।

यह तो हुई वैदिक स्वरों की व्यवस्था। दूसरी ओर गान्धर्व संगीत में विकृत स्वरों के नाम और उनकी संख्या के सम्बन्ध में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम हम भरत मतंग पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि उन्होंने सप्त शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त अन्तर गान्धार और काकली निषाद, इन दो अन्य नादों का उल्लेख और उपयोग किया है। किन्तु उन्हें विकृत नामाभिधान नहीं दिया गया है, केवल 'साधारण' संज्ञा

दी है। इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में मध्यमग्रामिक त्रिश्रुति पञ्चम और पञ्चम के त्रिश्रुतिक होने से बने हुए चतुःश्रुति धैवत का भी स्पष्टतया, उल्लेख मिलता है। भरतोक्त 'षड्जसाधारण' और 'मध्यमसाधारण' के द्वारा अन्य सूक्ष्म स्वरों का भी संकेत मिलता है, जिनकी सूक्ष्मता के कारण उन्हें कैशिक नाम दिया गया है। इस दो प्रकार के स्वर-साधारण की स्पष्टता 'रत्नाकर' में ही उपलब्ध होती है। यह हम आगे चल कर देखेंगे। यह सत्य है कि शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त उपरिलिखित अन्य नादों का भरत मतंगादि के ग्रन्थों में उल्लेख मिलने पर भी 'रत्नाकर' के पूर्व, 'विकृत' संज्ञा का किसी भी स्वर के सम्बन्ध में प्रयोग नहीं मिलता है।

जैसा कि हम पहिले कह आए हैं, उपलब्ध ग्रन्थों में से शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' में ही सर्वप्रथम 'विकृत' संज्ञा का प्रयोग मिलता है तथा अन्तर काकली के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म स्वरों का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। भरतादि पूर्वाचार्यों की तुलना में शार्ङ्गदेव की इस विशेषता को काफी महत्त्व दिया जाता है। अतएव उनकी इस विशेषता के क्या कारण होंगे, इस सम्बन्ध में कई कल्पनाएं की गई हैं। साथ ही, शार्ङ्गदेव की इस विशेषता के कारण उन्हें भरत से भिन्न स्वर व्यवस्था का आविष्कारक भी माना गया है। यहाँ हमें एक ओर उन कल्पनाओं और अनुमानों पर विचार करना है तथा दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करना है कि शार्ङ्गदेव की कुही हुई विकृत स्वर-व्यवस्था कोई नई वस्तु नहीं है, अपितु वह भरत के अपने ही शब्दों का स्पष्टीकरण मात्र है। इस प्रसंग में शार्ङ्गदेव ने कुछ नई संज्ञाओं का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट होगा कि शार्ङ्गदेव ने इस सम्बन्ध में भरत से कोई भिन्न मार्ग नहीं अपनाया है। अस्तु।

कुछ लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि भरत के काल में स्वरित* की भावना दुर्बल रही होगी और इसीलिए उन्होंने विकृत स्वरों का निरूपण नहीं किया होगा। शार्ङ्गदेव के काल में वह भावना पुष्ट हो गई होगी और इसीलिए उन्हें एक सप्तक में विकृत स्वर-अन्तराल दिखाने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। बुधजन जानते हैं कि यदि एक ही स्वर को किसी एक स्वरावली का स्वरित मान लिया जाए तो उस स्वरावली का एक ही रूप रहता है; किन्तु यदि भिन्न भिन्न स्वरों को स्वरित मान कर एक ही स्वरावली को प्रयुक्त किया जाए तो उसमें स्वरों के भिन्न भिन्न अन्तराल दिखाई देते हैं। मूर्च्छना-प्रक्रिया इसी तत्त्व पर आधारित है। भरत और शार्ङ्गदेव के सम्बन्ध में उपर्युक्त कल्पना करने वालों की मान्यता निम्न उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगी।

"यह निश्चित है कि भरत के ग्रामों में मूर्च्छनाओं के स्वरों का न तो स्थान बदलता और न संज्ञा ही बदलती है। किसी ग्राम की ध—मूर्च्छना उस ग्राम के धैवत से ही शुरू होती-है; ऐसा नहीं कि धैवत को षड्ज मानकर सभी स्वरों की संज्ञा क्रमानुसार बदल दी जाए और इस प्रकार एक नया ग्राम बनाकर उसे सदैह मध्य सप्तक में सरका दिया जाए। ऐसा करने से फिर मूर्च्छना की आवश्यकता न रहती—एक ग्राम में विकृत स्वरों के प्रयोग से ही काम चल जाता। दोनों ग्रामों के प्रयोग से और इनकी प्रत्येक मूर्च्छना के अन्तर ग और काकली नि के साथ चार-चार भेदों के

---

* अंग्रेजी भाषा में जिसे tonic कहते हैं, उसे ही अपनी भाषा में हम 'स्वरित' शब्द से पहिचानते हैं। जिस स्वर की अपेक्षा से अन्य स्वरों की तारता निश्चित हो अथवा यों कह सकते हैं कि जिस स्वर पर पूर्ण न्यास किया जाए उसे स्वरित कहते हैं।

'स्वरित' शब्द का प्रयोग नया नहीं है, वह सामगान परम्परा में भी प्रसिद्ध है। शिक्षा-ग्रन्थों में वैदिकी स्वर-व्यवस्था बताते समय 'उदात्त', 'अनुदात्त' और 'स्वरित'—इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनकी व्याख्या पाणिनि ने इस प्रकार दी है। यथाः—

उच्चैरुदात्तः। (अष्टाध्यायी १।२।२९)

वृत्तिः—उदात्तादिशब्दः स्वरे वर्णधर्म्मे लोकवेदयोः प्रसिद्धः, उच्चैरुक्तमभ्यमानो योऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति। उच्चैरिति च ऋतिप्रकर्षो न गद्यते। उच्चैर्भाषते उच्चैः पठतीति। किं तर्हि? स्थानकृतमुच्चत्वं सूत्रिनो विशेषणम्। तालवादिषु हि भाष्यव्यवस्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते। तत्र यः समानस्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति। परिमन्नुचार्यमाणे गात्राणामायासो निग्रहो भवति, रूक्षता अस्निग्धता स्वरस्य, संवृतता कण्ठविवरस्य। (सिद्धान्तकौमुदी)

नीचैरनुदात्तः। (अष्टाध्यायी १।२।३०)

(अगले पृष्ठ पर चालू)

विधान से यह सिद्ध है कि मूर्च्छना में भरत के स्वर अपना स्थान या संज्ञा नहीं छोड़ते; नहीं तो इन विकृत मूर्च्छनाओं का कोई अर्थ न होता। अचल मूर्च्छनाओं का यह विधान शार्ङ्गदेव के समय में नहीं रहा। इसी से उन्होंने १२ विकृत स्वरों का प्रसंग दिया है।"

(ध्वनि और संगीत पृ० १५१)

'ध्वनि और संगीत' के लेखक और भी कहते हैं :—

"मूर्च्छना की धारणा में शार्ङ्गदेव के समय से ही परिवर्तन का संकेत मिलता है। यह बताया जा चुका है कि भरत की मूर्च्छना में स्वरों की संज्ञा और स्थान नहीं बदलते। पर शार्ङ्गदेव की पद्धति में मूर्च्छना सदैव खिसका कर मौलिक षड्ज पर लाई जाती है और इस प्रकार सभी मूर्च्छनाएँ मध्यसप्तकव्यापी होती हैं।..... यह भेद उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। भरत की पद्धति में धैवत की मूर्च्छना मध्य ध से मन्द्र ध तक व्याप्त होगी, पर शार्ङ्गदेव की पद्धति में मन्द्र ध खिसक कर मध्य षड्ज पर और मध्य ध तार षड्ज पर जाएँगे। धैवत-मूर्च्छना होने से स्वरों का अन्तराल अब षड्ज मूर्च्छना से भिन्न हो जाएगा। यथार्थ में शार्ङ्गदेव की मूर्च्छनाओं को उपग्राम कहना चाहिए। यही बात नीचे संकेत में बताई गई है।

ष—ग्राम	स ३ रे २ ग २ म ४ प ३ ध २ नि ४ सां
ध—मूर्च्छना—भरत	ध २ नि ४ स ३ रे २ ग २ म ४ प ३ ध
शार्ङ्गदेव	स २ रे ४ ग ३ म २ प ४ ध ४ नि ३ सां

इस भेद से यह जान पड़ता है कि भरत के समय में स्वरित या आधार 'सुर' की भावना अङ्कुरित न हो पाई थी, यद्यपि न्यास स्वर में उसका बीज पड़ गया था। उनके न्यास, अंश, षड्ज, मध्यम और मूर्च्छना के आधार स्वर ये प्रायः बराबर मूल्य रखते थे। पर शार्ङ्गदेव के समय में स्वरित की भावना प्रस्फुटित होने लगी थी। और इसी से सभी मूर्च्छनाओं का आरम्भ षड्ज से होता था। इससे मध्य सप्तक और षड्ज स्वर प्रधान होता हुआ प्रतीत होता है।

(पिछले पृष्ठ से चालू)

वृत्तिः—नीचैरुपलभ्यमानो योऽच् स अनुदात्तसंज्ञो भवति। नीचभागे निष्पन्नो योऽच् सः अनुदात्तः। यस्मिन्नुच्चार्यमाणे गात्राणामन्ववसर्गो भवति। अन्ववसर्गो मार्दवम्। स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। कण्ठविवरस्य ऊर्ध्वता महत्ता च। (सिद्धान्तकौमुदी)

समाहार स्वरितः। (अष्टाध्यायी १।२ ३७)

वृत्तिः—उदात्तानुदात्तस्वरसमाहारः स्वरितः। तौ समाहियेते यस्मिन् तस्य स्वरित इत्येषा संज्ञा। (सिद्धान्तकौमुदी)

सात स्वरों के साथ इन तीनों संज्ञाओं का सम्बन्ध इस प्रकार जोड़ा गया है। यथा—

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ। स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः॥

(नारदीय शिक्षा ८)

इस उद्धरण में हम यह देखते हैं कि षड्ज, मध्यम और पञ्चम—इन तीन स्वरों का स्वरित के रूप में, वैदिक गान में उपयोग होता था। इससे यह स्पष्ट है कि जैसे आज स, म और प—इन तीन स्वरों पर मुकाम किया जाता है, तद्वत् वैदिक गान में भी किया जाता होगा। उच्चनीच स्वरों का उपयोग करके पुनः २ स्वरित स्वर पर न्यास करने की परिपाटी आज भी प्रचलित है और जिस स्वर पर गीत-आलापादिक का पूर्ण न्यास किया जाता है, वही आज भी स्वरित के नाम से पहिचाना जाता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उद्भूत हो सकता है कि सा रे ग म प ध नी तो क्रमशः आरोह में ऊँचे होते हैं और अवरोह में नीचे होते जाते हैं। ऐसी अवस्था में, जब आरोह करेंगे, तब सभी स्वर अपने पूर्व २ स्वरों की अपेक्षा उदात्त होते जाएँगे और उसी प्रकार अवरोही में सभी स्वर अपने पूर्व २ स्वरों की अपेक्षा अनुदात्त होते जाएँगे। तब फिर शिक्षा-ग्रन्थों का यह विधान कि नि ग उदात्त हैं, रि-ध अनुदात्त हैं और स-म-प स्वरित है, कैसे सार्थक होगा?

कुछ लोगों ने इस विधान के तात्पर्य को न समझ कर ऐसी कल्पना की है कि नि को अनुदात्त, रि को उदात्त और सा को स्वरित, तद्वत् म को अनुदात्त, ध को उदात्त और प को स्वरित, ऐसा उल्टा क्रम बनाने से नि सा रे सा, म प ध प--ऐसे स्वर समूहों में उदात्त अनुदात्त और स्वरित संज्ञाएँ सार्थक हो सकेंगी। किन्तु वास्तव में इस प्रकार का व्युत्क्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि साम्गान में नीच उच्च और बीच का, ऐसे तीन प्रकार के ही स्वरों का उपयोग होता है। इस दृष्टि से—

(अगले पृष्ठ पर चालू)

"मूर्च्छना के भाव में इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि शार्ङ्गदेव ने पहले पहल भरत के अंतर गांधार और काकली निषाद के अतिरिक्त अनेक विकृत स्वरों की कल्पना की क्योंकि अब सभी मूर्छनाएँ खिसक कर मध्य सप्तक में आ गईं, तब एक-एक स्वर के भिन्न भिन्न अन्तराल स्पष्ट दीखने लगे।"

(ध्वनि और संगीत पृ० १६७—१)

प्राचीन ग्रन्थों का निष्कर्ष निकालते समय प्रायः सभी को कुछ न कुछ अनुमान तो करने ही पड़ते हैं। इसलिए उपर्युक्त अनुमान जिन लोगों ने लगाया है, उनका कथन दोषार्ह है, ऐसा हम नहीं कहते हैं। किन्तु भरतादि ग्रन्थकारों के पठन-परिशीलन से वीणा पर हमें जो प्रत्यक्ष अनुभूति हुई है, जिसका कुछ उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर भी चुके हैं, उसी के आधार पर, उपर्युक्त अनुमान के सम्बन्ध में हम अपना अभिमत प्रकाशित करना समुचित समझते हैं।

हमारी यह दृढ़ मान्यता है कि भरत-काल में स्वरित की भावना दृढ़ीभूत हो चुकी थी। स्वयं भरत ने मध्यम का 'अविनाशित्व' लिख कर तथा षड्ज को 'षड्ज' एवं तज्जन्य मूर्च्छना को 'शुद्धषाड्जी' संज्ञा देकर इस बात को प्रमाणित कर दिया है। 'षड्ज' शब्द की व्याख्या, जो कि इसके पूर्व हम बता चुके हैं, उससे भी यह बात पुष्ट होती है कि स्वरित के रूप में षड्ज स्वीकृत हो चुका था। षड्ज को स्वरित न माना गया होता, तो उसे 'छः स्वरों का जनक' ऐसा जो कहा गया है, वह न कहा गया होता। इसी से भरत के काल में प्रत्यक्ष प्रयोग में जो षड्ज या स्वरित का स्थान पा चुका था, उस मध्यम को अविनाशी, अविलोपी, अननुलंघ्य, अपरित्याज्य आदि विशेषण देकर, उसे सभी स्वरों में प्रवर कहा गया था। मध्यम की इस महत्ता का प्रबल कारण यही है कि भरतकाल में षड्जग्राम के मध्यम को ही षड्ज या स्वरित मान कर सारी व्यवस्था (या प्रयोग—क्रिया) स्वीकृत की गई थी। औडुव-षाडव प्रक्रिया में षडजपञ्चमादिक स्वरों को तो छोड़ा जा सकता था; किन्तु मध्यम को अपरित्याज्य माना था। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि उस मध्यम को ही षड्ज या स्वरित मान कर वहीं से सारी गानवादन की क्रिया आरम्भ होती होगी। अतः हमारे विचार से यह अनुमान निराधार है कि भरत-काल में स्वरित की भावना दुर्बल या अपुष्ट थी। यह हम अनुमान से नहीं कह रहे हैं, किन्तु स्वयं भरत और मतंग ही यह कह गए हैं। उनके अपने शब्दों से ही इस कथन की पूर्णतया पुष्टि होगी। भरत कहते हैं :—

(पिछले पृष्ठ से चालू)

अनु०	उ०	स्व०
रे	ग	सा
उ०	अनु०	स्व०
ग	रे	सा
उ०	अनु०	स्व०
ग	रे	म
अनु०	उ०	स्व०
रे	ग	म
उ०	अनु०	स्व०
नि	ध	सां
अनु०	उ०	स्व०
ध	नि	सां
उ०	अनु०	स्व०
नि	ध	प
अनु०	उ०	स्व०
ध	नि	म

उ०	अनु०	उ०	स्व०
ग	रे	ग	सा
उ०	अनु०	उ०	स्व०
ग	रे	ग	म
अनु०	उ०	अनु०	स्व०
ध	नि	ध	सां
उ०	अनु०	उ०	स्व०
नि	ध	नि	प

(अगले पृष्ठ पर चालू)

मध्यमस्वरेण वैणेन मूर्च्छनानिर्देशो भवति अनाशित्वात् मध्यमस्य।.....प्रयोक्तृश्रोतृ-सुखार्थं तानमूर्च्छनातत्त्वम्। प्रयोजनपि स्थानप्राप्तिः।

(ना० शा० २८)

अर्थात् वीणा के मध्यम स्वर से यानी षड्जग्राम के मध्यम से (सितार के आज के षड्ज से) मूर्च्छनाओं का निर्देश किया जाता है, क्योंकि मध्यम अविनाशी स्वर है। तान मूर्च्छना के दो प्रयोजन हैं—एक प्रयोक्ता और श्रोता का सुख, दूसरे तीन स्थानों की प्राप्ति।

इससे स्पष्ट है कि मध्यम अर्थात् मध्य सप्तक के षड्ज से ही सभी मूर्च्छनाओं का प्रयोग करना भरत को अभिप्रेत होगा। मतंग भी, कुछ भिन्न शब्दों में यही कहते हैं। यथा :—

मध्यसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशस्तावन्मन्द्रतारसंसिद्धयर्थम्। मध्यमसप्तकस्याविनाशित्वात्। भरतेनाप्युक्तम्—मध्यमस्वरेण मूर्च्छनानिर्देशो भवति अविनाशित्वान्मध्यमस्य।

(बृहद्देशी पृ० २९)

अर्थात्—मध्यम सप्तक से मूर्च्छनाओं का निर्देश किया जाता है, क्योंकि मध्यम सप्तक अविनाशी है। भरत ने भी कहा है कि मध्यम स्वर से मूर्च्छना-निर्देश होता है, क्योंकि मध्यम अविनाशी है।

मतंग के वचन से स्पष्ट है कि उनके और भरत के समय में भी मध्य सप्तक में ही सभी मूर्च्छनाओं का प्रयोग किया जाता होगा। भरत ने कहा है कि वीणा के मध्यम स्वर से मूर्च्छनाओं का आरम्भ करना चाहिए। और मतंग ने कहा कि 'मध्यम सप्तक' से मूर्च्छनाओं का प्रयोग करना चाहिए। इन दोनों वचनों में शब्द-भेद अवश्य है, किन्तु वास्तव में ये दोनों एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। शार्ङ्गदेव ने इस सम्बन्ध में कोई नवीन प्रयोग किया हो, ऐसा बिल्कुल प्रतीत नहीं होता।

भरत ने वीणा के मध्यम से (आधुनिक सितार के षड्ज से) आरम्भ करने को कहा है, क्योंकि वैसा करने से ही बाज की मुख्य तार पर मन्द्र, मध्य और तार—इन तीनों स्थानों की प्राप्ति हो सकती है। भरत की वीणा का मध्यम, आज की सितार का षड्ज और मतंग का मध्य सप्तक ये तीनों एक ही हैं। जब तक आज की सितार का षड्ज, जो भरत का 'मध्यम' है और मतंग के 'मध्यसप्तक' का आरम्भ स्थान है, वहाँ से मध्य सप्तक आरम्भ नहीं करेंगे, तब तक हमें गायन-वादन की क्रिया में एक ही बाज की तार पर तीन स्थानों के स्वरों की उपलब्धि नहीं होगी। इसी दृष्टि से भरत ने मध्यम को अविनाशी या अविलोपी कहा है और मतंग ने मध्य-सप्तक को अविनाशी या अविलोपी कहा है।

(पिछले पृष्ठ से चालू)

इस प्रकार के विधानों में सा म प की स्वरितावस्था एवं निषाद-गान्धार की उदात्त अवस्था तथा ऋषभ धैवत की अनुदात्तावस्था सार्थक हो जाती है।

स्वरों के इन विधानों से यह समझ में आता है कि सा म और प इन तीन स्वरों को क्यों स्वरित माना होगा। इस प्रकार यह सुलझ जाता है कि साम-परंपरा के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की रचना के पीछे गान शैली के किन किन अंगों का उपयोग होता होगा जिसमें सा, म, प को स्वरित मान कर, उन पर समाहार किया जाता होगा।

वैदिक परम्परा में सा म प को स्वरित मानने का एक और विशेष हेतु प्रतीत होता है। हम जानते हैं कि स्वर-सप्तक को पूर्वांग और उत्तरांग इस प्रकार दो भागों में बाँटा जाता है। यथा—सारे ग म और प ध नी सां। पूर्वांग का आरम्भक स्वर सा है और अन्तिम स्वर म है, तद्वत् उत्तरांग का आरम्भक स्वर प है और अन्तिम स्वर सां है। इसलिए अन्य स्वरों का उलट पुलट प्रयोग करने के बाद पुनः सा, म और प पर न्यास करना स्वाभाविकरीत्या सुलभ होता है। इसीलिए सा म और प सां को स्वरित माना होगा ऐसी हमारी धारणा है।

आज हम जिसे स्वरित कहते हैं, वह भी वैदिक परम्परा के समाहार का ही द्योतक है।

मध्यम को अविनाशी क्यों कहा होगा, इस सम्बन्ध में एक और अनुमान लगाया जा सकता है और वह यह कि वीणा पर बँधी हुई बाज की मुख्य तार मध्यम में ही मिलाई जाती है और अधिकतर वादन इसी पर होता है। जब तक वह तार मध्यम में नहीं मिलाई जाती, तब तक वीणा पर मध्य सप्तक के षड्ज की उपलब्धि नहीं हो सकती, जो कि स्वरित की भावना का मूल है। और यह क्रियाकुशल लोगों से अविदित नहीं है कि इस तार को मध्यम में मिलाने से ही भरत के षड्जग्रामिक मध्यम या उसके स्वरित या षड्ज की हमें वीणा पर यथास्थान उपलब्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसके अतिरिक्त एक अनुमान यह भी हो सकता है कि मध्य सप्तक के मध्यम का स्थान मेरु और घोड़ी के ठीक मध्य में होना चाहिए, और वह तभी हो सकता है जब कि षड्जग्राम के मध्यम से यानी आज के 'सा' से मध्य सप्तक का आरम्भ किया जाए। यही भरत और मतंग के स्वरित का मूल स्थान है।

इन अनुमानों से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आज की सितार का षड्ज जो भरत मतंग के षड्जग्राम का मध्यम है, वही प्राचीनोक्त सभी मूर्च्छनाओं का आधार है। वही प्राचीन स्वरित है, वही दक्षिणोत्तर समस्त भारत के संगीत के शुद्ध स्वरों का जनक है और वही प्राचीन तथा अर्वाचीन वादन-क्रिया का आधार है। षड्जग्रामिक मध्यम को ही आरम्भक स्वर यानी षड्ज मान कर सब मूर्च्छनाओं से जनित स्वरावली का मध्य सप्तक में ही प्रयोग करने से, लोग कहीं यह भूल न जाएँ कि उनका षड्जग्रामिक मूल षड्ज कहाँ है, संभवतः इसीलिए भरतादि ऋषियों ने षड्जग्राम की चौथी मूर्च्छना को, जिसमें कि षड्जग्रामिक मूल स्वर-व्यवस्था शुद्ध रूप में मिलती है, शुद्धषाड्जी संज्ञा दी है।

ऊपर के विवरण से यह सिद्ध होता है कि स्वरित की भावना भरत के काल में भी विद्यमान थी। शार्ङ्गदेव के काल में ही वह पुष्ट हुई हो ऐसी बात नहीं है।

अब प्रश्न यही रह जाता है कि शार्ङ्गदेव की भाँति भरत या मतंग ने विकृत स्वरों का निरूपण क्यों नहीं किया। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ विवेचना करने के पूर्व एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। आगे चलकर शार्ङ्गदेव के विकृत स्वरों का विवरण देखने से यह स्पष्ट होगा कि शार्ङ्गदेव ने भरत की उल्लिखित स्वर-ग्राम-व्यवस्था का ही स्पष्टीकरण मात्र किया है, किसी भी नवीन स्वर-अन्तराल की योजना उन्होंने नहीं की है। आज जिन स्वरों को हम 'विकृत' के रूप में पहिचानते हैं, उन सबका उल्लेख तो शार्ङ्गदेव ने भी नहीं किया है। अतएव उपर्युक्त प्रश्न के उपर जो विवेचना नीचे की जाएगी, उससे जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचेंगे, वह भरत या मतंग की भाँति शार्ङ्गदेव पर भी लागू होगा। प्राचीनों की कही हुई स्वर-व्यवस्था में आज के सभी विकृत स्वर-अन्तरालों का समावेश क्यों नहीं किया गया है, इस सम्बन्ध में हमारी धारणा निम्नोक्त है।

भरत ने जिन जिन मूर्च्छनाओं और जातियों का निरूपण किया है उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के काल में भिन्न-भिन्न स्वरों से मूर्च्छनाओं का आरम्भ होता था और भिन्न-भिन्न स्वरों को ग्रह मानने से स्वरों के भिन्न भिन्न अन्तराल उपजते थे। ग्रन्थों में 'मध्यमांशग्रहन्यासा' या 'धैवतांशग्रहन्यासा' ऐसे जो उल्लेख पाए जाते हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि जिस स्वर से जिस मूर्च्छना का आरम्भ होता था, वही स्वर उस मूर्च्छना से बनने वाली शुद्धा जाति का ग्रह, अंश न्यास होता था। शुद्धा जाति से विकृत भेद बनाते समय ग्रह, अंश के सम्बन्ध में तो उपर्युक्त नियम का भंग किया जा सकता था, किन्तु न्यास स्वर में कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता था। इसलिए जाति के न्यास स्वर को ही उसका स्वरित मानना पड़ेगा। न्यास उसे कहते हैं, जहाँ पर गीत, आलाप, गान या तान की परिसमाप्ति होती है। स्वरित की व्याख्या भी वही है कि जहाँ पर पूर्ण-विराम हो। बोलचाल की भाषा में इसे हम यों समझ सकते हैं कि जैसे वाक्य में कहीं अल्प विराम,

कहीं अर्ध विराम होने पर भी वाक्य की पूर्णता पूर्णविराम पर ही होती है, तद्वत् गान-क्रिया में जिस स्वर पर पूर्ण-विराम हो, वही उसका न्यास होता है और उसी को स्वरित कहा है। आज भी गायन-वादन की क्रिया में तीनों सप्तकों में विस्तार करने पर भी अन्त में हम षड्ज पर यानी स्वरित पर ही न्यास करते हैं यानी पूर्ण-विराम करते हैं। इसीलिए भरतादि आचार्यों की आज्ञा है कि न्यास स्वर कभी तार में न हो। न्यास-स्वर के सम्बन्ध में, विकृत जाति भेदों में भी परिवर्तन नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि भरतोक्त जाति-गान में भिन्न-भिन्न जातियों के न्यास-स्वर भिन्न-भिन्न कहे गए हैं। इसी से कुछ लोगों ने अनुमान किया है कि यदि स्वरित और न्यास स्वर को एक ही मान लिया जाए, तो सभी मूर्च्छनाओं या सभी जातियों का आरम्भ तथा उनकी न्यास-क्रिया मध्य सप्तक में नहीं हो सकती। यहाँ यह विचारणीय है कि भरत ने या मतंग ने वादन-सौकर्य और तीन स्थान की प्राप्ति के निमित्त सभी मूर्च्छनाओं को 'मध्यम' से या 'मध्यसप्तक' से आरम्भ करने को जो कहा है, उस वचन के साथ जातियों की इस भिन्न-भिन्न न्यास-स्वर की व्यवस्था की संगति कैसे बिठाई जाए ?

इस सम्बन्ध में हमारा अपना अनुमान यह है कि जिस प्रकार आज पाश्चात्य संगीत में प्रथम एक मूल स्वर को tonic (स्वरित) मानकर उससे जिस स्वरावली का आरंभ किया गया हो, उसी स्वरावली को भिन्न-भिन्न स्वरों से आरम्भ करके उसी में भिन्न-भिन्न स्वरान्तर उत्पन्न किये जाते हैं, और उनके द्वारा भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति की जाती है, तद्वत् भरत काल में भी मूल स्वरित को स्थिर रखकर, उससे जिस स्वरावली को उपजाया गया हो, वही स्वरावली भिन्न-भिन्न स्वरों को आरम्भ-स्थान मानकर प्रयुक्त करने पर उससे भिन्न-भिन्न स्वरों के अन्तराल दिखाई देते होंगे। भिन्न-भिन्न स्वरों को आरम्भ-स्थान मानकर उस स्वरावली का प्रयोग करते समय कुछ क्षणों के लिए मूल स्वरित तिरोहित हो जाता होगा और जब जब जिस जिस स्वर से आरम्भ किया जाता होगा, तब तब वही स्वरित है, ऐसा भास होता होगा। ऐसी क्रिया से, स्वरों के जो भिन्न-भिन्न अन्तराल उपजते होंगे, वे भिन्न-भिन्न भावों और रसों की अभिव्यक्ति करते होंगे और इस प्रकार भिन्न-भिन्न भावनाओं को निदर्शित करके पुनः मूल षड्ज, जो तिरोहित किया गया होगा, उस पर पूर्ण न्यास किया जाता होगा। आरम्भ-स्थान के परिवर्तन मात्र से अन्तराल विकृति होने पर भी मूल स्वरावली में तो कोई विकार नहीं आता है; इसीसे उन्हें विकृत स्वरों की भिन्न व्यवस्था दिखाने की आवश्यकता न पड़ी हो, यह संभव है।

जिन्हें किसी विद्यालय या गुरु-घराने में संगीत की शिक्षा पाने का सौभाग्य मिला होगा, यदि उनमें observation या सूक्ष्म निरीक्षण की वृत्ति रही होगी, तो उन्हें निम्न प्रकार के अनुभव अवश्य हुए होंगे। यथा—मान लीजिए कि किसी एक कमरे में बैठकर अभ्यास करने वाले विद्यार्थी किसी एक स्वर को स्वरित मानकर कल्याण राग का अभ्यास कर रहे हैं। तद्वत् किसी दूसरे कमरे में अन्य विद्यार्थी उस पहिले वाले स्वरित के काकली निषाद को स्वरित मानकर अभ्यास कर रहे हैं। दूसरे कमरे वाले विद्यार्थी कहीं बीच में कुछ क्षणों के लिए अपना अभ्यास छोड़ दें और उन्हें पहिले कमरे वाले विद्यार्थियों का कल्याण राग सुनाई दे तो पहिले कमरे वालों का स्वरित भिन्न होने के कारण दूसरे कमरे वालों को वह कल्याण भैरवी के रूप में सुनाई देगा।

भरतादि के काल में भी तो संगीत के गुरुकुल रहे होंगे और उन गुरुगृहों में भिन्न-भिन्न कण्ठ के विद्यार्थी भिन्न-भिन्न स्वरों को स्वरित मानकर अभ्यास करते होंगे। इस प्रकार एक ही स्वरावली को, भिन्न-भिन्न स्वरों को आरम्भ-स्थान मानकर, प्रयुक्त करने से उत्थित होनेवाली भिन्न-भिन्न मूर्च्छनाओं का अनुभव उस काल में भी होता ही होगा। इससे यह सहज प्रतीति होती है कि इस प्रकार के कल्याण या भैरवी में

प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न विकृत स्वरान्तरों से भरतादि ग्रन्थकार अपरिचित नहीं ही रहे होंगे। किन्तु ये सब विकृत स्वर, एक ही स्वरावली की भिन्न-भिन्न मूच्छनाओं में संप्राप्त होते हैं, ऐसा मानकर उन्होंने विकृत स्वरों के पृथक् निरूपण की आवश्यकता नहीं समझी होगी।

एक अन्य उदाहरण ले लें। गुणीजन जानते हैं कि मारवा गाते समय षड्ज, जो कि उस राग में अत्यल्प है, उसे कुछ क्षणों के लिए बिल्कुल ही लोप किया जाए और रे॒ ग म॒ ध नि रें॒ इस तान को आरोहावरोह द्वारा बार बार दिखाया जाए, तो तम्बूरे पर स्वरित स्वर यानी 'सा' सतत बजते रहने पर भी श्रोताओं का ध्यान उससे हट जाता है और उन्हें उस रे॒ ग म॒ ध नि रें॒ में मालकौंस की स्वरावली सुनाई देने लगती है। कुशल कलाकार इस प्रकार के न्यास स्वर के परिवर्तन से भिन्न भिन्न रागों के आविर्भाव और तिरोभाव दिखा कर स्वरों की चमत्कृतियों का दर्शन कराते हुए अन्त में पुनः मूल राग का आविर्भाव बताते हैं और मूल स्वरित पर न्यास करते हैं। क्रियाकुशल सभी लोग यह जानते हैं और इससे यह स्पष्ट होता है कि कल्याण और भैरवी एवं मारवा और मालकौंस के स्वरों में महदन्तर होते हुए भी कुछ क्षणों के लिए एक में दूसरे का दर्शनाभास एवं मूल राग से भिन्न भाव का भास हो जाता है। इस दर्शनाभास के होते हुए भी मूल स्वरित की स्वरावली एक सी ही रहती है। उस स्वरित का स्वरूप क्षण भर के लिए भले ही ओझल हो जाए, किन्तु वह अपरिवर्तनशील ही रहता है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण और देख लें। जिन्हें कल्याण में भैरवी और मारवा में मालकौंस देखने का सूक्ष्म अभ्यास नहीं है, वे निम्नोक्त उदाहरण को सरलता से समझ सकेंगे, ऐसी आशा है। भूपाली जैसा राग जो सामान्य जनता से अपरिचित नहीं है, उसी की स्वरावली के भिन्न भिन्न स्वरों को क्षण भर के लिए ग्रह और न्यास मानकर आरोहावरोह किया जाए तो उसी स्वरावली में से भिन्न भिन्न स्वरान्तराल प्राप्त होंगे और उनके द्वारा भिन्न भिन्न रागों का दर्शन होगा। यथा :—

ग्रह-न्यास स्वर	मूल स्वरावली	ग्रह-न्यास को सा मानने से प्राप्त हुई स्वरावली	निर्दिशत राग
सा	सा रे ग प ध सां	सा रे ग प ध सां	भूपाली
रे	रे ग प ध सां रें	सा रे म प नि॒ सां	सारंग
ग	ग प ध सां रें गं	सा ग॒ म ध॒ नि॒ सां	मालकौंस
प	प ध सां रें गं पं	सा रे म प ध सां	दुर्गा
ध	ध सां रें गं पं धं	सा ग॒ म प नि॒ सां	भीम

इन्हीं स्वरावलियों को सोपान के रूप में यों दिखा सकते हैं :—

सा—रे—ग—प—ध—सां	सा—रे—ग—प—ध —सां—भूपाली
रे—ग—प—ध—सां—रें.....	सा—रे—म—प—नि॒—सां—सारंग
ग—प—ध—सां—रें—गं	सा—ग॒—म॒—ध॒—नि॒—सां—मालकौंस
प—ध—सां—रें—गं—पं.....	सा—रे—म—प— ध —सां—दुर्गा
ध—सां—रें—गं—पं — धं	सा—ग॒—म॒—प—नि॒—सां—भीम या धानी

एक ही स्वरावली में से उद्भूत भिन्न भिन्न अन्तरालों के पृथक् नामकरण की आवश्यकता न मान कर भरतादिक ने विकृत स्वरों को अपनी स्वर-व्यवस्था में स्थान नहीं दिया होगा, यह इससे भी स्पष्ट होगा। एक ही स्वरावली से उत्पन्न होने वाले भिन्न भिन्न अन्तरालों को भिन्न भिन्न स्वर मानने से मूल स्वरावली तिरोहित या लुप्त या विस्मृत होने की संभावना मान कर उन्होंने उन अन्तरालों को विकार रूप में स्वीकार न किया हो, ऐसी पूर्ण संभावना है।

संभवतः इसीलिए उन्होंने षड्जग्राम और मध्यमग्राम की मूल दो स्वरावलियों को ही आधारभूत मान कर तदनुसार सारी स्वर-व्यवस्था का उल्लेख किया है। पहिले ग्राम-प्रकरण में हम इस विषय की कुछ स्पष्टता कर चुके हैं। आगे मूर्च्छना-प्रकरण में यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि इन दो ग्रामों की मूल स्वरावलियों से बनी हुई मूर्च्छनाओं में बाईसों श्रुतियाँ किस प्रकार स्वर का स्थान पा जाती हैं। इन दोनों मूल स्वरावलियों में अन्तर और काकली का भी समावेश रहता है। इसी से अन्तर-काकली-युक्त इन दो मूल स्वरावलियों के अतिरिक्त अन्य अन्तरालों को स्वर के रूप में उल्लिखित करने की प्राचीनों को आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई होगी।

भरतादि का स्वरित एक होते हुए भी, उनका जाति-गान भिन्न भिन्न आरंभक स्वरों से प्रयुक्त होता हुआ, भिन्न भिन्न न्यास-स्वर दिखाता हुआ, भिन्न भिन्न स्वरावलियों का भिन्न भिन्न भास कराता हुआ और उन आभासों से भिन्न भिन्न भावों की सृष्टि निर्माण करता हुआ अन्त में मध्य सप्तक के षड्ज पर ही अपने स्वरित की स्थापना करता होगा, ऐसा स्वाभाविक अनुमान किया जा सकता है। संभवतः इसीलिए भरतादि पूर्वाचार्यों ने अन्तर काकली के अतिरिक्त अन्य विकृत स्वरों को स्थान नहीं दिया होगा।

इसके अतिरिक्त एक अनुमान यह भी किया जा सकता है कि वीणा पर जो सारियाँ या पर्दे बँधे हुए हैं, केवल उन्हीं को प्राचीनों ने स्वर-स्थान के रूप में स्वीकार किया हो। वीणा-वादन की क्रिया में श्रुतियों के सूक्ष्म नादों का उपयोग होने पर भी स्वर-स्थान तो उन्हीं पर्दों पर स्थित रहते हैं और उन्हीं पर्दों पर, आरम्भ-स्थान के परिवर्तन मात्र से भिन्न भिन्न स्वरावलियाँ उद्भूत होती हैं। उसके लिए पर्दों के स्वर स्थानों में परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं होती (जैसा कि हम नीचे स्पष्ट करेंगे)।* इसलिए स्वरों के भिन्न भिन्न अन्तरालों का समझपूर्वक अपनी क्रिया में उपयोग करते हुए भी उन्होंने अपने मूल स्वर-स्थान अपरिवर्तनशील माने होंगे और इसीलिए विकृत स्वरों की गणना की उन्होंने आवश्यकता नहीं मानी होगी, यह भी संभव है।

शार्ङ्गदेव ने स्वयं कहा है :—

वक्ष्यते स्वरवीणात्र तस्यामपि विचक्षणाः। अङ्कित्वा स्वरदेशानां भागानुद्भिन्दते श्रुतीः॥

अर्थात्—अब मैं स्वरवीणा बताऊँगा। उस पर भी विचक्षण लोग (श्रुतियों के पर्दे न रहने पर भी) स्वर-स्थानों के (पारस्परिक अन्तर के) भागों को पृथक् अंकित करके श्रुतियों का प्रयोग कर लेते हैं।

इस वचन से भी स्पष्ट है कि भरतादि पूर्वाचार्यों तथा शार्ङ्गदेव के काल में भी स्वरवीणा पर बँधे हुए पर्दों को ही स्वर-स्थान मानकर चला जाता होगा। उन पर्दों के अन्तराल में निहित अन्य सूक्ष्म नादों का प्रयोग करते हुए भी उन्हें मूल स्वर-स्थानों से भिन्न मानकर 'विकृत' स्वरों के रूप में उनका उल्लेख नहीं किया गया होगा। इस सम्बन्ध में शार्ङ्गदेव ने तो मात्र नूतन नामाभिधान द्वारा भरत के कथन की स्पष्टता ही की है, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

---

* बाज को तार को आवश्यकतानुसार उतारकर या चढ़ाकर वीणा के पर्दों को सरकाए बिना, किस प्रकार वाञ्छित स्वरावली बजाई जा सकती है, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज वीणा या सितार पर जो पर्दे बँधे रहते हैं, यदि ऐसे ही पर्दे उस काल में भी बँधे रहते होंगे, तो आधुनिक मन्द्र पंचम का जो पर्दा है, जो प्राचीनकाल में षड्जग्रामिक षड्ज था, उसके बाद ही द्विश्रुति के अन्तर पर जो आज का कोमल धैवत का पर्दा है, उसे प्राचीनों ने कोमल ऋषभ के रूप में क्यों नहीं उल्लिखित किया ? प्रश्न का समाधान करना यह ग्रन्थकार का कर्तव्य है।

हम पहिले ही कह चुके हैं* कि वीणा पर प्राचीन परम्परा से जो पर्दे बँधे हुए चले आ रहे हैं, उनमें ऐसी व्यवस्था रखी गई है कि कहीं से भी आरम्भ करने पर अन्तर—कालकी-युक्त स्वर-सप्तक पूर्णरूप से प्राप्त हो सके। इस दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मेरुस्थित बाज की तार के मुक्त नाद को षड्ज मानकर चलने से वही आज के कोमल धैवत वाला पर्दा षट्श्रुतिक गान्धार हो जाएगा तथा उससे एक श्रुति के अन्तर पर स्थित आज के शुद्ध धैवत का पर्दा अन्तर गान्धार हो जाएगा।

आगे चलकर मूर्च्छना-प्रकरण (षष्ठ अध्याय) में यह स्पष्ट होगा कि भिन्न-भिन्न मूर्च्छनाओं में कोमल ऋषभ धैवत और तीव्र मध्यम का भी प्रयोग हुआ है। किन्तु उन सभी स्वरों का स्थान द्वैग्रामिक अन्तर-काकलीयुक्त स्वर-व्यवस्था में ही निबद्ध है, यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। उसका एक उदाहरण ले लें। यथा—षड्जग्रामिक शुद्ध स्वर-सप्तक, जो कि शुद्धषाड्जी मूर्च्छना में उपलब्ध होता है, जिसका आरंभ-स्थान आधुनिक मन्द्र पञ्चम है, उस स्वर-सप्तक में जो पर्दा काकली निषाद के रूप में प्रयुक्त होता है, वही पर्दा षड्जग्राम के मध्यम की मूर्च्छना यानी उत्तरमन्द्रा में तीव्र मध्यम बन जाता है। तद्वत् षड्जग्रामिक ऋषभ और आधुनिक धैवत से आरंभ होने वाली मूर्च्छना (उत्तरायता) में भैरवी का स्वररूप प्राप्त होता है, जिसमें कोमल ऋषभ-धैवत का प्रयोग होता है। किन्तु ये सभी स्वर उन बाँधे हुए पर्दों के स्वरस्थान पर ही निनादित होते हैं और इस प्रकार उन सबका उद्भव अन्तर-काकली-युक्त स्वर-सप्तक में से ही हो जाता है। तद्वत् त्रिश्रुति पञ्चमादि जिन स्वरों का प्रयोग मध्यम-ग्राम में होता है, उनका विवरण भी ग्राम-व्यवस्था समझते समय भरतादिक ने दे ही दिया है। इसीलिए अन्तर-काकली युक्त सप्त स्वरों के अतिरिक्त अन्य विकृत स्वरों के उल्लेख की उन्होंने आवश्यकता नहीं मानी होगी। प्राचीन संगीत-ऋषि कितने सुलझे हुए क्रियाकुशल पंडित रहे होंगे कि जिन्होंने अन्तर-काकली-युक्त द्वैग्रामिकी स्वर-व्यवस्था को स्थापित करके सभी प्रकार के संभवित स्वरान्तरों का सम्यक् समावेश अपने संगीत में कर लिया था! यह उनकी अपनी बताई हुई स्वर-व्यवस्था देखने से स्पष्ट हो जाता है।

इन सबके अतिरिक्त, प्राचीनों के विकृत स्वर न मानने का एक और भी कारण हो सकता है, और वह यह कि, जैसा कि हम पहिले कह आए हैं, भरत के विधानानुसार औडव-षाडवादि प्रक्रिया में षड्ज तक का लोप हो सकता था; किन्तु मध्यम सदा अविलोपी माना गया था। इस व्यवस्था से भी इस अनुमान को पुष्टि मिलती है कि जाति-गान में जिस स्वर से जिस जाति का आरम्भ होता होगा, उस स्वर से उद्भूत स्वरावली को देखकर, उन्हीं स्वरान्तरों वाली स्वरावली को मूल स्वरित से आरम्भ करते होंगे। और तदनुसार पर्दे खिसका लिए जाते होंगे।

चल और अचल, ऐसी दो प्रकार की वीणा अभी तक प्रचार में हैं। यह सब कोई जानते हैं। अचल वीणा पर अधिक पर्दे बँधे रहते हैं। इसलिए उस पर पर्दे खिसकाने की आवश्यकता नहीं रहती और चल-वीणा में पर्दों को खिसका कर वाञ्छित स्वर-मेल बना लिया जाता है, जिसे सितार-वादक आज की भाषा में 'ठाठ' कहते हैं। प्रायः सितार-वादक महफ़िलों में राग की फ़र्माइश की माँग करते हुए, वादन-क्रिया के पूर्व यह पूछ लिया करते हैं कि 'कौन सा ठाठ मिलाएं ?'

---

* देखिये ग्राम प्रकरण पृ० ९९,१०० ।

इसके अतिरिक्त पर्दे खिसकाए बिना वाञ्छित स्वरावली प्राप्त करने की एक अन्य प्रक्रिया भी आज क्रियाकुशल वादकों के प्रयोग में दृष्टिगोचर होती है। बाज की तार को आवश्यकतानुसार चढ़ा कर या उतार कर अपेक्षित पर्दे को स्वरित बना कर वे सितार के पर्दों पर वाञ्छित स्वरावली बजा लेते हैं। यथा—आज के षड्ज से वीणा के काकली के पर्दे पर षड्ज स्थापित हो, उतना बाज की तार को चढ़ा कर वे भैरवी बजा लेते हैं। ऐसे ही अन्य स्वरावलियों की स्थापना, पर्दे हटाए बिना भी की जा सकती है और की जाती है। इस प्रकार स्वरित को बिना बदले ही वाञ्छित स्वरावली को सितार के पर्दों पर स्थापित करके वाञ्छित 'ठाठ' के राग बजा लिए जाते हैं। क्या यह संभव नहीं कि इस प्रकार की प्रक्रिया भरतादि के काल में भी प्रचलित रही हो और इसी प्रकार मध्यम को स्वरित मान कर, उसे अविनाशी रखते हुए मध्य सप्तक ही में सभी मूर्च्छनाओं की सिद्धि की जाती हो? और इसीलिए उन्हें स्वरों का अलग से विकृत मान देने की आवश्यकता न प्रतीत हुई हो?

अब तक की विस्तृत विवेचना से यह सिद्ध हुआ कि आज जिन्हें हम विकृत स्वरों के रूप में पहिचानते हैं, उनका प्रयोग भरतादि प्राचीन आचार्यों के काल में भी अवश्य होता था। किन्तु उनका स्वतन्त्र नामाभिधान उस युग में नहीं किया गया था। यह न करने के क्या कारण हो सकते हैं, उन पर भी हमने विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिस युग में श्रुतियों की विवेचना और संगीत द्वारा रसों की निष्पत्ति इत्यादि सूक्ष्म विषयों की मार्मिक विवेचना की गई थी, उस युग के क्रियाकुशल आचार्य भिन्न भिन्न स्वरान्तरालों से अपरिचित तो कदापि नहीं रहे होंगे। इसलिए यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त कारणों से उन्हें इन अन्तरालों के पृथक् निरूपण की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई होगी।

शार्ङ्गदेव के संगीत रत्नाकर में इस 'विकृत' नामाभिधान का सर्वप्रथम प्रयोग उपलब्ध होता है। अब हम उनकी स्वर-व्यवस्था का सम्यक् अवलोकन करें।

शार्ङ्गदेव

शार्ङ्गदेव ने निम्नलिखित द्वादश विकृत स्वरों की गणना की है :—

च्युतोऽच्युतो द्विधा षड्जो द्विश्रुतिर्विकृतो भवेत्।
साधारणे काकलीत्वे निषादस्य च दृश्यते॥
साधारणे श्रुति षाड्जीमृषभः संश्रितो यदा।
चतुःश्रुतित्वमायाति तदैको विकृतो भवेत्॥
साधारणे त्रिश्रुतिः स्यादन्तरत्वे चतुःश्रुतिः।
गान्धार इति तद्भेदौ द्वौ निःशङ्केन कीर्तितौ॥
मध्यमः षड्जवद्द्वेधाऽन्तरसाधारणाश्रयात्।
पञ्चमो मध्यमग्रामे त्रिश्रुतिः कैशिके पुनः।
मध्यमस्य श्रुतिं प्राप्य चतुःश्रुतिरिति द्विधा।
धैवतो मध्यमग्रामे विकृतः स्याच्चतुःश्रुतिः॥
कैशिके काकलीत्वे च निषादस्त्रिचतुःश्रुतिः।
प्राप्नोति विकृतौ भेदौ द्वाविति द्वादशस्मृताः॥

(सं० र० १।३४०-४५)

अर्थात्—षड्ज जब द्विश्रुतिक बनता है, तब विकृत होता है। वह द्विश्रुतिक षड्ज दो प्रकार से विकृत होता है—च्युत रूप से, दूसरे अच्युत रूप से। जब षड्ज अपनी चौथी श्रुति से नीचे उतरता है, तब च्युत होकर विकृत होता है। उसकी इस च्युतावस्था को 'साधारण' संज्ञा दी गई है। उस अवस्था में षड्ज अपनी चौथी श्रुति से एक श्रुति नीचे उतर कर तीसरी श्रुति पर अवस्थित रहता है। उस अवस्था में, उसकी चौथी श्रुति ऋषभ को मिल जाती है और पहिली श्रुति निषाद को। यह 'च्युतावस्थायुक्त' विकृत षड्ज हुआ। दूसरे प्रकार में अर्थात् 'अच्युतावस्थायुक्त विकृतत्व' में षड्ज अपनी चौथी श्रुति पर ही अवस्थित रहता है और उसकी पहिली दो श्रुतियाँ निषाद को मिल जाती हैं। इस अवस्था में षड्ज में ध्वनि दृष्टि से कोई विकार नहीं आता, परन्तु निषाद को षड्ज की प्रथम दो श्रुतियाँ मिल जाने से षड्ज की आयतत्त्व मर्यादा में संकोच अवश्य आ जाता है। इसीलिए षड्ज की उस अवस्था को शार्ङ्गदेव ने विकृत माना है।[१] षड्ज की उपर्युक्त 'साधारण' अवस्था में (अर्थात् जब षड्ज अपनी चौथी श्रुति की बजाय तीसरी पर स्थित होता है तब) ऋषभ को षड्ज की चौथी श्रुति मिल जाती है और वह चतुःश्रुतिक बन कर विकृत होता है। यहाँ भी ऋषभ का स्थान तो अपरिवर्तित ही रहता है। गान्धार के भी दो विकृत भेद हैं। गान्धार जब मध्यम की पहिली श्रुति ले लेता है, तब त्रिश्रुतिक बन कर विकृत होता है। जब वह मध्यम की पहली दो श्रुतियों को ले लेता है, तब उसकी अन्तर गान्धार संज्ञा होती है और वह चतुःश्रुतिक बन जाता है। मध्यम भी षड्ज की भाँति दो प्रकार से विकृत होता है। वे दो अवस्थाएँ क्रमशः मध्यम की अपनी 'साधारणावस्था' और गान्धार के अन्तरत्व से होती है। जब मध्यम अपनी चौथी श्रुति से च्युत होकर तीसरी पर स्थित होता है, तब उसकी 'साधारणावस्था' होती है एवं अपने स्थान से च्युत होने के कारण उसे च्युत मध्यम भी कहा जाता है। जब गान्धार को मध्यम की पहली दो श्रुतियाँ मिल जाती हैं, तब अच्युतावस्था में (स्थान-परिवर्तन के बिना ही) मध्यम विकृत बनता है और अच्युत मध्यम कहलाता है। पञ्चम भी दो प्रकार से विकृत बनता है। एक तो जब वह अपनी चौथी श्रुति से एक श्रुति नीचे उतरता है, और तीसरी श्रुति पर स्थित होता है, तब त्रिश्रुतिक रूप से विकृत होता है। यही मध्यम ग्राम का पञ्चम है। पञ्चम की यह एक विकृतावस्था हुई। उसकी दूसरी विकृतावस्था तब होती है, जब मध्यम 'साधारणावस्था' को प्राप्त होता है, अर्थात् वह (मध्यम) एक श्रुति नीचे उतरता है। उस अवस्था में उस त्रिश्रुति पञ्चम को मध्यम की चौथी श्रुति मिल जाती है और वह चतुःश्रुति बनकर कैशिक पञ्चम कहलाता है। धैवत एक प्रकार से ही विकृत होता है। मध्यमग्राम में जब पञ्चम एक श्रुति नीचे उतरता है, तब उसकी चौथी श्रुति धैवत को मिल जाती है और वह धैवत चतुःश्रुति बन कर विकृत होता है। निषाद दो प्रकार से विकृतावस्था पाता है। जब निषाद, षड्ज की 'साधारणावस्था' में उसकी पहली श्रुति ले लेता है, तब वह कैशिक निषाद कहलाता है और जब वह षड्ज की पहली दो श्रुतियाँ ले लेता है, तब काकली निषाद कहलाता है।

इस प्रकार 'रत्नाकर' कार ने कुल उन्नीस शुद्ध विकृत स्वर कहे हैं, जो अगले पृष्ठ पर दी हुई सारिणी से स्पष्ट हो जाएंगे :—

ऊपर उद्धृत शार्ङ्गदेव के श्लोक और उनकी टीका को पढ़कर सामान्य जन ही नहीं, क्रियाकुशल गुणियों का भी उलझ जाना स्वाभाविक है। और जो केवल पण्डित ही हैं, उनके लिये तो 'रत्नाकर' की यह विकृत स्वर-व्यवस्था अगम्य ही रहे और इस विषय की अगम्यता ही 'रत्नाकर' पर अस्पष्टता के दोषारोपण का कारण बन बैठे, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस सम्बन्ध में जो उलझन सर्वप्रथम सामने आती है, वह है षड्ज की विकृतावस्था। उसकी अच्युतावस्था-विकृति तो केवल अन्तराल-विकृति की सूचक है, स्थान-विकृति की नहीं। इसलिए उससे तो कोई उलझन नहीं होती। किन्तु षड्ज की च्युतावस्था-विकृति अवश्य ही उलझन में डाल देती है। वह उलझन और उसका हल निम्नोक्त है।

---

१ सिंहभूपाल की टीका पर आधारित।

श्रुति-संख्या तथा नाम	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
मेरु २२ क्षोभिणी		मेरु
१—तीव्रा	.....	.....
२—कुमुद्वती	.....	.....
३—मन्दा	.....	.....
४—छन्दोवती	.....शुद्धषड्ज.....	....अच्युतषड्ज.....
५—दयावती	.....	.....
६—रञ्जनी	.....	.....
७—रक्तिका	.....शुद्ध ऋषभ.....	.....विकृत (चतुःश्रुति) ऋषभ.....
८—रौद्री	.....	.....
९—क्रोधा	.....शुद्ध गान्धार.....	.....
१०—वज्रिका	.....	.....साधारण गान्धार.....
११—प्रसारिणी	.....	.....अन्तर गान्धार.....
१२—प्रीति	.....	.....च्युत मध्यम.....
१३—मार्जनी	.....शुद्ध मध्यम.....	.....अच्युत मध्यम.....
१४—क्षिति	.....	.....
१५—रक्ता	.....	.....
१६—सन्दीपनी	.....	.....त्रिश्रुति पञ्चम.....
१७—आलापिनी	.....शुद्ध पञ्चम.....	.....
१८—मदन्ती	.....	.....
१९—रोहिणी	.....	.....
२०—रम्या	.....शुद्ध धैवत.....	.....विकृत (चतुःश्रुति) धैवत.....
२१—उग्रा	.....	.....
२२—क्षोभिणी	.....शुद्ध निषाद.....	.....
१—तीव्रा	.....	.....कैशिक निषाद.....
२—कुमुद्वती	.....	.....काकली निषाद.....
३—मन्दा	.....	.....च्युत षड्ज.....

षड्ज की विकृतावस्था बताते हुए शार्ङ्गदेव कहते हैं कि षड्ज जब च्युतावस्था में विकृत होता है, तब वह अपने स्थान से एक श्रुति नीचे उतरता है और उस अवस्था में निषाद एक श्रुति ऊपर चढ़ जाता है और वह क्षोभिणी पर न रह कर तीव्रा पर अवस्थित होता है। दूसरी भाषा में—षड्ज छन्दोवती पर स्थित न रह कर जब मन्दा श्रुति पर अवस्थित होता है, तब वह च्युतावस्था में विकृत कहलाता है। षड्ज की इसी अवस्था को शार्ङ्गदेव ने 'षड्जसाधारण' कहा है। यथा :—

निषादो यदि षड्जस्य श्रुतिमाद्यां समाश्रयेत्। ऋषभस्त्वन्तिमां प्रोक्तं षड्जसाधारणं तदा॥

यहाँ उलझन यही होती है कि प्रत्यक्ष क्रिया में तो षड्ज अपने स्थान से च्युत नहीं ही होता है। छः स्वरों का जनक जो षड्ज है, यदि वही च्युत हो जाए, तो उसके साथ उसी अनुपात से सारे ही स्वर च्युत होने चाहिए। अन्यथा उसकी 'षड्ज' संज्ञा निरर्थक हो जाती है। शार्ङ्गदेव ने तो इतना ही कहकर छोड़ दिया है कि षड्ज के च्युत होने से ऋषभ को उसकी अन्तिम श्रुति मिल जाती है। और वह ऋषभ त्रिश्रुतिक की बजाय चतुःश्रुतिक बन जाता है। किन्तु षड्ज के एक श्रुति च्युत हो जाने से अन्य सभी स्वरों के साथ उसका संवाद-सम्बन्ध, जो टूट जायगा, उसका क्या होगा? उसी अनुपात में सभी स्वरों को उतारे बिना वह स्वर-सप्तक गायन वादन योग्य हो ही नहीं सकता।

इस उलझन का उत्तर शार्ङ्गदेव ने स्वयं, 'साधारण प्रकरण' में दे दिया है, जो निम्नोक्त है।

हम जानते हैं कि सभी स्वरों को एक एक श्रुति उतारने की क्रिया तो सारणा-चतुष्टय में ही होती है। उसमें से भी जो प्रथम सारणा कही गई है, जिसमें सर्वप्रथम पञ्चम एक श्रुति नीचे उतरता है और उससे मध्यम-ग्राम सदृश स्वर-व्यवस्था बनती है, उसी सारणा की यह प्रथम क्रिया (पञ्चम को एक श्रुति उतारना) बताने के बाद ही यह कहा गया है कि सारी वीणा को पुनः षड्जग्रामिकी बनाया जाए। उस आदेशानुसार जब सारी वीणा षड्जग्रामिकी बनाई जाएगी, तब उसी अनुपात में, षड्ज को भी एक श्रुति नीचे उतारा जाएगा, जिससे वह उस त्रिश्रुति पञ्चम के साथ संवाद करे। तभी वीणा पुनः षड्जग्रामिकी बनेगी। इस प्रकार एक श्रुति उतरे हुए षड्ज के साथ उस उतरे हुए त्रिश्रुति पञ्चम का संवाद हो जायगा और षड्जग्राम का जो मूल त्रिश्रुति ऋषभ है, जिसका चतुःश्रुति पञ्चम के साथ संवाद नहीं होना था, उसका उस त्रिश्रुति पञ्चम के साथ षड्जमध्यम-भाव से संवाद बन जाएगा। यद्यपि षड्ज के एक श्रुति उतर जाने से, षड्ज से उस ऋषभ का अन्तराल चतुः-श्रुति का हो जाता है, तथापि उसके स्थान में कोई च्युति नहीं आती। जैसे षड्ज के एक श्रुति उतरने से ऋषभ चतुःश्रुतिक हो गया, वैसे ही उसी प्रथम सारणा में पञ्चम के एक श्रुति उतर जाने से धैवत भी चतुःश्रुतिक बन जाता है। जैसे षड्ज पञ्चम का संवाद बनाने के लिए षड्ज को एक श्रुति नीचे उतारा गया, तद्वत् उस उतरे हुए षड्ज के साथ मध्यम का संवाद बनाने के लिए मध्यम को भी एक श्रुति नीचे उतारना पड़ेगा और उस अवस्था में वह उतारा हुआ त्रिश्रुति पञ्चम, मध्यम की एक श्रुति मिल जाने से पुनः चतुःश्रुतिक हो जाएगा।

षड्ज और मध्यम की साधारणावस्था में क्रमशः निषाद और गान्धार की क्या अवस्था होती है, इसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। शार्ङ्गदेव कहते हैं कि निषाद और गान्धार उस अवस्था में एक एक श्रुति ऊपर चढ़ जाते हैं। षड्ज को और मध्यम को एक एक श्रुति उतारने के बाद क्रमशः काकली निषाद और अन्तर गान्धार को भी एक एक श्रुति उतारना चाहिए था। किन्तु वैसा न करके शुद्ध निषाद और शुद्ध गान्धार को चढ़ाने को क्यों कहा गया? उतारने को क्यों नहीं कहा? इसका समाधान यों है कि षड्ज और मध्यम को एक श्रुति उतारने के बाद उनकी निकटवर्ती श्रुतियों पर क्रमशः काकली निषाद और अन्तर गान्धार के पर्दे में विद्यमान हैं ही। ऐसी अवस्था में शुद्ध गान्धार और शुद्ध निषाद को एक एक श्रुति चढ़ाना ही शेष रह जाता है। इसीलिए उन्हें चढ़ाने को कहा गया है। इस प्रकार षड्ज और मध्यम की एक श्रुति उतरी हुई अवस्था में जब पुनः षड्जग्राम बनाया जायगा, तब वे चढ़े हुए निषाद गन्धार क्रमशः काकली और अन्तर गान्धार हो जाएँगे।

प्रथम सारणा में सर्वप्रथम पञ्चम को एक श्रुति उतार कर षड्जग्रामिकी स्वर-व्यवस्था का भंग करके पुनः वीणा पर षड्जग्रामिकी स्वर-व्यवस्था स्थापित करने के लिये षड्ज और मध्यम को उपर्युक्त रीति से उतारने की जो क्रिया करनी पड़ती है उसी को शार्ङ्गदेव ने 'षड्जसाधारण' और 'मध्यसाधारण' इन संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया है। इन दो प्रकार के 'स्वर-साधारण' का उपयोग ग्राम-व्यवस्था समझने या समझाने के लिए ही है, यह शार्ङ्गदेव के निम्न वचन से स्पष्ट होता है :—

त एव कैश्चिदुच्येते ग्रामसाधारणे बुधैः।

(सं० र० १।५।९)

अर्थात्—षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण को ही कोई कोई बुधजन 'ग्रामसाधारण' कहते हैं।

इन दो स्वर-साधारणों का तात्पर्य ग्राम-व्यवस्था समझाने से ही है, वह शार्ङ्गदेव के निम्न वचन से भी स्पष्ट होता है :—

साधारणं मध्यमस्य मध्यमग्रामगं ध्रुवम् ॥

(सं० र० १ । ५ । ९)

अर्थात्—'मध्यमसाधारण' मध्यमग्राम में ही होता है।

इसी वचन से यह भी सिद्ध है कि जिस प्रकार **'मध्यमसाधारण'** मध्यमग्राम में ही होता है, उसी प्रकार 'षड्जसाधारण' षड्जग्राम में ही होता है।

इन दोनों स्वर-साधारणों का उपर्युक्त रीति से दो ग्रामों में नियमन करने का तात्पर्य यह है कि मध्यम-ग्राम-सदृश स्वर-व्यवस्था में जब पञ्चम त्रिश्रुतिक बन जाता है, तभी मध्यम को एक श्रुति नीचे उतारा जा सकता है। अन्यथा पञ्चम के चतुःश्रुतिक रहते हुए यदि मध्यम को एक श्रुति उतारा जाएगा तो दोनों के बीच पाँच श्रुति का अन्तर हो जाएगा, जो कि अभीष्ट नहीं है, अपितु विवादी होने के कारण अनिष्ट है। उसी प्रकार षड्ज को एक श्रुति उतारने की क्रिया, मध्यमग्राम से पुनः षड्जग्राम बनाने के लिए ही की जाएगी। षड्ज के उतरते ही मध्यमग्राम का भंग होकर षड्जग्राम की स्थापना हो जाएगी, क्योंकि षड्ज-पञ्चम संवाद पुनः बन जाएगा। इसीलिए कहा है कि षड्जसाधारण षड्जग्राम में ही होगा और मध्यमसाधारण मध्यमग्राम में ही होगा। 'रत्नाकर' के इस विधान के लिए भरत का निम्नलिखित वचन आधार है:—

स्वरसाधारणं द्विविधं, द्वैग्रामिक्यं कस्मात् ? षड्जग्रामे षड्साधारणं, मध्यमग्रामे मध्यम-साधारणम्। साधारणोऽत्र स्वरविशेष इति स्वरसाधारणम्।

(ना० शा० २८)

षड्जसाधारण और मध्यमसाधारण में एक एक श्रुति के सूक्ष्मान्तरों का प्रयोग होता है। इसीलिए इन दोनों को 'कैशिक' (केशाग्रान्तरयुक्त) भी कहा है, ऐसा भरत और शार्ङ्गदेव का मत है। यथा :—

अस्य तु प्रयोगसौदर्म्यात् कैशिकं नाम निष्पद्यते।

(ना० शा० २८)

साधारणे कैशिके ते केशाग्रवदणुत्वतः।

(सं० र० १ । ५ । ९)

निषाद और गान्धार अपनी साधारणावस्था में दो श्रुति ऊपर चढ़ कर काकली और अन्तर नाम पाते हैं[१] एवं षड्ज तथा मध्यम अपनी साधारणावस्था में एक एक श्रुति नीचे उतरते हैं। यह हम अभी देख ही चुके हैं। इन चार प्रकार के स्वर-साधारण में से अन्तर और काकली का तो प्रत्यक्ष क्रिया में उपयोग होता है। इसीलिए शार्ङ्गदेव ने इनके प्रयोग के सम्बन्ध में स्पष्ट विधान भी दिया है[२]। किन्तु षड्जसाधारण और मध्यम साधारण का प्रत्यक्ष गायन-वादन-क्रिया में कोई उपयोग न होने से इनके सम्बन्ध में ऐसा कोई विधान नहीं दिया

---

१ अन्तर-काकली के इस स्वर-साधारण का स्पष्टीकरण छठे अध्याय में मूर्च्छना-प्रकरण में किया जाएगा।

२ अन्तरस्यापि गमयोरेवं साधारणं मतम् ॥
प्रयोऽयौ षड्जमुच्चार्य काकलीधैवतौ क्रमात्।
एवं मध्यममुच्चार्य प्रयुञ्जीतान्तरर्षभौ ॥
षड्जकाकलिनौ यद्वोच्चार्य षड्ज पुनर्व्रजेत्।
तत्परान्यतमं चैवं मध्यमं चान्तरस्वरम् ॥
प्रयुज्य मध्यमो ग्राह्यस्तत्परान्यतमोऽथ वा।
अल्पप्रयोगः सर्वत्र काकली चान्तरः स्वरः ॥

(स० र० १।५।३-६)

गया है, यद्यपि इन साधारणावस्था-प्राप्त स्वरों को उन्होंने अपने विकृत स्वरों में स्थान अवश्य दिया है। अतएव यह स्पष्ट है कि षड्ज और मध्यम की साधारणावस्था का दोनों ग्रामों की स्वर-व्यवस्था को स्फुट करने के लिये ही उपयोग और उल्लेख किया गया है।

शार्ङ्गदेव की विकृत स्वर-व्यवस्था को देखते हुए उसमें कुछ नवीनता का आभास अवश्य होता है और इसी दृष्टि से आधुनिक ग्रन्थकारों ने उनके विकृत स्वरों पर विचार किया है। वास्तव में यदि भरत के स्वरों को भली-भाँति ध्यान में लिया जाए तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि 'रत्नाकर' में जो विकृत स्वर निर्दिशत किये गए हैं, उनमें भरतोक्त स्वरों का मात्र नूतन नामाभिधान ही उपलब्ध होता है। अन्तर काकली का स्पष्ट उल्लेख तो भरत में मिलता ही है; त्रिश्रुति पञ्चम और चतुःश्रुति धैवत को भी मध्यमग्राम की स्वर-व्यवस्था में भरत ने स्थान दिया ही है। रत्नाकरोक्त च्युतषड्ज, च्युतमध्यम, कैशिक निषाद, साधारण गान्धार, चतुःश्रुति ऋषभ और कैशिक पञ्चम—ये छैः स्वर भरतोक्त 'षड्ज साधारण' और 'मध्यम-साधारण' की स्पष्टता करते समय ही 'रत्नाकर'कारने दिखाए हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं। उसी प्रकार अच्युत-षड्ज और अच्युत मध्यम भी क्रमशः भरतोक्त काकली और अन्तर गान्धार के स्वर-साधारण से षड्ज और मध्यम की जो अन्तराल विकृति होती है, उसी के सूचक हैं। स्थानदृष्टि से तो इनमें कोई विकृति नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शार्ङ्गदेव ने कोई नये स्वर नहीं कहे हैं; जो कुछ भरत ने कहा है, उसी की स्पष्टता उन्होंने अपने ग्रन्थ में की है। इस दृष्टि से हमारी इस बात को भी पुष्टि मिलती है कि शार्ङ्गदेव भरत के ही अनुयायी हैं और उन्हीं के पथगामी हैं। उनकी विकृत स्वर व्यवस्था को देखकर भरत से उनकी भिन्नता सिद्ध करने के लिए आज तक जो यत्न किए गए हैं, जितनी कल्पनाएँ लड़ाई गई हैं; वे सब कितनी निराधार हैं, यह ऊपर के कथन से स्पष्ट होगा, ऐसी आशा है।

शार्ङ्गदेव की विकृत स्वर-व्यवस्था के सम्बन्ध में ऊपर जो विवेचना की गई है, उसके अतिरिक्त दो अन्य बातें उल्लेखनीय तथा विचारणीय हैं। यथा :—

(१) शार्ङ्गदेव ने ऐसे स्वरों को भी विकृत माना है, जो अपने स्थान से च्युत नहीं होते। इसका स्पष्टार्थ यही है कि दो स्वरों के बीच के अन्तराल में परिवर्तन आते ही वे उन दोनों को विकृत मान लेते हैं, भले ही दो में से एक का स्थान अच्युत ही रहा हो।

(२) शार्ङ्गदेव के विकृत स्वरों में ऋषभ धैवत का स्थान अविचल या अपरिवर्तनीय रहा है। षड्ज और पञ्चम को च्युतावस्था में ऋषभ और धैवत के अन्तराल में परिवर्तन अवश्य आता है। और इतने से ही उन्हें विकृत कह दिया गया है, यद्यपि उनका स्थान अच्युत रहता है।

शार्ङ्गदेव के स्वरों में ऋषभ धैवत का स्थान अच्युत क्यों रहा होगा, इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उत्तर तो यही हो सकता है कि भरत के अनुयायी होने के नाते उन्होंने ऐसी विकृतियों का समावेश नहीं किया होगा जिन्हें कि भरत ने उल्लिखित नहीं किया है। इस सम्बन्ध में, अनुमान द्वारा, निम्नलिखित अन्य कारण भी दिए जा सकते हैं:—

(क) प्राचीनों ने दो श्रुति के अन्तर को ही स्वरान्तर माना है, उससे न्यून अन्तर को स्वर का स्थान नहीं दिया है। यहाँ षड्ज-ऋषभ तथा पञ्चम-धैवत के दर्म्यान तीन तीन श्रुति का ही अन्तर है, चार का नहीं। इसलिए इन दोनों स्वर-जोड़ियों के बीच अन्य स्वर की स्थापना करना उनके नियम के विरुद्ध रहा होगा और रि-ध को एक श्रुति नीचे उतार कर उन्हें विकृत बनाना अर्थात् द्विश्रुतिक बनाना उन्हें अभीष्ट नहीं रहा होगा।

(ख) दो श्रुत्यन्तर वाले स्वरों को प्राचीनों ने विवादी माना है। यथा रि-ग और ध-नि।

(ग) षड्ज पूर्वांग का आरम्भक स्वर है और पञ्चम, उत्तरांग का। इसलिए सप्तक के दोनों विभागों के आरम्भ ही में दो श्रुत्यन्तर वाला विवादी स्वर स्थापित करना संभवतः उन्होंने समुचित न माना हो।

हम जानते हैं कि आज भी गायन वादन क्रिया में षड्ज और पञ्चम के साथ कोमल ऋषभ और कोमल धैवत के विवादी स्वर संयोग से यथासंभव बचने के नियम का परिपालन किया जाता है। भैरव जैसे रागों में विवादी स्वरान्तर से बचने के लिए सा रे ग न जाकर नि सा ग जाते हैं। तद्वत् आलाप में म प ध न जाकर ग म ध जाते हैं। केवल अवरोही में इन स्वरों का क्रमिक प्रयोग होना है। जब कभी सा के बाद ही रे अथवा प के बाद ही ध को लिया जाता है, तब भी गन्धार को छूकर ही रे पर आते हैं, एवं नि को छूकर ध लेते हैं। तद्वत् पूर्वी जैसे रागों में भी सा रे ग न जा कर नि रे ग जाते हैं और प ध नि न जा कर म ध नि करते हैं। वह भी उसी नियम का द्योतक है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि काकली निषाद और षड्ज के दर्म्यान एवं अन्तर गान्धार और मध्यम के दर्म्यान भी तो दो ही श्रुति का अन्तर है। तब वहाँ विवाद क्यों नहीं माना जाता? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों स्थानों पर अन्तर तो अवश्य दो ही श्रुति का है, किन्तु काकली निषाद और अन्तर गान्धार—ये दोनों प्रवेशक स्वर होने के कारण इनका प्रयोग अखरता नहीं है, अपितु प्रिय मालूम देता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि तानपुरे पर गाते समय तानपुरे के षड्ज में से जो स्वयंम् गान्धार उत्थित होता है, उस गान्धार के साथ उस काकली का स-प भाव से या त्रयोदश श्रुत्यन्तर से संवाद है। साथ ही तानपुरे पर बजने वाले पञ्चम के साथ उस काकली का सप्त-श्रुत्यन्तर से संवाद होता है। तद्वत् अन्तर गान्धार का षड्ज के साथ सप्त-श्रुत्यन्तर से संवाद होता है और पञ्चम के साथ षट्-श्रुत्यन्तर से संवाद होता है। इसलिए भी नि और सा एवं ग और म का द्विश्रुति अन्तर अनिष्ट नहीं, अपितु अभीष्ट है और इन दो स्थानों का प्रयोग ग्राह्य माना गया है।

रि ध्—इन विवादी स्वरों का प्रयोग भरतादि की भाँति शार्ङ्गदेव को भी इष्ट न होगा और इसलिए उन्होंने ऋषभ धैवत की विकृति नहीं मानी होगी।

शार्ङ्गदेव के ऋषभ धैवत की इस अवस्था ने आधुनिक युग में अनेक कल्पनाओं को जन्म दिया है। किसी-किसी ने अनुमान लगाया है कि शार्ङ्गदेव के त्रिश्रुति ऋषभ धैवत वास्तव में दो-दो श्रुति के ही होंगे, चाहे उन्होंने स्वयं उन्हें त्रिश्रुतिक ही कहा है। मुख्यतः इसी अनुमान के आधार पर किसी-किसी ने मान लिया है कि शार्ङ्गदेव दाक्षिणात्य पद्धति के प्रवर्तक थे।[१]

त्रिश्रुति ऋषभ और त्रिश्रुति धैवत् इन दो स्वरों के सम्बन्ध में अधिक विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर आए हैं कि भरतोक्त अविनाशी मध्यम को ही षड्ज मानकर बहुत काल पर्यन्त व्यवहार चलने के कारण मूल षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था प्रचार में न रही होगी। मध्यम को षड्ज मानकर चलने से चतुःश्रुति पञ्चम ऋषभ बन जाता है। और इस प्रकार त्रिश्रुति ऋषभ का प्रयोग प्रचार में न रहा होगा। तद्वत् तानपुरे पर गाने की परम्परा शुरू होने के बाद तानपुरे के पञ्चम के साथ संवाद करने वाला चतुःश्रुति ऋषभ ही प्रचार में रूढ़ हो गया होगा और त्रिश्रुति ऋषभ वाली परम्परा प्रचार में नहीं रही होगी। यह नितान्त असंभव नहीं कि सतत व्यवहार में आने वाले चतुःश्रुति ऋषभ के कारण त्रिश्रुति ऋषभ प्रचार से ओझल हो गया हो। और मध्ययुगीय शास्त्रकारों ने उस प्रचार के बावजूद भरतोक्त श्रुतिव्यवस्था को जैसे की तैसे बनाए रखने के आग्रह से त्रिश्रुति 'रि' को सिद्ध करने के लिए खींचातानी की हो।

अब रही धैवत की बात। आज गान-वादन की क्रिया में धैवत त्रिश्रुति ही बरता जाता है। चाहे तानपुरे पर गाएँ या वीणा पर बजाएँ, चाहे सारंगी की संगत हो या वायलिन की, चाहे सितार बजे या सरोद, —सर्वथा त्रिश्रुतिक धैवत का ही हम लोग प्रयोग करते हैं। यद्यपि पं० भातखण्डे जैसे आधुनिक ग्रन्थकारों ने चतुःश्रुति ऋषभ के साथ संवाद करने वाले चतुःश्रुति धैवत को अपने शुद्ध स्वर सप्तक में स्थान दिया है, फिर

---

१ 'ध्वनि और संगीत' १६४ पृ०

भी हमें यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता कि उनका यह कथन लक्ष्य के विरुद्ध है। इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष गान-वादन की क्रिया में चतुःश्रुति धैवत का प्रयोग प्राकृत स्वरों की दृष्टि से भी ग्राह्य नहीं है। कारण तानपुरे पर गाते समय तानपुरे के भीतर से जो स्वयम्भू गान्धार उद्भूत होता है, वह इतना प्रबल होता है कि गाते समय उस गान्धार के साथ संवाद करने वाला त्रिश्रुति धैवत ही स्वयमेव प्रयुक्त होता है। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उस त्रिश्रुति धैवत का षड्ज के साथ षट्श्रुति संवाद है। वह षड्ज तानपुरे की तारों में से सतत कान में गूँजता रहता है। तद्वत् तन्तुवाद्यों के वादन में भी उसी प्राकृत नियम का परिपालन होता है, जिससे झंकृत होने वाले तारों में विसंवाद न हो। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पं० भातखंडे-स्वीकृत चतुःश्रुति धैवत से षड्ज का अंतराल पाँच श्रुति रह जाता है। पाँच श्रुति का अंतर विवादी अंतराल है। ध्वनिशास्त्र के ज्ञाता जानते हैं कि यह अंतर विवादी Beats या डोल उत्पन्न करता है। इन सभी दृष्टि दो से चतुश्रुति धैवत का गानवादन की क्रिया में उपयोग निषिद्ध माना गया है और माना जाएगा।

हाँ, यहाँ यह कह देना समुचित होगा कि बाज की तार जो मध्यम में मिली रहती है, उसी को यदि षड्ज मानकर चलें तो षड्जग्रामिक पंचम जो चतुःश्रुतिक है, वही धैवत का स्थान पा जाता है इसीलिए वीणा में न वैगुण्य आता है और न वह धैवत विवादी डोल पैदा करता है। कारण वह धैवत पञ्चम का प्रतिनिधि बनकर वहाँ काम दे रहा है। पर चतुःश्रुति धैवत मूर्च्छना-विशेष में प्रयुक्त होता है। इसीलिए यह मान लेना कि मूल शुद्ध सप्तक में चतुःश्रुति धैवत का प्रयोग होता है, सर्वथा निराधार है और प्रत्यक्ष प्रचार के प्रतिकूल है। स्वरों में संवाद का जो परस्पर स्नेह सम्बन्ध है, उसके अनुसार मूल स्वर-सप्तक में त्रिश्रुतिक धैवत का ही प्रयोग होता है, होना चाहिए।

आगे चल कर हम यह देखेंगे कि चतुःश्रुति धैवत ऐसे विवादी डोल पैदा करता है, जो सुनने वालों के कान और मन को विक्षिप्त बना देते हैं। इसलिए चतुःश्रुति धैवत का प्रयोग भारतीय संगीत परंपरा में कदापि ग्राह्य नहीं था, और नहीं है।

यह मानी हुई बात है कि कलाकार इन शास्त्रीय श्रुति-भेदों के झमेले में प्रायः नहीं पड़ते। इसलिए किन स्वरों के बीच कितनी श्रुतियों का अन्तर है, इससे वे अनभिज्ञ रहें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। गायन-वादन की क्रिया सुरीली हो, संवादमय हो, उसमें किसी प्रकार का रजमात्र भी बेसुरापन न रहे, इसी क्रियाकुशलता के पीछे वे अपने जीवन की तपस्या लगा देते हैं। इसीलिये वे अपनी क्रिया में द्विश्रुति, त्रिश्रुति या चतुःश्रुति स्वरों का कहाँ व कैसे प्रयोग करते हैं, इस ओर उनका ध्यान ही न गया हो; ऐसी पूरी संभावना है। साथ ही यह कहना पड़ता है कि जो केवल संस्कृतज्ञ हैं और जिन्हें संगीत से प्रीति तो है, किन्तु क्रियाकुशल न होने के कारण जो इस विषय की गहनता को नाप नहीं पाते, वे जब संगीत पर ग्रंथ लिखने बैठते हैं, तब इधर उधर से संप्राप्त संगीत-ग्रंथों का अवलोकन करके, शास्त्र के निगूढ़ तत्त्व को समझे बिना ही अपने अनुमानों पर एक नये मार्ग का निर्माण करते हैं और इस प्रकार अभ्यासियों की दिशाभूल होती रही है और हो रही है। अस्तु।

जिन ग्रंथों से या लेखों से दिशाभूल होती हो, विषय को समझने में बुद्धिभेद होता हो, विषयवस्तु सुलझने के बजाय उलझती हो, उनके संस्कार का त्याग कर 'रत्नाकर' के अपने शब्दों का यथार्थ अर्थ लगाया जाए, उनके मर्म को समझा जाए, प्रत्यक्ष प्रयोग से गुत्थी को सुलझाया जाए और बारंबार परिशीलन से दृढ़ निष्कर्ष पर पहुँचा जाए, तभी सत्य की प्राप्ति हो सकती है। शार्ङ्गदेव के अपने ही शब्दों के अनुसार उनके शुद्ध विकृत स्वरों की जो सारिणी हमने दी हुई है, वह स्पष्ट करती है, कि वे भरत मतंग के ही अनुयायी थे और उन्हीं की परंपरा-प्राप्त स्वर-व्यवस्था के प्रपोषक थे।

यहाँ पुनः स्पष्ट करना समुचित होगा कि जिन अन्तरालों का विकृत नामाभिधान शार्ङ्गदेव ने किया है, उनका भरत के काल में भी प्रयोग अवश्य होता था, किन्तु उनका स्पष्टतया पृथक् नामाभिधान नहीं किया गया था या उसकी आवश्यकता नहीं मानी गई थी।

हमारी राय में, शार्ङ्गदेव की कही हुई स्वर-व्यवस्था और उस प्रसंग में उल्लिखित अन्य विषयों की चर्चा देखने से अब किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाना चाहिए कि वे भरत, मतंग की ही परम्परा के अनुयायी थे, प्रतिपादक थे और प्रपोषक थे, किसी नवीन स्वर-व्यवस्था के निर्माता नहीं।[१]

रामामात्य

'रत्नाकर' के परवर्ती मुख्य उपलब्ध ग्रन्थों में से 'स्वरमेलकलानिधि' प्राचीनतम है।[२] इसलिए रामामात्य की स्वर-व्यवस्था को देख लेना यहाँ क्रमप्राप्त है।

रामामात्य के शुद्ध स्वर, उनकी श्रुति-व्यवस्था, वीणा पर उनके स्वरों की स्थापना और स्वयम्भू स्वर-विषयक उनकी अपनी कल्पना का विवरण अब हम प्रस्तुत करते हैं।

अपने शुद्ध स्वरों के सम्बन्ध में रामामात्य कहते हैं :—

तत्र तुर्यश्रुतौ षड्जः सप्तम्यामृषभो मतः। ततो नवम्यां गान्धारस्त्रयोदश्यां तु मध्यमः॥
पञ्चमः सप्तदश्यां तु धैवता विंशतिश्रुतौ। द्वाविंशे तु निषादः स्याच्छ्रुतिष्वित्थं स्वरोद्भवः॥
(स्वरमेलकलानिधि २७-२९)

अर्थात् चौथी श्रुति पर षड्ज, सातवीं पर ऋषभ, नवीं पर गान्धार, तेरहवीं पर मध्यम, सत्रहवीं पर पञ्चम, बीसवीं पर धैवत और बाईसवीं पर निषाद—इस प्रकार श्रुतियों से स्वर उद्भूत होते हैं।

ऊपर उद्धृत रामामात्य के अपने वचनानुसार तो ४-७-९-१३-१७-२० और २२ संख्यक श्रुतियों पर ही शुद्ध स्वरों की स्थापना की हुई प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अर्थात् शार्ङ्गदेवोक्त भरत-परम्परानुसार ४-३-२-४-४-३-२ वाली प्राचीन शुद्ध स्वरों की श्रुति-व्यवस्था ही उन्होंने स्वीकार की है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने भरत-शार्ङ्गदेव के अनुसार अपने रि-ध त्रिश्रुतिक ही बताए हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न उलझन पैदा करता है कि आज दक्षिण के संगीत में जो ऋषभ-धैवत शुद्ध कह कर प्रयुक्त किए जाते हैं, जो वास्तव में द्विश्रुतिक हैं, और 'उत्तर' में जिन्हें कोमल कहते हैं, उनको शुद्ध स्वर-मेल में समाविष्ट करके त्रिश्रुतिक कैसे मान लिया गया? दूसरी भाषा में यों कहा जा सकता है कि रामामात्य के स्वयं कहे हुए त्रिश्रुति ऋषभ धैवत, द्विश्रुति कैसे हो गए? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह देखना आवश्यक है कि रामामात्य ने वीणा पर किस प्रकार अपने स्वरों की स्थापना की है।

रामामात्य ने 'तत्र तुर्यश्रुतौ षड्जः' यों कहकर अपना षड्ज उसी भरतोक्त चतुःश्रुति पर स्थापित किया हुआ बताया है। किन्तु उन्होंने रुद्र वीणा पर अपने स्वरों की स्थापना करने का जो विवरण दिया है, जिसे हम आगे देखेंगे, उससे यह स्पष्ट होगा कि उन्होंने मेरु से तीन श्रुति छोड़कर चौथी श्रुति पर षड्ज मानने की बजाय मेरु पर ही षड्ज मान लिया है। वास्तव में मेरु से तीन श्रुति छोड़कर चौथी श्रुति पर, अर्थात् बाज की मध्यम की तार के नीचे मेरु से दूसरे पर्दे पर (जो कि आज का मन्द्र पञ्चम है) षड्ज मान लिया होता, तो कोई उलझन न होती और वही प्राचीनोक्त श्रुति-स्वर-व्यवस्था उन्हें अनायास मिल जाती। किन्तु ऐसा न करके उन्होंने मेरु पर ही षड्ज मान लिया। मेरु पर षड्ज मानकर चलने से भी भरतोक्त स्वर-सप्तक का उल्लंघन न होता यदि वीणा के मेरु पर जो षड्जग्रामिक निषाद स्थित है, उसी को षड्ज मानकर वे चले होते। उस अवस्था में उन्हें षड्जग्रामिक निषाद का मूर्च्छना मिली होती और उस मूर्च्छना से बना हुआ बिलावल सा स्वर-सप्तक प्राप्त हुआ होता और उस स्वर सप्तक की रचना निम्नोक्त होती :—

---

१ शार्ङ्गदेव दाक्षिणात्य पद्धति के प्रवर्तक नहीं थे, यह रामामात्य के विवरण से स्पष्ट किया जाएगा।

२ रामामात्य का कार्य-काल षोडश शताब्दी (ई०) के पूर्वार्ध में माना जाता है।

सारी-संख्या क्रम—मेरु	—	२	—	४	—	५	—	७	—	८	—	१०	११
षड्जग्रामिक स्वर—नि्	—	सा	—	रे	—	ग्	—	म	—	प	—	ध	नि्
प्राप्त स्वर-सप्तक—सा	—	रे	—	ग	—	म	—	प	—	ध	—	नि	सा
श्रुति - संख्या—(२)	—	४	—	३	—	२	—	४	—	४	—	३	२

इस प्रकार मेरु, जो कि प्राचीन निषाद है, उसे षड्ज मानकर चलने से चतुःश्रुतिक धैवतयुक्त शंकराभरण या बिलावल के शुद्ध स्वर-सप्तक की उन्हें प्राप्ति होती और उत्तर दक्षिण के भेद खड़े ही न होते। किन्तु रामामात्य ने तो मेरु पर षड्ज मानकर षड्जग्रामिक स्वरों के अन्तरालों को ज्यों का त्यों बनाए रखने का यत्न किया। ऐसा करने से क्या गड़बड़ हुई, उसे यहाँ स्पष्ट करना समुचित होगा।

रामामात्य ने मेरु पर षड्ज माना, इससे भरत के षड्जग्रामिक शुद्ध सप्तक का स्थान बदल गया। आरम्भ-स्थान के बदलने से स्वरों के अन्तराल में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। किन्तु रामामात्य ने उस परिवर्तन को ध्यान में न लेकर भरत की मूल षड्जग्रामिक व्यवस्था को, अपने माने हुए आरंभ स्थान (मेरु) से, वीणा के परंपराप्राप्त पर्दों पर स्थापित करने का यत्न किया। यह भला कैसे संभव हो सकता था? भरत का आरम्भक स्थान बदल कर यानी मेरु से तीन श्रुति छोड़कर चौथी पर षड्ज स्थापित करने की बजाय मेरु पर षड्ज मान कर फिर उन्हीं पर्दों पर भरतोक्त षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था भला कैसे स्थापित हो सकती थी? किन्तु रामामात्य ने तो ऐसा ही यत्न किया है। रुद्रवीणा पर उनकी स्वर-स्थापना-विधि को यहाँ शब्दशः उद्धृत करने से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। इस विषय में वे कहते हैं :—

वीणायामुपरिस्थाने चतस्रो लोहतन्त्रिकाः। बध्नीयात्पार्श्वतस्तिस्रोऽधस्ताद्दक्षिणभागतः॥
सप्तस्वेतासु तन्त्रीसु वक्ष्यामः स्वरयोजनम्। तत्रोपरिस्थितानां तु वामे चतसृणामपि॥
आद्यायां स्थापयेत्षड्जमनुमन्द्राभिधानकम्। अनुमन्द्रं पञ्चमं तु द्वितीयायां निवेशयेत्॥
तृतीयायां तन्त्रिकायां मन्द्रषड्जं प्रयोजयेत्। कल्पयेच्च स्वरं तन्त्र्यां चतुर्थ्यां मन्द्रमध्यमम्॥
अधःस्थानां त्रितन्त्रीणां स्वरयोजनमुच्यते। प्रथमा मध्यषड्जेन समानश्रुतिरिष्यते॥
द्वितीया तन्त्रिका ज्ञेया मन्द्रपञ्चमसंमिता। तृतीया मन्द्रषड्जेन संमिता कथिता बुधैः॥
एतस्तिस्रोऽपि तन्त्र्यस्तु कथ्यन्ते श्रुतिसंज्ञकाः। अथ सारीसंनिवेशं वक्ष्ये वैणिकसंमतम्॥
आद्यानुमन्द्रषड्जाख्यतन्त्र्यां शुद्धर्षभो यथा। स्यात्तथा सारिका स्थाप्या पूर्वतन्त्र्यां यथा स्फुटः॥
स्यात्साधारणगान्धारः स्थाप्या सारी चतुर्थिका। च्युतमध्यमगान्धारः पूर्वतन्त्र्यां यथा भवेत्॥
शुद्धमध्यमसिद्ध्यर्थं पञ्चमी सारिका ततः। निवेश्या पूर्वतन्त्र्यां च षष्ठी स्थाप्याथ सारिका॥
यथा व्यक्तस्तथा तन्त्र्यां च्युतपञ्चममध्यमः। अथापराभिस्तिसृभिस्तन्त्रीभिर्ये स्वराः क्रमात्॥
एतासु षट्सु सारीषु जायन्ते तान्प्रचक्ष्महे। पञ्चमेनानुमन्द्रेण मुक्ततन्त्र्या द्वितीयया॥
शुद्धः स्याद्धैवतः शुद्धो निषादश्च ततः परम्। कैशिकाख्यनिषादोऽथ च्युतषड्जनिषादकः॥
शुद्धषड्जस्ततः शुद्धऋषभः षट्स्वरा अमी। पूर्वोक्तासासु सारीषु षट्सु जाता यथाक्रमम्॥
द्वितीयया ऽनया तन्त्र्या जातौ षड्जर्षभावुभौ। शुद्धौ मन्द्रौ प्रजायेते पुनस्तन्त्र्या तृतीयया॥
तस्मात्प्रयोगे न ग्राह्यौ जातौ तन्त्र्या द्वितीयया। अनुमन्द्रस्वराः प्रोक्ता वक्ष्ये मन्द्रस्वरानथ॥
तृतीयया मन्द्रषड्जतन्त्र्या स्युरनुमन्द्रवत्। पूर्वासु षट्सु सारीषु क्रमाच्छुद्धर्षभस्तथा॥
शुद्धगान्धारकः साधारणगान्धारकस्तथा। च्युतमध्यमगान्धारः शुद्धमध्यमसंज्ञकः॥
अनन्तरः स्वरः प्रोक्तश्च्युतपञ्चममध्यमः। अथ शुद्धो मध्यमश्च च्युतपञ्चममध्यमः॥
तृतीयतन्त्र्या जातोऽपि प्रयोगो नैव गृह्यते। जायेते तौ पुनस्तन्त्र्या चतुर्थ्यापि स्वरौ यतः॥
मन्द्रमध्यमतन्त्र्या तु चतुर्थ्या स्यरमी स्वराः। पूर्वासु षट्सु सारीषु च्युतपञ्चममध्यमः॥

शुद्धपञ्चमनामा च ह्युत्तरं शुद्धधैवतः। ततः शुद्धःनिषादाख्यः कैशिकाख्यनिषादकः॥
च्युतषड्जनिषादाख्य एते मन्द्रस्वरा मताः। चतुस्तन्त्रीभिरेताभिः सारीषट्के पुरोदिते॥
अनुमन्द्राश्च मन्द्राश्च सर्वे जाताः स्वराः क्रमात्।

(स्वरमेलकलानिधि, वीणा प्रकरण २०-४४)

इस विस्तृत उद्धरण का अक्षरशः अनुवाद न देकर निम्नलिखित सारिणी द्वारा ही उसका अभिप्राय व्यक्त कर देना पर्याप्त होगा।

सारी संख्या	(वीणा का दक्षिण भाग) तन्त्री संख्या ४	तन्त्री संख्या ३	तन्त्री संख्या २	वीणा का वाम भाग तन्त्री संख्या १	रामामात्य का माना हुआ मेरु से श्रुत्यन्तर	वास्तव में मेरु से श्रुत्यन्तर	वास्तव में स्वरों के परस्पर श्रुत्यन्तर
मेरु (मुक्त तार का नाद)	मन्द्र मध्यम	मन्द्र षड्ज	अनुमन्द्र पञ्चम	अनुमन्द्र षड्ज	१	०	०
सारी १	च्युतपञ्चममध्यम	शुद्ध ऋषभ	शुद्ध धैवत	शुद्ध ऋषभ	३	२	२
सारी २	शुद्ध पञ्चम	शुद्ध गान्धार	शुद्ध निषाद	शुद्ध गान्धार	५	४	२
सारी ३	शुद्ध धैवत	साधारण गान्धार	कैशिक निषाद	साधारण गान्धार	६	६	२
सारी ४	शुद्ध निषाद	च्युत मध्यमगान्धार	च्युतषड्जनिषाद	च्युतमध्यमगान्धार	७	७	१
सारी ५	कैशिक निषाद	शुद्ध मध्यम	शुद्ध षड्ज	शुद्ध मध्यम	९	९	२
सारी ६	च्युतषड्जनिषाद	च्युतपञ्चममध्यम	शुद्ध ऋषभ	च्युत पञ्चममध्यम	११	११	२

ऊपर की सारिणी से यह स्पष्ट होगा कि वास्तव में जो सा रे रे म प ध् ध सां है, उसी को रामामात्य ने सा रे ग् म प धनि् सां कह कर द्विश्रुतिक अन्तर को त्रिश्रुतिक और चतुःश्रुतिक अन्तर को पञ्चश्रुतिक मान लिया है। इस सम्बन्ध में हम आगे चल कर अधिक विस्तृत चर्चा करेंगे ही। किन्तु यहाँ (अगले पृष्ठ पर) स्पष्टता के लिए दाक्षिणात्य रुद्रवीणा का चित्र दे कर उस बाज की तार के नीचे पर्दों पर रामामात्य के कथनानुसार शुद्ध स्वरों की स्थापना दिखाई जाती है।

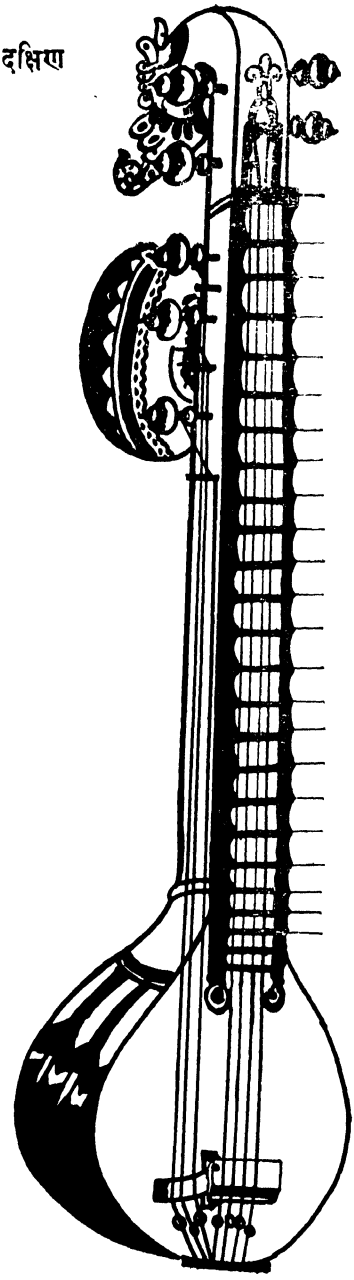
इस प्रसंग में रामामात्य के कहे हुए स्वयंभू स्वरों का अल्प में यहाँ उल्लेख कर देना अस्थानीय न होगा।

स्वयम्भू स्वरों की कल्पना में रामामात्य की अपनी मौलिकता है। 'स्वयम्भू' स्वरों की बहुत ही सरल व्याख्या वे इस प्रकार देते हैं :—

स्वयम्भुवः स्वरा ह्येते न स्वबुद्ध्या प्रकल्पिताः॥

(वीणाप्रकरण ४४)

वीणा का दक्षिण भाग



वीणा का वाम भाग

सारी संख्या	रामामात्य के स्वर	रामामात्योक्त मेरु से श्रुत्यंतर	रामामात्योक्त स्वरांतर	वास्तविक श्रुत्यंतर (मेरु से)	वास्तविक स्वरांतर
मेरु	शु. ष.	१	४	०	०
१	शु. रि.	३	३	२	२
२	शु. ग.	५	२	४	२
३	सा. ग.	६	१	६	२
४	च्यु म.ग.	७	१	७	१
५	शु. म.	९	२	९	२
६	च्यु पं.म.	११	२	११	२

नोट :—वास्तव में रुद्रवीणा की बाज की तार दक्षिण भाग में रहती है। यहाँ निदर्शन की सुविधा के लिए वाम भाग में सारिणी दी गई है।

अर्थात् ये सब स्वर (वीणा पर जिनकी स्थापना बताई गई है) स्वयम्भू हैं, अपनी बुद्धि द्वारा कल्पित नहीं हैं।

इसका स्पष्टार्थ यही है कि स्वम्भू स्वर कृत्रिम नहीं हैं, अपितु उनके कथनानुसार प्राकृतिक हैं। 'रत्नाकर' में आठ या बारह श्रुति के अन्तर वाले स्वरों को परस्पर संवादी माना है, ऐसा कह कर रामामात्य स्वरों को प्रमाणित करने के एक अन्य मार्ग का निरूपण करते हुए वे रुद्रवीणा के चार तारों के नीचे छैः सारियों पर स्थापित सभी स्वरों को स्वयम्भू सिद्ध करने का यत्न करते हैं।[१] स्वयम्भू स्वरों की उन्होंने जो निष्पत्ति बताई है, उससे सिद्ध है कि उन्होंने उन सब स्वरों को स्वयम्भू माना है, जो किसी भी दूसरे प्राकृत स्वर से षड्ज-मध्यम-भाव या षड्ज-पञ्चम-भाव से निकाले जा सकें।

इस सम्बन्ध में भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक प्रो० ललितकिशोर सिंह के 'ध्वनि और संगीत' नामक ग्रन्थ (पृ० १८५) में जो सारिणी दी हुई है। उसे उद्धृत करके हम एतत्सम्बन्धीय अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं।

रामामात्य की तार मिलाने की प्रणाली तो आज भी भारत के सब प्रदेशों में प्रचलित परिपाटी के साथ एकरूप ही है। केवल तारें बाँधने की प्रणाली में व्युत्क्रम दृष्टिगोचर होता है। दक्षिण को छोड़कर शेष भारत में वाम हस्त से पहिली तार, जिसे बाज की तार कहते हैं, उसे मन्द्र मध्यम में मिलाया जाता है। उसके बाद मन्द्र षड्ज (जिसके लिए सामान्यतः सितारों में दो तारें रहती हैं), फिर अनुमन्द्र-पञ्चम और फिर अनुमन्द्र षड्ज—इस क्रम से मुख्य तारें मिलाई जाती हैं।[२] रामामात्य का कहा हुआ क्रम इससे उल्टा है। यानी बाँएँ हाथ की प्रथम तार अनुमन्द्र सा में, उसके बाद की तार अनुमन्द्र प में, फिर तीसरी तार मन्द्र सा में और चौथी तार मन्द्र म में मिलाने को उन्होंने कहा है। इसका ब्योरा हम ऊपर सारिणी में देख ही चुके हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि दाक्षिणात्य पद्धति में बाएँ हाथ की पहिली तार बाज की तार नहीं है अपितु बाएँ से चौथी यानी दाएँ से पहिली तार ही बाज की तार है। (किसी भी दाक्षिणात्य रुद्रवीणा को देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा।)

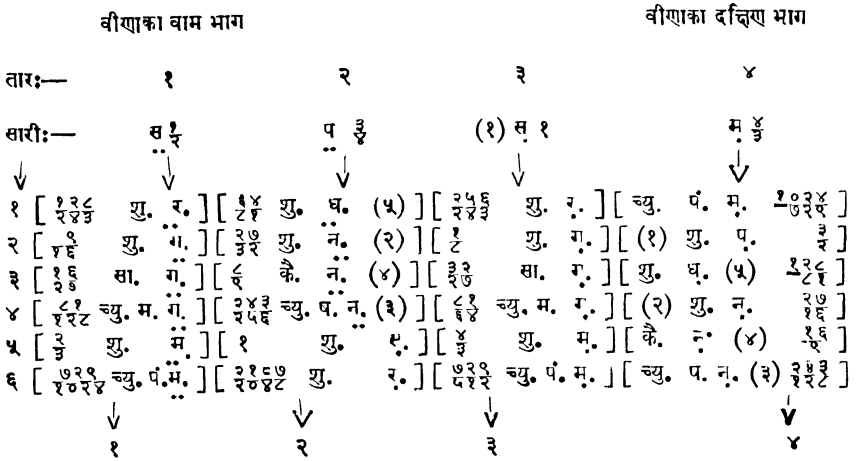
यहाँ यह कह देना समुचित होगा कि जैसे रामामात्य ने बाज की तार को मन्द्र मध्यम में मिलाने को कहा है, उसी प्रकार हमारी बाज की तार भी ठीक उसी स्वर में मिलाई जाती है। दोनों पद्धतियों में केवल दाएँ बाएँ का ही भेद है। यदि रामामात्य ने उस बाज की तार को षड्ज न मान कर मध्यम ही माना होता, जैसा कि आज हम मानते हैं और जैसा कि उन्होंने स्वयं तार मिलाने की पद्धति में उल्लेख किया है, तो भरत का अविलोपी मध्यम (जिसे षड्ज मान कर स्वयं भरत ने प्रयोग-क्रिया स्वीकार की है), मतंग का मध्यम सप्तक और दक्षिणेतर भारत का आज का षड्ज, उन्हें अनायास मिल जाता। इस प्रकार उन्हें सहज ही में भरत—शार्ङ्गदेवोक्त स्वरों की उपलब्धि होती और उनका कहा हुआ 'एवं रत्नाकरप्रोक्तो मार्गोऽयं संप्रदर्शितः'—यह वचन सार्थक हो जाता।

इस प्रसंग में किसी को 'रत्नाकर' के वाद्याध्याय के निम्नोद्धृत श्लोकों को देखकर ऐसी शंका हो सकती है कि शार्ङ्गदेव ने भी रामामात्य की भाँति वीणा के मेरु पर ही षड्ज माना होगा और इसलिए रामामात्य को 'रत्नाकर' का ही सीधा अनुयायी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यह शंका नितान्त निर्मूल सिद्ध हो जाएगी। शार्ङ्गदेव कहते हैं :—

---

१ देखिए स्वरमेलकलानिधि वीणाप्रकरण ४४-६१।

२, इस प्रकार अपने यहाँ वीणा पर पाँच मुख्य तारें रहती हैं और दो चिकारी की तारें रहती हैं और दक्षिण में मुख्य तारें चार रहती हैं और चिकारी की तारें तीन रहती हैं।


वीणाका वाम भाग
वीणाका दक्षिण भाग
तारः—
१
२
३
४
सारीः—
१ [शु. र.]
[शु. ध. (५)]
[शु. र.]
[चयु. पं. म.]
२ [शु. ग.]
[शु. न. (२)]
[शु. ग.]
[(१) शु. प.]
३ [सा. ग.]
[कै. न. (४)]
[सा. ग.]
[शु. ध. (५)]
४ [चयु. म. ग.]
[चयु. ध. न. (३)]
[चयु. म. ग.]
[(२) शु. न.]
५ [शु. म.]
[१ शु. प.]
[शु. म.]
[कै. न. (४)]
६ [चयु. पं. म.]
[शु. र.]
[चयु. पं. म.]
[चयु. प. न. (३)]
१
२
३
४

मध्यमो मुक्तया तन्त्र्या तर्जन्याद्यङ्गुलीत्रयात्।
धामस्यानामिकावर्ज्यास्त्रयः स्युः पञ्चमादयः॥
मुक्ततन्त्र्याथ षड्जः स्यादृषभस्तर्जनीभवः।
गान्धारो मध्यमाङ्गुल्या दक्षिणेनाथ वादनम्॥

(सं. र. १। २५३-५५)

अर्थात् मुक्त तन्त्री पर मध्यम बजता है। फिर बाएँ हाथ की तर्जनी, मध्यमा और कनिष्ठिका इन तीन उंगलियों से क्रमशः पंचम, धैवत और निषाद—ये स्वर बजते हैं। इसके अनन्तर मुक्त तन्त्री पर षड्ज बजता है और तर्जनी से ऋषभ तथा मध्यमा से गान्धार बजता है। दाहिने हाथ से बजाने की क्रिया होगी।

[यहाँ वाम हस्त की उँगलियों से पर्दों पर दबाने की क्रिया एवं दक्षिण हस्त से तार पर आघात करने की क्रिया अभिप्रेत है।]

सामान्य जन और संस्कृतज्ञ पण्डित यहाँ उलझ जाएँगे। किन्तु क्रियाकुशल वैणिक इन शब्दों से कभी उलझेंगे नहीं, कारण वे जानते हैं कि मध्यम की जो मुक्त तार है, जिसे हम बाज की तार कहते हैं, जो आज भी परम्परानुसार मध्यम ही में मिलाई जाती है, उसके आगे जो पर्दे हैं, उन पर क्रमशः प ध नि ये तीन स्वर तर्जनी मध्यमा और कनिष्ठिका से बजेंगे। और उस मध्यम के तार के पूर्व जो मन्द्र षड्ज की तार बँधी हुई है, उस पर तर्जनी और मध्यमा से उन्हीं पर्दों पर रि और ग बजेंगे। यहाँ यह कह देना समुचित होगा कि जिस पर वादन की क्रिया की जाती है, उस मध्यम की तार के पूर्व ही मेरु पर मन्द्र षड्ज की तार बँधी रहती है, उसके बाद नहीं। वादन-क्रिया वाली तार के बाद कोई तार नहीं ही बाँधे जाते, चाहे उस बाज की तार को दाक्षिणात्यों की भाँति दक्षिण भाग में रखें या अन्य भारत की भाँति वाम भाग में रखें। इसलिए यह लक्ष्य-सिद्ध है कि बाज की मुख्य तार के बाद कोई तन्त्री नहीं रहती। फिर बाज की तार के नीचे "प ध नि" बजाने के बाद आगे किसी मुक्त तार पर षड्ज बजने की संभावना कहाँ रही? हाँ, बाज की तार के पूर्व की मुक्त तार पर अवश्य षड्ज बजता है। बाज की मध्यम की तार के नीचे षड्ज का जो पर्दा है, उसका मन्द्र नाद उस पूर्वस्थित मुक्त तार से निकलता है। उस तार के नीचे रे ग के पर्दे दिखा कर शार्ङ्गदेव ने मध्य सप्तक के षड्ज से पूर्व का स्वर-सप्तक पूर्ण कर दिखाया है, जो षड्जग्रामिक मध्यम से मध्यम (आधुनिक "सा से सां) तक मध्यसप्तक में बजता है। दूसरे, यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बाज की मध्यम की तार पर प ध नि बजाने के बाद तो षड्ज अपने आप उसी तार के नीचे अगले पर्दे पर स्थापित है ही। उसी षड्ज का मन्द्र नाद निकटस्थ मुक्त तार पर बजता है। उसी तार के लिए 'रत्नाकर' कार ने 'षड्जोऽथ मुक्तया तन्त्र्या' कहा है। उनका आशय यह नहीं है कि बाज की तार के मुक्त नाद को षड्ज मानकर चला जाए। उन्होंने तो उपर्युक्त दोनों तारों पर सप्त स्वर कैसे निनादित होते हैं, उसी को निदर्शित करने के लिए यह विधान दिया है। हमें यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मुक्त मध्यम की तार से आरंभ करके जिस पर्दे पर षड्ज आता है, वही भरत का अविलोपी मध्यम है और वहाँ से स्वर-सप्तक आरम्भ करने से जो स्वरावली निष्पन्न होती है, शार्ङ्गदेव ने वही स्वरावली उन दोनों तारों पर निदर्शित की है और इस प्रकार आज का हमारा विलायत मेल तथा दाक्षिणात्यों का शंकराभरण, अथवा हमारा खमाज तथा दाक्षिणात्यों का हरिकाम्भोजी मेल, बिना किसी खींचातानी के और बिना किसी अर्थ के विपर्यास के, हमें सहज ही में मिल जाता है। यह नीचे दी हुई सारिणी से स्पष्ट हो जाएगा।

सारी संख्या	बाज की तार के पूर्व की तार के स्वर	बाज की तार के स्वर	मेरु से श्रुत्यन्तर	स्वरों के परस्पर श्रुत्यन्तर
मेरु	मन्द्र षड्ज	मन्द्र मध्यम	०	०
सारी २.	शुद्ध ऋषभ	पञ्चम	४	४
सारी ४	गान्धार	धैवत	७	३
सारी ५		निषाद	९	२
सारी ७		षड्ज	१३	४

इस प्रकार हमें परम्पराप्राप्त पर्दों पर ही खमाज की स्वरावली पूर्णतया उपलब्ध हो जाती है, जिसकी श्रुति-व्यवस्था यों होगी :—

(नि) — सा — रे — ग — म — प — ध — नि

(४) ४ ३ २ ४ ३ २

इसी स्वरावली में भरतोक्त काकली, जो कि वीणा के छठे पर्दे पर स्थित है, उसका प्रयोग करने से बिलावल के स्वर मिल जाएँगे। इसीलिए हम यह अनुमान से नहीं, अपितु अनुभवसिद्ध सत्य के रूप में कह सकते हैं कि शार्ङ्गदेव ने भरतोक्त स्वर-व्यवस्था को ही अक्षुण्ण रखा है, और रामामात्य उस परिपाटी से विच्छिन्न हो गए हैं। अस्तु।

अब हम पुनः प्रस्तुत विषय पर आ जाएँ और रामामात्य के शुद्ध विकृत स्वरों का सूक्ष्म निरीक्षण करें।

रुद्रवीणा पर रामामात्य की स्वर स्थापना विधि देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वीणा पर जो पर्दे बँधे हुए हैं, जो प्राचीन परंपरा से आज तक चले आ रहे हैं, उन्हीं पर्दों पर क्रमशः जो स्वर निनादित होते हैं, उन्हीं स्वरों को अपने निजी आरम्भक स्थान (मेरु) के अनुसार उन्होंने भरत-शार्ङ्गदेव-सम्मत ४-३-२-४-४-३-२ वाले शुद्ध स्वर मान लिया और षड्जग्रामिक श्रुति-व्यवस्था उन स्वरों पर आरोपित कर दी।

यहाँ प्रश्न यही है कि स्वरों के परिमाण के लिये ४-३-२-४-४-३-२ वाली प्राचीन परम्परा रामामात्य द्वारा स्वीकार किये जाने पर भी, प्राचीनोक्त स्वरों और रामामात्य के स्वरों में एकरूपता क्यों नहीं रह पाई ?

हम स्पष्ट कर चुके हैं कि प्राचीन षड्ज-ग्रामिक शुद्ध स्वर-व्यवस्थानुसार मेरु पर त्रोभिणी का स्थान है, न कि छन्दोवती का और उसके आगे का पहिला पर्दा जो मेरु से दो श्रुति पर स्थित है, वह काकली निषाद अथवा कुमुद्वती श्रुति का है। उसके आगे जो षड्ज या छन्दोवती का पर्दा है, वह मेरु से चतुःश्रुति पर स्थित है। ये दोनों पर्दे आधुनिक स्वर-भाषा में क्रमशः तीव्र मध्यम और पञ्चम कहलाते हैं।

रामामात्य के कथनानुसार मेरुस्थित उस क्षोभिणी वाले निषाद को सा मान लें तो अगला पर्दा जो दो श्रुति पर स्थित है, वह द्विश्रुतिक ऋषभ हो जाएगा और दूसरा पर्दा चतुःश्रुतिक ऋषभ हो जायगा। किन्तु उन्होंने तो इन्हीं दो पर्दों पर क्रमशः त्रिश्रुति ऋषभ और पञ्चश्रुति गान्धार मान लिया है। इसी प्रकार उन्होंने द्विश्रुतिक धैवत को त्रिश्रुतिक धैवत और चतुःश्रुतिक धैवत को पञ्चश्रुति निषाद मान लिया है।

रामामात्य के इस विधान से ही ऐसे असत्य अनुमान को जगह मिली है कि त्रिश्रुति ऋषभ धैवत द्विश्रुति बन गए और चतुःश्रुति ऋषभ धैवत क्रमशः पञ्चश्रुति गान्धार निषाद बन गए। आश्चर्य तो यह होता है कि जहाँ वास्तव में दो श्रुति का अन्तर है, वहाँ उन्होंने तीन श्रुति का अन्तर कैसे मान लिया? और जो चतुःश्रुतिक है, उसे पंचश्रुतिक कैसे कह दिया?

इस विषय पर प्रलम्ब समय तक सूक्ष्म विचारणा करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संभवतः रामामात्य ने मेरु को ही यानी मुक्त तारस्थित नाद को ही संख्या-दृष्टि से एक मान लिया हो, और तदनुसार श्रुतियों की गिनाई शुरू की हो। तभी द्विश्रुति ऋषभ त्रिश्रुति बन सकता है और चतुःश्रुति ऋषभ पञ्चश्रुति गान्धार बन सकता है। अन्यथा त्रिश्रुति और पञ्चश्रुति संख्या की संगति किसी प्रकार बैठ नहीं सकती।

रामामात्य ने रुद्रवीणा पर स्वर-स्थापना की जो विधि बताई है, उस से यह साफ़ हो जाता है कि उन्होंने द्विश्रुति ऋषभ को ही ग़लतफ़हमी से शार्ङ्गदेवोक्त शुद्ध ऋषभ यानी त्रिश्रुति ऋषभ मान लिया है। और वास्तव में जो चतुःश्रुति ऋषभ है, उसी को उन्होंने पञ्चश्रुति गान्धार या शुद्ध गान्धार मान लिया है। मेरु से इस गान्धार का अन्तर उन्होंने पाँच श्रुति का ही माना है, यह इस बात से भी सिद्ध है कि गान्धार का वैकल्पिक नाम उन्होंने पञ्चश्रुतिक रि भी दिया है।* उसी प्रकार चतुःश्रुति धैवत वाले पर्दे पर शुद्ध निषाद स्थापित कर उन्होंने पञ्चम से उसका अन्तर पञ्चश्रुति का माना है, यह भी इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने निषाद का वैकल्पिक नाम पञ्चश्रुति धैवत भी दिया है।†

स्वरों की इन वैकल्पिक संज्ञाओं के सम्बन्ध में यहाँ स्वल्प उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। मेल-पद्धति के सभी प्रवर्तकों और अनुयायियों ने मेल-रचना के दो नियम स्वीकार किए हैं—(१) प्रत्येक मेल संपूर्ण होना चाहिए अर्थात् उसमें सात स्वर हों।

(२) एक स्वर के दो रूप (शुद्ध विकृत) एक ही मेल में नहीं आने चाहिए।

इन दोनों नियमों के आग्रह के कारण उन लोगों को स्वरों की वैकल्पिक संज्ञाएँ देनी पड़ीं, जिससे कि किसी भी स्वर को, उसका स्थान-भेद न होते हुए भी, संज्ञा-भेद से प्रयुक्त करके उपर्युक्त नियमों की रक्षा की जा सके। जैसे यदि किसी मेल में शुद्ध गान्धार और अन्तर गान्धार एक साथ आते हों तो शुद्ध गान्धार को पञ्चश्रुति रे संज्ञा दे दी जाती है। स्वर-स्थान की दृष्टि से इन वैकल्पिक संज्ञाओं का कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु शुद्ध गान्धार और शुद्ध निषाद की वैकल्पिक संज्ञाएँ—पञ्चश्रुति रि और पञ्चश्रुति ध—इतना अवश्य सिद्ध करती हैं कि रामामात्य ने इन दोनों स्थानों पर चतुःश्रुतिक अन्तर को ही पञ्चश्रुतिक अन्तर मान लिया था। इससे यह भी सिद्ध है कि शुद्ध मेल के रूप में स्वीकृत मुखारी मेल का वास्तविक स्वरूप सा रे॒ रे म प ध॒ ध सां ही है, भले ही वैकल्पिक संज्ञाओं के प्रयोग द्वारा उसे सा रे ग म प ध नि सां बना दिया गया है।

---

* लक्ष्ये तु कुत्रचिच्छुद्धगान्धारस्थानमाश्रयन्॥
ऋषभः कीर्त्यतेऽस्माभिः पञ्चश्रुत्यृषभाह्वयः॥
(स्वरप्रकरण ५३-४)

† शुद्धे निषादे नामान्यस्यात् पञ्चश्रुतिर्धैवतः॥
(स्वरप्रकरण ६४)

रामामात्य के इस विधान से ही किसी किसी ने यह अनुमान लगाया है कि भरत के त्रिश्रुतिक रि—ध 'रत्नाकर' के समय में ही द्विश्रुतिक हो गए होंगे, यद्यपि 'रत्नाकर' के शब्दों में ऐसा भ्रम कहीं दिखाई नहीं देता है। वीणा के द्विश्रुतिक ऋषभ धैवत को प्राचीनोक्त त्रिश्रुति ऋषभ धैवत मानने की कल्पना रामामात्य की अपनी ही सूझ मालूम देती है।

मेरु को षड्ज मानकर, पर्दे बाँधने की परम्परा का त्याग करके यदि त्रिश्रुति ऋषभ धैवत के नये पर्दे बाँधे जाएँ, या परम्परा से बँधे हुए पर्दों को तदनुसार खिसकाया जाए, तो जैसा हम पहिले कह आए हैं, सारी वीणा बेसुरी हो जाएगी। किसी क्रियाकुशल कलाकार के लिए वीणा का यह वैगुण्य किसी भी प्रकार सह्य नहीं हो सकता। भरत-रत्नाकरोक्त स्वर-व्यवस्था तो ऋषभ धैवत के त्रिश्रुतिक होने से ही संप्राप्त होती है। और वैसा होने पर ही प्राचीनपरम्परा के अनुयायी कहलाया जा सकता है। किन्तु अवस्था यह है कि न तो परम्पराप्राप्त पर्दों को खिसकाया जा सकता है और न ही नए पर्दे बाँधे जा सकते हैं। इसलिए द्विश्रुति ऋषभ धैवत के स्थानों को ही, परम्परा के आग्रहवश उन्होंने त्रिश्रुति मान लिया है यह कहने में सत्य का अतिरञ्जन नहीं होगा, ऐसी आशा है।

सारे दक्षिण भारत की संगीत परम्परा आज जिस सप्तक को शुद्ध-स्वर-मेल माने हुए हैं, और जिसे भरत परम्परा का प्रस्थापित रूप घोषित करती रही है, उस परम्परा का जनक किसे माना जाए?

अनेक ग्रन्थों का परिशीलन, अनेक व्यक्तियों से किये हुए विचार-विमर्श और चालीस वर्ष के निरन्तर अभ्यास से हम इस दृढ़ निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रामामात्य के, मेरुस्थित शून्य को शून्य न मान कर वहीं पर एक मान कर श्रुतियों की गिनाई आरम्भ करने से ही उपर्युक्त परिपाटी का जन्म हुआ होगा।

हम जानते हैं कि आज ज्योतिषी लोग परम्परा से, ग्रह-कुण्डली के खानों की गिनाई एक ही से आरम्भ करते हैं, क्योंकि इन खानों में शून्य का कोई स्थान नहीं है। संभवतः वैसे ही रामामात्य ने मेरु पर ही 'सा' स्थापित करने के बाद उसे एक मान कर श्रुतियों की गिनाई आरम्भ की होगी।

इस प्रकार मेरु को ही प्रथम श्रुति मान कर चलें तो द्विश्रुति ऋषभ अपने आप, गिनाई में त्रिश्रुति बन जाएगा और चतुःश्रुति ऋषभ पञ्चश्रुति गान्धार बन जाएगा। अन्यथा किसी भी प्रकार उनकी गिनाई की संगति बैठ नहीं सकती। उनकी गिनाई की यह पद्धति क्या गलत है? क्या वह नियम-विरुद्ध है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मेरुस्थित नाद को षड्ज मानने के पश्चात् वहाँ से एक से गिनाई नहीं ही करनी चाहिए, यह सामान्य गणितदृष्ट्या भी सिद्ध है। मेरुस्थित नाद को षड्ज मान कर चला जाए तो वहाँ शास्त्रानुसार चौथी श्रुति यानी छन्दोवती का ही स्थान हो सकता है। उस चौथी श्रुति के बाद छठी पर ही पहिला पर्दा आता है, सातवीं पर नहीं। और इस प्रकार षड्ज और ऋषभ का अन्तर दो ही श्रुति का सिद्ध होता है, तीन का नहीं। मेरुस्थित नाद को षड्ज मानें, निषाद मानें, या मध्यम मानें, या पञ्चम मानें या कोई भी स्वर मानें, किसी भी अवस्था में उसे गिनाई में एक तो नहीं ही मान सकते। यदि उसे त्रोभिणी या निषाद मानेंगे, तो उसे पूर्व सप्तक का अन्तिम स्वर ही मानना पड़ेगा। और उसके बाद ही नये सप्तक की एक से गिनाई शुरू होगी। इसलिए उस अवस्था में भी मेरुस्थित नाद को संख्या-दृष्टि से २२ अथवा शून्य ही मान सकते हैं, एक नहीं। किसी भी प्रकार, गणितदृष्ट्या वहाँ से एक नहीं ही गिना जा सकता। जैसे milestone (माइलस्टोन) का आरम्भ शून्य से होता है और माइल पूरा होने पर ही एक गिना जाता है, तद्वत् मेरुस्थित नाद को शून्य मान कर ही आगे एक की गिनाई हो सकती है अर्थात् मेरुस्थित आरम्भक नाद को पूर्व सप्तक का अन्तिम स्वर मान लें या शून्य मान लें, तभी नए सप्तक की गिनाई एक से आरम्भ हो सकती है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रामामात्य ने गिनाई के इस मार्ग का अवलम्बन नहीं किया है। इसलिए यही मानना पड़ता है कि रामामात्य ने मेरुस्थित नाद को शून्य न मान कर वहीं से एक की गिनाई शुरु की होगी। तद्वत्

पञ्चम के बाद रुद्र-वीणा में द्विश्रुति धैवत का जो पर्दा है, उसी को उन्होंने भरतोक्त शुद्ध धैवत अर्थात् त्रिश्रुति धैवत मान लिया है और चतुःश्रुति धैवत को पञ्चश्रुति निषाद कह दिया है।

रामामात्य जैसे प्रकाण्ड पण्डित को ऐसी गलतफहमी कैसे हुई होगी, यह हम समझ नहीं पाते हैं। गो० तुलसीदासजी के शब्दों में केवल यही कह सकते हैं :—

रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानु कर वारि। जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सके कोउ टारि॥

रामामात्य के शुद्ध स्वरों की विवेचना करने के बाद अब हम उनके विकृत स्वरों का विवरण देख लें। उन्होंने रत्नाकरोक्त बारह विकृत स्वरों के स्थान पर सात ही विकृत स्वर माने हैं और यह कहा है कि रत्नाकरोक्त शेष पाँच विकृत स्वर, स्थान-विकृति के अभाव में, वास्तव में विकृत कहलाने योग्य नहीं हैं। यह सब निम्न अवतरण से स्पष्ट होगा :—

एते षड्जादयः सप्तस्वराः शुद्धाः प्रकीर्तिताः। विकृताश्चैव सप्तैवेत्येवं सर्वे चतुर्दश॥
ननु रत्नाकरे शार्ङ्गदेवेन विकृताः स्वराः। द्वादशोक्ताः कथं ते तु सप्तैव कथितास्त्वया॥
सत्यं लक्षणतो भेदो द्वादशानामपीष्यते। शुद्धेभ्यस्तत्र भेदस्तु सप्तानामेव लक्षितः॥
आधारश्रुतिसंत्यागाद् ध्वनिभेदः प्रकीर्तितः। पंचानां परिशिष्टानां स्वराणां विकृतात्मनाम्॥
पूर्वस्वरश्रुतिग्राहाद्वा पूर्वश्रुतिवर्जनात्। अपि लक्षणतो भेदे पूर्वोक्तस्वरसंहतेः॥
आधारश्रुतिनिष्टत्वाल्लक्ष्यभेदो न विद्यते। कथं न भेद इति चेत् सलक्ष्यं तन्निरूप्यते॥
शुद्धषड्जादच्युतस्तु स षड्जो नैव भिद्यते। अच्युतो मध्यमः शुद्धान्मध्यमान्न भिदां भजेत्॥
शुद्धर्षभाच्च विकृतो ऋषभो न पृथग्भवेत्। विकृतो धैवतः शुद्धाद्धैवताान्नातिरिच्यते॥
मध्यमश्रुत्युपादाने विकृतः पञ्चमस्तु यः। विकृताच्चैव पञ्चमान्न भेदं चाश्नुते ध्रुवम्॥
तस्माच्चतुर्दशस्वेवं पूर्वोक्तेष्वेव पञ्चकः। अन्तर्भूतो यतस्तस्मान्न पृथक् कथितो मया॥
सप्तानां विकृतानां तु सोदेशं लक्षम चक्षमहे। च्युतः षड्जश्च्युतो मश्च च्युतः स्यात् पञ्चमस्तथा॥
स्यात् साधारणगान्धारोऽन्तरगान्धार एव च। स्यात् कैशिकनिषादोऽथान्यः काकलीनिषादकः॥

(स्वरमेलकानिधि, स्वरप्रकरण ३३)४४--

अर्थात्—सात शुद्ध स्वर हैं और सात ही विकृत स्वर हैं। उनकी कुल मिलाकर चतुर्दश संख्या होती है। यद्यपि 'रत्नाकर' ने द्वादश विकृत स्वर कहे हैं, तथापि सात ही ऐसे विकृत स्वर हैं जो कि स्थानदृष्टि से शुद्ध स्वरों से भिन्न हैं। ध्वनि-भेद से ही विकृतत्व हो सकता है और ध्वनि-भेद तभी होता है, जब स्वर अपनी आधार श्रुति को छोड़ दे। ऐसी अवस्था रत्नाकरोक्त द्वादश विकृत स्वरों में से सात की ही होती है। शेष पाँच तो अपनी आधार श्रुति पर स्थिर रहते हुए ही विकृत होते हैं—अर्थात् या तो उनसे पूर्व का स्वर उनकी अपनी श्रुति या श्रुतियाँ ले लेता है और या तो पूर्वस्वर अपनी श्रुतियाँ छोड़ देता है। इस प्रकार शुद्धषड्ज से अच्युत षड्ज, शुद्ध ऋषभ से चतुःश्रुति ऋषभ, शुद्ध मध्यम से अच्युत मध्यम, त्रिश्रुति पञ्चम से कैशिक पञ्चम, एवं शुद्ध धैवत से चतुःश्रुति धैवत भिन्न नहीं है। उनके सात विकृत स्वर ये हैं—च्युतषड्ज, च्युतमध्यम, च्युतपञ्चम, साधारण गान्धार, अन्तर गान्धार, कैशिक निषाद एवं काकली निषाद।

रामामात्य के बताए हुए शुद्ध स्वर मेल की परम्परा दक्षिण प्रदेश में सदियों से दृढ़ीभूत हो चुकी है और आज उसके मूल गहराई तक पहुँचे हुए हैं। उस विटप की छाया सारे दक्षिण भारत पर छाई हुई है। रामामात्य के अनुयायी सोमनाथ ने भी उसी परम्परा को दृढ़ीभूत करने में अपने ग्रन्थ द्वारा योग दिया है और दक्षिण पथ के अन्य विद्वान् भी उसी लीक पर चले हैं, यह हम इसी प्रकरण में देखेंगे।

सोमनाथ

सोमनाथ रामामात्य के बाद ही हुए हैं और उन्हीं के अनुयायी प्रतीत होते हैं। उन्होंने भी रुद्रवीणा के आधार पर अपने स्वर स्थापित किये हैं। अलबत्ता, उनकी विशेषता इसी बात में मानी जाती है कि उन्होंने रामामात्य के सात विकृत स्वरों के स्थान पर अधिक विकृत स्वर माने हैं। स्थान-भेद से तो सोमनाथ के विकृत स्वरों की संख्या दस ही होती है, किन्तु किसी किसी ने* संज्ञा-भेद से वह संख्या पन्द्रह तक मान ली है। इसके अतिरिक्त वे उनके अपने माने हुए 'स्वयम्भू' स्वर निकालने की एक नवीन शैली के आविष्कारक भी माने गए हैं। यद्यपि तार का उँगली से पर्दों पर सटाए बिना ही, केवल स्पर्श मात्र से स्वयम्भू स्वर निकालने का उनका कथन एक नूतन और मौलिक प्रयोग अवश्य है, तथापि तार को सुन्दरी से बिना सटाए स्वयम्भू स्वर निकालने की युक्ति भ्रान्त ही नहीं असंगत भी है, ऐसी ध्वनि-शास्त्रज्ञों की मान्यता है।†

रामामात्य की तुलना में सोमनाथ की एक उल्लेखनीय विशेषता इस प्रकार है। जैसे 'रत्नाकर' कार ने वीणा पर बाईस तन्त्रियाँ बाँध कर, उन्हें क्रमशः 'मनाक् उच्च ध्वनि' में मिलाकर उन पर स्वर स्थापन करने को कहा है और इस प्रक्रिया द्वारा बाईस श्रुतियों की सिद्धि बताई है, उसी प्रकार सोमनाथ ने बाईस तन्त्रियों या तारों के स्थान पर एक सप्तक में बाईस पर्दे बाँधने को कहा है। 'रत्नाकर' कार की भाँति सोमनाथ ने भी यहाँ 'निरन्तरता' की शर्त लगा दी है, अर्थात् दो पर्दों के बीच किसी अन्य ध्वनि को अवकाश न रहे, इस प्रकार पर्दे बाँधे जाएँ, ऐसा उनका कथन है। यथा :—

न्यस्याः सूक्ष्माः सार्योऽथ द्वाविंशतिरधश्चरमतंत्र्याः।
तंत्री यथेयमुच्चोच्चतररवा किमपि तासु स्यात्॥
द्वयन्तर्नेष्टोऽन्यरवः श्रुतय इति रवा.....।

(रागविबोध १।१९-२०)

हमने भी सारणा-प्रकरण में सारणा-प्रक्रिया द्वारा श्रुतियों की सिद्धि के लिये, अचल वीणा पर के स्वर-संवाद को देखते हुए, चल वीणा पर के पर्दों को यथा-स्थान खिसकाने के साथ साथ यह भी वैकल्पिक विधान दिया है कि प्रत्येक सारणा में आवश्यकतानुसार नये पर्दे बाँध कर एक सप्तक में पूरे बाईस पर्दे बाँधे जाएँ और इस प्रकार नाद-दृष्टि से बाईस श्रुति और सप्त शुद्ध स्वरों की स्थापना सिद्ध की जाए। किन्तु हमारे सुझाये हुए उस मार्ग में और सोमनाथ के मार्ग में अन्तर है। हमने प्राचीनोक्त शुद्धषाड्जी मूर्च्छना के आरम्भक स्वर को, जो कि मेरु से चार श्रुति पर स्थित है, शुद्ध षड्ज मान कर, वहीं से जो षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था वीणा पर आज भी निनादित होती है, उसी को सिद्ध किया है। किन्तु सोमनाथ की स्वर-स्थापना विधि इससे बिल्कुल भिन्न है। निम्न उद्धरणों से यह स्पष्ट होगा :—

पृथुवक्ष्यमाणवीणामेरौ स्थाप्याश्चतस्र इति तंत्र्यः।
मन्द्रतमध्वनिराद्या त्रयं क्रमोच्चस्वनं किंचित्॥

(रागविबोध १।७)

अर्थात्—वीणा के मेरु पर चार तन्त्रियाँ (तारें) बाँधी जाएँ। पहली तन्त्री को मन्द्रतम ध्वनि में मिलाया जाए और बाद की तीनों तन्त्रियों को क्रमशः किंचित् उच्च ध्वनि में मिलाया जाए।

---

* 'ध्वनि और संगीत' पृ० १८१.
† वही पृ० १८४

शार्ङ्गदेव ने वीणा पर बाईस तार बाँध कर उन्हें 'मनाक् उच्च' बाईस नादों में मिलाने की जो विधि बताई है, उसी का सोमनाथ ने यहाँ अनुकरण किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि शार्ङ्गदेव ने तो श्रुतियों की सिद्धि के लिए बाँधी गई बाईस तारों के सम्बन्ध में 'मनाक् उच्च ध्वनि' का प्रयोग किया है, किन्तु सोमनाथ ने वीणा पर जो मुख्य चार तार बँधे रहते हैं, उनके लिए ही 'त्रयं क्रमोच्चस्वनं किंचित्' कहकर उन्हें क्रमशः उच्च ध्वनियों में मिलाने का आदेश दिया है। वास्तव में, मेरु पर बँधे हुए मुख्य चार तार तो क्रमशः उच्च ध्वनि में नहीं, किन्तु क्रमशः अनुमन्द्र सा, अनुमन्द्र प, मन्द्र सा और मन्द्र म में मिलाए जाते हैं। इसका उल्लेख स्वयं सोमनाथ ने ही 'वीणा विवेक' अध्याय में किया है। वही परम्परा आज भी चली आ रही है। इस प्रचलित विधि के साथ सोमनाथ के उपर्युक्त कथन की संगति नहीं बैठती है। उन्होंने मेरु पर स्थित चौथी तार के मुक्त नाद को षड्ज मान लिया है, यह हम देख ही चुके हैं। उस अवस्था में पर्दों द्वारा षड्ज के पूर्व की श्रुतिओं की सिद्धि करना तो असंभव था। इसीलिए बाज की तार के पूर्व की तीन तन्त्रियों के लिए 'त्रयं क्रमोच्चस्वनं किंचित्' कह कर षड्ज की चौथी श्रुति से पूर्व की तीन श्रुतियाँ मिलाने का यत्न किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि सोमनाथ ने एक सप्तक में २२ पर्दे बाँधने की जो विधी बताई है, वह रत्नाकर के २२ तार बाँधने के विधान का विकृत अनुकरण मात्र है। किन्तु 'रत्नाकर' कार ने तो चौथी श्रुति पर षड्ज, सातवीं पर ऋषभ, नवीं पर गान्धार, तेरहवीं पर मध्यम, सत्रहवीं पर पञ्चम, बीसवीं पर धैवत और बाईसवीं पर निषाद स्थापित करने को कहा है। यदि सोमनाथ ने पर्दों के विषय में उसी मार्ग की अनुसरण किया होता, तो उन्हें षड्जग्रामिक स्वर-व्यवस्था सहज ही में मिल जाती। अर्थात् सोमनाथ को चाहिए था कि मेरु पर सा न मानकर, श्रुतिनिदर्शक उन २२ पर्दों में से चौथे पर्दे पर सा मानते। किन्तु, उन्होंने तो मेरुस्थित चार तारों में से चौथी तार के मुक्त नाद को ही सा मान लिया है और तत्पश्चात् ऋषभादि के पर्दे बाँधने को कहा है। आज की वीणा पर चाहे वह औत्तरात्य हो या दाक्षिणात्य, जिस प्रकार पर्दे बँधे रहते हैं, वही परिपाटी तब भी रही होगी, उसमें संदेह को जगह नहीं है, क्योंकि वह प्रणाली वीणास्थित तारों और पर्दों के स्वर संवाद पर आधारित है। उसमें परिवर्तन की त्रिकाल में शक्यता नहीं है, क्योंकि संवाद ही संगीत का प्राण है। इस अवस्था में, वीणा पर बँधी हुई बाज की तार को मध्यम या षड्ज मान लेने से, पहिली सात सारियों पर निम्नलिखित स्वर निनादित होंगे :—

सारी संख्या	मुक्ततार को मध्यम मानने से निनादित होनेवाले स्वर	मुक्ततार को षड्ज मानने से निनादित होनेवाले स्वर	मेरु से श्रुत्यन्तर	स्वरों के परस्पर श्रुत्यन्तर
मेरु ...	..... म	..... सा	०	०
सारी १ ...	..... मू	..... रे	२	२
,, २ ...	..... प	..... रे	४	२
,, ३ ...	..... धू	..... गू	६	२
,, ४ ...	..... ध	..... ग	७	१
,, ५ ...	..... नि	..... म	९	२
,, ६ ...	..... नि	..... मू	११	२
,, ७ ...	..... सा	..... प	१३	२

किन्तु सोमनाथ ने अपने कहे हुए एक सप्तकान्तर्गत २२ पर्दों में से ३-५-९-१३-१६-१८-२२ संख्यक पर्दों पर क्रमशः रि—ग—म—प—ध नि सो की स्थापना करने को कहा है। यथा :—

ऋषभस्तृतीयसार्धां गः पंचम्यां नवम्यां मः ॥
पस्तु त्रयोदशीस्थः धोऽश्यष्टादशीस्थितौ च धनी ।
द्वाविंशीस्थः षड्जो द्विगुणसमः पूर्वषड्जेभ ॥

(रागविबोध १२०-१)

हम ऊपर देख चुके हैं कि वीणा पर परम्परागत पहिला पर्दा मेरु से दो श्रुति के अन्तर पर स्थित है। सोमनाथ के कथनानुसार यदि इस पर्दे के आगे एक श्रुति के अन्तर पर नया पर्दा बाँध कर उस पर ऋषभ स्थापित करेंगे और तदनुसार, परम्परा प्राप्त दूसरे पर्दे से एक श्रुति आगे हटा कर गान्धार का पर्दा बाँधेंगे, तो सारी वीणा बेसुरी हो जाएगी और किसी भी प्रकार वह वादन योग्य नहीं रहेगी। ऐसा बेसुरापन सोमनाथ को भी अभीष्ट नहीं ही रहा होगा। इसलिए यही मानना पड़ता है कि रामामात्य की भाँति इन्होंने भी परम्परा के आग्रह वश उस द्विश्रुतिक अन्तर वाले पर्दे को ही त्रिश्रुतिक मान लिया है और वैसा सिद्ध करने का यत्न किया है। यह इससे सिद्ध है कि उन्होंने मेरु तथा पहिले पर्दे के बीच दो नये पर्दे बाँधने को कहा है। किन्तु ऐसी खींचातानी से, जो वास्तव में द्विश्रुतिक अन्तर है, वह ध्वनि-दृष्ट्या त्रिश्रुतिक तो नहीं ही बन सकता। वही अवस्था पञ्चश्रुति गान्धार की भी है, जिसे कि उन्होंने चतुःश्रुति ऋषभ के पर्दे पर स्थापित कर दिया है। सा-म और प के संवादसिद्ध स्थानों में तो किसी प्रकार के परिवर्तन की शक्यता है ही नहीं, क्योंकि वीणा पर बँधे हुए तार भी उन्हीं स्वरों में मिलाये जाते हैं। इसलिये इन स्वरों की स्थापना में तो कोई गड़बड़ नहीं हो पाई है। परन्तु, पूर्वांग में उनके रे-ग और उत्तरांग में ध-नी की श्रुति-स्वर व्यवस्था में ही उनकी असमंजसता निहित है।

इस प्रकार हमने देखा कि सोमनाथ ने मेरु पर षड्ज मान कर प्रचलित रुद्र-वीणा के पर्दों पर अपने स्वरों की स्थापना की है, जो रामामात्य की परिपाटी से भिन्न नहीं है क्योंकि इनके स्वरों का भी वही अन्तराल है, जो रामामात्य ने कहा है। और इस प्रकार, भरत-शार्ङ्गदेवोक्त श्रुति-स्वर-व्यवस्था को न समझ कर उन प्राचीनों की कही हुई स्वर-श्रुति-विभाजन की प्रणाली को ज्यों का त्यों दिखाने का आग्रह रखने के कारण जिस भिन्न पथ-परम्परा का रामामात्य से आरम्भ हुआ, सोमनाथ ने भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाया है। इसी से, यद्यपि सोमनाथ ने रामामात्य के कहे हुए स्वरों के अतिरिक्त चतुःश्रुतिक ऋषभ धैवत को भी अपने स्वरों में स्थान दिया है, तथापि उन्हें रामामात्य का सीधा अनुयायी माना जाए तो, हम समझते हैं वह सत्य से अतीत नहीं होगा।

विकृत स्वरों के सम्बन्ध में सोमनाथ की क्या मान्यता है, उसे देखने के लिए नीचे उनके तत्सम्बन्धी वचन अवतरित किये जाते हैं :—

सोमनाथ की विकृत-स्वर-व्यवस्था की नवीनता इसी में है कि इन्होंने रामामात्य के कहे हुए सात विकृत स्वरों के अतिरिक्त चतुःश्रुति ऋषभ चतुःश्रुति धैवत और षट्श्रुति मध्यम इन तीन नये विकृत स्वरों की गणना की है। यथा :—

रिधयोः परश्रुतिगतेश्चतस्र इह पंच षट् तथा श्रुतयः ।
देशीरागेष्वभिवीक्ष्यन्ते न (?) षट् तथा गमयोः ॥
इति तेषु संभवन्ति त्रयोऽन्य एभ्यो विलक्षणा विकृताः ॥

(रागविबोध १ । २९-३०)

अर्थात्—रि ध जब अपने परवर्ती स्वर की एक, दो या तीन श्रुतियाँ ले लेते हैं, तब वे क्रमशः चतुःश्रुति, पञ्चश्रुति और षट्श्रुति संज्ञा पाते हैं। उसी प्रकार ग और म भी षट्श्रुतिक बनते हैं। षट्श्रुतिक ग, पञ्चश्रुतिक रि तथा पञ्चश्रुतिक ध—ये तीनों क्रमशः शुद्ध मध्यम, शुद्ध गान्धार तथा शुद्ध निषाद से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार तीन ही नए विकृत स्वर बनते हैं और वे हैं—चतुःश्रुतिक रि, चतुःश्रुतिक ध और षट्श्रुतिक म, जो कि देशी रागों में दृष्टिगोचर होते हैं।

यहाँ यह पुनः उल्लेनीय है कि रामामात्य की भाँति सोमनाथ ने भी वीणा पर चतुःश्रुति रि-ध के पर्दों पर क्रमशः शुद्ध गान्धार और शुद्ध निषाद की स्थापना की है। इससे स्पष्ट है कि वीणा पर जो वास्तव में चतुःश्रुति अन्तर है, उसे वे पञ्चश्रुति समझ रहे हैं। ऐसी अवस्था में नये विकृत स्वरों के रूप में चतुःश्रुति रि-ध यानी तीव्र रि-ध का उल्लेख, गहरी ग़लतफ़हमी का सूचक है। इन 'नवीन विकृत' स्वरों के लिए सोमनाथ ने यह भी लिख छोड़ा है कि वीणा पर उनके पर्दों को स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि शुद्ध ऋषभ धैवत के पर्दों पर तार को खींचने से वे स्वर प्राप्त हो जाते हैं। यथा :—

अन्तरकाकल्यौ तीव्ररिधौ तीव्रतममध्यमश्चेति।
पंच न किं द्वादशवत्सारीषूक्ता ब्रूवे तत्र॥
साधारणादिसारिष्वपकर्षादधिकिता यदा श्रुतयः।
पञ्च तदान्तरमुख्या इह स्युरिति ताः पृथङ्नोक्ताः॥

(रागविबोध २। ३८—९)

अर्थात्—यदि कोई यह शंका करे कि द्वादश स्वरों की भाँति अन्तर, काकली, तीव्र रि, तीव्र ध (दोनों चतुःश्रुतिक) और तीव्रतम मध्यम (षट्श्रुतिक मध्यम जिसने पञ्चम की दो श्रुतियाँ ले ली हों) इन पाँच स्वरों के पर्दे क्यों नहीं कहे गए हैं, तो इसका उत्तर यही है कि साधारण गान्धार और कैशिक निषादादि के पर्दों पर तार को खींचने से अन्तर-काकली आदि सभी स्वर प्राप्त हो जाते हैं, इसीलिए इन पाँचों के पर्दों को स्थान नहीं दिया गया है।

इस उद्धरण से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाएगा कि सोमनाथ की 'पञ्चश्रुति' और 'चतुःश्रुति' संज्ञाओं का वीणास्थित पर्दों के स्थानों के साथ एवं उन पर्दों पर स्थित स्वरों के अन्तरालों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। हम जानते हैं कि मेरु पर षड्ज मानने से ऋषभ धैवत का अन्तराल अपने आप चतुःश्रुतिक हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में षड्जग्रामिक षड्ज और पञ्चम के पर्दे, जिन दोनों का अन्तर क्रमशः मेर और मध्यम से चतुःश्रुतिक है, वही क्रमशः ऋषभ धैवत बन जाते हैं। उन चतुःश्रुति रि-ध के पर्दे वीणा पर होने पर भी उन पर पञ्चश्रुति स्वर स्थापित करना और फिर यह कहना कि चतुःश्रुति ऋषभ धैवत के लिए वीणा के पर्दों में स्थान नहीं है, यह कितना असमंजस है, कितना असंगत है, और सत्य से कितना अतीत है! इससे भी अधिक आश्चर्य तो सोमनाथ के इस कथन से होता है कि अन्तर-काकली के पर्दे भी वीणा पर नहीं हैं, जब कि मेरु को सा मानने से वीणा पर प्राचीन परम्परा से प्राप्त पर्दों में से चौथे पर्दे पर अन्तर गान्धार, और ग्यारहवें पर काकली निषाद अचल रूप से प्रतिष्ठित हैं। उन स्वरों के लिए सोमनाथ का उपर्युक्त कथन कितना असंगत है, यह विज्ञ पाठक स्वयं ही निर्णय कर सकेंगे। इन तीनों स्वरों के लिए क्रमशः 'च्युतमध्यम गान्धार', 'च्युत षड्ज निषाद' और 'च्युत पञ्चम मध्यम' इन वैकल्पिक संज्ञाओं का प्रयोग करने से संभवतः सोमनाथ के यह ध्यान में न रहा होगा कि वास्तव में ये स्वर अन्तर गान्धार, काकली निषाद और तीव्रतम मध्य- ही हैं, जो कि वीणा के पर्दों पर स्थापित हैं।

सोमनाथ के विकृत स्वरों की असमंजसता हम ने ऊपर देख ली। जो भी हो, रामामात्य की अपेक्षा तीन नए विकृत स्वर कह कर उन्होंने विकृत स्वरों की संख्या दस तक पहुँचाई है और मेल-रचना में उन्होंने पन्द्रह स्वर-संज्ञाओं का प्रयोग किया है, इतना कहकर अब इस प्रकरण को समाप्त कर देना समुचित होगा।

पं० व्यंकटमखी

रामामात्य और सोमनाथ के स्वरश्रुति-प्रकरण को देखने के बाद अब हम पं० व्यंकटमखी की 'चतुर्दण्डिप्रकाशिका' पर दृष्टि डालें।* अधुना दक्षिणा के पण्डित और कलाकार रामामात्य और सोमनाथ

* काल-दृष्टि से रामामात्य और सोमनाथ के बीच पुण्डरीक विट्ठलादि का भी स्थान है, किन्तु दक्षिण पद्धति के प्रवर्तकों और पोषकों की विचारधारा को एक दृष्टि से देख लेने के लिए प्रस्तुत क्रम अपनाया गया है।

की भाँति इनको भी अपना आधार मानते हैं। संभवतः दक्षिणी पद्धति के मध्ययुगीय प्रणेताओं में से ये अन्तिम माने जाते हैं और ७२ मेल वाली पद्धति के प्रस्थापक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि रामामात्य, सोमनाथ या व्यंकटमखी की मेल-पद्धति पर हमें यहाँ विचार नहीं करना है। इस विषय की विवेचना, राग पद्धति पर प्रकाशित होने वाले, इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में की जाएगी। यहाँ पर अब हम केवल व्यंकटमखी के श्रुति-स्वर-विवरण को ही देखकर दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों का विवरण समाप्त करेंगे और अन्य मध्ययुगीय ग्रन्थकारों का एतद्विषयक अवलोकन आरम्भ करेंगे।

जिस प्रकार रामामात्य तथा सोमनाथ ने परम्परा के आग्रह से भरत-शार्ङ्गदेवोक्त स्वरगत श्रुतियों के विभाजन की व्यवस्था वैसी की वैसी कही है, उसी मार्ग का पं० व्यंकटमखी ने भी अनुसरण किया है। यथा :—

तत्र शुद्ध स्वराः सप्त मुखारीमात्रभासकाः। चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः॥
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ। इत्येव भरतश्लोकसंख्यातश्रुतिशालिनः॥

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि पं० व्यंकटमखी ने भरत की कही हुई श्रुति-व्यवस्था को स्वीकार करके साथ ही यह कहा है कि इस श्रुति व्यवस्था वाले सप्त शुद्ध स्वर केवल मुखारी मेल में ही दृष्टि-गोचर होते हैं। मुखारी मेल का स्वरूप हम इसके पूर्व देख ही चुके हैं जो कि सा रि ग म प ध न् सां नहीं अपितु सा रि॒ रि म प ध॒ ध सां है। उससे यह स्पष्ट होगा कि वास्तव में मुखारी मेल के स्वरों की श्रुति व्यवस्था भरत-सम्मत नहीं है। दक्षिणात्यों के मुखारी मेल को भरतोक्त श्रुति-व्यवस्था का शुद्ध रूप सिद्ध करने का पं० व्यंकटमखी ने जो यत्न किया है, वह कितना भ्रान्तिमूलक और उपहासास्पद है, यह इसके पूर्व की गई एतद्विषयक चर्चा से, सुज्ञ पाठकों से अविदित नहीं रहा होगा।

विकृत स्वरों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं :—

विकृतास्तु स्वराः पञ्चेत्यस्माभि रवधार्यते। रत्नाकरे तु निःशङ्को विकृतान् द्वादशस्वरान्॥
अन्ये वदन्ति पुनस्सप्तेत्याहुर्विकृतस्वरान्। सर्वमेतत्समालोच्य लक्ष्यमार्गानुसारतः॥
स्वराः पञ्चैव विकृता इति सिद्धान्तितं मया। तांश्च पञ्चस्वरान् सम्यग्विविच्य व्याहरामहे॥
साधारणश्च गान्धारो गान्धारश्चान्तराभिधः। द्वौ तौ च मध्यमक्षेत्रसंभूतौ विकृतस्वरौ॥
वरालीमध्यमश्चैकः पंचमक्षेत्रसंभवः। षड्जक्षेत्रसमुद्भूतौ कैशिकीकाकलीस्वरौ॥
(चतुर्दण्डिप्रकाशिका)

अर्थात्—विकृत स्वर पाँच ही हैं, ऐसा हम निर्धारित करते हैं। 'रत्नाकर' कार ने तो बारह विकृत स्वर बताए हैं और किसी किसी ने सात भी कहे हैं, किन्तु 'लक्ष्य' पर विचार करके मैंने यही सिद्धान्त बनाया है कि विकृत स्वर पाँच ही हैं। वे इस प्रकार हैं—साधारण गान्धार और अन्तर गान्धार, ये दो मध्यमक्षेत्र से संभूत हैं, वराली मध्यम पञ्चम के क्षेत्र से उत्पन्न है और कैशिकी तथा काकली निषाद षड्जक्षेत्र से उद्भूत होते हैं।

रामामात्य ने रत्नाकरोक्त द्वादश विकृत स्वरों में से जिन सात को स्वीकार किया है, उनमें से पं० व्यंकटमुखी ने च्युतमध्यम और च्युतषड्ज का परित्याग कर दिया है और उनके च्युतपञ्चम के स्थान पर 'वराली मध्यम'—इस नई संज्ञा का प्रयोग किया है, जिसके बारे में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

इन विकृत स्वरों की श्रुति-व्यवस्था पं० व्यंकटमुखी ने इस प्रकार दी है—

स्यात्साधारणगान्धारस्तस्या (मध्यमस्य) द्यां श्रुतिमाश्रितः। तस्यैव समुपादाय द्वितीयकतृतीयके॥
श्रुती द्विश्रुतिकः प्रोक्तो गान्धारोऽन्तरनामकः। दत्वा साधारणाख्याय गान्धारायादिमां श्रुतिम्॥
द्वितीयां च तृतीयां चान्तरगान्धारसंज्ञिके। तत्रैकश्रुतिको जातो मध्यमोऽयं चतुःश्रुतिः॥
चतस्रः श्रुतयः प्रोक्ताः पञ्चमे गीतवेदिभिः। आदायाद्यां द्वितीयां च तृतीयामपि तच्छ्रुतिम्॥

वरालीमध्यमः प्रोक्तः श्रुतित्रयसमन्वितः। वरालीमध्यमाय त्रिश्रुतीर्दत्वा तु पञ्चमः॥
श्रुत्यैकया युतो जातो भवन्नपि चतुश्रुतिः। तिस्रस्सांगीतकैः प्रोक्ताः श्रुतयः शुद्धधैवते॥
स्वरे शुद्धनिषादाख्ये द्वे श्रुती समुदाहृते। चतस्रः श्रुतयः षड्जे तस्यादायादिमां श्रुतिम्॥
कैशिक्याख्यनिषादोऽयं एकश्रुतिरुदाहृतः। द्वितीयकतृतीयाख्य तच्छ्रुतिभ्यां समन्वितः॥
काकल्याख्यनिषादोऽयं द्विश्रुतिः कथ्यते बुधैः। तत्कैशिकनिषादाय श्रुतिमेकां श्रुतिद्वयीम्।
काकल्यैव प्रदायास्ते षड्ज एकश्रुतिः स्वयम्।

(चतुर्दण्डि०)

अर्थात्—जब गान्धार मध्यम की आद्या श्रुति को ले लेता है, तब वह साधारण गान्धार कहलाता है। जब वह मध्यम की द्वितीया और तृतीया श्रुति को ले लेता है, तब अन्तर गान्धार कहलाता है। उस अवस्था में मध्यम चतुःश्रुतिक होते हुए भी एकश्रुतिक रह जाता है। मध्यम जब पञ्चम की तीन श्रुतियाँ ले लेता है, तब वराली मध्यम संज्ञा पाता है और उस अवस्था में पञ्चम चतुःश्रुतिक होते हुए भी एकश्रुतिक रह जाता है। निषाद जब षड्ज की प्रथम श्रुति ले लेता है, तब वह कैशिक निषाद कहलाता है और जब वह षड्ज की द्वितीय और तृतीय श्रुति ले लेता है, तब उसे काकली निषाद कहा जाता है। तब षड्ज एकश्रुतिक रह जाता है।

इन विकृत स्वरों के सम्बन्ध में एक उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है और वह यह कि अन्तर गान्धार और काकली निषाद के सम्बन्ध में पं० व्यंकटमखी का कथन न तो भरतोक्त व्यवस्था-संगत है और न ही वीणा पर बँधे हुए पर्दों के अनुसार है। अन्तर गान्धार और काकली निषाद वास्तव में क्रमशः मध्यम और षड्ज की दो दो श्रुतियाँ लेते हैं, तीन तीन नहीं, जैसा कि पं० व्यंकटमखी ने कहा है। अन्तर गान्धार और काकली निषाद क्रमशः मध्यम और षड्ज की तीन तीन श्रुतियाँ ले लेते हों और इस प्रकार मध्यम और षड्ज एकश्रुतिक रहजाते हों, ऐसा विधान या प्रचार कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्तर काकली के विषय में सोमनाथ की मान्यता हम उनके विकृत स्वरों के प्रसंग में देख चुके हैं। संभवतः उसी का अमिट संस्कार पं० व्यंकटमखी के कथन की तह में निहित है।

भरत ने स्वर-साधारण समझाते समय यह स्पष्ट किया है कि शुद्ध गान्धार और मध्यम के बीच में अन्तर गान्धार स्थित है एवं शुद्ध निषाद और षड्ज के बीच में काकली निषाद का स्थान है। भरत के इस विधान का स्पष्टार्थ यही है कि अन्तर गान्धार और काकली निषाद का स्थान शुद्ध गान्धार और शुद्ध निषाद के दो दो श्रुति बाद है, तीन तीन श्रुति बाद नहीं, जैसा कि पं० व्यंकटमखी कह रहे हैं।

इस प्रसंग में वराली मध्यम का भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। स्वर सप्तक में स्वरसाधारण करने योग्य तीन स्थान दिखाई देते हैं, क्योंकि जिनके बीच में चार श्रुतियों का अन्तर हो, ऐसी स्वर-जोड़ियाँ एक सप्तक में तीन ही हैं। यथा निषाद-षड्ज, गान्धार-मध्यम तथा मध्यम-पञ्चम—इनके बीच चार चार श्रुति का अन्तर है। भरतादिक ने निषाद-षड्ज और गान्धार-मध्यम के बीच काकली निषाद और अन्तर गान्धार का स्वर-साधारण कहा है। मध्यम-पञ्चम के बीच में उन्होंने स्वर-साधारण क्यों नहीं कहा है, इसका स्पष्टीकरण आगे मूर्च्छना प्रकरण में किया जाएगा। इतना तो स्पष्ट है ही कि जहाँ भी स्वर-साधारण किया गया है, वहाँ दोनों ओर दो श्रुति का अन्तर रखा गया है। यदि मध्यम और पञ्चम के दर्म्यान नया स्वर-साधारण करना हो तो उस अवस्था में भी मध्यम से दो श्रुत्यन्तर वाला तीव्र मध्यम ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु पं० व्यंकटमखी ने वराली मध्यम के नाम से जो स्वर बताया है, वह मध्यम से तीन श्रुति आगे है, जैसा कि उन्होंने काकली और अन्तर गान्धार के लिए कहा है। यदि उन्हें प्राचीनोक्त त्रिश्रुति पञ्चम अभिप्रेत हो, तब तो उसकी 'वराली मध्यम' संज्ञा से भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यदि आज के तीव्र मध्यम का स्थान अभिप्रेत हो, तब तो जो भूल उनसे अन्तर गान्धार और काकली के सम्बन्ध में हुई है, वही भूल यहाँ भी दिखाई देती है।

काकली और षड्ज के बीच का त्रिश्रुतिक निषाद, अन्तर गान्धार और मध्यम के बीच का त्रिश्रुतिक गान्धार तथा तीव्र मध्यम और पञ्चम के बीच की तीसरी श्रुतिवाला तीव्र मध्यम—इन स्वरों का भी क्रियाकुशल गुणीजन आज अपनी क्रिया में उपयोग करते हैं। इसकी विशद विवेचना पाँचवें अध्याय में की जाएगी। किन्तु पं० व्यंकटमखी ने परम्पराप्राप्त अन्तर काकली को जो त्रिश्रुतिक बताया है, वह समीचीन नहीं प्रतीत होता। यदि उन्होंने परम्पराप्राप्त अन्तर-काकली की यथायथ व्यवस्था दिखा कर तदतिरिक्त गान्धार निषाद की नई त्रिश्रुतिक व्यवस्था भी दिखाई होती, तो नूतन सूक्ष्म स्वरान्तरों के रूप में उन स्वरों को ग्रहण करने में कोई आपत्ति न होती। किन्तु पं० व्यंकटमखी के शब्दों में न तो प्राचीन परम्परा का मान रहा है और न नूतन आविष्कार का स्थान है।

जैसा कि हम पहिले कह आए हैं, पं० व्यंकटमखी के कहे हुए शुद्ध स्वरों की श्रुति-व्यवस्था देखने से ऐसा आभास होता है कि उनमें भरत-शार्ङ्गदेव की परम्परा का ही निदर्शन है। किन्तु प्रत्यक्ष वीणा पर उनके कहे हुए स्वर-सप्तक को देखने से स्पष्ट होता है कि प्राचीनोक्त श्रुति स्वर व्यवस्था को समझने में उनसे मूल ही में ग़लतफ़हमी हुई है, जो कि निम्नोक्त है :—

(१) सर्वप्रथम—वीणा के मेरु पर षड्ज मान लेना। मेरु पर षड्ज मान लेने के कारण षड्ज के पूर्व की तीन श्रुतियों को वीणा पर सिद्ध करना उनके लिए असंभव हो गया और उन्होंने इस सम्बन्ध में यहाँ तक कह दिया कि 'मध्यमेलवीणा' पर षड्ज की श्रुतियों की सिद्धि करना ब्रह्मा के लिए भी संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके अपने शब्द उद्धृत करना यहाँ अस्थानीय न होगा। यथा :—

नन्वाद्यं षड्जमुत्सृज्य ऋषभादिवया त्वया ॥
किमर्थं श्रुतिवीणार्थं पर्वन्यासः प्रदर्शितः।
उच्यते नास्ति षड्जस्य पर्वं यस्मादयं पुनः ॥
जातः केवलसारिण्या पर्वस्पर्शनमन्तरा।
न शक्या श्रुतयो बोद्धुं स्वरे पर्वविनाकृते ॥
ज्ञेयास्ताः खलु पर्वांतः श्रुतिपर्वनिवेशनात्।
तस्मादाद्यमपि त्यक्त्वा षड्जं पर्वविवर्जितम् ॥
मध्यमेलाख्यवीणायां श्रुतिवीणाप्रकाशनम्।
कर्तुं षड्जादिमत्वेन ब्रह्मणापि न शक्यते ॥

(चतुर्दण्डि०)

अर्थात्—श्रुति वीणा पर पर्दों द्वारा श्रुतियों की सिद्धि बताते समय आद्य स्वर षड्ज को छोड़कर ऋषभ की श्रुतियों के पर्दों से क्यों आरम्भ किया गया है? इसका उत्तर यह है कि षड्ज का तो पर्दा ही नहीं है और पर्दों के बिना श्रुतियों का बोध नहीं हो सकता, इसलिए षड्ज को छोड़कर ऋषभ की श्रुतियों के पर्दों की स्थापना बताई गई है। मध्य मेल वीणा पर षड्ज सहित श्रुतिवीणा दिखाना ब्रह्मा के लिए भी संभव नहीं।

'ब्रह्मणापि न शक्यते' ये शब्द लिखकर तो व्यंकटमखी ने ग़ज़ब ढा दिया है। यदि वे भरत, मतंग या शार्ङ्गदेव को भली भाँति समझे होते, या उनके कथन को सुलझाने का यत्न किये होते, तो जो भरतादिक श्रुतिज्ञ कह चुके हैं, लिख चुके हैं, उसके लिए उन्हें 'ब्रह्मणापि न शक्यते' न लिखना पड़ता। प्रतीत होता है कि पं० व्यंकटमखी ने अपनी पूर्वग्रहीत धारणा से यह मान लिया होगा कि प्राचीनों ने चतुःश्रुति पर जो षड्ज स्थापित किया था, उसकी श्रुतियों की सिद्धि करना असंभव है। हम जानते हैं कि उन्होंने मेरुस्थित मुक्त तार के नाद को षड्ज मान लिया है। उस अवस्था में पर्दों द्वारा, षड्ज का पूर्व-श्रुतियों के निदर्शन की शक्यता ही नहीं है। इसीलिए उन्हें श्रुतिवीणा पर षड्ज को छोड़कर ऋषभादि की श्रुतियों का विवरण आरम्भ करना

पड़ा है। यदि वे मेरु से तीन श्रुति छोड़कर चौथी श्रुति पर जो पर्दा बँधा हुआ है, उसी को सा मानकर चलते तो ब्रह्मा के लिए ही नहीं, पं० व्यंकटमखी के किसी विद्यार्थी के लिए भी षड्ज की श्रुतियों की स्थापना सरल हो जाती।

२) मेरु से आगे दो श्रुति के अन्तर पर जो पर्दा बँधा हुआ है, उसके और मेरु के बीच में दो नए पर्दे बाँधने का स्पष्ट विधान देना, यह उनकी दूसरी बड़ी ग़लतफ़हमी है क्योंकि द्विश्रुतिक अन्तर को ही उन्होंने त्रिश्रुतिक मान लिया है। यथा :—

मेरूपकण्ठगं शुद्धर्षभक्षेत्रान्तरं त्रिधा।
विभज्यर्षभपर्वेन्दु दृश्यमाने विनान्तरे॥
षवंद्वयनिवेशे स्युस्तिस्रोऽपि श्रुतयः स्फुटाः।

(चतुर्दण्डि०)

अर्थात्—मेरु से शुद्ध ऋषभ तक के क्षेत्र को त्रिधा विभाजित करके उसके बीच में दो नए पर्दे बाँधने से ऋषभ की तीन श्रुतियाँ सिद्ध हो जाएँगी।

जिसे वे शुद्ध ऋषभ समझ रहे हैं, और जिस अन्तर को त्रिश्रुतिक समझ रहें हैं, और त्रिधा विभाजित करके जिसमें दो नए पर्दे बाँधने को कह रहे हैं, वह वास्तव में दो ही श्रुति का अन्तर है। जो ग़लतफ़हमी इस श्रुति-विभाजन को समझने में रामामात्य और सोमनाथ से हुई, पं० व्यंकटमखी ने भी उसी लीक पर चलकर उस परम्परा को दृढ़ीभूत किया। इससे, पढ़े लिखे पण्डित, किन्तु क्रिया से अनभिज्ञ लोगों को ऐसा तर्क करने की उत्तेजना मिली कि प्राचीन तथा मध्ययुगीय शास्त्रकारों की श्रुतियों का परिमाण कुछ निश्चित नहीं था। किसी भी अन्तर को दो, तीन, चार, या पाँच श्रुतियों का कह लो, उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं, ऐसी उन लोगों की धारणा बन गई। आधुनिक युग के इस तर्क का मूल स्वयं सोमनाथ के निम्नोद्धृत शब्दों में निहित है। यथा :—

श्रुत्यैकयाऽधिकत्वं न्यूनत्वं वा न दोषाय॥

(रागविबोध २। ३४)

अर्थात् स्वरों में एक श्रुति के अधिकत्व या न्यूनत्व से कोई दोष नहीं होता।

(३) यह सर्वविदित है कि मेरु से दूसरे पर्दे का अन्तर चार श्रुति का है। अतः मेरु को सा मानने से वह पर्दा चतुःश्रुतिक ऋषभ हो जाएगा। किन्तु रामामात्य और सोमनाथ की भाँति व्यंकटमखी ने भी उस अन्तर को पञ्चश्रुति मान कर उस पर्दे पर शुद्ध गान्धार स्थापित किया है। उसी प्रकार उन्होंने चतुःश्रुति धैवत को शुद्ध निषाद मान लिया है।

पं० व्यंकटमखी के अपने ही शब्दों का सरल, सीधा अर्थ हमने यहाँ विद्वानों के सामने प्रस्फुट किया है। प्राचीनोक्त स्वर-व्यवस्था का हमें जो, जैसा, दर्शन हुआ है, जिसका स्पष्टीकरण हम कर चुके हैं, उसे देखते हुए, दाक्षिणात्य पद्धति के पण्डितों की स्वर-व्यवस्था कितनी भिन्न है, यह भली भाँति स्पष्ट होगा। पं० व्यंकटमखी जैसे बुद्धिमान और विद्वान पण्डितों की ऐसी ग़लतफ़हमी कैसे हो सकती है, कैसे हुई होगी? उनकी इन ग़लतफ़हमियों का कारण, उनके अपने ही शब्दों के अनुसार कहीं यह तो नहीं होगा कि वे केवल 'पण्डित' ही थे 'श्रुतिज्ञ' नहीं थे? क्योंकि अपने पूर्वाचार्यों के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है :—'ते सर्वे श्रुतिज्ञा, न तु पण्डिताः।

भरतादि प्राचीन आचार्य ही नहीं, आधुनिक पाश्चात्य और पौरस्त्य ध्वनि-विज्ञान के पण्डित भी स्पष्टतया कहते हैं कि दो श्रुत्यन्तर वाले स्वरों में विवाद की मात्रा सर्वाधिक रहती है। हम देखते हैं कि वह विसंवाद दाक्षिणात्य पद्धति के शुद्ध स्वर-सप्तक में, जिसे मुखारी या कनकाँगी मेल कहते हैं, विपुल मात्रा में

पाया जाता है। उनका शुद्ध ऋषभ और शुद्ध धैवत क्रमशः षड्ज और पञ्चम से दो दो श्रुति के अन्तर पर स्थित है। तद्वत् ऋषभ और शुद्ध गान्धार एवं धैवत और शुद्ध निषाद के बीच भी दो दो श्रुति का ही अन्तर है, क्योंकि वास्तव में जो सा रे रे म प ध ध सां है, उसी को उन्होंने सा रे ग म प ध नि सां मान लिया है। इस प्रकार दाक्षिणात्यों का यह शुद्ध स्वर सप्तक कितना अवैज्ञानिक है, यह किसी भी ध्वनिशास्त्र के ज्ञाता से अज्ञात नहीं है।

इस अवैज्ञानिकता के होते हुए भी आज पूरे दाक्षिणात्य प्रदेश में यह परम्परा प्रचारित है और सारा दक्षिण भारत एवं कियदंश में हिन्दुस्थानी संगीत के विद्वान् भी इसके विपुल प्रचार से इतने प्रभावित हैं कि उन मध्ययुगीय पण्डितों से कोई भूल हुई होगी, इतना मानने को भी आज कोई सहसा प्रस्तुत नहीं होगा। हमें जो दिखाई दिया, बार बार उन पण्डितों के ग्रन्थों का परिशीलन करने के बाद हमारी जो धारणा बनी और निष्कर्ष के रूप में जो मान्यता दृढ़ हुई, उसका यथादर्शन विद्वानों के सामने हमने रख दिया है। हरेक को अपना मत और विचार प्रकट करने का अधिकार जन्म से प्राप्त है। जो हमें दिखाई दिया, उसे यदि ग्रन्थ लिखते समय प्रकाशित न करें तो यह हमारी आत्मवंचना होगी। इसलिए हमने विद्वज्जन के सामने अपना नम्र दर्शन प्रस्तुत किया है। *संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥* क्षीर नीर विवेक से बुधजन इसका निरीक्षण करें, ऐसा हमारा नम्र अनुरोध है।

'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने'—गो० तुलसीदासजी के इस वचनानुसार जब तक किसी विषय को स्वानुभव से जाँच न लें, तब तक कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टि से प्रस्तुत विषय का इतना विस्तृत विवेचन किया गया है।

उत्तर दक्षिण के स्वरों की, उनकी श्रुति व्यवस्था की और लक्ष्य की विशद विवेचना के बाद* हमें विश्वास है कि विज्ञ पाठक स्वयं ही निर्णय कर सकेंगे कि इन दोनों में से कौन सी पद्धति में भरत की परम्परा अविकल और अक्षुण्ण रह पाई है†। फिर भी यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में और कियदंश में 'उत्तर' भारत में भी ऐसी मान्यता प्रचारित है कि दक्षिण के संगीत में भरत-शार्ङ्गदेवोक्त परंपरा शुद्ध और अविकृत रूप से चली आई है एवं दक्षिणेतर भारत का संगीत प्राचीन परंपरा से बिछुड़ा हुआ है, मुस्लिम प्रभाव से प्रभावित है और इसी से विकृत है। हमें परम दुःख तो तब होता है, जब कि 'उत्तर' के लोग भी इस धारणा और प्रचार के शिकार बनते हैं और हमको ही उपदेश देते हैं कि हमारे भारतीय संगीत पर मुस्लिम प्रभाव है, जिसके कारण हम अपनी प्राचीन परंपरा को भूल बैठे हैं या उससे विच्छिन्न हो गए हैं। पं० भातखण्डे भी इस भ्रान्त धारणा से बचे नहीं हैं, यह देख कर तो हमें निगूढ़ वेदना होती है।

इस प्रचलित मान्यता के सम्बन्ध में भी यहाँ हमें अपने विचार अभिव्यक्त करने चाहिए, जिससे इसके सत्यानृत का निर्णय बुधजन कर सकें।

स्वयं मुसल्मानों ने यह बात मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है कि उन्होंने भारतीय संगीत को ज्यों का त्यों अपनाया है। मुसल्मानों के आद्य संगीताचार्य अमीर खुसरू ने यह साफ़ साफ़ घोषित किया था कि "वे तुर्क हो कर भी हिन्दुस्तानी हैं। संगीत के लिए उन्हें अरब या मिश्र से कोई प्रेरणा नहीं मिली है, उनकी

---

* दक्षिणेतर भारत की स्वर व्यवस्था के आधुनिक लक्ष्य की विशद विवेचना तो आगे पाँचवें अध्याय में की जाएगी, किन्तु विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यकतानुसार बीच बीच में उस स्वर व्यवस्था का उल्लेख हम करते आए हैं।

† प्रस्तुत ग्रन्थ में तो स्वर श्रुति-व्यवस्था की ही विवेचना की गई है, किन्तु दूसरे भाग में राग-व्यवस्था का निदर्शन करते समय दोनों पद्धतियों की तत्सम्बन्धीय व्यवस्था पर भी पूर्ण प्रकाश डाला जाएगा।

कला संपूर्णतया भारतीय है।"* यह भी विश्रुत है कि जिन जिन मुसल्मान लेखकों ने उर्दू या फ़ारसी में संगीत ग्रन्थ लिखे हैं, उन्होंने भी भरत और शार्ङ्गदेव की परम्परागत शैली को ही अपनाया है और आधार माना है और उसी प्राचीन परम्परानुसार श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, राग, आलापादि का निर्देश अपने ग्रन्थों में किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भारत के पूर्व, पश्चिम और उत्तर—इन तीनों प्रदेशों में छाये हुए भारतीय संगीत की परंपरा पर, परकीय शासन में कोई आँच नहीं आई है, कोई मिश्रण नहीं हुआ है, किसी से प्रभावित होकर उसमें कोई विकृति नहीं हुई है। इस ग्रन्थ में साधार और सप्रमाण यह सिद्ध किया गया है कि 'उत्तर' भारत का संगीत भरत के ही नियमों पर आधारित है, और उसी आधार पर विकास पाया हुआ है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि गायन शैलियों का प्रचार क्या मुसल्मानों की देन नहीं है? हमारी राय में ख्याल, ठुमरी, टप्पा, चतुरंग, तराना वगैरह—ये सब संगीत की शैलियाँ मात्र हैं और ये शैलियाँ यानी शास्त्र नहीं। शास्त्र वही है जो इन शैलियों का और उनमें प्रयुक्त रागों का, रागों के स्वरों का, उनके ग्रह, अंश, न्यास, उनका जनक जन्य-भाव इत्यादि का नियामक है। इस दृष्टि से भारतीय परंपरा के संगीत पर किसी अन्य का कोई असर नहीं है। संगीत के स्वरों, श्रुतियों और स्वरों की तीव्र कोमल अवस्थाओं के लिए प्रयुक्त होनेवाली संज्ञाओं पर क्या कोई विदेशी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है? मियाँ की मल्हार, मियाँ की तोड़ी, हुसेनी कान्हड़ा—जैसे गिने चुने रागनामों को छोड़कर भारतीय संगीत में प्रयुक्त रागों की संज्ञाओं में क्या कोई परिवर्तन हुआ है? नहीं, ये सब पंज्ञाएँ भारतीय संस्कृति के ही अविच्छिन्न प्रवाह को सूचित करती हैं। दूसरी बात यह है कि जगत् सर्वदा गतिशील रहता है। जहाँ गति है, वहाँ प्रगति है। जहाँ गति अवरुद्ध हुई, वहीं प्रगति रुक गई। प्रगति में कुछ परिवर्तन की भावना भी सन्निहित है, चाहे वह राजकीय हो, सामाजिक हो, धार्मिक हो, साहित्यिक हो, भाषा-विषयक हो, अथवा कला या संगीत-विषयक हो। आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व जिस प्रकार की हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाएँ प्रचलित थीं, उन भाषाओं में समय की गति के साथ प्रगति होती गई और उनमें परिवर्तन आता गया। यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह विकास की भूमिका है, ह्रास की नहीं।

शास्त्र में गान के निबद्ध और अनिबद्ध ऐसे दो भेद कहे गए हैं। साथ ही जो गीत ध्रुवागीत के नाम से प्रसिद्ध थे, संभवतः वही ध्रुवागीत, ध्रुवपद के नाम से अब तक चले आ रहे हैं। यह ध्रुवपद गान चार अंगों में विभाजित होता है। इसका ज्यों ज्यों समाज में प्रचार होता गया होगा, त्यों त्यों श्रोताओं और गायकों की रुचि के अनुसार, उसमें भिन्न भिन्न शैलियों का प्रादुर्भाव स्वाभाविकरीत्या होता गया होगा। प्रचार में, ध्रुवपद गान की चार शैलियाँ प्रमुख मानी गई हैं। यथा—गोबरहार, खण्डार, डागुर और नौहार। यद्यपि आज इन चार शैलियों को पृथक्तया गानेवाले या इनके प्रभेद को निदर्शित करनेवाले गुणी विद्यमान नहीं हैं, फिर भी भारत के विभिन्न ध्रुवपद गायकों के गान को सुनकर यह अनुमान सहज लगाया जा सकता है कि किसी शैली में शब्द, स्वर, अर्थ और भाव का निरूपण, गीत के चारों अंगों के सीधे सरल गायन द्वारा होता है। दूसरी शैली में हम देखते हैं कि एक ही पद को द्विगुन, तिगुन, चौगुन, आड़, कुआड़ आदि लय-प्रभेदों के सहित गाया जाता है। तीसरे प्रकार में पद के शब्दों को दोहरा दोहराकर भिन्न भिन्न अंगों से तिहाई लेकर सम दिखाकर गायन का विस्तार करते हैं और अन्य शैली में कभी ऊपर नीचे के स्वरों को छूकर, कभी धक्के के साथ, कभी दो तीन स्वरों की संगति से, कभी कम्प या आन्दोलन देकर या कभी गमक के साथ गान किया जाता है। ये सब शैलियाँ, भिन्न भिन्न दिशा में, गान-क्रिया की प्रगति की ही सूचक हैं।

---

* Life and works of Amir Khusru' by Dr. Mohammed Valid Mirza (University of Punjab, 1938.)

सामगान में भी (सामपाठ में नहीं) सहस्र शैलियाँ प्रचारित थीं, यह पतञ्जलि के 'सहस्रवर्त्मा सामवेद :'—इस वचन से सूचित होता है। उस परम्परा में अरण्यगान, ऊह गान, ऊह्य गान, तदाशत्रीय गान इत्यादि अनेक गान-पद्धतियों का प्रचार था। जिन्हें पूना के उद्गाता पं० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़ का या शुक्लतीर्थ-स्थ सामगायकों का तानपुरे पर कौथुमी, राणायनी और जैमिनीय शाखाओं का शास्त्रोक्त सामगान सुनने का अवसर मिला होगा, उन्हें अनुभव हुआ होगा कि इन शाखाओं के गान में सीधा या सरल गान, गमकयुक्त गान और मुरकीयुक्त गान—इस प्रकार के प्रभेद होते ही हैं।

हमारी राय में धीर, गंभीर, वीर, शान्त, भक्ति और करुणा —इन भावों और रसों को विशेषरूप से उपजाने वाले ध्रुपद गान का प्रचार तब न्यून हुआ होगा, जब समाज में, राजदरबार में शृंगार की या मृदुता की भावना प्रबल हुई होगी। संभवतः ऐसे समय पर ही ध्रुपद गान के चार अंगों में से केवल दो ही अंगों (स्थायी अन्तरा) को लेकर जिस नई शैली का प्रादुर्भाव और प्रचार समाज में हुआ, उसी को मुसलमानी शासन के समय में 'ख्याल' का मुस्लिम नामाभिधान प्राप्त हुआ होगा। जैसे विदेशी भाषाओं के अन्य शब्द भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हुए हैं और भारतीयों ने इन्हें निजत्व प्रदान किया है, वैसे ही 'ख्याल' शब्द भी संगीत की भाषा में घुल मिल गया है। किन्तु इतने मात्र से यह मान लेना नितान्त निराधार है कि उस नाम से अभिहित गायन-शैली भी विदेशी है।

ध्रुवपद अंग का अनिबद्ध गान, जो तालबद्ध गान के पूर्व, मुक्त आलाप के रूप से किया जाता था, उन सब आलापों, मुरकियों मींड़ों, गमकों इत्यादि का उपयोग इस 'ख्याल' नामक गान शैली में तालबद्ध रूप से होने लगा। ऐसे बहुत से ख्याल गीत हैं, जिनका मूल स्थान ध्रुवपद अंग के गीतों में प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, उस गान-शैली का 'ख्याल' नाम भले ही मुस्लिम प्रभाव का द्योतक हो, किन्तु कुछ अत्यल्प अपवादों को छोड़कर, ख्याल के पदों में, उनके शब्दों में, व्रजभाषा का ही प्रयोग हुआ है, जो कि उस युग की साहित्यिक भारतीय भाषा थी। इसीसे यह सिद्ध होता है कि 'ख्याल' शैली किसी विदेशी जातिविशेष की देन नहीं है।

इसके अतिरिक्त आज हिन्दू मुस्लिम गायक ध्रुवपद, ख्याल, ठुमरी आदि गायन शैलियों में जिन पदों का प्रयोग करते हैं, उनमें भी स्वामी हरिदास, नायक बैजू बावरा, तानसेन आदि प्रसिद्ध भारतीय गायकों के ही पद प्रयुक्त होते हैं। सदारंग, अदारंग के जो ख्याल मिलते हैं, उनकी भाषा, भाव, रचना आदिक सभी भारतीय परंपरा से ओतप्रोत है। सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास आदि भक्त-कवि-गायकों के जो पद वैष्णव-मन्दिरों में समयानुसार तथा ऋतु अनुसार गाए जाते हैं, उनमें भी ध्रुवपद से लेकर ख्याल अंग तक के सभी गायकी-अंगों का दर्शन होता है। इन सब में भी वही संगीत-परंपरा धारावाहिक रूप से प्रवाहित है। इस दृष्टि से भी यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता है कि भारतीय संगीत पर किसी जाति विशेष का असर नहीं है।

हमारे मुस्लिम गायक बन्धु भी तो मूलतः हिन्दू ही हैं। उन्हें बलवश, कारणवश, मोहवश, लोभवश, धर्म का परिवर्तन भले ही करना पड़ा हो, किन्तु फिर भी वे आजन्म मरण भारतीय ही रहे हैं। कल की बात है कि खाँ साहब अल्लादिया खाँ ने स्वयं अपने मुख से मुझे कहा था कि वे 'ऐसे वैसे गवैय्ये नहीं हैं, वे गौड़ ब्राह्मण हैं, शाण्डिल्य उनका गोत्र है'। तद्वत् प्रसिद्ध सरोदनवाज खाँ साहब अलाउद्दीन खाँ के मुख से सदैव यह सुना है कि वे नित्यप्रति माता सरस्वती की पूजा किया करते हैं। कई ऐसे भी हैं जो एकादशी, गंगास्नान और तीर्थ-व्रत तक करते हैं। यह सब इस बात का परिचायक है कि मुस्लिम गायक, धर्म से मुस्लिम होते हुए भी अपनी कला से भारतीय ही रहे हैं। वे भी कृष्ण के गीत आलापते हैं और खुद रो कर जनता को रुलाते हैं। जिसको सुर की चोट लगी हो, वह हिन्दू हिन्दू नहीं रहता, मुसलमान मुसलमान नहीं रहता, वह तो मनुष्य नहीं, गन्धर्व हो जाता है। इसलिए हमारी राय में भारतीय संगीत विशुद्ध

रूप से भारतीय ही है, अन्य स्पर्शों से वह अछूता है और समय के स्वाभाविक विकास नियम के साथ विकसित हुआ है। ठुमरी, टप्पा इत्यादि भी उसी की भिन्न भिन्न करवटें हैं, जो एक से दो, दो से चार, चार से आठ की विकास भूमिका की परिचायक हैं। अस्तु।

दाक्षिणात्य स्वर-सप्तक का यह विवरण अपूर्ण ही रह जाएगा, यदि यहाँ यह उल्लेख न किया जाए कि कुछ आधुनिक दाक्षिणात्य विज्ञजन यह महसूस करने लगे हैं कि रामामात्यादि की श्रुति-व्यवस्था यथायथ नहीं है। उनके अनुभव-जन्य ज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि रामामात्यादि का कहा हुआ शुद्ध रि-ध का त्रिश्रुति अन्तर वास्तव में द्विश्रुति ही है और शुद्ध गान्धार निषाद का कहा हुआ पंचश्रुति अन्तर वास्तव में चतुःश्रुतिक ही है। इसीलिए वे लोग रामामात्यादि के शुद्ध गान्धार और शुद्ध निषाद को क्रमशः चतुःश्रुतिक रि और चतुःश्रुतिक ध कहने लगे हैं। साथ ही उन्होंने इस सत्य को भी पहिचान लिया है कि आज दक्षिण में प्रचलित शुद्ध स्वर-व्यवस्था भरत शार्ङ्गदेवोक्त नहीं है, अपितु केवल चार सौ साल पुरानी है।

हम चाहते हैं कि भारत के दक्षिण और उत्तर-पूर्व-पश्चिम के भेद मिट जाएँ। हम चाहते हैं कि कर्णाटकीय और भारतीय संगीत का समन्वय हो। राजकीय कारणों से हम में जो प्रभेद प्रवर्तित हुए थे, आज सौभाग्यवश राजकीय कारणों के मिट जाने से, उन भेदों को भी निःशेष हो जाना चाहिए। हमारी सांस्कृतिक एकता जो सदियों से प्रवाहित है, वह पुनः स्थापित हो, इसी पवित्र हेतु से हमने दक्षिण के वृत्तपत्रों द्वारा वहाँ के विद्वानों को इस पुनीत कार्य में योगदान देने की प्रार्थना की थी। उसका अल्प मात्रा में ही सही, किन्तु जो भी उत्तर हमारे पास आया है, उससे हमारी सद्भावना को पोषण मिला है। उसे यहाँ शब्दशः उद्धृत कर देना समुचित होगा। यथा :—

"The Shuddha svara saptaka of Karnatic music is theoretically the Kankangi raga which is the first mela in the scheme of 72 Malakartas; but the concept of Kanakangi as the Shudhamela is not more than four hundred years old. When the scheme of 72 Melakartas was evolved, the lowest veriety of each of the notes, Rishabha, Gandhara, Dhaivata and nishada, were taken as the Shuddha Swaras. This sounds logical; but before the emergence of Kanakangi as the Shuddha Mela, the Kafi That or Kharaharapriya of the southern system was Sudhamela. Still earlier, in ancient Tamil Music the khamaj That or the Harikambhoji Mela was considered the Suddha Mela. This Harikambhoji Mala is only the Madhyama Murchana of Sadjagrama or Kafi That. Shankarabharana was considered the Suddhamela in North India, more due to the influence of Western Music. The natural Scale of Western Music is Shankarabharana. If we have got to fix up once for all the Shuddha Swara Mela for the whole of India, we may as well choose Kharaharapriya which will be in consonance with the ancient Shuddha Swara Saptaka. The musicologists in the south were alive to this controversy and thought that a Suddha mela must consist of either the lowest varieties of the notes Ri, ga ma, dha,-ni or the highest varieties of those notes. They preferred the former idea and thus created the Kanakangi. Kanakanngi is not a very

melodious Raga. It suffers from 'Vivadi Dosha'.. All subsequent musicologists hae acquiesced in this concept, because logically we have got to subscribe to some proposition which will appeal to our sense of reason."

इस उद्धरण का हिन्दी में भावार्थ इस प्रकार है :—

"कर्णाटक संगीत का शुद्ध स्वर-सप्तक 'थियरी' में (यानी सिद्धान्ततः) कनकांगी राग है, जो कि ७२ मेलकर्ताओं में से सर्वप्रथम है। किन्तु कनकांगी की शुद्ध मेल के रूप में स्वीकृति चार सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। जब ७२ मेलकर्ताओं की पद्धति का आविष्कार किया गया, तब ऋषभ, गान्धार, धैवत और निषाद इन स्वरों की नीचतम अवस्थाओं को उनके शुद्ध रूप माना गया। यह तर्कसम्मत प्रतीत होता है। किन्तु कनकांगी शुद्ध मेल के उद्भव के पूर्व काफी थाट या दक्षिण का खरहरप्रिया शुद्ध मेल था। उससे भी पूर्व, प्राचीन तामिल संगीत में खमाज थाट या हरिकाम्भोजी मेल को शुद्ध मेल माना जाता था। यह हरिकाम्भोजी मेल और कुछ नहीं, षड्जग्राम या काफी थाट की मध्यम-मूर्च्छना ही है। उत्तर भारत में पाश्चात्य प्रभाव के कारण शंकराभरण को शुद्ध मेल समझा जाता था। पाश्चात्य संगीत का प्राकृतिक स्वर-सप्तक शंकराभरण ही है।* यदि हमें सदा सर्वदा के लिए पूरे भारत के लिए शुद्ध स्वर-सप्तक निश्चित कर देना हो तो खरहरप्रिया को चुन लेना ही उचित होगा, यही प्राचीन शुद्ध स्वर-व्यवस्था के अनुकूल होगा।

"दक्षिण के संगीत-शास्त्रकार इस मतभेद से परिचित थे और उन्होंने सोचा कि शुद्ध मेल वही हो सकता है, जिसमें कि या तो रि, ग ध, नी की नीचतम अवस्थाओं का सन्निवेश हो और या उनकी उच्चतम अवस्थाओं का। उन्होंने पूर्वकथित व्यवस्था को अधिक उचित समझा और इस प्रकार कनकांगी की सृष्टि की। कनकांगी बहुत मधुर राग नहीं है, क्योंकि उसमें विवादी दोष निहित है। सभी परवर्ती संगीत-शास्त्रियों ने इस दोष को जानते हुए भी उस स्वर व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि हमें कोई न कोई ऐसी व्यवस्था मान ही लेनी पड़ती है, जो कि हमारी बुद्धि को संतुष्ट कर सके।"

इस उद्धरण में से यह पढ़ कर तो अतीव प्रसन्नता होती है कि प्राचीन द्राविड़ शुद्ध स्वर सप्तक भी और कुछ नहीं अपितु भरत के षड्जग्राम के अविलोपी मध्यम से उद्भूत मूर्च्छना ही है। उसी में भरतोक्त काकली का उपयोग करने मात्र से हमारा बिलावल और दक्षिण का शंकराभरण मिल जाता है। और इस प्रकार इस भ्रम का निराकरण हो जाता है कि उत्तर के स्वर-सप्तक पर पाश्चात्य संगीत का असर है।

ऊपर उद्धृत उत्तर से हमें आशा बँधी है कि निकट भविष्य में ही स्वर-संवाद के सदृश उभय पद्धतियों में संवाद होगा और इस गंगा-यमुना के संगम का हमारा स्वप्न सत्य बनेगा, द्वैतभाव मिटेगा और अद्वैत की सिद्धि होगी।

पुण्डरीक विट्ठल

दक्षिण-पथ के मध्ययुगीय ग्रन्थकारों का स्वर-श्रुति सम्बन्धी विवेचन हम विस्तार से उल्लिखित कर चुके हैं। अब हम उस युग के अन्य प्रमुख ग्रन्थकारों की स्वर-व्यवस्था देख लें। इनमें काल दृष्टि से पुण्डरीक विट्ठल का स्थान सर्वप्रथम माना जाता है।† वे सम्भवतः रामामात्य के प्रायः समकालीन अथवा किंचित् परवर्ती रहे होंगे।

---

* दक्षिणेतर भारत के शुद्ध सप्तक पर पाश्चात्य प्रभाव है इस धारणा का समूल निराकरण इस ग्रन्थ में किया गया है।

† 'रागतरंगिणी' कार लोचन पण्डित का समय कई लोग १२ वीं या १५ वीं शताब्दी में मानते हैं। यदि इन दो में से कोई एक भी सत्य हो तो वे पुण्डरीक विट्ठल के पूर्ववर्ती ठहरेंगे। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चितता के अभाव में हमने लोचन पंडित को यहाँ सर्वप्रथम स्थान नहीं दिया है।

पुण्डरीक विट्ठल के ग्रन्थोक्त वचनानुसार वे सम्राट् अकबर और राजा मानसिंह के समकालीन थे अर्थात् उनका कार्य-काल सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रहा होगा। उनके चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रागमंजरी रागमाला, सद्रागचन्द्रोदय और नृत्यनिर्णय।

उनका 'पुण्डरीक विट्ठल' यह नाम ही उनके दक्षिण प्रदेशीय होने का परिचायक है। इसके अतिरिक्त अपनी 'रागमंजरी' की समाप्ति करते समय वे लिखते हैं—'इति कर्णाटजातीयपुण्डरीकविट्ठलकृता रागमंजरी'। इससे भी स्पष्ट है कि वे मूलतः कर्णाट देश के रहे होंगे। उन्होंने कर्णाटकी संगीत की शिक्षा अवश्य पाई होगी, यह उनके वीणा प्रकरण (सद्रागचन्द्रोदय) से स्पष्ट है। रुद्रवीणा पर उनकी स्वर स्थापना विधि और रामामात्य की तत्संबंधी विधि में साम्य दृष्टिगोचर होता है। तद्वत् उनकी 'रागमंजरी' और 'सद्रागचन्द्रोदय' में राग-वर्गीकरण की मेल-पद्धति अपनाई गई है, उससे भी सन्देह नहीं रहता कि वे दाक्षिणात्य थे।

संगीत-कलाभिज्ञ प्रायः परिव्राजक होते हैं, क्योंकि वे भिन्न भिन्न देशों का प्रवास करते हैं और गुणग्राही तथा रत्न-पारखियों के सामने अपना गुणप्रदर्शन करते हैं। उसी प्रकार पुण्डरीक विट्ठल ने भी संभवतः अपनी जन्मभूमि को छोड़कर फारूकवंशीय* शासक बुरहानखाँ के समक्ष अपनी कला का प्रदर्शन किया होगा और उसके पश्चात् बुरहानखाँ के आदेश से उन्होंने तत्कालीन संगीत के लक्ष्यानुसार लक्षण-प्रणयन का यत्न किया है। यह उनके निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट है—

अस्ति स्वस्तिकरी नरेन्द्रनगरी त्वानन्दवल्लीति या। तत्र श्रीबुरहानखाननृपतिः संगीतमाकर्णयत् ॥६॥
संत्यस्मिन् बहुधा विरोधगतयो लक्ष्ये च लक्षोदिते, जानंतीह सुलक्षमपक्षविगतिं केचित्परे लौकिकीम्।
तत्कुर्वन्तु सुलक्षमलक्ष्यसहितं रागप्रकाशं बुधा, इत्युक्ते बुरहानखाननृपतौ विद्वत्सभामण्डले ॥

अर्थात्—'आनन्दवल्ली'† नामक (?) शुभ राज्य नगरी है। वहाँ पर श्री बुरहान खान नृपति ने (मेरे) संगीत को सुना। फिर उन्होंने कहा 'आज के संगीत के लक्ष्य और लक्षण में बहुत विरोध दृष्टिगोचर होता है। लक्षण के पक्ष से लौकिक लक्ष्य की विच्युति को कुछेक लोग ही जानते हैं। इसलिए आप लोग बुधजन (पुण्डरीक विट्ठल जैसे पंडित) लक्ष्य लक्षण सहित 'राग' (प्रचलित संगीत) पर प्रकाश डालिए।' बुरहानखान राजा ने जब विद्वत सभा में ऐसा कहा (तब उनकी आज्ञानुसार मैंने लक्षण-प्रणयन का काम उठाया)।

साथ ही उनके अन्य ग्रन्थ 'रागमंजरी' के तीसरे और चौथे श्लोक से पता चलता है कि वे उत्तर में भी राज्याश्रय में रहे होंगे, क्योंकि अकबर के सेनापति मानसिंह और माधवसिंह की उन्होंने प्रशंसा की है। यथा—

.....प्रभूतविनयौ शूरौ महाधार्मिकौ। जातौ पंक्तिरथात्मजौ त्वकबरक्षोणीपतेः स्वौ भुजौ ॥
सिंहौ माधवमानपूर्वपदकौ संग्रामदक्षावुभौ। तेजत्यागसहस्रहस्तकलितौ श्रीसर्वभूमीश्वरौ ॥
सकलनृपतितारचंद्रसूरविभौ द्वौ। जगति जयनशीलौ माधवामानसिंहौ ॥
तयोर्माधवसिंहो यो राजा परमवैष्णवः। सर्वदा विष्णुभक्त्यर्थं नाट्यारम्भं करोति हि ॥

अर्थात्—माधवसिंह और मानसिंह—ये दो भाई अत्यन्त विनयशील, शूर, धार्मिक और संग्राम दक्ष हैं। तेजत्यागरूपी सहस्र हस्तों से वे सुशोभित हैं और सर्वभूमीश्वर है। ये दोनों अकबर के सेनापति हैं और उसकी भुजा

---

* यह फारूक वंश १० सन् १३७० से १६०० तक विदर्भ और गुजरात के बीच के प्रदेश (खानदेश) में राज्य करता रहा था, ऐसा माना जाता था।

† बहुत संभव है कि 'आनन्दवल्ली' यह उस नगरी का नाम न होकर विशेषण हो। 'बुरहानपुर' नामक नगरी तो आज भी खानदेश में विद्यमान है जो बुरहानखाँ के नाम से सम्बन्धित प्रतीत होती है।

स्वरूप हैं। दोनों तारारूपी राजाओं में से चन्द्र और सूर्य की भाँति जगत् में प्रकाशमान हैं। उनमें से यह जो माधवसिंह है, वह परम वैष्णव राजा है। वह विष्णु भक्ति के लिए सर्वदा नाट्यारम्भ करता है।

उत्तर में राज्याश्रय में रहने के काल में उन्होंने संभवतः उत्तर में प्रचलित संगीत पद्धति का भी अध्ययन किया होगा। अपने 'रागमाला' नामक ग्रन्थ में उन्होंने मेलपद्धति की बजाय राग-रागिनी-परम्परा को अपनाया है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर के संगीत का उन पर प्रभाव पड़ा होगा।

समुचित प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन है कि दाक्षिणात्य प्रभाव के निदर्शक दो ग्रन्थ 'रागमंजरी' तथा 'सद्रागचन्द्रोदय' एवं औत्तरात्य प्रभाव का निदर्शक ग्रन्थ 'रागमाला'—इनमें क्या पूर्वापर क्रम रहा होगा।

शुद्ध स्वर-व्यवस्था के सम्बन्ध में पुण्डरीक विट्ठल और रामामात्य में साम्य है, यह हम कह ही चुके हैं। विकृत स्वरों के सम्बन्ध में उनके ग्रन्थों में दो प्रकार के विधान मिलते हैं। 'यथा—'सद्रागचन्द्रोदय' में उन्होंने 'रत्नाकर' के कहे हुए, स्थान-विकृति-सूचक सात विकृत स्वरों का प्रायः उन्हीं संज्ञाओं द्वारा उल्लेख कर के चतुःश्रुति रि-ध और पंचश्रुति म को भी 'लक्ष्यानुसार' विकृत स्वरों में स्थान दिया है। इस प्रकार विकृत स्वरों की संख्या दस हुई। उनकी 'रागमाला' तथा 'रागमंजरी' में प्राचीन संज्ञाओं के स्थान पर एकगतिक, द्विगतिक आदि संज्ञाओं द्वारा विकृत स्वर कहे गए हैं एवं दोनों में मध्यम की दो श्रुति चढ़ी हुई अवस्था को भी विकृत स्वरों में जोड़ कर उनकी संख्या ग्यारह तक पहुँचाई गई है। यह विवरण हम उन्हीं के अपने शब्दों में देख लें।

'सद्रागचन्द्रोदय' में वे कहते हैं—

शुद्धाः स्वराः ये तु प्रभवन्ति सप्त, तज्जान् विकारान् प्रवदामि सप्त।
स्वोपान्तिकश्रुत्यधिसंश्रितः स्यात्, षड्जाभिधानो लघुषड्जनाम॥
एवं मपौ स्तो लघुशब्दपूर्वौ, साधारणो गः प्रथमश्रुतिस्थः।
मस्य द्वितीयश्रुतिगोऽन्तरः स्यात्, षड्जाह्वयस्य प्रथमश्रुतिस्थः॥
तथा द्वितीयश्रुतिवर्तमानो निः कैशिकी कार्कलनामधेयः।
स्वस्थानकस्थेषु च तेषु नेष्टाः, स्वरेषु भेदा विकृता मुनीन्द्रैः॥
नोपाददे धस्य विकारभेदं, निःशंकसूरिः खलु कूटताने।
सर्वे युतास्ते विकृताश्च शुद्धा, श्चतुर्दशैवेति मतं मदीयम्॥
अथो रिधावाद्यगनिश्रुतिस्थौ, लक्ष्येषु वेदश्रुतिकौ भवेताम्।
मः पंचमाद्यां श्रुतिमेत्य लक्ष्ये, क्वचिच्च पंचश्रुतितां प्रयाति॥

(सद्राग चन्द्रोदय २६-३०)

अर्थात्—षड्ज, मध्यम और पंचम जब अपनी अन्तिम श्रुति से पूर्ववर्ती (उपान्त्य) श्रुति पर स्थित होते हैं, तब उनकी लघु संज्ञा होती है। गान्धार जब मध्यम की पहिली श्रुति पर स्थित होता है, तब उसे 'साधारण' कहते हैं और जब वह गान्धार मध्यम की दूसरी श्रुति पर स्थित होता है, तब 'अन्तर' कहलाता है। निषाद जब षड्ज की पहिली श्रुति पर अवस्थान करता है तब कैशिकी और जब षड्ज की द्वितीय श्रुति पर स्थित होता है, तब काकली कहलाता है। जब स्वर अपने स्थान पर ही स्थित रहे, तब उसे 'मुनीन्द्र' लोग विकृत नहीं मानते। (इतना कहकर 'रत्नाकर' के कहे हुए शेष पाँच स्वर, स्थान-विकृति के अभाव में, विकृत नहीं है, ऐसा ग्रन्थकार ने उल्लेख कर दिया है)। (उदाहरणार्थ) ध की विकृतावस्था (पंचम के त्रिश्रुतिक हो जाने से वह जो चतुःश्रुतिक बन जाता है उस अवस्था) को शार्ङ्गदेव ने कूटतानों में पृथक् ग्रहण नहीं किया है। इसलिए सात शुद्ध और सात विकृत मिला कर कुल चौदह ही स्वर होते हैं, ऐसा मेरा (ग्रन्थकार का) मत है। किन्तु लक्ष्य में कभी कभी रि-ध अपने बाद की श्रुति पर स्थित होने से चतुःश्रुतिक हो जाते हैं एवं मध्यम, पंचम को एक श्रुति लेकर पंचश्रुतिक बन जाता है। (इस प्रकार लक्ष्यानुसार चतुःश्रुति रि-ध और पंचश्रुति म को मिलाने से विकृत स्वरों की संख्या कुल दस हुई।)

उपरिलिखित विवरण में 'रत्नाकर' की विकृत स्वर व्यवस्था की तुलना में निम्नलिखित नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) ऋषभ, धैवत और मध्यम की एक श्रुति चढ़ी हुई अवस्था का सूचन।*

(२) च्युतषड्ज इत्यादि के स्थान पर लघुषड्ज इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग।

'रागमाला' और 'रागमंजरी' में उन्होंने दो श्रुति चढ़े हुए मध्यम की अवस्था को भी विकृत स्वरों में स्थान दिया है। इस सम्बन्ध में यहाँ 'रागमाला' के शब्द उद्धृत किए जाते हैं, यथा—

षड्जादीनां स्थितिः प्रोक्ता प्रथमा भरतादिभिः। असपाः पूर्वपूर्वास्ते संचरन्त्युत्तरोत्तरम्॥
त्रिस्त्रिर्गतीस्ते प्रत्येकं यान्ति गश्च चतुर्गतिः। यद्रागोपयोगः स्यात्तत्तादृच्छ्रागतिर्भवेत्॥
गन्योर्गती द्वितीये त्वान्तरकाकलिनौ स्मृतौ। पंचम्यष्टादशी षष्ठी तथा चैकोनविंशतिः॥
चतस्रः श्रुतयश्चैता रागादेरप्रयोजकाः। शेषा अष्टादशैव स्युः श्रुतयः स्वरबोधिकाः॥

(रागमाला पृ० २)

अर्थात्—षड्ज और पंचम को छोड़कर शेष पाँचों शुद्ध स्वर अपने अपने स्थान से क्रमशः ऊपर चढ़ते हैं और उन सभी की ऊपर की ओर तीन तीन गति होती है। उनमें से गान्धार चतुर्गतिक माना गया है। जिस राग में जैसा प्रयोग अभीष्ट होता है, तदनुसार ही स्वरों की गति होती है। ग और नी अपनी द्वितीय गति में (अर्थात् दो श्रुति ऊँचे चढ़ने पर) क्रमशः 'अन्तर' और 'काकली' संज्ञा को धारण करते हैं। पंचमी, षष्ठी, अष्टादशी और उनविंशति संख्यक श्रुतियाँ रागों में प्रयुक्त नहीं होती। शेष अष्टादश श्रुतियाँ ही स्वरबोधिका हैं। अर्थात् स्वर रूप में प्रयुक्त होती हैं।

इस उद्धरण से 'सद्रागचन्द्रोदय' की तुलना में 'रागमाला' में निम्नलिखित नवीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१—प्रत्येक स्वर की केवल उत्तरोत्तर गति मानने के कारण 'लघु षड्ज', 'लघु पंचम' और 'लघु मध्यम'—इन संज्ञाओं के स्थान पर क्रमशः 'त्रिगतिक नी', 'त्रिगतिक ग' और 'त्रिगतिक म' का प्रयोग।

२—षड्ज और पंचम को अविकृत मानना।

३—द्विगतिक म के रूप में एक नवीन विकृत स्वर की योजना।

४—एकगतिक, द्विगतिक इत्यादि नवीन संज्ञाओं का प्रयोग।

पुण्डरीक विठ्ठल की 'रागमंजरी' में भी इन्हीं ग्यारह विकृत स्वरों को इन्हीं संज्ञाओं द्वारा निर्दिशत किया गया है। अतः पुनरुक्ति भय से उस ग्रन्थ का उद्धरण यहाँ नहीं दिया गया है।

'रागमाला' के इस उद्धरण को देखते हुए सकृत् दर्शन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्डरीक विठ्ठल उत्तर के ही पंडित हैं और उसी पद्धति के प्रतिपादक हैं। यह कियदंश में सत्य भी है, क्योंकि उन पर दक्षिण के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रान्तों के संगीत का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह होते हुए भी, क्योंकि वे दाक्षिणात्य थे, इसलिए बाल्यकाल से उनके मस्तिष्क पर दाक्षिणात्य संगीत के जो संस्कार दृढ़ीभूत हुए होंगे, उनसे वे मुक्त नहीं हो सके हैं। यह उनकी बताई हुई वीणा पर स्वर-स्थापना-विधि† जो कि रामामात्य के सदृश ही है, उससे प्रतीत होता है।

विकृत-स्वर-सम्बन्धी उनके ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वे २२ श्रुतियों में से १८ श्रुतियों का स्वर रूप में प्रयोग विहित मानते हैं, क्योंकि वे श्रुतियाँ भिन्न भिन्न रागों में स्वर का स्थान पा जाती हैं।

---

* ऋषभ धैवत की इस विकृति का उल्लेख हम तीव्र रि-ध के रूप में सोमनाथ में भी देख चुके हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि सोमनाथ का कार्यकाल सत्रहवीं शताब्दी में होने के कारण वे निश्चित रूप से पुण्डरीक विठ्ठल के परवर्ती हैं। दाक्षिणात्य स्वर व्यवस्था का धारावाहिक रूप से अवलोकन करने के लिए ही उन्हें यहाँ पुण्डरीक विठ्ठल के पूर्व स्थान दिया गया है।

† देखिये 'सद्रागचन्द्रोदय' वीणा प्रकरण।

जो चार श्रुतियाँ उन्होंने अनुपयोगी मानी हैं, वे ये हैं—पाँचवीं, छठीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं,। उनके इस विधान से हम निःशंक रूप से इस अनुमान पर आते हैं कि रामामात्य और सोमनाथ के सदृश उन्होंने भी मेरु को ही सा माना है और मेरुस्थित उस षड्ज की पूर्व श्रुतियों को छोड़कर मेरुस्थित षड्ज को ही चतुःश्रुतिक मान लिया है। उसी षड्ज से दो श्रुति के अन्तर पर वीणा पर जो पहिला पर्दा स्थित है, उसे रामामात्यादि के सदृश पुण्डरीक विठ्ठल ने भी द्विश्रुति की बजाय त्रिश्रुति ऋषभ यानी शुद्ध ऋषभ मान लिया है। ऐसा मानने से षड्ज की अपनी चौथी श्रुति और ऋषभ की तीसरी श्रुति—इन दोनों के बीच में पाँचवीं और छठी श्रुतियों की स्थिति माननी पड़ती है। इन्हीं दो श्रुतियों को पुण्डरीक विठ्ठल ने अपने रागों के लिए अनुपयोगी माना है, ऐसा प्रतीत होता है। तद्वत् पंचम जो सत्रहवीं श्रुति पर स्थित है, और उनका माना हुआ त्रिश्रुति धैवत, जो उनकी कल्पनानुसार बीसवीं श्रुति पर स्थित है, उन दोनों के बीच में कल्पित अठारहवीं और उन्नीसवीं श्रुतियों को उन्होंने अपने रागों के लिए अनुपयोगी माना है। इसी बात को अन्य शब्दों में समझ लें। मेरु को षड्ज यानी चौथी श्रुति मान लेने से मेरु के बाद प्रथम पर्दे पर छठी श्रुति बँधी हुई मिलती ही है। परन्तु उन्होंने उसी को सातवीं श्रुति समझ कर उसके पूर्व की दो श्रुतियों को छोड़ देने को कहा है। यही अवस्था पंचम और धैवत के बीच हुई है। इससे प्रतीत होता है कि उनके स्वर-स्थान दाक्षिणात्य पद्धति के असर से बचे नहीं हैं। यह सब गड़बड़ी इसीलिए हुई है कि मेरु से अगले द्विश्रुतिक पर्दे को त्रिश्रुतिक मान लिया गया है। मेरु को षड्ज मानने से द्विश्रुति रिषभ के जो पर्दे वीणा पर मिलते हैं, उन्हें उस रूप में स्वीकार न करने के कारण पुण्डरीक विठ्ठल ने छठी और अट्ठारहवीं श्रुतियों को जो अनुपयोगी बना दिया है, उससे स्पष्ट है कि वे भी रिषभ की उलझन से मुक्त नहीं हो सके हैं। अतएव प्राचीनोक्त स्वर-व्यवस्था के साथ मध्ययुगीय लक्ष्य-परम्परा का सम्बन्ध जोड़ने के लिए उनके ग्रन्थों से भी अधिक स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।

पुण्डरीक विठ्ठल के इन स्वरों का विवरण देने के बाद हमें यह कहना आवश्यक और क्रमप्राप्त है कि उनकी श्रुति-व्यवस्था में उपर्युक्त ग़लतफ़हमी रहने पर भी उन्होंने जिस प्रकार से स्वरों की एकगतिक, द्विगतिक, त्रिगतिक इत्यादि व्यवस्था का निदर्शन किया है, उससे स्पष्ट है कि दाक्षिणात्य संगीत के अतिरिक्त भारतीय संगीत में जिस प्रकार के स्वर व्यवहृत होते थे, उन्हें समझने और उल्लिखित करने का भी उन्होंने यत्न किया है। जो आधुनिक ग्रन्थकार अपने स्वरों की मर्यादा १२ से अधिक नहीं मानते, उनके लिए पुण्डरीक विठ्ठल प्रमाणित करते हैं कि मध्ययुग में १२ से कहीं अधिक स्वर लक्ष्य में प्रयुक्त होते थे। उसी परंपरानुसार आज के लक्ष्य में भी क्रियाकुशल गुणी कोमल, अति कोमल, तीव्र, तीव्रतर, इत्यादि स्वरों के रूप व्यवहृत करते हैं, यह हम जानते ही हैं। १२ से अधिक स्वर-प्रयोग की मध्ययुगीय परंपरा को अपने ग्रन्थों द्वारा जीवित रखकर पुण्डरीक विठ्ठल ने आधुनिक युग के विचारकों को प्रेरणा दी है कि वे अपने संगीत के अतीत को देखकर इस सत्य की प्रतीति पा लें कि सूक्ष्म स्वरान्तरों के प्रयोग से हमारा संगीत कितना समृद्ध था और है।

पं० अहोबल

पुण्डरीक विट्ठल के बाद सत्रहवीं शताब्दी के मुख्य संगीत-ग्रन्थकार ये हैं—सोमनाथ, अहोबल, व्यंकटमखी, दामोदर पण्डित, हृदयनारायणदेव, श्रीनिवास इत्यादि। इनमें से सोमनाथ और व्यंकटमखी की स्वर-व्यवस्था तो हम दाक्षिणात्य पद्धति में देख ही चुके हैं। सोमनाथ के अतिरिक्त अन्य सब ग्रन्थकारों में काल दृष्टि से संभवतः अहोबल का स्थान सबप्रथम आता है और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी वे अपने काल के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। इन सभी ग्रन्थकारों में परस्पर बहुत अल्प काल का व्यवधान रहा होगा

और उन सब पर उनके पूर्वगामी अहोबल की छाप स्पष्ट है। इसलिए ग्रन्थ-विस्तार के भय से यहाँ केवल अहोबल को ही देख लेना पर्याप्त होगा।

पं० अहोबल ने वीणा पर अपने स्वर-स्थान निदर्शित करने के लिए एक अभिनव पद्धति अपनाई है। उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों की तुलना में उनकी यह उल्लेखनीय विशेषता है। यों तो सभी मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने वीणा पर परम्परा से बँधे हुए पर्दों पर अपने-अपने मतानुसार, दृष्ट्यनुसार और संस्कारानुसार स्वरों की स्थापना बताई है और उसी प्रकार अहोबल ने भी वीणा पर ही अपने स्वर-स्थान निदर्शित किये हैं, परन्तु, उनकी विशेषता इसी में मानी जाती है कि उन्होंने 'स्वरज्ञानविहीनेभ्यो मार्गोऽयं दर्शितो मया' ऐसा कह कर वीणा के मेरुदण्ड पर बँधी हुई तार के नीचे स्वरस्थानों या पर्दों के स्थान नियत करने का मार्ग बताया है। इस नवीन विधि के वे आविष्कारक माने जाते हैं।

अहोबल की इस अभिनव स्वर-स्थापना-विधि का ब्योरा देखने के पूर्व एक मूलभूत बात पर विचार कर लेना समुचित होगा। हम देख आए है कि दाक्षिणात्यों ने वीणा के परम्पराप्राप्त पर्दों पर स्वर-स्थानों को निर्दर्शित करते समय षड्ज की तार के नीचे के पर्दों पर जो स्वर-स्थान उपलब्ध होते हैं, उनको ही शुद्ध स्वर-सप्तक मान लिया, जिससे सा रे रे ग म प ध ध नी सा—इस स्वर-सप्तक को ही वे सा रे ग म प ध नि सा कहने लगे। हम देखते हैं कि आज दाक्षिणात्य पद्धति में बाज की तार के मुक्त नाद को षड्ज मान कर वीणा-वादन का व्यवहार चलता है। रामामात्यादि ने वीणा पर स्वर-स्थापना निदर्शित करते समय वीणा के तार मिलाने की जो पद्धति बताई है, उसमें तो इस तार को मध्यम में ही मिलाने को कहा है। यदि उस तार को मध्यम मान कर ही प्रत्यक्ष वादनादि क्रिया की जाती तो वीणा के उसी पर्दे पर वही षड्ज आता, जहाँ से आज पूरे दक्षिणोत्तर भारत के पर्दे वाले तन्तुवादों पर 'सा' मान कर वादन क्रिया की जाती है। यही भरत का अविलोपी मध्यम और मतंग का 'मध्यसप्तक' है। किन्तु दाक्षिणात्य पद्धति में उसे मध्यम की बजाय षड्ज मान कर व्यवहार चल रहा है। यह हम विस्तार से देख ही चुके हैं। अहोबल ने भी वीणा के तार पर स्वर-स्थान निदर्शित करते समय वीणा के मुक्त तार को ही षड्ज माना है। दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों और अहोबल के इस साम्य को देखते हुए यह शंका होना स्वाभाविक है कि अहोबल ने भी जब दाक्षिणात्यों की भाँति मुक्त तन्त्री पर षड्ज माना है, तब उनका स्वर-सप्तक भी दाक्षिणात्य स्वर-सप्तक के सदृश ही बना होगा। किन्तु अहोबल की स्वर व्यवस्था को देखने से यह शंका निर्मूल हो जाती है, क्योंकि उन्होंने दाक्षिणात्यों की भाँति द्विश्रुति रि-ध को शुद्ध यानी त्रिश्रुति रि-ध नहीं माना है अपितु उन्हें यथायथ रूप से द्वित्रुतिक ही समझ कर 'कोमल' संज्ञा दी है। और जिन चतुःश्रुति रि-ध को दाक्षिणात्यों ने पंचश्रुति शुद्ध ग-नि मान लिया है, उन्हें अहोबल ने चतुःश्रुति रि-ध ही समझ कर तीव्र संज्ञा दी है। इस प्रकार उपर्युक्त शंका तो निर्मूल हो जाती है, परन्तु एक सन्देह यहाँ और हो आना स्वाभाविक है। वह यह कि बाज की मुक्त तार को मध्यम में मिलाने की जिस परम्परा का उल्लेख शार्ङ्गदेव से लेकर अन्य सभी परवर्ती ग्रन्थकार करते आए हैं, और जिस परम्परा का पालन आज भी दक्षिणोत्तर भारत के पर्दों वाले तन्तुवाद्यों पर होता है, उस परम्परा से अहोबल अपरिचित होंगे क्या? क्योंकि उन्होंने भी मुक्त तार को मध्यम की बजाय षड्ज ही मान कर अपनी स्वर स्थापना-विधि बताई है। मुक्त तन्त्री को मध्यम मानने से जिस पर्दे पर षड्ज आता है, जहाँ से आज हमारा वादन व्यवहार चलता है, वह स्थान अहोबल को अविदित रहा होगा क्या? हमारी आज की पद्धति, जो कि निश्चित रूप से भरत-मतंग-सम्मत है, उसे मध्ययुग के इस प्रमुख ग्रन्थकार अहोबल ने किस रूप में ग्रहण किया होगा, यह विचारणीय है। इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र वक्तव्य निम्नोक्त है।

वीणा पर षड्ज के सम्बन्ध में अहोबल के दो महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं—एक तो मूर्च्छना-प्रकरण में और दूसरा, तन्त्री पर स्वर-स्थापना-विधि बताते समय। मूर्च्छनाओं का विवरण देते समय वे कहते हैं कि

'मध्यषड्ज' से मूर्च्छना क्रम का आरम्भ करना चाहिए यथा :—**मध्यषड्जं समारभ्य तदूर्ध्वस्वरमाव्रजेत् ॥**

(सं० पा० १११)

यह 'मध्यषड्ज' कहाँ से माना जाए ? 'स्वरज्ञान-विहीनों' के लिए उन्होंने 'ध्वन्यवच्छिन्न वीणा' के तार पर जो स्वर-स्थान बतलाए हैं उनको देखते हुए तो उनका 'मध्य-षड्ज' वही होना चाहिए जो मेरुस्थित मुक्त तार पर निनादित होता है। क्योंकि उन्होंने उस तार के ठीक बीचोंबीच तार षड्ज का स्थान बताया है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि मूर्च्छनाओं की सिद्धि के लिए क्या इस तार षड्ज को आधार मानकर चलना चाहिये या मुक्त तार-स्थित षड्ज को ? अहोबल ने तो तार षड्ज नहीं, 'मध्य षड्ज' से ही मूर्च्छना-प्रक्रिया करने को कहा है। यदि मेरुस्थित षड्ज से ही मूर्च्छना आरंभ करेंगे, तो मन्द्र नि ध प म ग रे की मूर्च्छना की सिद्धि करने के लिए हमें तीन तारें बदलनी पड़ेंगी। यह किसी वैगिक के लिए सुविधाजनक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार एक ही तार पर तीनों स्थानों की प्राप्ति असंभव हो जाती है। भरत और मतंग ने मूर्च्छनाओं का प्रयोजन, तीन स्थानों की प्राप्ति ही बताया है। यथा :—

प्रयोजनमपि स्थान-प्राप्तिः।

(ना० शा० २८)

मूर्च्छनानिर्देशस्तावन्मन्द्रतारसंसिद्ध्यर्थम् ।

(बृह० पृ० २९)

इसलिए भरत का अविलोपी मध्यम, मतंग का 'मध्य सप्तक' और आज की वीणा का षड्ज जो वास्तव में 'मध्य षड्ज' है, वहीं से मूर्च्छनाओं का आरम्भ करने से उस प्रक्रिया की सिद्धि होती है। और तभी षड्ज से आरम्भ होने वाली, षड्जग्रामिक मूर्च्छना-क्रम में पहिली मूर्च्छना का 'उत्तरमन्द्रा'* यह नाम सार्थक हो सकता है। क्या यह संभव नहीं है कि अहोबल ने भी यहीं से मध्य षड्ज मानकर मूर्च्छना-प्रयोग शुरू किया हो ? क्या ही अच्छा होता यदि अहोबल ने अपनी मूर्च्छनाओं के 'मध्य षड्ज' का स्थान वीणा पर स्पष्ट दिखाया होता। उलझन इसलिए होती है कि उन्होंने मेरु और घोड़ी के बीच बँधी हुई तार पर जो स्वर-स्थापना की है, उससे मूर्च्छना-सम्बन्धी उपर्युक्त कथन की संगति नहीं बैठती है। कोई यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने मेरुस्थित मुक्त तार को षड्ज मानकर उसके नीचे पर्दों पर स्वर-स्थापना की जो विधि बताई है, वह तो स्वर-ज्ञान विहीनों के लिए है, स्वरज्ञ, श्रुतिज्ञ और क्रियाकुशल पंडितों के लिए नहीं है। क्रियाकुशल लोग तो उस 'मध्यषड्ज' से अपरिचित नहीं ही होंगे, जहाँ से कि सुविधापूर्वक वादन की क्रिया की जाती होगी। जैसे आज हमारा मध्य षड्ज वीणा के मेरुदण्ड के प्रथम एक तृतीयांश पर स्थित है, जो वादन-सौकर्य के लिए नितान्त रूप से अभीष्ट है और जो सर्वविदित है, संभवतः अहोबल को भी वही षड्ज अभिप्रेत होगा। उस काल में व्यवहृत होने वाली वीणा पर भी मध्य षड्ज का स्थान उन्हें अज्ञात थोड़े ही रहा होगा ? इसीलिए मध्य षड्ज से उत्तरमन्द्रा का आरम्भ होता है, इतना ही कहना उन्होंने पर्याप्त माना होगा।

अहोबल ने मुक्त तन्त्री को षड्ज मान कर जो स्वर-व्यवस्था दिखाई है, उस पर शार्ङ्गदेव के 'मुक्ततन्त्र्याथ षड्जः' इस वचन का संस्कार तो नहीं रहा होगा ? हम इसके पूर्व देख आए हैं कि शार्ङ्गदेव ने यह वचन वाद्याध्याय में आलापिनी वीणा का विवरण देते समय कहा है। हम यह भी स्पष्टतया देख आए हैं कि इस वचन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वीणा की मुक्त तार को षड्ज मान कर वादन-व्यवहार किया जाए, अपितु उसका प्रयोजन तो केवल वीणा पर तार मिलाने की पद्धति दिखाना ही है। अर्थात् पहिली मन्द्र मध्यम की तार के बाद की तार को मन्द्र षड्ज में मिलाया जाए, यही बताना शार्ङ्गदेव को अभिप्रेत है।

---

* उत्तरमन्द्रा शब्द का शब्दार्थ यही है—मन्द्र जिसके उत्तर में यानी बाद में 'हो'।

यह कहा जा सकता है कि 'मुक्ततन्त्र्याथ षड्जः'—इस वचन का उपरिलिखित वास्तविक अभिप्राय अहोबल के ध्यान में न आया हो और उन्हें यह भास हुआ हो कि शार्ङ्गदेव के काल से ही मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने की भी कोई परम्परा रही होगी जिसे दाक्षिणात्यों ने अपनाया होगा। इसीलिए वीणा पर अपनी स्वरस्थापना विधि के लिये उन्होंने उस वचन को आधार मान लिया हो, यह भी संभव है।

साथ साथ एक अनुमान यह भी हो सकता है कि 'स्वरज्ञानविहीनों' के लिए स्वर-स्थापना का मार्ग दिखाने के निमित्त ही उन्होंने मुक्त तन्त्री को षड्ज मानकर स्वर-व्यवस्था बनाई होगी। उस प्रकार भी पर्दे तो वही प्राप्त होंगे जो परम्परा से चले आते हैं और उन पर्दों में से मुक्त तार के पंचम के पर्दे को 'सा' मानने से मध्य षड्ज का वास्तविक स्थान अपने आप मिल ही जायगा और अभिप्रेत स्वर-व्यवस्था बन जाएगी, ऐसी उनकी धारणा रही होगी। इस अनुमान के विरुद्ध में यह तर्क किया जा सकता है कि अहोबल को यदि यही मध्य षड्ज अभिप्रेत होता तो वे मुक्त तन्त्री को षड्ज न कहकर उसे मन्द्र मध्यम कह सकते थे और तार के बिल्कुल बीचोंबीच मध्य मध्यम की स्थिति मान कर तदनुसार स्वर-व्यवस्था बता सकते थे। इस प्रकार सहज ही में 'मध्य षड्ज' का स्थान उन्हें मिल जाता। जहाँ उन्होंने पंचम के लिए यह कहा है कि 'त्रिभागात्मक वीणायां पंचमः स्थात्तदग्रिमे', यदि वही स्थान उन्हें षड्ज के रूप में अभिप्रेत होता, तो वे कह सकते थे कि 'त्रिभागात्मक-वीणायां भवेत्षड्जस्तदग्रिमे'। इस तर्क का उत्तर यह है कि ऐसा करने से एक सप्तकान्तर्गत स्वरों के गुणोत्तर प्रमाण बताना और वह भी स्वरज्ञान विहीनों के लिए स्पष्ट करना असंभव हो जाता। विज्ञजन जानते हैं कि मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने से ही स्वरों के गुणोत्तर-प्रमाण प्राप्त हुए हैं, होते हैं और हो सकते हैं। मुक्त तन्त्री को षड्ज मान कर जिस प्रकार अहोबल के लिए यह निर्दिशत करना संभव हुआ कि पंचम और मध्यम इन दोनों स्वरों का गुणोत्तर प्रमाण क्रमशः $\frac{3}{2}$ और $\frac{4}{3}$ है, मुक्त तन्त्री को षड्ज न मान कर मध्यम मानने से वह न हो पाता। हम जानते हैं कि एलिस की सेण्ट पद्धति में भी मुक्त तन्त्री को ही षड्ज मान कर गुणोत्तर प्रमाण द्वारा स्वरों के अन्तराल निकाले जाते हैं। स्वरों का गणित-मूल्य निकालने के लिए अब तक खोजे हुए सभी मार्गों में मुक्त तन्त्री को ही षड्ज मानना पड़ा है। क्या इसी सुविधा के निमित्त तो अहोबल ने मुक्त तन्त्री को षडज नहीं माना होगा?

यह तो निश्चित है कि अहोबल ने इस विधि का उल्लेख केवल इसलिए किया है कि जिन्हें स्वर-संवाद का ज्ञान नहीं है, वे भी आँखों से देखकर वीणा के मेरुदण्ड पर स्वरों के अन्तराल समझ सकें। इससे यह समझ लेना कि अहोबल की वादन-क्रिया का प्रयोग भी मुक्त तन्त्री को ही षड्ज मानकर चलता होगा यह समीचीन नहीं प्रतीत होता। वीणा की वादन-क्रिया और उसके मेरुदण्ड पर, स्वरों के गुणोत्तर प्रमाण दिखाने के लिए बताई हुई स्वर-स्थापना-विधि—ये दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं। इन दोनों के सांकर्य से या एक में दूसरे को मिला देने से ही अहोबल की स्वर-व्यवस्था को समझने में गड़बड़ी हुई होगी, ऐसी संभावना है। ये दोनों विधियाँ पृथक् हैं, हमारे इस कथन से कोई यह अर्थ न ले कि दोनों विधियों के प्रयोग में वीणा के पर्दों में भी हेरफेर करने की आवश्यकता पड़ती होगी। जैसे कि हम ऊपर कह आए हैं, अहोबल की बताई हुई स्वर-स्थापन-विधि से जो पर्दे प्राप्त होंगे, उनमें किसी प्रकार का हेरफेर किए बिना मुक्त तन्त्री के पंचम को षड्ज मानने से अहोबल के कहे हुए 'मध्य षड्ज' से वादन-क्रिया और मूर्च्छना-सिद्धि हो जाएगी। केवल आरम्भ-स्थान का ही परिवर्तन होगा। यह ध्यान रहे कि भरत का षड्जग्रामिक मध्यम, मतंग का मध्य सप्तक, अहोबल की स्वर-स्थापना विधि से आया हुआ पंचम, अहोबल की वादन-क्रिया का मध्य षड्ज और आज के लक्ष्य का षड्ज—ये सब एक ही हैं। हमारी राय में अहोबल को इस दृष्टि से समझने से अब तक की सारी उलझनें भलीभाँति सुलझ सकेंगी।

अहोबल के इस कथन से कि उसने केवल स्वर-ज्ञान-विहीनों के लिए वीणा के तार पर स्वर-स्थापना की विधि बताई है, यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने इस विधि को महत्त्व नहीं दिया है। किन्तु उनकी इस

नवीन विधि को आधुनिक पंडितों ने, विशेषतः पं० भातखण्डे ने काफ़ी महत्त्व दिया है। इसलिए उनकी इस विधि का ही यहाँ सर्वप्रथम उल्लेख करना समुचित होगा—यथा—

स्वरस्य हेतुभूताया वीणायाश्चानुषत्वतः। तत्र स्वरविबोधार्थं स्थानलक्षणमुच्यते॥
ध्वन्यवच्छिन्नवीणायां मध्ये तारकसः स्थितः। उभयोः षड्जयोर्मध्ये मध्यमं स्वरमाचरेत्॥
त्रिभागात्मकवीणायां पंचमः स्यात्तदग्रिमे। षड्जपंचमयोर्मध्ये गान्धारस्य स्थितिर्भवेत्॥
सपयोः पूर्वभागे च स्थापनीयोऽथ रिस्वरः। समयोर्मध्यदेशे तु धैवतं स्वरमाचरेत्॥
तत्रांशद्वयसंत्यागान्निषादस्य स्थितिर्भवेत्। इति शुद्धस्वराः॥
भागत्रयान्विते मध्ये मेरो ऋषभसंज्ञितात्। भागद्वयोत्तरं मेरोः कुर्यात्कोमल-रि-स्वरम्॥
मेरुधैवतयोर्मध्ये तीव्रगान्धारमाचरेत्। भागत्रयविशिष्टेऽस्मिन् तीव्रगान्धारषड्जयोः॥
पूर्वभागोत्तरं मध्ये मं तीव्रतममाचरेत्। भागत्रयान्विते मध्ये पंचमोत्तरषड्जयोः॥
कोमलो धैवतः स्थाप्यः पूर्वभागे मनीषिभिः। तथैव धसयोर्मध्ये भागत्रयसमन्विते॥
पूर्वभागद्वयादूर्ध्वं निषादं तीव्रमाचरेत्॥

(सं० पा० ३१४-३२३)

यहाँ हम पं० अहोबल के इन श्लोकों का भावार्थ देते हुए साथ ही उनकी बताई हुई विधि के अनुसार ३६ इंच लम्बे वीणा के तार पर किस किस स्थान पर कौन कौन से स्वर निनादित होंगे, यह निदर्शित करते हुए आगे बढ़ेंगे।

पं० अहोबल का कथन है कि वीणा के ध्वनि उत्पन्न करने वाले (ध्वनि से अवच्छिन्न) भाग के मध्य में तार षड्ज निनादित होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि मुक्त तार के नाद को यदि मध्य षड्ज मान लें, तो उस तार के ठीक बीचोंबीच तार षड्ज निनादित होगा। यदि तार की लम्बाई ३६ इंच मान लें तो १८ इञ्च पर वह तार षड्ज बजेगा। इन दोनों षड्जों के मध्य में मध्यम स्वर रहेगा। अर्थात् पूर्वमेरु* (खूँटियों वाला ऊपर का भाग) से ९ इञ्च पर मध्यम रहेगा। सारी वीणा के तार के तीन भाग करने पर प्रथम भाग के अन्त में पंचम स्वर आएगा। ३६ इञ्च तार का तीसरा भाग १२ इञ्च होता है इसलिए पंचम १२ इञ्च पर स्थित होगा। षड्ज और पंचम के बीच में शुद्ध गान्धार स्वर रहेगा। इसलिए ६ इञ्च पर उसका स्थान होगा। ध्यान रहे कि यह गान्धार षट्श्रुतिक है। आगे चलकर हम देखेंगे कि अहोबल को वीणा के मेरु पर षड्ज मानने से चतुःश्रुति ऋषभ ही मिल सकता था। ऋषभ जब चतुःश्रुतिक होगा, तब गान्धार अपने आप षट्श्रुतिक ही होगा। इसलिए इसे कोई भारतोक्त पंचश्रुति गान्धार न समझ लें। वीणा का तीसरा पर्दा जो मेरु से षट्श्रुति के अन्तर पर है, उसी पर्दे पर गान्धार की स्थिति है।

ऋषभ और धैवत का स्थान विस्तार से विचारणीय है। अतः यहाँ हम दोनों का एक साथ उल्लेख कर रहे हैं।

अहोबल के कहे हुए सा म प के स्थान के लिए तो किसी सन्देह को स्थान नहीं है, और ग नि के स्थान के लिए भी विशेष वैमत्य नहीं है। किन्तु जिन पर वैमत्य है और अनेक अनुमान करने पर भी जिन के स्थान के बारे में एकवाक्यता अब तक नहीं हो पाई है, ऐसे ऋषभ-धैवत के विवादग्रस्त प्रश्न का हल कैसे हो, यह नितान्त विचारणीय है। अहोबल ने भी भरत के कथनानुसार अपने शुद्ध स्वरों में रि ध को त्रिश्रुतिक ही बताया है। किन्तु इन दो स्वरों का स्थान देते समय उसने जो क्रमशः स प के 'पूर्व भागे' और

---

* कई लोग उत्तरमेरु (यानी घुड़च वाला नीचे का भाग) से यह गिनाई करते हैं। मेरुस्थित नाद को मध्य षड्ज मान लेने के बाद वहीं से क्रमशः उत्तरोत्तर स्वरों के अन्तराल नापना उचित है। यही सीधा क्रम है। घोड़ी से ऊपर की ओर गिनाई करने का उल्टा क्रम हमने नहीं अपनाया है।

प स के 'मध्यदेशे' कहा है, उससे त्रिश्रुति ऋषभ धैवत अभिप्रेत हैं या चतुःश्रुतिक ? ये दोनों वचन इन स्वरों का निश्चित स्थान नहीं दिखाते। स और प का पूर्वभाग यानी क्या ? कितनी लम्बाई पर ? कितने इञ्च पर ? स से प तक तो १२ इञ्च का अन्तराल है, उसके कितने भाग किए जाँय ? यदि ऋषभ को त्रिश्रुति मानें तो उस अन्तराल के चार भाग करके ३ इञ्च पर ऋषभ का पर्दा स्थापित करना होगा। यदि उसे चतुःश्रुति मानें तो उस अन्तराल के तीन भाग करके ४ इञ्च पर ऋषभ स्थापित करना होगा, जहाँ परंपरानुसार-आज भी वीणा पर पर्दा बँधा हुआ है। इन दोनों में से अहोबल को कौनसा ऋषभ अभिप्रेत होगा ?

इस पर विचार करते हुए यह भी ध्यान देने योग्य है कि गान्धार के लिए अहोबल ने 'सपयोर्मध्यदेशे तु गान्धारस्य स्थितिर्भवेत्'—ऐसा कहा है और इस प्रकार सा और प के बीच ६ इञ्च पर षट्श्रुति गान्धार उपलब्ध होता है। यदि अहोबल को त्रिश्रुति ऋषभ अभिप्रेत होता, तो वे 'सपयोः पूर्वभागे च स्थापनीयोऽथ रिस्वरः'—ऐसा न कह कर 'षड्जगान्धारयोर्मध्ये ऋषभस्य स्थितिर्भवेत्' यों कह सकते थे और इस प्रकार उनका प्रयोजन सिद्ध हो जाता। वे गणिती तो थे ही और इस प्रकार त्रिश्रुति ऋषभ का स्थान दिखाना उनके लिए कुछ कठिन न होता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिश्रुति ऋषभ का स्थान स्पष्टतया निर्दिष्ट न करने के पीछे उनका कोई हेतु रहा होगा। वे यह जानते होंगे कि परम्परा-प्राप्त पर्दों के क्रम का उल्लंघन करके यदि त्रिश्रुति ऋषभ का नया पर्दा बाँधा जाय, तो वह वीणा में वैगुण्य लाएगा। दूसरी ओर, चतुःश्रुति ऋषभ का स्थान बिल्कुल स्पष्ट रूप से दिखाने में भी उन्हें संभवतः कुछ हिचकिचाहट हुई होगी। क्योंकि उससे भरत परम्परा टूट जाती। साथ ही चतुःश्रुति ऋषभ को तीव्र संज्ञा देना भी व्यर्थ हो जाता। जो भी हो उन्होंने 'रि' का स्थान स्पष्ट नहीं ही बताया है। इस पर हम कुछ आगे चल कर पुनः विचार करेंगे।

ऋषभ की ही भाँति धैवत के लिए कहे हुए 'मध्यदेशे' शब्द को लेकर भी काफ़ी खींचातानी हुई है। और इन शब्दों का बहुत अर्थ-विपर्यास किया गया है। इन शब्दों से धैवत का कौन सा स्थान निश्चित किया जाए, यह एक समस्या बनी रही है। यह मानी हुई बात है कि प और तार सा के ठीक बीचोंबीच यदि धैवत को रखा जाए तो वह धैवत चतुःश्रुति धैवत से भी कुछ ऊँचा रहेगा। और ऐसा बेसुरा धैवत किसे स्वीकार होगा ? यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि अहोबल को स्वरों के मान सरलता से दिखाना ही अभिप्रेत था। चतुःश्रुति से कुछ चढ़ा हुआ जो धैवत आएगा, उसका ऋषभ के साथ संवाद जाँच कर, उसे थोड़ा सा उतारकर ठीक किया जा सकेगा, ऐसा उनका विचार रहा होगा। श्रीनिवास ने तो स्पष्ट ही कह दिया है—

संवादिनौ चेदुक्तस्थानगौ शुद्धकोमलौ। तौ यत्नार्धयवाभ्यां वा कार्यौ न्यूनौ विचक्षणैः॥

अर्थात्—उनके कहे हुए स्थानों पर स्थित स्वर यदि परस्पर संवादी न हों तो उन्हें एकाध यव उतार कर ठीक कर लेना चाहिए।

रि ध के सम्बन्ध में एक और बात उल्लेखनीय है। हमारे आज के शुद्ध स्वर-सप्तक में ऋषभ चतुःश्रुतिक और धैवत त्रिश्रुतिक प्रयुक्त होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उस समय के लक्ष्य को देखकर अहोबल को चतुःश्रुति ऋषभ ही अभिप्रेत रहा हो, संभवतः परम्परा के आग्रहवश अहोबल ने भले ही ऋषभ को त्रिश्रुतिक बताया हो, किन्तु उन्हें चतुःश्रुति ऋषभ ही अभीष्ट रहा होगा। धैवत का स्थान और भी विचारणीय है।

हम जानते हैं कि मेरु को षड्ज मानकर वीणा पर स्वर-स्थापना विधि बताते समय चतुःश्रुति धैवत का पर्दा ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि वीणा पर आज का ऋषभ, जो कि षड्ग्रामिक पंचम है, उस अवस्था में वही धैवत का स्थान पा जाता है। किन्तु इससे यह मान लेना कि अहोबल के शुद्ध स्वर-सप्तक में या क्रिया

में व्यवहृत होने वाला धैवत चतुःश्रुतिक था और यह सिद्ध करना कि आज भी हमारे शुद्ध स्वर सप्तक में धैवत चतुःश्रुतिक ही है—यह सत्य का विपर्यास करना है। हम जानते हैं कि वीणा पर आज के सा से जो शुद्ध स्वर-सप्तक लिया जाता है, उसमें धैवत का पर्दा त्रिश्रुतिक ही आता है। तद्वत् तानपुरे पर गाते समय भी आज हम त्रिश्रुति धैवत ही बरतते हैं, जो कि तानपुरे के मन्द्र षड्ज से उद्भूत स्वयम्भू गान्धार के साथ षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद करता है। इसलिए अहोबल के धैवत के बारे में यही कहा जा सकता है कि उनके प्रायोगिक शुद्ध स्वर सप्तक में तो आज की भाँति धैवत त्रिश्रुति ही रहा होगा। किन्तु वीणा पर स्वर-स्थान दिखाते समय चतुःश्रुति धैवत का ही पर्दा उन्हें प्राप्त हो सकता था और वही हुआ। वह चतुःश्रुति धैवत उनके नियमित शुद्ध स्वर सप्तक का अंग नहीं होगा बल्कि मुक्त तन्त्री को षड्ज मानकर बनी हुई स्वर-व्यवस्था में जो षड्ग्रामिक पंचम है एवं अहोबल के तथा आज के प्रायोगिक शुद्ध सप्तक में जो ऋषभ है, उसी का वह धैवत प्रतिनिधि मात्र है। वीणा के मुक्त तार पर बताई हुई स्वर-स्थापना विधि के अनुसार जो तार सप्तक का त्रिश्रुति अन्तर गान्धार आता है, वहा षड्ग्रामिक मध्यम से यानी आज के षड्ज से बने हुए सप्तक में त्रिश्रुति धैवत का स्थान पा जाता है। इस प्रकार त्रिश्रुति धैवत का स्थान अहोबल को अपने प्रायोगिक स्वर-सप्तक में तो मिल ही जाता है।

जो स्वरज्ञ हैं, उन लोगों से यह अज्ञात नहीं है कि मेरुस्थित तार को षड्ज मानने से वीणादण्ड पर त्रिश्रुति ऋषभ और त्रिश्रुति धैवत का स्थान नहीं हो रखा जा सकता। यदि आग्रहवश पर्दे खिसका कर या नये पर्दे बाँधकर वीणादण्ड पर ये स्थान दिखाने का यत्न किया जाए, तो वह वीणा किसी भी प्रकार वादन-योग्य नहीं रह सकता। अहोबल ने पहले अपने शुद्ध स्वर, प्राचीन श्रुति-व्यवस्था सहित कहने के बाद गुणोत्तर प्रमाण दिखाते हुए जब मेरुस्थित मुक्त तार पर षड्ज स्थापित किया, तब वीणा पर परम्परा प्राप्त जो पर्दे स्थापित हैं, उन्हीं पर स्वर-स्थान निर्देशित करना उनके लिए क्रमप्राप्त था। अहोबल या अन्य कोई भी उस मर्यादा का उल्लंघन कैसे कर सकता है? जो स्वर-संवाद के ज्ञाता हैं, वे सर्वदा इन्हीं स्वरों को दिखाएंगे, क्योंकि संवाद का भंग व कौन सह सकते हैं? इस सम्बन्ध में यह कल्पना करना कि "एक श्रुति के इधर उधर के हेरफेर से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है", यह किसी भी शास्त्रज्ञ के लिए शोभनीय नहीं है। एक श्रुति के न्यूनाधिक प्रयोग से सारा स्वर-संवाद नष्ट हो जाता है और स्वर-संवाद के नष्ट होते ही सारा संगीत छिन्न भिन्न हो जाता है, यह बुधजनों से अज्ञात नहीं है।

अहोबल के रिषभ का वीणा के मेरुदण्ड पर क्या स्थान आता है, उसे अब हम देख लें। साथ ही, अहोबल ने इन दोनों स्वरों के सम्बन्ध में ऐसा अस्पष्ट भाषा क्यों बरती है, इस पर भी पुनः एक और दृष्टि से विचार कर लें। यह विषय आज तक अत्यधिक विवादास्पद रहा है। इस बात को देखते हुए किंचित पुनरुक्ति दोषार्ह नहीं मानी जाएगी, ऐसी आशा है।

अहोबल के ऋषभ-सम्बन्धी 'पूर्वभाग' को श्रीनिवास इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—

षड्जपंचमगं सूत्रमंशत्रयसमन्वितम्। तत्रांशद्वयसंत्यागात् पूर्वभागे तु रिर्भवेत्॥

अर्थात् षड्ज और पंचम के अन्तर के तीन भाग किए जाएँ और उन भागों में से पंचम की ओर से दो भाग छोड़कर पहिले भाग पर 'रि' की स्थापना की जाए। इस गिनाई से ४ इंच पर ऋषभ का स्थान आएगा, जो चतुःश्रुतिक है। यहाँ यह ध्यान रहे कि अहोबल ने अपने शुद्ध स्वर बताते समय भरत-परम्परानुसार ऋषभ धैवत को त्रिश्रुतिक ही बताया है। किन्तु वीणा पर उनका बताया हुआ इन दोनों स्वरों का स्थान तो चतुःश्रुतिक ही है। हम यह स्पष्टतया देख चुके हैं कि मेरुस्थित मुक्त तार को षड्ज मानने से त्रिश्रुति ऋषभ धैवत का पर्दा वीणा पर मिल ही नहीं सकता है। इसीलिए दाक्षिणात्यों को द्विश्रुतिक रिन्ध को ही

त्रिश्रुति मानकर अपनी स्वर-व्यवस्था बनानी पड़ी है, जिससे कि इतनी ग़लतफ़हमियाँ फैली हैं। अहोबल ने दाक्षिणात्यों की भाँति द्विश्रुति रि-ध को ही त्रिश्रुतिक कहने की अव्यवस्था को नहीं अपनाया है, क्योंकि उसने द्विश्रुति रि-ध को 'कोमल' रि-ध ही कहा है। मेरु से पहले पर्दे पर कोमल ऋषभ का स्थान है। उसके बाद जो दूसरा पर्दा है, उस पर चतुःश्रुति ऋषभ का ही स्थान है त्रिश्रुति का नहीं, यह हम जानते हैं। तद्वत् मेरु-स्थित सा से आनेवाले पंचम के बाद हमारी वीणा पर जो पर्दा धैवत का स्थान पाएगा, वह चतुःश्रुतिक अन्तर पर ही है यह भी निश्चित है।[१] इन चतुःश्रुतिक रि-ध के लिए अहोबल ने तीव्र रि-ध या कोमल ग-नि इन संज्ञाओं का प्रयोग किया है। कोमल ग-नि संज्ञाओं के प्रयोग के पीछे दाक्षिणात्य स्वर-व्यवस्था का प्रभाव तो नहीं होगा? ऐसी आशंका हो आती है क्योंकि उस पद्धति में चतुःश्रुति रि-ध को हा शुद्ध गान्धार निषाद कहा गया है। अस्तु। इस सम्बन्ध में अहोबल के लिए यह प्रशंसा की बात है कि उन्होंने द्विश्रुति रि-ध और चतुःश्रुति रि-ध को यथायथ रूप से समझा है। किन्तु वीणा पर त्रिश्रुति रि-ध का ठीक स्थान दिखाना भला अहोबल के लिए कैसे सम्भव होता जब कि उन्होंने मुक्त तन्त्री को ही षड्ज मान लिया था। उस अवस्था में तो द्विश्रुतिक या चतुःश्रुतिक रि-ध ही उन्हें मिल सकते थे। यह जानते हुए भी उन्हें भरत-परम्परा से व्यवच्छेद दिखाने का साहस नहीं हुआ होगा और इसीलिए इन दोनों स्वरों के संबंध में उन्होंने 'पूर्वभाग' और 'मध्यदेश' के रूप में गोलमाल विवान देकर उस उलझन से मुक्ति पाने का यत्न किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। इस उलझन को वे वास्तविक रूप में समझे थे, इतना उनके लिए अवश्य प्रशंसनीय है। द्विश्रुतिक या चतुःश्रुतिक रि-ध को ही त्रिश्रुतिक सिद्ध करने का असमंजस यत्न उन्होंने नहीं किया है। इन दोनों स्थानों के बीच त्रिश्रुति रि-ध का स्थान वीणा पर रखना स्वर-संवाद की दृष्टि से असंगत है, यह भी उन्हें विदित होगा। संभवतः इसीलिए इन दो स्वरों के बारे में उन्होंने चुप्पी सी साध ली हो। इन दो स्वरों के सम्बन्ध में उनका अस्पष्ट वक्तव्य इस सत्य की मौन स्वीकृति है कि वीणा पर भरतोक्त त्रिश्रुति रि-ध का स्थान, मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने से नहीं मिल सकता। अस्तु।

वीणा पर पं० अहोबल के धैवत का नाम क्या है? धैवत के लिए कहे हुए उनके 'मध्यदेश' का अर्थ यदि प-सा के ठीक बीचोबीच, लें तो १५ इंच पर उसका स्थान आना चाहिए। किन्तु १५ इंच पर बोलने वाला धैवत स्वर-संवाद की दृष्टि से अपेक्षित धैवत से कुछ ऊँचा है। श्रीनिवास ने अहोबल के 'मध्यदेश' को स्पष्ट करते हुए कह दिया है कि—

पंचमोत्तरषड्जाख्यमध्ये धैवतमाचरेत्॥

(रागतत्त्वविबोध ४०)

परन्तु इस वचन के अनुसार भी पंचम और षड्ज के बीचोंबीच धैवत की स्थापना करने से वह धैवत स्वर-संवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इसलिए १५ इंच की बजाय धैवत के गुणोत्तर-प्रमाण $\frac{३}{२}$ के अनुसार १४$\frac{३}{४}$ इंच पर धैवत का स्थान आधुनिक ध्वनि-शास्त्रज्ञों ने निश्चित किया है। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि यह धैवत त्रिश्रुतिक नहीं, चतुःश्रुतिक ही है। आगे निषाद के लिए अहोबल कहते हैं कि पंचम से दो अंश छोड़कर निषाद स्थित होता है। यह दो अंश कौन से? इसका उत्तर श्रीनिवास के शब्दों में मिल जाता है वे कहते हैं—

१—दाक्षिणात्यों की रुद्रवीणा पर और हमारे यहाँ की अचल ठाट की वीणा पर इस पंचम और चतुःश्रुति धैवत के बीच में एक द्विश्रुतिक पर्दा भी बाँधा जाता है, जिसे दाक्षिणात्यों ने त्रिश्रुति शुद्ध धैवत मान लिया है।

पसयोर्मध्यभागे स्यात् भागत्रयसमन्विते । पूर्वभागद्वयं त्यक्त्वा निषादो राजते स्वरः ॥

(रागतत्त्व विबोध ४०.)

इसका अर्थ यह हुआ कि पंचम और षड्ज के अन्तराल के तीन भाग किए जाएँ और उन तीन भागों में से पहिले दो भागों को छोड़ कर तीसरे पर शुद्ध निषाद की स्थापना की जाए। इस प्रकार पंचम और षड्ज के बीच ६ इंच का अन्तर होने से पंचम से ४ इंच बाद अर्थात् १६ इंच पर निषाद बोलेगा।

यह तो हुई शुद्ध स्वरों की व्यवस्था। विकृत स्वरों के सम्बन्ध में अहोबल ने वीणा पर पाँच ही स्वर-स्थान दिखाए हैं—(यद्यपि बाईसों श्रुतियों की स्वरूपता उसे स्वीकृत थी)—कोमल रि-ध, तीव्र गान्धार (अन्तर गान्धार), तीव्र निषाद (काकली निषाद) और तीव्रतम मध्यम (आज का तीव्र मध्यम)। इनके स्थान हम क्रमशः देख लें।

अहोबल के कथनानुसार मेरु से शुद्ध ऋषभ तक के अन्तर के तीन भाग करके, मेरु से दो भाग बाद कोमल ऋषभ का स्थान होगा। हम देख चुके हैं कि शुद्ध ऋषभ का स्थान ४ इंच पर है। उस अन्तर का $\frac{2}{3}$ हुआ $2\frac{2}{3}$। इसलिए $2\frac{2}{3}$ इंच पर कोमल ऋषभ बोलेगा। मेरु और शुद्ध धैवत के ठीक मध्य में तीव्र गान्धार स्थित होगा। यदि धैवत का स्थान, श्रीनिवास के कथनानुसार १५ इंच पर मानें तो गान्धार $7\frac{1}{2}$ इंच पर आना चाहिए, किन्तु वह गान्धार भी धैवत की भाँति ही कुछ चढ़ा हुआ होगा अर्थात् विवादी दोष से ग्रस्त होगा। इसलिए $14\frac{3}{4}$ इंच का आधा यानी $7\frac{3}{8}$ इंच पर तीव्र गान्धार बोलगा। तीव्रतम म के लिए पं० अहोबल ने कहा है कि तीव्र गान्धार और (तार) षड्ज के अन्तर के तीन भाग करके, उन भागों में से एक भाग को तीव्र गान्धार के आगे जोड़ देने से, तीव्रतम मध्यम का स्थान प्राप्त होगा। तीव्र गान्धार और तार षड्ज का अन्तर है $१८ - 7\frac{3}{8} = १०\frac{5}{8}$ इस अन्तर का तीसरा भाग हुआ $= 3\frac{5}{8}$ अब तीव्र गान्धार के साथ इस एक-तृतीयांश को जोड़ने से तीव्रतम मध्यम का स्थान बनेगा $- 7\frac{3}{8} + 3\frac{5}{8} = १०\frac{8}{8}$। अतः १०६ इंच पर तीव्रतम मध्यम बोलेगा। पंचम और तार षड्ज के अन्तर को तीन भागों में विभाजित करने से पहिले भाग पर कोमल ध बोलेगा। पंचम और तार षड्ज का अन्तर छः इंच का है, उसका एक तृतीयांश पंचम के आगे जोड़ने से १४ इंच पर कोमल ध बोलेगा। उसी प्रकार शुद्ध ध और तार षड्ज के अन्तर के तीन भाग करके उनमें से पहिले दो भागों को धैवत के आगे जोड़ देने से तीव्र निषाद (काकली निषाद) का स्थान मिल जाएगा। धैवत से षड्ज का अन्तर है $१८ - 14\frac{3}{4} = 3\frac{1}{4}$ इस अन्तर का एक तृतीयांश है $\frac{1}{4}$ और दो-तृतीयांश है $2\frac{2}{4}$। अतः $14\frac{3}{4} + 2\frac{2}{4} = १६\frac{5}{4}$ इस प्रकार १६६ इंच पर तीव्र निषाद का स्थान होगा।

इस प्रकार हमने वीणा के तार पर, अहोबल के कहे हुए सात शुद्ध और पाँच विकृत स्वरों की स्थापना की विधि का अवलोकन किया। इसके अतिरिक्त अहोबल की दूसरी मुख्य विशेषता उनके विकृत स्वरों से संबंधित है। उन्होंने बाईसों श्रुतियों को स्वर का स्थान दिया है और संज्ञा भेद से २६ शुद्ध विकृत स्वरों का उल्लेख किया है। यानी २२ श्रुतियों में से सात शुद्ध स्वर-स्थान निकाल देने से १५ ही विकृत स्वर बन सकते हैं, जो कि स्थान-विकृति के द्योतक हों, किन्तु अहोबल ने वैकल्पिक संज्ञाओं के प्रयोग द्वारा विकृत स्वरों की संख्या २२ तक पहुँचा दी है और इस प्रकार २२ विकृत और ७ शुद्ध, कुल मिलाकर २६ स्वरों का उन्होंने निरूपण किया है। इस सम्बन्ध में उनके अपने शब्द ये हैं—

शुद्धत्वविकृतत्वाभ्यां स्वरा द्वेधा प्रकीर्तिताः। शुद्धाः सप्त विकाराख्या द्व्यधिका विंशतिर्मताः॥
एकोनत्रिंशदुच्यन्ते ते सर्वे मिलिताः स्वराः। सरी गमौ पधौ निश्च स्वरा इत्यपि संज्ञिताः॥

चतुःश्रुतिसमायुक्ताः स्वराः स्युः स-म-पाभिधाः । ग-नी श्रुतिद्वयोपेतौ रि-धौ त्रिश्रुतिकौ मतौ ॥
स्वरः स्वोत्तरगामी चेत्तीव्रादिवचनोदितः । स्वरोऽग्रिमश्रुतिं याति तीव्रसंज्ञो प्रयात्यसौ ॥
स्वरोऽग्रिमश्रुतीर्याति तर्हि तीव्रतमः स्मृतः । चतस्रः श्रुतयो यस्मिन्नधिकाः स्युर्यदा स्वरैः ॥
अतितीव्रतमाख्यं च प्राप्नोतीति बुधा जगुः । स्वरः पश्चान्निवृत्तश्चेत्कोमलादिभिरीरितः ॥
एकश्रुतिपरित्यागात्स्वरः कोमलसंज्ञकः । श्रुतिद्वयपरित्यागात्पूर्वशब्देन मन्यते ॥
स्वरः पश्चान्निवृत्तः सन्कोमलादित्वमेति चेत् । तदुत्तरस्वरे गच्छंस्तीव्रतादिकमेति चेत् ॥
यस्माच्छुद्धस्वरादेघं प्राप्तसंज्ञाः श्रुतीर्जगुः । साधारण्यं भवेत्तेषामन्यश्रुतिगतत्वतः ॥
साधारणो रिस्तीव्रः स्यादिति सूरिविनिश्चयः । साधारणान्तरौ गौ स्तस्तीव्रतीव्रतराविति ॥
तथा तीव्रतमो गोऽपि मृदुर्म इति कीर्तितः । सधारणान्तरौ मौ स्तस्तीव्रतीव्रतराविति ॥
मश्च तीव्रतमोऽप्युक्तो मृदुः प इति पण्डितैः । साधारणो धस्तीव्रः स्यादिति प्रोक्तं मुनीश्वरैः ॥
साधारणः काकलीति तथा कैशिक इत्यपि । तीव्रतीव्रतरस्तीव्रतमोऽप्युक्तो मनीषिभिः ॥
सकल्पत्वाम्मृदुनिः स इति तीव्रतमो भवेत् । एवं शुद्धस्वराणां च विकृतानां च लक्षणम् ॥

अर्थात्—शुद्ध स्वर सात हैं और विकृत स्वर २२ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर २९ स्वर हैं। स-म-प-ये स्वर चतुःश्रुति हैं, रि-ध त्रिश्रुति हैं और ग-नी द्विश्रुति हैं। जब स्वर अपनी श्रुति से आगे बढ़ता है तब तीव्र संज्ञा पाता है। एक श्रुति आगे बढ़ने से तीव्र, दो श्रुति आगे बढ़ने से तीव्रतर और तीन श्रुति आगे बढ़ने से तीव्रतम और चार श्रुति आगे बढ़ने से अतितीव्रतम नाम पाता है*। स्वर जब अपनी श्रुति से पीछे की ओर जाता है तब कोमलादि संज्ञा पाता है। स्वर के एक और दो श्रुति पीछे हटने से उसकी क्रमशः कोमल और पूर्व संज्ञा होती है। स्वर ऊपर चढ़ने से जो तीव्रादि और नीचे उतरने से जो कोमलादि संज्ञाएँ पाता है, वे संज्ञाएँ शुद्ध स्वर के सम्बन्ध से ही बनती हैं। उदाहरण के लिए ऋषभ जब नीचे उतरता है, तब जो कोमल संज्ञा पाता है, वह शुद्ध ऋषभ से ही सम्बन्धित होती है, अर्थात् वह केवल 'कोमल' न कहला कर कोमल ऋषभ कहलाता है। जिस शुद्ध स्वर से ऊपर बताई हुई विधि के अनुसार श्रुतियाँ कोमलतीव्रादि स्वरों की संज्ञा पाती हैं, ऐसे स्वरों का साधारण्य होगा, क्योंकि वे अन्य श्रुति पर जाकर स्थित होते हैं†। तीव्र रि 'साधारण' है, ऐसा विज्ञजनों का मत है। साधारण ग और अन्तर ग को क्रमशः तीव्र और तीव्रतर ग भी

---

* यहाँ ध्यान रहे कि चार श्रुति आगे बढ़ने से किसी नवीन स्वर-स्थान की प्राप्ति नहीं होगी, उससे तो केवल पूर्व स्वर से चतु श्रुति के अन्तर पर स्थित अन्य स्वर की ही प्राप्ति होगी, क्योंकि यह सर्वविदित है कि किन्हीं दो स्वरों के बीच के अन्तराल में तीन से अधिक श्रुतियों का स्थान नहीं हो सकता। चौथी श्रुति पर दूसरा स्वर आ ही जाता है। अतः चतुःश्रुति से स्वर की वैकल्पिक संज्ञा मात्र मिलेगी, जैसे कि अतितीव्रतम ग, शुद्ध मध्यम से भिन्न नहीं है।

† यहाँ 'साधारण्य' की कुछ नवीन व्याख्या मिलती है। भरतादि ने तो नि-सा और ग-म के बीच ही स्वर-साधारण्य माना है। किन्तु साधारण्य' की अहोबल की दी हुई यह व्याख्या कि जब शुद्ध स्वरों के सम्बन्ध से श्रुतियाँ भी तीव्र कोमलादि स्वरों की संज्ञा पा जाती हैं तब उन शुद्ध स्वरों का साधारण्य हो जाता है, कुछ भिन्न है। इस व्याख्यानुसार तो षड्ज पंचम, जो कि अविचल हैं, उनको छोड़कर अन्य पाँचों शुद्ध स्वरों का 'साधारण्य' कहा जा सकेगा। किन्तु इसी उद्धरण में हम देखेंगे कि अहोबल ने केवल तीव्ररि (चतुः-श्रुति) रि और तीव्र ध को ही साधारण संज्ञा दी है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस स्वरावस्थाप्राप्त श्रुति को, पूर्व शुद्ध स्वर और पर शुद्ध स्वर दोनों के सम्बन्ध से, क्रमशः उत्तरगामी और पूर्वगामी रूप में देखा जा सके, ऐसे ही स्वर को वे 'साधारण' मानते हैं। हम जानते हैं कि ऐसे स्थान एक सप्तक में दो ही हैं जहाँ कि दो शुद्ध स्वरों के बीच केवल एक ही नवीन स्वर का स्थान हो। यथा रि-ग और ध-नि। इसलिए इन्हीं दो के बीच में उन्होंने चतुःश्रुति रि और चतुःश्रुति ध को 'साधारण' संज्ञा दी है।

कह सकते हैं। तीव्रतम 'ग' को मृदु 'म' भी कहा जा सकता है। साधारण 'म' और अन्तर 'म'* क्रमशः तीव्र और तीव्रतम 'म' कहलाते हैं। और तीव्रतम 'म' को मृदु 'प' भी कहते हैं। तीव्र ध 'साधारण' होता है, ऐसा मुनीश्वर लोगों का कथन है। साधारण निषाद, काकली निषाद और कैशिक निषाद-ये तीनो क्रमशः तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम निषाद कहलाते हैं†। तीव्रतम निषाद को ही विकल्प से मृदु-स भी कहते हैं।

इसी विवरण को अगले पृष्ठ पर चार्ट में स्पष्ट किया है।

अहोबल के पहिले, रि-ध की उतरी हुई अवस्था का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है‡ पूर्व-कोमल रि और पूर्व-कोमल ध इन चार नए स्वरों का उल्लेख सर्वप्रथम अहोबल में ही मिलता है। पुण्डरीक विट्ठल ने यद्यपि स्वरों की १८ विकृतियाँ दिखाई हैं, किन्तु पाँचवीं, छठीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं श्रुतियाँ स्वर का स्थान नहीं पाती हैं, ऐसा कहकर उन्होंने इन चारों स्वरों की सत्ता स्वीकार नहीं की है। किन्तु ये चार श्रुतियाँ भी अहोबल की व्यवस्था में स्वर का स्थान पाती हैं। इस प्रकार अहोबल ने बाईसों श्रुतियों का स्वर के रूप में उपयोग स्वीकार किया है।

क्रियाकुशल गुणी इन श्रुति-भेदों को समझें या न समझें, किन्तु वे अपनी गान-वादन की क्रिया में इन सूक्ष्म नादों का भिन्न भिन्न रागों में भिन्न भिन्न रूप से उपयोग करते हैं और हम जानते हैं कि ऐसी सूक्ष्म ध्वनियाँ व्यवहृत होने के कारण ही निराली भाव-सृष्टियों का निर्माण होता है।

---

* प्राचीनोक्त 'साधारण' और 'अन्तर' संज्ञाओं का यहाँ मध्यम के सम्बन्ध में नवीन प्रयोग किया गया है।

†शुद्ध निषाद से एक श्रुति चढ़े हुए निषाद को प्राचीनों ने 'कैशिक' संज्ञा दी है, किन्तु अहोबल उसी को 'साधारण' कहकर काकली के बाद वाली श्रुति पर 'कैशिक' निषाद कह रहे हैं। इस श्रुति पर षड्ज की विकृति न मानकर निषाद की तीव्रतम अवस्था मानना तो समझ में आ सकता है, किन्तु उसे कैशिक निषाद संज्ञा देने में परम्परा का विपर्यास दिखाई देता है।

‡ कुछ लोग लोचन पंडित को अहोबल का पूर्ववर्ती मानते हैं। लोचन की 'रागतरंगिणी' के अन्त में, उसका समाप्तिकाल १०८१ शक सम्वत् दिया हुआ है, जो ११५६ ई० बनता है, किन्तु लोचन को इतना अधिक प्राचीन मानने में यह कठिनाई सामने आती है कि लोचन ने विद्यापति का उल्लेख किया है और प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति १४ वीं शताब्दी के अन्त में हुए हैं। इसलिए लोचन का स्थान १४ वीं शताब्दी के बाद में होना चाहिये। १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के ग्रन्थकार पं० हृदयनारायण देव ने लोचन को उद्धृत किया है। अतः १४ वीं शताब्दी तथा १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध—इन दो के बीच में कहीं लोचन का स्थान होना चाहिए। लोचन ने भी रि ध की कोमल विकृति का उल्लेख किया है और ९ विकृत स्वर बताएँ हैं। यदि लोचन को अहोबल का पूर्ववर्ती मान लिया जाय तब तो इन दो विकृतियों को सर्वप्रथम स्थान देने का श्रेय अहोबल को नहीं, लोचन को ही मिलना चाहिए और उस अवस्था में यह कहना होगा कि अहोबल ने लोचन से इस सम्बन्ध में उधार लिया है, यद्यपि उन्होंने ऐसा कुछ उल्लेख नहीं किया है। किन्तु लोचन पंडित की 'रागतरंगिणी' तो उनके रचित छन्द शास्त्र का एक लघु अंग मात्र है जिसमें कि संगीत शास्त्र पर एक सरसरी निगाह डाली गई है। इसलिए इस ग्रन्थ को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं जान पड़ता है।

श्रुति संख्या और नाम	शुद्ध स्वर	कोमल विकृति (स्वर की पश्चात् गतिकी सूचक)	तीव्र विकृति (स्वर की उत्तर गतिकी सूचक)
० क्षोभिणी			
१ तीव्रा			
२ कुमुद्वती			
३ मन्दा			
४ छन्दोवती ...	.....सा		
५ दयावती	....	.....पूर्व रि	
६ रञ्जनी	.....	.....कोमल रि	
७ रक्तिका	..... रि	.....पूर्व ग	
८ रौद्री	....	.....कोमल ग.....	.....तीव्र रि.....
९ क्रोधा.....	..... ग	.....	.....तीव्रतर रि.....
१० वज्रिका	.....	.....	.....तीव्र ग.....
११ प्रसारिणी.....	....	....	.....तीव्रतर ग .....
१२ प्रीति..... ..	....	.....मृदु म.....	.....तीव्रतम ग.....
१३ मार्जनी.....	... .. म	... .	.....अतितीव्रतम ग...
१४ क्षिति..... ..	....	.....	.....तीव्र म.....
१५ रक्ता..... ..	. .....	....	.....तीव्रतर म.....
१६ सन्दीपनी.....	.....	.....मृदु प.....	.....तीव्रतम म.....
१७ आलापिनी ...	.....प		
१८ मदन्ती	....	....पूर्व ध	
१९ रोहिणी ...	..... .	... ...कोमल ध	
२० रम्या.....	.....ध	.....पूर्व नि	
२१ उग्रा	.....	.....कोमल नि.....	.....तीव्र ध
२२ क्षोभिणी	.....नि.....	....	.....तीव्रतर ध
१ तीव्रा	.....	....	....तीव्र नि
२ कुमुद्वती	.....	....	.....तीव्रतर नि
३ मन्दा	.....	.....	.....तीव्रतम नि

हमारी गुरु परम्परा में हमें जो शिक्षा दी गई है, उससे हम जानते हैं कि स्वर अपनी शुद्धावस्था से नीचे उतरने से कोमल, अतिकोमल आदि संज्ञा पाता है और ऊपर चढ़ने से तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम नाम धारण करता है। अहोबल की पूर्व संज्ञा के स्थान पर आज अतिकोमल या अतिअति-कोमल संज्ञा का प्रयोग होता है। उनकी कही हुई अन्य कोमल और तीव्र संज्ञाएँ प्रायः उसी रूप में आज भी दक्षिणेतर भारत में व्यवहृत होती हैं। इससे इस अनुमान को पुष्टि मिलती है कि अहोबल की स्वर-व्यवस्था दाक्षिणात्य पद्धति से भिन्न है।

अन्य विकृत स्वरों की भाँति दो दो श्रुतिवाले रि-ध के प्रयोग तो भरतादि के प्राचीनकाल में भी मूर्च्छनाओं द्वारा निर्दर्शित होते थे, यह हम देख ही चुके हैं। साथ ही, उन प्राचीनों ने एक ही सप्तक में इन स्वरों को स्वतन्त्र स्थान क्यों नहीं दिया, इसकी भी विशद विवेचना इस तन्त्री के आरम्भ में हम कर आए हैं। शार्ङ्गदेव ने भी 'विकृत' स्वरों की व्यवस्था दिखाने पर भी रि-ध की कोमल-विकृति का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने भरतोक्त परम्परा को अनुसरण रखते हुए, उसी का स्पष्टीकरण मात्र किया है। कोई भी नवीन स्वर-योजना उन्होंने नहीं की है। इसलिए द्विश्रुति रि-ध को उनकी स्वर व्यवस्था में स्थान नहीं मिल पाया। दाक्षिणात्य स्वर-व्यवस्था में इन स्वरों को स्थान न मिलने का कारण भी हम देख चुके हैं। हमने देखा कि मेरु पर षड्ज मानने के कारण दाक्षिणात्य स्वर-व्यवस्था में द्विश्रुति रि-ध को शुद्ध सप्तक में ही स्थान मिल गया था। किन्तु उन लोगों ने रि-ध के इन द्विश्रुतिक स्थानों को ही त्रिश्रुतिक मान लिया। अतः कोमल रि-ध को यथायथ रूप से वहाँ भी स्थान नहीं मिल पाया। इसलिए यह कहने में कोई द्विधा नहीं होती कि अहोबल ही प्रथम ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने एक सप्तक में अन्य सूक्ष्मान्तरों के साथ साथ रि-ध की पश्चादुगति के प्रतीक पूर्व-कोमल रि-ध को भी स्थान दिया। यह उनकी अपनी मौलिकता है।

यहाँ पर यह उल्लेख करना भी स्थानीय होगा कि अहोबल ने अनेक विकृत स्वरों का उल्लेख करके पूरी बाईसों श्रुतियों को स्वर का स्थान देकर इन सब सूक्ष्म स्वरान्तरों का मूर्च्छनाओं में प्रयोग करके उन्हें सिद्ध किया है किन्तु इतने पर भी आधुनिक विद्वानों को सन्देह हुआ है कि उन्होंने वास्तव में सात शुद्ध और पाँच विकृत मिलाकर कुल १२ ही स्वर माने होंगे क्योंकि वीणा के तार पर स्वर-स्थान दिखाते समय उन्होंने कुल बारह ही स्वर निर्दर्शित किए हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वीणा पर स्वर-स्थान दिखाने के बाद ही उन्होंने साफ कह दिया है कि उनका दिखाया हुआ वह मार्ग 'स्वरज्ञान-विहीनों' के लिए है। वीणा-दण्ड पर स्वर-स्थानों के लिए जो पर्दे बँधे रहते हैं, उनकी १२ संख्या को स्वर-ज्ञान-विहीनों को स्पष्टतया समझाने का ही उन्होंने यत्न किया है। इससे यह मान लेना कि वे १२ ही स्वरों को संगीतोपयोगी मानते थे, यह उन्हें यथार्थ रूप से न समझ कर उनके साथ अन्याय करना है। वीणा के इन्हीं १२ पर्दों पर से एक सप्तक में पूरे २२ श्रुत्यन्तरों का प्रयोग कुशल वैणिक करते ही हैं। किन्तु 'स्वर-ज्ञान विहीनों', के लिए इन २२ श्रुत्यन्तरों को समझाना असम्भव था और सरल रीति से गुणोत्तर प्रमाण देकर इतने पर्दों के स्थान स्पष्टतया दिखाना भी असम्भव था। इसीलिए इस विधि में अहोबल ने केवल १२ ही स्वरों का उपयोग किया है।

यद्यपि अहोबल ने विकृत स्वरों की विपुल संख्या बताई है, तथापि प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए उन्होंने ७ शुद्ध और ५ विकृत, इस प्रकार मिलाकर केवल १२ ही स्वर स्वीकृत किये होंगे, ऐसी जिन लोगों की मान्यता है, वे उनकी स्वरस्थापना विधि के अतिरिक्त उनके निम्नलिखित श्लोकों को भी आधार मानते हैं। इन श्लोकों में उन्होंने कहा है कि २२ विकृत स्वरों में से दस को त्याग कर उन्होंने रागों का विवरण दिया है। हम नीचे देखेंगे कि २२ में से दस स्वर निकाल देने पर जो १२ विकृत स्वर शेष रहते हैं, उनमें से पाँच तो ऐसे हैं जो शुद्ध स्वरों की ही वैकल्पिक संज्ञा मात्र हैं। इस प्रकार वास्तव में केवल सात विकृत स्वर प्रयोग

के उपयोगी ठहरते हैं। इसलिए लोगों को यह अनुमान करने को स्थान मिला कि अहोबल ने विकृत स्वरों की जिस विपुल संख्या का उल्लेख किया है, उसमें से अल्पांश ही उसने वास्तव में संगीतोपयोगी माना था। इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति जानने के लिए हम अहोबल के शब्दों को देख लें। यथा—

रिं च पूर्वं तथा तीव्रं तीव्रतरं च ग-स्वरम्। तीव्रतमं तथा गं च मं च तीव्रस्वरं तथा॥
मं च तीव्रतमं धं च पूर्वाख्यं तीव्रसंज्ञितम्। तीव्रतरे निषादे च तीव्रतमं च नि-स्वरम्॥
इत्येतांश्च दश त्यक्त्वा रागलक्षणमीरितम्। द्वादशभिर्विकाराद्यैः शुद्धैश्च सप्तभिः स्वरैः॥
एतैः कृत्वा प्रसिद्धा ये त एवात्र प्रकीर्तिताः। तत्तद्देशे च तैः कृत्वा रागा अपि प्रतिष्ठिताः॥

(सं० पा० ४९६-९९)

इन श्लोकों का सरल शब्दार्थ तो यही होता है कि पूर्व रि इत्यादि दस विकृत स्वरों को छोड़कर बाकी १२ विकृत और सात शुद्ध स्वरों से ही अहोबल ने अपने रागों का निरूपण किया है। साथ ही जिन स्वरों को उसने छोड़ दिया है, उनसे युक्त राग भी भिन्न भिन्न देशों में प्रचलित हैं, ऐसा भी उसने स्वीकार किया है। ऊपर के श्लोकों के इस सरल शब्दार्थ के अनुसार निम्नलिखित स्वर, जिन्हें × द्वारा चिन्हित किया गया है, अहोबल के रागों में अप्रयोजनीय माने गए हैं। यथा—

१—तीव्र नी
२—तीव्रतर नी ×
३—तीव्रतम नी ×
४—षड्ज (अविकृत)
५—पूर्व रि ×
६—कोमल रि
७—शुद्ध रि—८ पूर्व ग
९—कोमल ग १०—तीव्र री × } वैकल्पिक संज्ञाएँ
११—शुद्ध ग १२—तीव्रतर री } वैकल्पिक संज्ञाएँ
१३—तीव्र ग १४—तीव्रतर ग × } वैकल्पिक संज्ञाएँ
१५—तीव्रतम ग ×
१६—शुद्ध म
१७—अतितीव्रतम ग
१८—तीव्र म ×
१९—तीव्रतर म
२०—तीव्रतम म ×
२१—पंचम (अविकृत)
२२—पूर्व ध ×
२३—कोमल ध
२४—शुद्ध ध २५—पूर्व नि } वैकल्पिक संज्ञाएं
२६—कोमल नी २७—तीव्र ध × } वैकल्पिक संज्ञाएं
२८—शुद्ध नी २९— तीव्रतर ध } वैकल्पिक संज्ञाएं

अहोबल ने जिन दस विकृत स्वरों का त्याग करने की और जिन १२ विकृत स्वरों को रागों में ग्रहण करने की बात कही है, उनमें से कितने स्वर वास्तव में स्थान-विकृति के द्योतक हैं और कितने वैकल्पिक संज्ञा

मात्र हैं, यह निम्न सारिणी से स्पष्ट हो जायगा। जो वैकल्पिक संज्ञा मात्र हैं, उनके साथ ही यह दिखा दिया गया है कि वे किस शुद्ध या विकृत स्वर के वैकल्पिक नाम हैं। यथा—

परित्यक्त दस विकृत स्वर		गृहीत १२ विकृत स्वर	
स्थान विकृति के द्योतक	वैकल्पिक संज्ञा मात्र	स्थान विकृति के द्योतक	वैकल्पिक संज्ञा मात्र
१—तीव्रतर नी	तीव्र री (कोमल ग की वै० सं)	तीव्र नी	पूर्व ग (शुद्ध री की वै० सं०)
२—तीव्रतम नी	तीव्र ध (कोमल नि की वै० सं०)	कोमल रि	तीव्रतर री (शुद्ध ग की वै० सं०)
३—पूर्व री		कोमल ग (त्यक्त तीव्र री की वै० सं०)	अति तीव्रतम ग (शु० म की वै० सं०)
४—तीव्रतर ग		तीव्र ग	पूर्व नि (शुद्ध ध की वै० सं०)
५—तीव्रतम ग		तीव्रतर म	तीव्रतर ध (शुद्ध नी की वै० सं०)
६—तीव्र म		कोमल ध	
७—तीव्रतम म		कोमल नि (त्यक्त तीव्र ध की वै० सं०)	
८—पूर्व ध			

इस प्रकार हमने देखा कि अहोबल के शब्दों के अनुसार उसने जिन १२ विकृत स्वरों का ग्रहण किया है, उनमें से केवल सात ही स्थान-विकृति के द्योतक हैं और उन सात में से भी दो तो ऐसे हैं जो कि उनके परित्यक्त स्वरों के ही वैकल्पिक नाम हैं।

अहोबल के शब्दों का उपर्युक्त रीति से यदि सीधा अर्थ लगाएँ तो दो उलझनें सामने आती हैं। यथा—

१—अहोबल के कहे हुए परित्यक्त स्वरों में तीव्रतर नी और तीव्रतर ग—ये दो स्वर प्राचीनोक्त काकली निषाद और अन्तर गान्धार ही हैं। हम जानते हैं कि प्राचीन काल से ही इन दोनों स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अतः इनका किसी भी प्रकार परित्याग नहीं हो सकता। इन दो मौलिक स्वरों का परित्याग यदि सचमुच में अहोबल की अभिप्रेत रहा हो, तब तो यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि वे केवल गणितज्ञ थे, केवल संस्कृतज्ञ थे, वैणिक नहीं थे और प्रत्यक्ष क्रिया से कोसों दूर थे। किन्तु ऐसा आक्षेप भला उन पर कैसे किया जा सकता है, जब कि वीणा के तार पर स्वर-स्थान दिखाते समय उन्होंने पाँच विकृत स्वरों में नियमित रूप से अन्तर काकली का समावेश किया है? वीणा के तार पर स्थापित अपने स्वरों में से अन्तर काकली को उन्होंने अपने रागों में अप्रयोजनीय माना हो, यह कदापि संभव नहीं है। और हम देखते हैं कि इन परित्यक्त स्वरों में से कइयों का प्रयोग अहोबल के अपने बताए हुए रागलक्षणों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ—तीव्रतर ग का उनके रागों में प्रयोग मिलता है।

२—अहोबल ने सभी विकृत स्वरों का प्रयोग करके मूर्च्छनाओं की महती संख्या की सृष्टि की है*। वह सब केवल गणित की कसरत कहलाएगी, यदि प्रत्यक्ष क्रिया में प्रयुक्त होने वाले रागों में इतने सारे विकृत स्वर, उसके मत से अप्रयोजनीय रहे हों तो।

इन सब दृष्टियों से विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि वास्तव में अहोबल को ऊपर कहे हुए दस स्वरों का परित्याग अभीष्ट नहीं ही रहा होगा। दूसरी ओर एतत्सम्बन्धीय उनके वक्तव्य का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करना भी कठिन है। हाँ, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि या तो दस स्वरों के परित्याग-विषयक ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, या फिर उनका पाठ भ्रष्ट है।

हमें 'संगीत पारिजात' के जो भी संस्करण उपलब्ध हुए हैं—उनमें यही पाठ मिलता है। अन्य किसी भी प्रकार इस विषय का निर्णय करना कठिन है। अहोबल पर यह आरोप करना भी उचित नहीं जान पड़ता कि इन दस स्वरों के बारे में उन्होंने कुछ ऐसी बात कह दी है, जिसके बारे में पूरा सन्देह है कि वह उन्हें वास्तव में अभीष्ट रही होगी या नहीं। कोई भी ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में अपने ही विधान के विरुद्ध कुछ लिखने की असमंजसता को स्थान नहीं दे सकता। अतः इस विषय में अन्तिम निर्णय भविष्य पर ही छोड़ देना पड़ता है। जब कभी इन पंक्तियों का पाठ शुद्ध होगा, तभी अर्थ की संगति बैठ सकेगी।

इस प्रकार अहोबल के शब्दों में उनके कहे हुए श्रुति, स्वर, स्वरों के रूप में २२ श्रुतियों का उपयोग, वीणा पर निर्दर्शित गुणोत्तर प्रमाण सहित दिये गए शुद्ध विकृत स्वरों की भिन्न व्यवस्था इत्यादि विषयों का हमने अवलोकन किया। अहोबल के विधानों से उत्थित शंकाओं और उनपर बँधी हुई अन्य मान्यताओं पर भी हमने विचार किया और स्वबुद्ध्यनुसार अपना मंतव्य निरूपित किया। दक्षिण को छोड़कर भारत के पूर्व, पश्चिम और उत्तर—इन तीन दिशाओं में व्याप्त संगीत में आज स्वरों की विकृति के लिए जो कोमल तीव्रादि संज्ञाएँ प्रयुक्त होती हैं, उनका पूरा उल्लेख अहोबल के 'संगीत पारिजात' में मिलता है। कोमल रि–ध का उल्लेख सर्वप्रथम उन्हीं की लेखनी से निःसृत हुआ है। उससे इस परम्परा को ऐतिहासिक पुष्टि मिलती है। साथ ही, यह कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है कि स्वरों के गुणोत्तर प्रमाण निकालने का मार्ग अहोबल ने ही सर्वप्रथम निर्दर्शित किया है। इन सब विशेषताओं के वे धनी हैं। अपने-अपने युग के 'लक्ष्य' को ध्यान में रखकर भारतीय संगीत को ग्रन्थ में ग्रथित करने का जिन जिन ग्रन्थकारों ने यत्न किया है, जिनके लिए आज का युग उनका आभारी है, उनमें पं० अहोबल का स्थान उल्लेखनीय है।

अन्त में इस पूरी तन्त्री पर विहंगम दृष्टि डालें। सर्वप्रथम, शार्ङ्गदेव के पुरोगामी आचार्य भरत और मतङ्ग की स्वर-व्यवस्था में विकृत स्वरों का उल्लेख न होने के संभवित कारणों पर हमने विचार किया। तदनन्तर शार्ङ्गदेव की विकृत-स्वर-व्यवस्था को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उन्होंने भरत, मतंग की बताई हुई द्वैग्रामिकी स्वर-व्यवस्था का स्पष्टीकरण मात्र किया है। इसके पश्चात् हमने रामामात्यादि दाक्षिणात्य ग्रन्थकारों की स्वर-व्यवस्था का अवलोकन किया, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि किस प्रकार उनकी परम्परा का भरत से विच्छेद हो गया और किस प्रकार 'उत्तर' में ही वह परम्परा अक्षुण्ण रही है। अन्त में दक्षिणेतर भारत के प्रमुख मध्ययुगीय ग्रन्थकार पं० अहोबल की स्वर-व्यवस्था का सार देखने के पूर्व हमने उनके पूर्ववर्ती पुण्डरीक विठ्ठल का अल्प में उल्लेख किया और यह स्पष्ट किया कि उन पर दाक्षिणात्य तथा दक्षिणेतर दोनों संगीत पद्धतियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इस तन्त्री में पृथक् रूप से उल्लिखित एवं तदतिरिक्त अन्य मध्ययुगीय ग्रन्थकारों की श्रुति-स्वर-ग्राम-व्यवस्था के सम्मिलित रूप का आयत दृष्टि से अवलोकन करने के निमित्त यहाँ निष्कर्ष के रूप में कुछ बातों

---

* सभी वैकल्पिक स्वर-संज्ञाओं का प्रयोग उसने अपनी मूर्च्छनाओं में नहीं किया है, ऐसा स्वयं ही मूर्च्छना प्रकरण में स्पष्ट किया है।

का संक्षिप्त उल्लेख करना समुचित होगा। इन मध्ययुगीय ग्रन्थकारों द्वारा ग्रथित सिद्धान्तों का निचोड़ यदि निकाला जाए तो निम्नोक्त बातें प्रमुखतः ध्यान में आती हैं।

१—प्राचीनोक्त षड्ज-मध्यम-ग्राम को प्रायः उसी भाषा में उद्धृत और उल्लिखित करने पर भी उन ग्रामों की स्वर-व्यवस्था को यथायथ समझने में ये ग्रन्थकार असमर्थ रहे हैं।

२—अपने शुद्ध स्वर स्थापित करते समय मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने भरतोक्त ४-३-२-४-४-३-२ की श्रुति व्यवस्थाको अविकल रूप से स्वीकार किया है। किन्तु भरत का षड्जग्रामिक षड्ज, जो शुद्धषाड्जी मूर्छना का आरम्भ-स्थान है, उसकी उन्हें उपलब्धि न होने से, त्रिश्रुतिक ऋषभ-धैवत को यथायथ समझने में उनसे ग़लतफ़हमी हुई और इससे अनेक भ्रान्तियों का उद्भव हुआ।

३—मध्यमग्राम 'लक्ष्य' से लुप्त हो गया और उसका नाम मात्र ही उल्लेख का विषय रह गया।

४—षड्जग्राम और मध्यमग्राम का प्रकृत स्वर-स्वरूप उनकी दृष्टि से ओझल हो जाने से दोनों के सम्मिश्रित रूप का जन्म हुआ, जिसमें कई स्वरों का नया नामकरण किया गया।

५—भिन्न-भिन्न रागों में प्रयुक्त सूक्ष्म स्वरान्तरों के लिए बाइसों श्रुतियों को स्वर-रूप दिया जाने लगा।

६—मूर्च्छनाओं ने मेल का रूप लिया। और जनक-जन्य-भाव से रागों का वर्गीकरण किया जाने लगा।

७—रागों के भाव-रूप और उनके स्वर-रूप के आधार पर दो प्रकार के राग-वर्गीकरण का दो धाराओं में विकास हुआ, जिनमें से पहिली राग-रागिनी-पुत्र-परिवारादि पद्धति के नाम से परिचित है और दूसरी मेल-पद्धति के नाम से। मेल-पद्धति दक्षिण में पनपी और राग-रागिनी परम्परा 'उत्तर' में।

८—मेल-पद्धति के प्रतिपादक ग्रन्थकारों में से कुछेक ने सूक्ष्म स्वरान्तरों को स्थान न दे कर केवल सात शुद्ध और पाँच विकृत को मिलाकर १२ स्वरों पर ही अपनी पद्धति का कलेवर खड़ा किया, यद्यपि क्रियाकुशल गुणी अपनी क्रिया में सूक्ष्म स्वरान्तरों को व्यवहृत करते रहे हैं और करते हैं।

९—मध्ययुग में ही पंडित और कलावित् ऐसे दो विभागों की संगीत जगत् में सृष्टि हुई, जिससे शास्त्र और कला एक दूसरे से बिछुड़ गए। इन दोनों को पारस्परिक सहयोग न मिलने से दोनों की उन्नति अवरुद्ध हो गई और वह अवरोध अब तक बना रहा है। कला और शास्त्र का पुनर्मिलन करा के इस अवरोध को हटाने की अब परमावश्यकता है। इस दिशा में अधुना कई श्लाघनीय यत्न हो रहे हैं, यह हर्ष का विषय है। अस्तु।

अब हम अगली तन्त्री में इस युग के प्रमुख ग्रन्थार पं० भातखण्डे उपमान चतुर पंडित के एतद्विषयक मन्तव्य की विवेचना करेंगे। तत्पश्चात् पाँचवीं तन्त्री में आधुनिक 'लक्ष्य'-परम्परा का प्रतिपादन करके यह सिद्ध करेंगे कि उसका प्रवाह प्राचीन स्रोत से अविच्छिन्न रहा है।

———

चतुर्थ तन्त्री

पण्डित भातखण्डे के श्रुति-स्वर का आलोचनात्मक अध्ययन

'श्रीमल्लक्ष्यसंगीत', 'अभिनवरागमञ्जरी' इत्यादि संस्कृत ग्रन्थों के प्रणेता, 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' नामक मराठी ग्रन्थमाला के रचयिता एवं क्रमिक पुस्तकमालिका के संकलनकर्ता पं० भातखण्डे उपनाम चतुर पण्डित जो इस युग के प्रमुख संगीत ग्रन्थकार हैं, उनके स्वर-श्रुति से सम्बन्धित मन्तव्य पर विचार करना यहाँ क्रमप्राप्त है। हम जानते हैं कि चतुर पण्डित आधुनिक ग्रन्थकार हैं, जिनका विपुल ग्रन्थ-साहित्य आज 'उत्तर' भारत में भली भाँति प्रचारित है। प्राचीन तथा मध्ययुगीय संगीत-विषयक विपुल संस्कृत साहित्य विद्यमान रहने पर भी आधुनिक दृष्टि से इस विषय की विवेचना करनेवाले अन्य साहित्य के अभाव में उनका साहित्य आज आधाररूप मान लिया गया है। आधुनिक युग के पठित वा अपठित संगीतकार और संगीतप्रेमी, संगीत की शास्त्रीय चर्चा के निमित्त आज तक उन्हीं के साहित्य का सहारा लेते रहे हैं। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम उनके लिखे हुए एवं बताए हुए सिद्धान्तों पर विचार करें, उनका निष्कर्ष निकालें और क्षीरनीरविवेक से सत्यानृत का निर्णय करें।

पं० भातखण्डे के ग्रन्थों में स्वर, श्रुति, ग्राम इत्यादि के सम्बन्ध में जो यत्र तत्र बिखरे हुए उल्लेख मिलते हैं, उनका संकलन करके उनके मन्तव्य को समझने और समझाने का हम यत्न करेंगे। इस सम्बन्ध में हमें एक ओर तो यह देखना होगा कि प्राचीन श्रुति-स्वर-व्यवस्था को उन्होंने किस दृष्टि से देखा है, कैसे समझा है, और दूसरी ओर यह देखना होगा कि आधुनिक लक्ष्य को उन्होंने कहाँ तक यथायथ—रूप में स्थान दिया है। इस प्रसंग में उनके उद्धरणों के साथ-साथ यथास्थान हम अपनी टिप्पणी भी देते चलेंगे, जिससे विषय की स्पष्टता हो।

सर्वप्रथम हम उनके 'लक्ष्यसंगीत' ग्रन्थ के कुछ उद्धरणों से, उन्हीं के शब्दों में यह देख लें कि प्राचीन तथा मध्ययुगीय ग्रन्थों, उनके लेखकों तथा उनके उल्लिखित मूर्च्छना-जाति आदि विषयों के सम्बन्ध में पं० भातखण्डे की क्या धारणा है।

१) मूर्च्छनाया रहस्यं तद्रत्नाकरप्रपंचितम्। स्फुटमेवावबोद्धुं न शक्तः कोऽपि पण्डितः॥
जातिप्रकरणं चापि रत्नाकरनिरूपितम्। अनेकानुकृतं सद्यो ज्ञातुं शक्तो न कोऽपि तत्॥
(लक्ष्य० ३१–३२)

अर्थात्—रत्नाकर में मूर्च्छना और जाति का जो विस्तार से विवरण दिया गया है, उसका परवर्ती ग्रन्थकारों ने अनुकरण अवश्य किया है, किन्तु उसका स्पष्टार्थ समझने में कोई भी पण्डित समर्थ नहीं हुआ है।

२) रत्नाकरोक्तरागेषु व्याख्याता जातिमूर्च्छनाः। रागमेलास्तदुत्पन्नाः नैव कुत्राप्यवेक्षिताः॥
(लक्ष्य० ४५)

अर्थात्—रत्नाकर के कहे हुए रागों में जिन जाति-मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें से उत्पन्न हुए रागमेल आज कहीं भी देखने में नहीं आते।

३) परिवर्तनशीलं यत्संगीतं ग्रन्थकर्तृभिः। नष्टप्रायं पुराणं तत्स्पष्टीकर्तुं न शक्यते॥
नावशक्यं हि तत्किंतु यया कयापि भाषया। असामंजस्यवृद्धिस्तु नाभीष्टेति ब्रवीम्यहम्॥
(लक्ष्य० ४३-४४)

अर्थात्—संगीत परिवर्तनशील है। उसका पुराना रूप प्रायः नष्ट हो चुका है। उसका स्पष्टीकरण करना आज सम्भव नहीं है। आज किसी भी भाषा द्वारा उसे स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। असामंजस्य की वृद्धि करना उचित नहीं है, ऐसा मेरा मत है।

टि० संगीत परिवर्तनशील अवश्य है, किन्तु उसके मूल सिद्धांत शाश्वत हैं, जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता और नहीं ही होना चाहिए। जैसे प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं, तद्वत् शास्त्र के भी दो पहलू होते हैं—एक मौलिक अंतरङ्ग और दूसरा शाखास्थानीय बहिरंग। मौलिक अंतरंग सदैव शाश्वत और अपरिवर्तनशील रहता है और बहिरंग का रूप-रंग बदलता रहता है। इन दोनों पहलुओं को पृथक् रूप से समझना और समझाना शास्त्रकार का परम कर्तव्य है। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ शास्त्र ऐसे हैं, जिनके सभी नियम त्रिकालाबाधित होते हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनके कुछ नियम परिस्थित वश परिवर्तन पाते रहते हैं। प्रथम कोटि में भौतिक विज्ञान और गणित जैसे शास्त्रों की गणना होती है। उदाहरणार्थ—गुरुत्वाकर्षण का नियम यदि मनुष्य से अज्ञात या दुर्बोध रहे, तब भी वह सतत कार्य करता ही रहेगा, उसमें किसी परिवर्तन की शक्यता नहीं। तद्वत् दो और दो मिलाकर चार ही बनेंगे, त्रिकाल में कभी भी इसमें हेर-फेर नहीं हो सकता। किन्तु अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि ऐसे भी कई शास्त्र हैं जिनके नियम परिस्थिति वश परिवर्तित होते रहते हैं। फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन शास्त्रों के परिवर्तनशील नियमों की तह में भी कुछ ऐसे शाश्वत सिद्धांत रहते ही हैं, जो सदैव अबाधित रहते हैं। संगीत शास्त्र में इन दोनों कोटियों की विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उसके कुछ नियम ऐसे हैं जो भौतिक-विज्ञान और गणित के नियमों की भाँति अकाट्य हैं—जैसे कि स्वर-संवाद का सिद्धान्त। और कुछ नियम ऐसे भी हैं; जिनका बाह्य आकार बदलता रहता है। जैसे रागों के नाम-रूप। अतः शास्त्रकार का यह कर्तव्य है कि यदि वे मूल सिद्धान्त जो नित्य हैं, कालक्रम से दुर्बोध हो गए हों, तो बारम्बार परिशीलन द्वारा उस दुर्बोधता के आवरण को हटा कर उन नित्य नियमों को प्रकाश में लाए और सत्य का निरूपण करे। अन्यथा ग्रन्थकार परम्परा को तो अन्याय करता ही है, साथ ही अपने युग की और भावी युग की भी दिशाभूल करता है। इसलिये पं० भातखण्डे का उपर्युक्त कथन कि 'संगीत परिवर्तन शील है। उसका पुराना रूप प्रायः नष्ट हो चुका है। उसका स्पष्टीकरण करना आज संभव नहीं है' इत्यादि के साथ हम सहमत नहीं हो सकते।

४) जातिप्रकरणस्योपयोगः सम्यक्तया तथा। यत्र स्पष्टतया प्रोक्तः स ग्रन्थो नोपलभ्यते॥

(लक्ष्य० ५२)

अर्थात्—ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है, जिसमें कि जाति-प्रकरण का उपयोग सम्यक् रूप से समझाया गया हो।

५) श्रुतिजात्युपयोगः क्व क्रियेत नियमैश्च कैः। मेला आधुनिकाः के स्युर्मध्यमग्रामसंश्रिताः॥ मध्यमग्रामगा रागाः प्रचरन्ति न वाऽधुना।

(लक्ष्य० ५९-६०)

अर्थात्—(प्राचीन ग्रंथों के विषय में) एक यह भी प्रश्न उद्भूत होता है कि श्रुति जातियों का कहाँ और किस नियम से उपयोग किया जाए? आधुनिक मेलों में से कौन से मेल मध्यमग्राम के कहलाएँगे? आजकल मध्यग्राम के राग प्रचार में हैं या नहीं?

६) केषुचिच्छुद्धतानेषु कुतः षड्जविवर्जनम्।

अर्थात् किन्ही शुद्ध तानों में षड्ज को कैसे वर्जित कर दिया गया है? (टि० इस उलझन का हल हम पृ० १०६ पर दे चुके हैं)

७) दुर्बोधांशं परित्यज्य प्रचारमनुसृत्य च। यत्तेषां ग्रन्थनिर्माणं समीचनं हि मे मते॥

(लक्ष्य० ७०)

अर्थात्—(मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने) प्राचीन ग्रन्थों के दुर्बोध अंश को छोड़कर और अपने काल के प्रचार को देखते हुए अपने ग्रन्थों का जो निर्माण किया है, वह मेरे मत से समीचीन ही है।

इन कुछेक उद्धरणों से पं० भातखण्डे की इस भावना का परिचय मिलता है कि वे प्राचीन ग्रन्थों को दुर्बोध मानकर, आधुनिक लक्ष्य की दृष्टि से उनके गंभीर अध्ययन को अनुपयोगी मानते थे। उनकी यह भावना उनके साहित्य में ओतप्रोत है। अतः उनके साहित्य से, इस विषय के आधुनिक अभ्यासियों तथा विद्यार्थियों पर कुछ ऐसा संस्कार सा पड़ा हुआ दिखाई देता है, कि आधुनिक संगीत का 'लक्ष्य' प्राचीन शास्त्रों में उल्लिखित परम्परा से बिलकुल विच्छिन्न है। और आधुनिक 'लक्ष्य' को शास्त्रीय रूप से समझने में उन ग्रन्थों से किसी सहायता की आशा नहीं की जा सकती, अतः उनका अध्ययन निष्फल है। किसी किसी ने यह भी अनुमान लगाया है कि इस विपुल साहित्य के निर्माण के पीछे पं० भातखण्डे का जो हृद्गत अभिप्राय रहा होगा, उसी के मूर्त रूप धारण करने से उपर्युक्त धारणा फैली होगी।

उनके ग्रन्थस्थ श्रुति-स्वर सम्बन्धी मन्तव्य के उद्धरण आरम्भ करने के पूर्व यह उल्लेखनीय है कि पं० भातखण्डे ने 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' नामक अपनी विस्तृत (मराठी) ग्रन्थमालिका में अपने मत का आधार देने के लिए मुख्यतः 'श्रीमल्लक्ष्यसंगीत' और 'अभिनवरागमंजरी' में से उद्धरण दिये हैं। ये दो ग्रन्थ ही उनकी प्रतिपादित हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के आधार हैं। यहाँ यह साश्चर्य उल्लेख करना पड़ता है कि पं० भातखण्डे ने अपने मराठी ग्रन्थों में 'चतुर पण्डित' के नाम से अपने खुद के ही बनाए हुए संस्कृत ग्रन्थों को आधार बनाया है। हमारी राय में किसी ऐडवोकेट द्वारा स्व-मत-परिपुष्टि के लिए जिन युक्तियों का उपयोग किया जाता है, उनका अवलम्बन लेना किसी शास्त्रकार के लिए समुचित नहीं है। पं० भातखण्डे के दीर्घ उद्योग और प्रशस्य परिश्रम के लिए हमारे चित्त में संपूर्ण आदर होते हुए भी उनके हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति जैसे विशाल ग्रन्थ में, उपनाम से लिखे हुए उनके अपने ही ग्रन्थों का आधार देना नितान्त रूप से अखरता है। उनके ऐसा करने से विद्यार्थियों की, संगीतप्रेमियों की और अनजान जनता की दिशाभूल हुई है। इस प्रकार संगीत शास्त्र में जो भ्रम फैलाया गया है, वह असह्य तो है ही, अपितु उसे अक्षम्य भी मानना चाहिए, ऐसा हमें परम वेदना के साथ कहना पड़ता है। उन्होंने ऐसा न किया होता तो उनके आदर में चार चाँद और लग जाते, उनकी और सभी ग़लतफ़हमियाँ चन्द्रबिम्बांकित कलंक के समान सुशोभित हो उठतीं। रह रहकर आत्मा में यही हो आता है कि पं० भातखण्डे ने ऐसे मार्ग का अवलम्बन क्यों किया, जो कि विद्वन्मान्य नहीं है। यह न किया होता तो उनके ग्रन्थों की अशुद्धियों की ओर न देख कर (क्योंकि वे तो शुद्ध कर ली जातीं) सब लोग उनके जीवन की कठिन तपस्या, आजीवन घोर परिश्रम और संगीत सेवा में अचल निष्ठा को ही देखते; उनके कर्मयोग की भूरि प्रशंसा सदैव सभी के ओठों पर समादर के साथ रमी रहती एवं स्वर, शब्द तथा लय की अञ्जलि से निनादित होती। किसी सामान्य समझवाले व्यक्ति को भी यह पढ़ कर, सुन कर और जानकर आश्चर्य होगा कि कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में अपने ही किसी अन्य ग्रन्थ का आधार कैसे दे सकता है? किन्तु नितांत खेद के साथ यह सत्य प्रकाश में लाना पड़ रहा है। अस्तु।

यह स्वयंसिद्ध है कि संगीत का कोई भी ग्रन्थ स्वर पर ही आधारित होना चाहिए। स्वरों के सूक्ष्मान्तरों के निदर्शन का साधन है श्रुति। अतः पं० भातखण्डे के मूल सिद्धान्त जानने के लिए हमें श्रुति-स्वर के सम्बन्ध में उनका मन्तव्य उन्हीं के शब्दों में देख लेना चाहिए।

श्रुतियों के सम्बन्ध में उनकी दो मान्यताएँ उल्लेखनीय हैं—१, प्राचीनोक्त श्रुतियाँ समान अन्तरवाली थीं, और २. बाईस श्रुतियाँ कभी भी व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होती थीं और न आज होती हैं। 'लक्ष्य-संगीत' में वे कहते हैं :—

नाट्यशास्त्रे तथा रत्नाकरग्रन्थेऽपि सर्वथा । श्रुतयः स्युः समानास्ता इति संगीतविन्मतम् ॥
(लक्ष्य० ८)

यदि द्वाविंशतिः प्रोक्ताः श्रुतयः पूर्वसूरिभिः । व्यवहारे न ताः सर्वाः प्रयुक्तास्तैरिति स्फुटम् ॥
(लक्ष्य १३)

अर्थात् नाट्यशास्त्र तथा 'रत्नाकर' में कही हुई श्रुतियाँ समान थीं, ऐसा संगीतज्ञों का मत है। यद्यपि प्राचीन विद्वानों ने बाईस श्रुतियाँ कही हैं, तथापि व्यवहार में उन सब का प्रयोग उन लोगों ने नहीं किया है।

ऊपर के द्वितीय उद्धरण से यह स्पष्ट है कि पं० भातखण्डे की यह मान्यता थी की प्राचीनोक्त बाईसों श्रुतियाँ कभी व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होती थीं। आधुनिक युग के 'लक्ष्य' को भी उन्होंने बारह स्वरों पर ही आधारित माना है, यह नीचे के अवतरण से स्पष्ट होगा। यथा—

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां लक्ष्यलक्षणकोविदैः । सप्त शुद्धास्तथा पञ्च विकृता निश्चिताः स्वराः ॥
संज्ञास्तेषामथो वच्मि लक्ष्यसंगीतगोचराः । यतः स्याद्रागनिर्देशे सर्वेषां सुखबोधनम् ॥
शुद्धाः सप्त स्वराः शुद्धपूर्वया तत्तदाख्यया । विज्ञेयाः क्रमशः शुद्धषड्जः शुद्धर्षभस्ततः ॥
शुद्धगान्धार इत्युक्तः शुद्धमध्यम इत्यपि । शुद्धपंचम इत्येवं शुद्धधैवत इत्यपि ॥
ततः शुद्धनिषादश्चेत्येवं सप्तस्वराभिधाः ॥ विकृताः पञ्च कथ्यन्ते प्रथमः कोमलर्षभः ।
द्वितीयः कोमलो गः स्यात्तृतीयस्तीव्रमध्यमः ॥ चतुर्थः कोमलो धाख्य पंचमः कोमलाख्यनिः ।
आहृत्य शुद्धविकृताः स्वरा द्वादश ईरिताः ॥
(लक्ष्य० ३६-४१)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आधुनिक लक्ष्य में उन्होंने बारह ही स्वर-स्थान माने हैं और अपने उसी पूर्वनिर्मित ढाँचे में ढालकर उन्होंने विस्तृत ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसी पूर्वगृहीत मान्यता के अनुसार उन्होंने श्रुतियों को गंभीर विवेचना का विषय नहीं समझा है। इस विषय को दुर्बोध और अप्रयोजनीय मानकर उन्होंने इसकी सरसरी चर्चा करना ही संभवतः पर्याप्त माना है। किन्तु उनके जीवन-काल में कुछेक बुधजन, जिन्हें पं० भातखण्डे हेला से या व्यंग से 'श्रुति-पण्डित' कहते थे, वे भरत-शार्ङ्गदेवोक्त श्रुति-व्यवस्था के सम्बन्ध में सतत खोज करते थे और अपनी खोज का निष्कर्ष जनता के समक्ष रखते थे। उनके विचारों पर कुछ मन्तव्य प्रकाशित न करके मौन रहना पं० भातखण्डे के लिए असंभव था। और दूसरी ओर, उनके जीवितकाल में ही मुझ जैसे जिज्ञासु इन (पं० भातखण्डे) के लेखन से उत्थित स्खलनों को लेकर उनके सामने प्रश्न उपस्थित करते थे। इसलिए, 'श्रुति पण्डितों' के मत की समीक्षा करते समय और जिज्ञासुओं की उलझनों को ध्यान में रखते हुए, पं० भातखण्डे ने अपनी हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में यत्र-तत्र श्रुति-स्वर के सम्बन्ध में जो उल्लेख किए हैं, उन उल्लेखों का संकलन करके उनकी मान्यताओं का संगृहीत रूप देखने तथा दिखाने का हम यहाँ यत्न करेंगे। उन्होंने अपनी हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में विषय-प्रतिपादन के लिए प्रश्नोत्तर-शैली अपनाई है। हम उनके शब्दों का हूबहू हिन्दी अनुवाद देकर आवश्यकतानुसार अपनी टिप्पणी भी देंगे।

पं० भातखण्डे की विशाल मराठी ग्रन्थमाला हिं० सं० पं० के पाठक को उनके अपने सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत स्वरों का मान जानने के लिए अनेक दिशान्तरों का अटन करना पड़ता है। इस ग्रन्थमाला के आरम्भ में नहीं, अपितु उपसंहार में (भाग ४ पृ० २०१५) वे यों कहकर अपने स्वीकृत स्वरों के आन्दोलन प्रमाण देते हैं :—

"कोई यदि यह प्रश्न करे कि आपने जिन बारह स्वरों पर अपनी पद्धति स्थापित की है, वे बारह स्वर कौन से हैं, तो उसका कुछ न कुछ उत्तर देना हमारे लिए आवश्यक है।"

उत्तर में उनके दिये हुए आन्दोलन प्रमाण इस प्रकार हैं :—

शुद्ध स्वर		विकृत स्वर	
सा —	२४०	रि॒ —	२५६
रि —	२७०	ग॒ —	२८८
ग —	३००	म॒ —	३४१$\frac{1}{3}$
म —	३२०	ध॒ —	३८४
प —	३६०	नि॒ —	४३२
ध —	४०५		
नि —	४५०		
सां —	४८०		

क्रमिक पुस्तकमालिका (भा० ४) में उन्होंने अभिनवरागमंजरीकार के नाम से जो आन्दोलन-प्रमाण दिये हैं, उनमें हिं० सं० प० में दिए हुए आन्दोलन से कुछ भेद दिखाई देता है। साथ साथ उन्होंने पाश्चात्यों के आन्दोलन प्रमाण भी दिए हैं। कोष्ठक ज्यों का त्यों नीचे उतारा गया है :—

मंजरीकार के स्वर		आन्दोलन		पाश्चात्य पंडितों के आन्दोलन
१—सा	...	२४०	...	२४०
३—कोमल रि	...	२५४$\frac{2}{15}$	...	२५६
५—तीव्र रि	...	२७०	...	२७०
७—कोमल ग	...	२८८	...	२८८
८—तीव्र ग	...	३०१$\frac{17}{33}$	...	३००
१०—शुद्ध म	...	३२०	...	३२०
१२—तीव्र म	...	३३८$\frac{14}{15}$	...	३३७$\frac{1}{2}$
१४—प	...	३६०	...	३६०
१६—कोमल ध	...	३८१$\frac{3}{15}$	...	३८४
१८—तीव्र ध	...	४०५	...	४००
२०—कोमल नि	...	४३२	...	४३२
२१—तीव्र नि	...	४५२$\frac{4}{9}$	...	४५०
२३—तार सा	...	४८०	...	४८०

आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक की श्रुति-व्यवस्था के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त संकलित रूप में क्रमिक पुस्तकमालिका भा० ४ की भूमिका में मिल जाता है। उसे यहाँ उद्धृत करना समुचित होगा।

क्र० पु० मा० भा० ४ पृ० ३

"हमारे देश के प्राचीन संगीत विद्वान् संगीत शास्त्र पर ग्रन्थ लिखते हुए प्रथम श्रुति वा स्वर का यथाविधि वर्णन करके बाद में मेल व राग की चर्चा करते आए हैं। उनके सारे उपलब्ध ग्रन्थों से यह स्पष्ट है। एक दृष्टि से

संगीत पर शास्त्र-ग्रन्थ लिखने की उनकी यह पद्धति योग्य ही थी, ऐसा कह सकते हैं। यों प्रत्यक्ष व्यवहार में देखने से ये सारे २२ नाद एक से दूसरा ऊँचा—यों भली भाँति स्थिर करके बाद में उनमें से नियमित नादों को स्वर कहा जाता होगा या नहीं, यह अलग प्रश्न है। कोई कहेंगे कि पहिले तो मुख्य स्वरान्तर ही कायम किए होंगे। किन्तु यहाँ पर इस की चर्चा की आवश्यकता नहीं है। हमें तो केवल प्राचीन ग्रन्थकारों के श्रुति-स्वर-स्थान क्या थे और आज हमारे व्यवहार में वे क्या हैं, यही मात्र देखना है। उसमें से भी मुख्यतः इस ग्रन्थमालिका में ही हमें अपने प्रचार के श्रुति-स्वर-स्थानों का ही विचार करना अधिक इष्ट है। प्राचीन ग्रन्थकारों के स्वर-स्थानों की जो अल्पाधिक चर्चा हम यहाँ करेंगे, वह केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही करेंगे। हमारा विषय 'हिन्दुस्थानी संगीत' होने के कारण हमें उत्तर के ग्रन्थों की ओर ही अधिक ध्यान देना होगा। इन श्रुति-स्वर-स्थानों के सम्बन्ध में हम जिन पंडितों के ग्रन्थों का विचार करेंगे, वे है—भरत, शार्ङ्गदेव, लोचन, अहोबल, हृदयनारायणदेव एवं श्रीनिवास। उन पंडितों के ग्रन्थों के नाम क्रमशः निम्नोक्त है :—नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर, रागतरंगिणी, संगीत पारिजात, हृदयप्रकाश और रागतत्त्व-विबोध। तद्वत् हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पर ही विशेषतः लिखे हुए ग्रन्थ जो 'लक्ष्यसंगीत' तथा 'अभिनवरागमंजरी' के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनका भी हमें विचार करना होगा।"

ध्यान रखा जाए कि ये अन्तिम दोनों ही ग्रन्थ पं० भातखण्डे विरचित हैं। इन्हीं ग्रन्थों का आधार पं० भातखण्डे ने बारंबार अपने मराठी ग्रन्थों में दिया है। अपने ग्रन्थों में अपने ही अन्य ग्रन्थों का आधार दे कर उन्होंने जनता की कैसी दिशाभूल की है, यह नितान्त चिन्त्य है।

"हमारे प्राचीन ग्रन्थकार श्रुति की व्याख्या 'श्रूयते इति श्रुतिः'—इस प्रकार बहुत सरल रूप से करते हैं। .....'अभिनवरागमंजरीकार'* ने यही कल्पना अपने शब्दों में यों स्पष्ट की है :—

नित्यं गीतोपयोगित्वमभिज्ञेयत्वमप्युत । लक्ष्ये प्रोक्तं सुपर्याप्तं संगीतश्रुतिलक्षणम् ।
.....

"इन श्रुतियों की संख्या के विषय में सद्भाग्य से नये पुराने सभी ग्रन्थकार एकमत हैं। वे सभी एक षड्ज से दूसरे षड्ज तक के क्षेत्र में यानी एक सप्तक में संगीतोपयोगी नाद २२ मानते थे और इन्हीं २२ नादों के ऊपर उनके शुद्ध विकृत स्वरों की स्थापना की जाती थी। इतना ही नहीं, किन्तु ये सभी शास्त्रकार एक अन्य महत्त्व के विषय पर भी एकमत थे और वे इन २२ श्रुतियों को सप्त स्वरों में एक ही रूप से बाँटते थे।

"इससे यह स्पष्ट है कि २२ नाद अर्थात् २२ श्रुतियों के आधार पर स्वरों के स्थान निर्णीत करने के विषय में भी सभी ग्रन्थकारों की एकवाक्यता थी। वह एकवाक्यता निम्नोक्त है—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रीऋषभधैवतौ ॥

"इस प्राचीन नियम को आज भी हमारे संगीत विद्वान् मानते हैं। किन्तु इस पर से पाठकों को यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे सारे शुद्ध या विकृत स्वर प्राचीन पण्डितों के अनुसार ही हैं।

"हमारे आज के शुद्ध और विकृत स्वर प्राचीन ग्रन्थकारों के स्वरों से काफी भिन्न हो गए हैं। उसका कारण सहज ध्यान में आ सकता है। प्राचीन ग्रन्थकार अपना प्रत्येक शुद्ध स्वर शास्त्रोक्त-रीत्या उसकी अन्तिम श्रुति पर स्थापित करते थे। यानी सा रे ग म प ध नि—ये शुद्ध स्वर ४, ७, ९, १३, १७, २० तथा २२ संख्यक श्रुतियों पर स्थापित किए गए थे।

---

* इस शब्दरचना को देखने से यह कल्पना हो सकेगी कि लोगों में कैसा भ्रम फैलाया गया है।

वेदाचलांकश्रुतिषु त्रयोदश्यां श्रुतौ तथा । सप्तदश्यां च विंश्यां च द्वाविंश्यां च श्रुतौ क्रमात् ॥
(रागमंजर्याम्)

आदिश्रुतौ चतुर्थ्यां तु स्वरः षड्जोऽधितिष्ठति । सप्तम्यामृषभस्तद्वद्गान्धारस्य स्थितिः पुनः ॥
नवम्यां तु त्रयोदश्यां मध्यमः पञ्चमस्ततः । सप्तदश्यां धैवतस्तु विंश्यामथ निषादकः ॥
द्वाविंश्यामिति मंद्रस्थाः स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः । ईदृश्येव स्थितिर्मध्ये तारे चैवेदृशी स्थितिः ॥
(अनूपसंगीतविलासे)

"किन्तु हमारे आधुनिक हिन्दुस्थानी संगीत विद्वान् अपने शुद्ध स्वर इस नियमानुसार स्थापित नहीं करते हैं, अपितु उसके उल्टे क्रम से स्थापित करते है ।* इन आधुनिक विद्वानो के शुद्ध स्वर १-५-८-१०-१४-१८ और २१-इन, श्रुतियों पर स्थापित हैं । 'अभिनवरागमंजरीकार' कहते हैं—

वेदाचलांकश्रुतिषु त्रयोदश्यां श्रुतौ तथा । सप्तदश्यां च विंश्यां च द्वाविंश्यां च श्रुतौ क्रमात् ॥
षड्जादीनां स्थितिः प्रोक्ता शुद्धाख्या भरतादिभिः । हिन्दुस्थानीयसंगीते श्रुतिक्रमविपर्ययः ।
एते शुद्धस्वराः सप्त स्वस्वाद्यश्रुतिसंस्थिताः ॥

"यह भाग नीचे दिये हुए कोष्ठक पर से स्पष्ट हो जाएगा—

प्राचीन ग्रन्थानुसार प्राचीन श्रुति-स्वर-व्यवस्था		हिन्दुस्थानी ग्रन्थकारों की आधुनिक श्रुति-स्वर-व्यवस्था	
१—तीव्रा		१—तीव्रा—षड्ज	(शुद्ध)
२—कुमुद्वती		२—कुमुद्वती	
३—मन्दा		३—मन्दा	
४—छन्दोवती—षड्ज	(शुद्ध)	४—छन्दोवती	
५—दयावती		५—दयावती—ऋषभ	(")
६—रंजनी		६—रंजनी	
७—रक्तिका—ऋषभ	(")	७—रक्तिका	
८—रौद्री		८—रौद्री—गान्धार	(")
९—क्रोधा—गान्धार	(")	९—क्रोधा	
१०—वज्रिका		१०—वज्रिका—मध्यम	(")
११—प्रसारिणी		११—प्रसारिणी	
१२—प्रीति		१२—प्रीति	
१३—मार्जनी—मध्यम	(")	१३—मार्जनी	
१४—क्षिती		१४—क्षिती—पञ्चम	(")
१५—रक्ता		१५—रक्ता	
१६—संदीपनी		१६—सन्दीपनी	
१७—आलापिनी—पञ्चम	(")	१७—आलापिनी	
१८—मदन्ती		१८—मदन्ती—धैवत	(")
१९—रोहिणी		१९—रोहिणी	
२०—रम्या—धैवत	(")	२०—रम्या	
२१—उग्रा		२१—उग्रा—निषाद	(")
२२—क्षोभिणी—निषाद	(")	२२—क्षोभिणी	
१—तीव्रा		१—तीव्रा—षड्ज	(")
२—कुमुद्वती		२—कुमुद्वती	
३—मन्दा		३—मन्दा	
४—छन्दोवती		४—छन्दोवती	

* यह उल्टा क्रम आधुनिक श्रुति—पण्डितों का नहीं है, वह तो पं० भातखण्डे का अपना बनाया हुआ है और उसे 'अभिनवरागमंजरीकार' के नाम से उद्धृत करके अपना ही मत आधार के रूप में दे रहे हैं ।

टि० इस कोष्ठक से स्पष्ट है कि उन्होंने तीव्रा पर अपना षड्ज मानकर स्वर-सप्तक बनाया है। और वह षड्ज उन्होंने वीणा की मुक्त तार पर माना है, यह उनके 'लक्ष्यसंगीत' में दिये हुए निम्नोद्धृत कोष्ठक से स्पष्ट है।

शुद्धषड्जतन्त्र्याम्

			शुद्धस्वराः	विकृतस्वराः
१	.....	.....	शुद्धषड्जः	
२				
३	.....	....	.....	कोमल रिः
४				
५	.....	.....	शुद्धऋषभः	
६				
७	.....	.....	.....	कोमल गः
८	.....	.....	शुद्धगान्धारः	
९				
१०	.....	....	शुद्धमध्यमः	
११				
१२	.....	....	.....	तीव्र मः
१३				
१४	.....	.....	शुद्धपञ्चमः	
१५				
१६	.....	.....	.....	कोमल धः
१७				
१८	.....	.....	शुद्धधैवतः	
१९				
२०	.....	....	.....	कोमल निः
२१	.....	.....	शुद्धनिषादः	
२२				
१	.....	.....	शुद्धषड्जः	
			७	५

ऊपर उद्धृत पहिले कोष्ठक में पं० भातखण्डे ने एक ओर प्राचीन श्रुति-स्वर-व्यवस्था दिखाई है और दूसरी ओर आधुनिक लक्ष्य के स्वरों की अपनी बनाई हुई श्रुति-व्यवस्था। इन दोनों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे न तो प्राचीन परम्परा को यथार्थ समझ पाए हैं और न ही आधुनिक लक्ष्य को शास्त्रीय रूप देने में सफल हुए हैं।

पहिले प्राचीन परंपरा-विषयक उनके असामंजस्य को देख लें। ऊपर उद्धृत दूसरे कोष्ठक से यह सिद्ध है कि उन्होंने तीव्रा का स्थान मुक्त तन्त्री पर माना है अर्थात् मेरु पर एक मान कर श्रुतियों की गिनाई आरंभ की है। ऐसा करने से तो जहाँ उन्होंने छन्दोवती पर प्राचीन षड्ज के लिए स्थान रखा है, वहाँ वीणा पर कोई पर्दा ही नहीं है और न हो सकता है। वीणा पर मेरु से दूसरी संख्या पर जो पर्दा स्थित है, वह तो तभी छन्दोवती का स्थान पा सकता है, जब कि मेरु को शून्य या क्षोभिणी माना जाए। किन्तु मेरु पर एक या तीव्रा का स्थान मानने से पं० भातखण्डे को उस पर्दे से एक श्रुति पूर्व ही छन्दोवती का स्थान दिखाना पड़ा है जो उनके कोष्ठक से स्पष्ट है। वीणा पर यह स्थान त्रिकाल में संभव नहीं है। इस प्रकार षड्ज का ही स्थान उच्छिन्न हो जाने से अन्य सभी प्राचीन स्वरों का स्थान वीणा पर मिलना असंभव हो जाता है, क्योंकि इस गिनाई से पर्दों की सारी परम्परा टूट गई है।

यह तो हुई उनके कोष्ठक में उल्लिखित प्राचीन स्वर-व्यवस्था। अब दूसरी ओर आधुनिक स्वरों के लिए उन्होंने जो व्यवस्था दी है, उसमें भी घोर असामंजस्य निहित है, जो निम्नोक्त है।

आधुनिक स्वरों की श्रुति-व्यवस्था बताते समय उन्होंने मुक्त तन्त्री पर षड्ज मान कर और उसे तीव्रा यानी एक कह कर वहीं से श्रुतियों की गिनाई शुरू की है, यह ऊपर उद्धृत दोनों कोष्ठकों से सिद्ध है। मेरुस्थित नाद को षड्ज मानने में तो कोई आपत्ति नहीं है, यदि उसे शून्य मान कर गिनाई आरम्भ की जाए तो। वास्तव में मेरु स्वयं एक नाद-स्थान है। ऐसी अवस्था में उसके बाद ही श्रुति व्यवस्था की पहिली श्रुति यानी तीव्रा का स्थान आना चाहिए। किन्तु पं० भातखण्डे ने तो मेरु पर ही पहिली श्रुति का स्थान मान लिया और ऐसा मानने से सबसे बड़ा अनर्थ यही हुआ कि श्रुति-स्वर स्थापना की प्राचीन व्यवस्था बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गई। अर्थात् प्राचीन परंपरानुसार जिन जिन श्रुतियों पर स्वर स्थापित होते थे, पं० भातखण्डे की गिनाई की पद्धति के अनुसार उन उन श्रुतियों पर स्वरों को स्थापित नहीं ही किया जा सका है। यह ऊपर का पहिला कोष्ठक देखने से स्पष्ट हो जाता है।

मेरु को एक या तीव्रा की बजाय शून्य या क्षोभिणी मानकर चलने से प्राचीन तथा अर्वाचीन स्वरों की श्रुति-व्यवस्था की संगति किस प्रकार बैठ जाती है, यह अगले पृष्ठ पर दिए हुए हमारे कोष्ठक से स्पष्ट हो जाएगा। तुलना के लिए इसी कोष्ठक में पं० भातखण्डे की कही हुई प्राचीन और आधुनिक श्रुति-स्वर-व्यवस्था भी पुनः दे दी गई है।

इस कोष्ठक में हम देखते हैं कि मेरुस्थित नाद को शून्य मानने से प्राचीन तथा अर्वाचीन श्रुति-व्यवस्था की पूर्ण संगति बैठ जाती है। साथ ही यह सत्य भी स्पष्ट होता है और महदाश्चर्य में डाल देता है कि इतने विशाल संगीत-साहित्य के रचयिता पं० भातखण्डे से श्रुति-स्वर-स्थापना के इस प्राथमिक सिद्धान्त को समझने में ऐसी मौलिक भूल कैसे हुई होगी। यह लिखते हुए परम खेद होता है उनकी इस अशास्त्रीय पद्धति के प्रचार से जनता में भ्रान्तिजाल का विस्तार हुआ है।

क्रमिक पुस्तकमालिका के चौथे भाग की भूमिका में ही (जिसमें से कुछ उद्धरण हम ऊपर देख चुके हैं) पं० भातखण्डे कुछ आगे चल कर यह कहते हैं कि प्राचीन ग्रन्थकारों के श्रुति स्वर अधुना उपयुक्त नहीं हैं। "लोचन अहोबलादिक मध्ययुग के ग्रन्थकारों के श्रुति-स्वर-स्थान हमें प्रत्यक्ष उपयोगी होने के नाते उनका विचार करना हमारे लिए अधिक उपयुक्त होगा"—ऐसा भी वे कहते हैं। भरत और शार्ङ्गदेव अपनी श्रुतियाँ समान मानते थे और मध्ययुगीय ग्रन्थकार ऐसा नहीं मानते थे, यह भी उन्होंने कहा है। वे लिखते

पं० भातखण्डे के कथनानुसार मेरु को एक मानने से बनी हुई श्रुतिस्वर-व्यवस्था			मेरु को शून्य मानने से बनी हुई श्रुतिस्वर-व्यवस्था		
श्रुति-संख्या तथा नाम	प्राचीन स्वर	आधुनिक स्वर	श्रुति-संख्या तथा नाम	प्राचीन स्वर	आधुनिक स्वर
१—तीव्रा	.....	षड्ज	०क्षोभिणी	(निषाद)	षड्ज
२—कुमुद्वती			१—तीव्रा		
३—मन्दा			२—कुमुद्वती		
४—छन्दोवती	—षड्ज		३—मान्दा		
५—दयावती	.....	ऋषभ	४—छन्दोवती	—षड्ज	ऋषभ
६—रंजनी			५—दयावती		
७—रक्तिका	—ऋषभ		६—रंजनी		
८—रौद्री	.....	गान्धार	७—रक्तिका	—ऋषभ	गान्धार
९—क्रोधा	—गान्धार		८—रौद्री		
१०—वज्रिका	.....	मध्यम	९—क्रोधा	—गान्धार	मध्यम
११—प्रसारिणी			१०—वज्रिका		
१२—प्रीति			११—प्रसारिणी		
१३—मार्जनी	—मध्यम		१२—प्रीति		
१४—क्षिती	.....	पञ्चम	१३—मार्जनी	—मध्यम	पञ्चम
१५—रक्ता			१४—क्षिती		
१६—सन्दीपनी			१५—रक्ता		
१७—आलापिनी	—पञ्चम		१६—सन्दीपनी		
१८—मदन्ती	.....	धैवत	१७—आलापिनी	—पञ्चम	—धैवत*
१९—रोहिणी			१८—मदन्ती		
२०—रम्या	—धैवत		१९—रोहिणी		
२१—उग्रा	.....	निषाद	२०—रम्या	—धैवत	—निषाद
२२—क्षोभिणी	—निषाद		२१—उग्रा		
१—तीव्रा	.....	षड्ज	२२—क्षोभिणी	—निषाद	—षड्ज
२—कुमुद्वती					
३—मन्दा					
४—छन्दोवती	—षड्ज				

*वीणा की मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने से पञ्चम धैवत का स्थान पाता है और इसीसे धैवत चतुःश्रुति होता है, इसीलिये वीणा पर न तो वैगुण्य आता है और न ही Siren पर beats बजते हैं। किन्तु आज हम मुक्त तन्त्री को षड्ज मानकर वादन नहीं करते हैं। जहाँ से हमारे सितारादिक वाद्यों पर षड्ज मान कर हम वादन-क्रिया करते हैं वहाँ से आने वाला धैवत त्रिश्रुतिक ही होता है; तद्वत् तानपर पर गाते समय भी हम त्रिश्रुति धैवत का ही प्रयोग करते हैं। यह ध्यान से ओझल न होने दिया जाय।

हैं—"ये मध्ययुगीय ग्रन्थकार अपनी सारी श्रुतियाँ समान नहीं मानते थे। वे परंपरागत बारह स्वरों को ज्यों का त्यों स्वीकार करके उन स्वरों के बीच में शास्त्रोक्त संख्यानुसार श्रुति की बाँट करते होंगे, ऐसा उनके लेखन से दिखाई देता है। उनकी अपनी पद्धति बारह स्वरों पर ही स्थापित की होने के कारण बीच की श्रुतियों की चर्चा करने की उन्हें आवश्यकता ही न थी।"

इसके अनन्तर वे कहते हैं—

"श्रुति-स्वर-स्थानों का ध्वनि-दृष्टि से समाधानकारक खुलासा करने के लिए दो साधन प्रचलित हैं। पहिला है—वीणा के बजते हुए तार की भिन्न भिन्न लंबाई को देखकर तज्जन्य ध्वनि को कहना और दूसरा—प्रत्येक ध्वनि से एक सैकण्ड में होने वाले कंपनों की संख्या से उसका तुलनात्मक गुणोत्तर-मूल्य कहना। भरतादि ग्रन्थकारों ने इन साधनों का उपयोग किया हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। किन्तु सब श्रुतियों को समान मान कर उन पर अपने स्वर स्थापित करने से उन्हें इन साधनों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं हुई होगी अथवा उन्हें इन साधनों का उपयोग ध्यान में ही न आया हो। जो कुछ भी हुआ हो, किन्तु उन्होंने अपने स्वर-स्थान इन साधनों द्वारा निश्चित नहीं किए हैं, यह सत्य है। अहोबलादिकों ने अपने स्वर-स्थान स्थापित करके सारे देश का महदुपकार किया है, ऐसा विद्वानों का मत है।"

पं० भातखण्डे के ऊपर उद्धृत कथनानुसार केवल दो ही मार्ग स्वर-स्थापना के लिये उपयोगी माने गए हैं। किन्तु संवाद-सम्बन्धानुसार स्वरों की शुद्धि जाँचने का तीसरा मार्ग उन्होंने क्यों नहीं माना, यह समझ में नहीं आता। बाईस श्रुतियों के नाद परस्पर संवाद से सम्बन्धित हैं। जिनके कान स्वर-संवाद को समझ सकते हैं, उन्हें गणित के पचड़े में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है। क्रियाकुशल गुणी, चाहे वे पठित हो या अपठित, जिनके कान स्वर-संवाद को या ध्वनि के सम्बन्ध को भली भाँति पहिचानते हैं, उनके लिए अन्य साधनों की आवश्यकता ही नहीं है। वे लोग अपनी क्रिया करते समय अर्थात् वीणादिक वाद्य मिलाते समय या गाते-बजाते समय यह देखने नहीं बैठते हैं कि किस स्वर की आन्दोलन संख्या क्या है, या तार की लंबाई पर उसका स्थान कहाँ है या उसका गणित-मूल्य क्या है; अपितु उनके कान ही स्वर-शुद्धि के 'जज' होते हैं। गणित में भूल हो सकती है, नापने में दृष्टि-दोष हो सकता है, किन्तु संवाद के ज्ञाता की ओर से संवाद में किंचित् भी दोष होने की संभावना नहीं है। इसी से मध्ययुगीय जिन ग्रन्थकारों ने गणित का सहारा लेकर तार की लंबाई पर स्वर स्थापना का मार्ग दिखाया है, उन्होंने भी यह अवश्य कह दिया है कि 'यह मार्ग स्वरज्ञानविहीनों के लिए ही है'।—।*

इसका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है कि ध्वनि को गणित द्वारा नापने की सब विधि और साधन उन्हीं के लिए हैं जो स्वरज्ञान से विहीन हैं। फिर भी, जो स्वर ज्ञान रहित होंगे, उन्हें इस बात का भी कैसे पता चलेगा कि ये गणित सिद्ध नाद वास्तव में शुद्ध हैं या नहीं। इस प्रकार स्वर की सिद्धि के लिए गणित द्वारा इतनी मगजमारी करने पर भी, यदि स्वर-ज्ञान नहीं है तो यह सब क्रिया हुआ यत्न निष्फल है। इसीलिए गणित का सहारा लेने वाले ग्रन्थकारों ने यह भी कह दिया है कि, 'स्वर-संवाद का ज्ञान स्वर की स्थापना में कारण है'। †

यह अनुभव-सिद्ध सत्य है कि स्वर-स्थापना का मूल स्वर-संवाद में ही निहित है। स्वर-संवाद के ज्ञान के बिना अन्य साधनों द्वारा प्रस्थापित स्वरों की प्रामाणिकता जाँचना असंभव है। गणित की सहाय लेने में कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु स्वर-ज्ञान के बिना कोरे गणित से किसी प्रामाणिक निर्णय पर पहुँचना संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में यहाँ एक प्रत्यक्ष अनुभूति की कथा उद्धृत करना अनुचित न होगा।

---

* स्वरज्ञानविहीनेभ्यो मार्गोऽयं दर्शितो मया।

† स्वरसंवादिताज्ञानं स्वरस्थापनकारणम्

बम्बई की एक संगीत परिषद् में एक व्यक्ति अपना बनाया हुआ श्रुति-हार्मोनियम लेकर उपस्थित हुए थे। उन्होंने कान्फ्रेंस के व्यासपीठ पर से सभी संगीतज्ञों को और उपस्थित जनता को सम्बोधित कर के कहा—"बाईस श्रुतियों का भेद स्पष्टतया दिखाने के लिए अतिशय परिश्रम से तैयार किया हुआ यह हार्मोनियम लेकर मैं उपस्थित हुआ हूँ। इस समय दरबारी कान्हड़े का ऋषभ, जो चतुःश्रुतिक है, उसे यह कन्या बजा कर दिखाएगी।" उसके बाद उस कन्या ने दरबारी के स्वर बजाना आरंभ किया। ऋषभ के बजते ही, बैठे हुए सभी गुणीजनों की भौंहें तन गईं, क्योंकि उन्हें वह ऋषभ बेसुरा लग रहा था। वे श्रुति-हार्मोनियम वाले सज्जन, जो कि वहीं उपस्थित थे, यह समझ नहीं सके कि उपस्थित गुणीजनों का मुँह क्यों बिगड़ रहा है। पं० नारायणराव खरे (महात्मा गान्धी के संगी संगीतकार एवं मेरे गुरुभाई) को मैं ने पूछा—"आप सुन रहे हैं न? इस बेसुरे ऋषभ को सुन कर उपस्थित सभी गुणीजन कैसे बेचैन हो रहे हैं। आप उठ कर कह क्यों नहीं देते कि यह चतुःश्रुतिक ऋषभ नहीं है?" उन्होंने उत्तर दिया—"आ बला पकड़ गला करने की क्या जरूरत है? तमाशा देखते रहो।" हमारी बातों को सुनकर कीर्तनाचार्य पं० गंगाधर शास्त्री ने मुझ से कहा—"आप ही व्यासपीठ पर जाकर श्रुति-हार्मोनियम वाले को ललकार कर कह दीजिए न कि यह चतुःश्रुतिक ऋषभ नहीं है।" तब विवश होकर मुझे उठना पड़ा और आवाहन देकर यह कहना पड़ा कि "आप का यह ऋषभ चतुःश्रुतिक नहीं है। बैठे हुए गायक वादक चतुः-श्रुतिक या त्रिश्रुतिक ऋषभ की श्रुति-संख्या को भले ही न बता सकें, किन्तु इन सब से पूछने पर निश्चय हो जाएगा कि यह दरबारी का ऋषभ नहीं है और मैं यहाँ जाहिर करता हूँ कि यह चतुःश्रुतिक ऋषभ न हो कर त्रिश्रुतिक ऋषभ है। आप के कान भले ही इसे न समझें हों, पर हम लोगों के कान इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते और इसीलिए इन सब गुणियों के मुख-मण्डल पर, बेसुरे स्वर की जो एक विकृत असर होती है, उसकी छाया पड़ी हुई है।"

बिचारे श्रुति हारमोनियम वाले भागे हुए व्यासपीठ पर आए और अपने हार्मोनियम को देखने लगे। देखकर वे बोल उठे कि "गलती से चतुःश्रुति ऋषभ के स्थान पर त्रिश्रुति ऋषभ बजा दिया गया है। बजाने का दोष इस लड़की पर नहीं, बल्कि मुझ पर ही है, क्योंकि जितनी पर्याप्त मात्रा में चाभी खींचनी चाहिए थी, उतनी मैं नहीं खींच पाया था।" उन्होंने स्वमुख से स्वीकार किया कि "हम ने गणितसिद्ध ये श्रुतियाँ स्थिर की हैं और इनकी जाँच के लिए एक गायक और बीनकार की सहायता ली है, क्योंकि हम स्वर को या स्वर-संवाद को कान से सुन कर समझ नहीं सकते हैं।"

यह हकीकत सिद्ध करती है कि गणितज्ञ भी स्वर-संवाद को जानने वाले किसी गुणी की सहायता के बिना पंगु है। इसीलिए भरतादि सभी शास्त्रकारों ने स्वर-संवाद को ही मुख्य माना है। अन्य सब साधन उनके लिए गौण हैं और संभवतः इन गौण साधनों के उपयोग की अनावश्यकता समझ कर ही उन्होंने उनका उपयोग न किया हो। अस्तु।

अब हम पं० भातखण्डे की विस्तृत मराठी ग्रन्थमाला हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में से आवश्यक अवतरण देख लें, जिससे श्रुति-स्वर-विषयक उनकी मान्यताएँ अधिक स्पष्ट हो जाएँ।

हि० सं० प० भाग २ पृ० ६

"हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों में यदि एकाध महत्त्व के मुद्दे पर एकवाक्यता है, तो वह यह है कि वे सारे संगीतो-पयोगी शक्य नाद अथवा श्रुतियाँ एक सप्तक में बाईस मानते थे। उन नादों के स्थान सभी के अनुसार एक भले ही न हों, किन्तु नाद की संख्या के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है।

"एक षड्ज से [दूसरे षड्ज तक] संगीतोपयोगी नाद बाईस से अधिक शक्य ही नहीं हैं, ऐसा मानने की प्रणाली ग्रन्थकारों के पूर्व से हमारे यहाँ प्रचलित थी। हमारे ग्रन्थकार धूर्त थे। बाईस से अधिक नाद गले से [निकालना]

अशक्य ही है, ऐसा अगली पीढ़ियाँ मान कर चलें, इस उद्देश्य से उन्होंने मानवीय शरीर में नाद उत्पन्न करने वाली नाड़ियाँ बाईस ही हैं, ऐसा लिख छोड़ा।"

टि० पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए लोगों में प्रायः प्राचीन मान्यता, आचार, विचार, रूढ़ि इत्यादि के प्रति एक प्रकार का हेय भाव दिखाई देता है। अपनी आँखों से न देख कर हम पाश्चात्यों की आँखों से ही अपने इतिहास, ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, नाट्य, शिल्प, स्थापत्य को देखने लगे थे, जिसका असर अभी तक बना हुआ है। पाश्चात्य शिक्षा ने यदि कुछ भला किया है, तो कुछ बुरा भी किया है। इस दृष्टि-बिन्दु से हमें पं० भातखण्डेजी का उपर्युक्त वाक्य, जिसमें प्राचीन ग्रन्थकारों को धूर्त कहा गया है, भाया नहीं।

संभव है प्राचीन ग्रन्थकारों के युग में यौगिक प्रक्रिया द्वारा स्वरों के स्थान शरीरगत नाड़ियों पर से स्थिर किये जाते रहे हों, या किसी विशेष अनुभूति से उनकी वह मान्यता बनी हो, जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया हो। अगली पीढ़ियाँ अन्ध बन कर उनका अनुसरण करें, ऐसा तो शायद उन्होंने स्वप्न में भी न चाहा होगा! जो अपनी समझ में न आए, उसके लिये ग्रन्थकारों को धूर्त कहने की बजाय इतना ही कहा गया होता कि उनका अभिप्राय हमारी समझ के बाहर है, तो अधिक समुचित होता, अधिक सत्य होता। प्राचीन ग्रन्थकारों के प्रति तिरस्कृत भाव रखने से हम कुछ पा नहीं सकते। 'शिष्यस्तेऽहं' कह कर प्रणत भाव से ही हम उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा सकते हैं। जो तर्क से अतीत है, उसकी श्रद्धा से ही प्राप्ति संभवित है, ऐसी हमारी नम्र मान्यता है।

पं० भातखण्डे और भी कहते हैं :—

पृ० २६. "भरत को हमें प्रथम प्रश्न यह पूछना चाहिए कि श्रुति यानी क्या? किन्तु अभी इसे रहने दो। हमारे संस्कृत ग्रन्थकार श्रुति का अर्थ स्वरान्तर मानते हैं या निश्चित पर्दे की आवाज मानते हैं, इस सम्बन्ध में स्पष्ट खुलासा नहीं है। भरत ने ४-३-२ श्रुतियों के अवकाश कह कर कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थकारों जैसा ही किया है।

पृ० ३४. प्र० "उसने (भरत ने) श्रुति का कुछ न कुछ नाप निश्चित किया ही होगा न?

उ० "हाँ, हाँ, वह उसने अपने ढंग से किया ही है। वह कहता है—मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्यः। पञ्चमस्य श्रुत्युत्कर्षापकर्षाभ्यां यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तावत्प्रमाणश्रुतिः। क्यों? आया कुछ समझ में?

प्र० "कुछ नहीं समझे। थोड़ा सा अधिक खुलासा करें तो अच्छा होगा।

उ० "भरत कहता है कि षड्जग्राम में जो पञ्चम है, उसे एक श्रुति नीचे उतारने से मध्यमग्राम बनेगा।

प्र० "यह तो समझे। किन्तु एक श्रुति यानी क्या?

उ० "एक श्रुति यानी षड्जग्राम और मध्यमग्राम का अन्तर। तुम्हें यह begging the question जैसा लगेगा। अधिक खुलासे के लिये उन्होंने दो वीणाओं का उदाहरण भी दिया है। यथा—

"द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्युपपादनदण्डमूर्च्छिते षड्जग्रामाश्रिते कार्ये। तयोरन्यतरीं मध्यमग्रामिकीं कुर्यात्।"

तुम्हारी अङ्चन मैं समझा। पहिले श्रुति या स्वर—यही प्रश्न उलझन में डालता है। यही न, सोहरा कहाँ, जहाँ जीमें; कहाँ जीमें, जहाँ सोहरा। दोनों ग्रामों का भेद श्रुति कह कर बताया जाए और श्रुति यानी क्या, पूछने पर दो ग्रामों का भेद, यों कह दिया जाए, यह भला क्या स्पष्टीकरण है!

टि० किसी ग्रंथकार को उसकी अपनी दी हुई भाषा से ही समझना चाहिए। किसी भी प्रकार के पूर्वग्रहयुक्त मानस से देखने से ग्रंथकार को समझने में हमेशा ही हम भूल करेंगे। भरत की भाषा में स्पष्ट है कि एक सप्तक में २२ संगीतोपयोगी नाद हैं और उन्हें श्रुति कहा है। वीणादण्ड या सितार के ऊपर परंपरानुसार जो पर्दे बँधे हुए रहते हैं, वे ही भरतादि के निश्चित स्वर-स्थान हैं। उन स्वर-स्थानों को संगीतकार जानते ही हैं, ऐसा समझकर ग्रन्थकारों ने उन स्वरों के बीच कितना अन्तर है, इसको दिखाने के लिए ४-३-२-४-४-३-२ का श्रुति-विभाजन कहा है। हम बता चुके हैं कि आधुनिक वीणा या सितार के ऊपर जो मन्द्र का पञ्चम है, जो मेरु से चार श्रुतियाँ आगे है, उस पर्दे को सा मान कर क्रम से अन्य स्वरों को नापने

से भरतादि प्राचीनों की और शार्ङ्गदेव की वही ४-३-२-४-४-३-२ की स्वर-व्यस्था हमें आज भी प्राप्त होती है। साथ ही दो ग्रामों का अन्तर दिखाने के लिये उन्होंने षड्जग्राम के पञ्चम को एक श्रुति नीचे उतारने को कहा है। उस 'प्रमाण श्रुति' से भरत का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सभी श्रुतियों का प्रमाण एक सा होगा। इसके सम्बन्ध में अधिक खुलासा हमने अपने श्रुति-प्रकरण में किया है। पाठक इस सत्य के निर्णय के लिए वह अंश देख लें।

भारत में प्रचीन श्रुति-स्वर पर जो जो अर्वाचीन विद्वान् अनेक दृष्टियों से विचार करते आए हैं, भिन्न-भिन्न पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखकर अपना मंतव्य प्रकाशित करते रहे हैं, उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों को देख कर, उनका भली भाँति अभ्यास करके और अपनी दृष्टि से उनका निचोड़ निकाल कर पं० भातखण्डे ने अपना मत बनाया होता या बंधे हुए मत को बदल लिया होता तो सारी उलझनें सुलझ गई होतीं।

किन्तु पं० भातखण्डे ने ऐसा संभवतः इसलिए नहीं किया कि उन्होंने पूर्व से ही अपने गृहीत सिद्धान्त 'लक्ष्य संगीत' और 'अभिनवरागमंजरी' में लिपिबद्ध कर छोड़े थे और उन्हीं के आधार पर उनके अन्य सभी ग्रन्थों की सृष्टि हुई है। उन्हीं मान्यताओं के कारण वे इस गुत्थी को सुलझाने की बजाय अधिकाधिक उलझाते ही गए हैं। हिं. सं. प. भाग ४ में वे लिखते हैं:—

पृ० १८. "उन हमारे (आधुनिक) पंडितों ने पारिजात और 'रागतत्त्वविबोध'—इन ग्रन्थों को छोड़कर अपनी श्रुतियाँ भरत और शार्ङ्गदेव के ग्रन्थों पर आधारित हैं. ऐसा प्रतिपादन करना शुरू किया है।

"आज हमारे पंडित रत्नाकर की जो बाईस श्रुतियाँ अपने लेखों में प्रसिद्ध करते हैं, वे श्रुतियाँ उस ग्रन्थ की नहीं हैं।"

पृ० १६-२० "व्यक्तये कुर्महे तासां वीणाद्वंद्वे निदर्शनम्। द्वे वीणे सदृशे कार्ये यथा नादः समो भवेत्॥
तयोर्द्वाविंशतिस्तंत्र्यः प्रत्येकं, तासु चादिमा। कार्या मन्द्रतमध्वाना द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक॥
स्यान्निरंतरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेः॥

"इन श्लोकों का अर्थ हमारे पंडितों ने ठीक नहीं लगाया है, ऐसा मैं कह चुका हूँ। कल्लिनाथ पंडित ने इन श्लोकों पर जो टीका की है, वह भी मेरे कथन का समर्थन करनेवाली है।

प्र०—"इन श्लोकों का मर्म हम स्पष्टतया समझ लें तो अच्छा हो।

उ०—"अब मैं वही कहनेवाला हूँ। किन्तु एक बात पहिले कह देता हूँ कि इस विषयान्तर में हम गहराई में नहीं जाएंगे। गहराई में जाने से हमें प्रत्यक्ष लाभ होने की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि उनके (शार्ङ्गदेव के) श्रुति स्वर आज हमारे प्रचलित संगीत में उपयोगी नहीं होंगे।"

टि० पं० भातखण्डे का इन श्रुतियों के सम्बन्ध में सारा ही रुख श्रुतियों को सम प्रमाण की मानने पर आधारित है, जैसा कि उनके लक्ष्यसंगीत के ८ संख्यक श्लोक से स्पष्ट है। और 'मनागुच्चध्वनिः' शब्द पर ही उनके सब तर्क अवलंबित हैं। श्रुतियों की सम-प्रमाणता वे इसी शब्द से सिद्ध करना चाहते हैं और कल्लिनाथ के वचनों का भी वे अपनी पूर्वगृहीत मान्यतानुसार अर्थ लगाते हैं। आधुनिक पंडितों के लगाए हुए अर्थों के लिए उन्होंने ग्रन्थकार (शार्ङ्गदेव) के जो श्लोक दिये हैं, उनका अर्थ लगाने में "पण्डितों की कहीं भूल होती है" इतना ही कहकर वे टाल देते हैं। इतना ही नहीं, पृ० ४० पर वे लिखते हैं—

"हमारे अर्वाचीन पण्डित भरत शार्ङ्गदेव के ग्रन्थों के आधार पर श्रुतियाँ विषम प्रमाण की हैं, ऐसा कहते हों तो उनका वह कथन यथार्थ नहीं है, ऐसा सहज ही में सिद्ध किया जा सकता है।"

हम कह ही चुके हैं कि पं० भातखण्डे के तर्क का सारा आधार 'मनागुच्चध्वनिः'—यह है। उसकी पुष्टि के लिए वे "ध्वन्यन्तराश्रुतेः"—इस वचन को पकड़े बैठे हैं।

सारणा-प्रकरण में हम शार्ङ्गदेव के इन दोनों विधानों के सम्बन्ध में अपनी आशंकाएँ व्यक्त कर चुके हैं। 'मनागुच्चध्वनि' यानी थोड़ा सा ऊँचा और 'ध्वन्यन्तराश्रुतेः' यानी दो श्रुतियों के बीच में अन्य ध्वनि

का सुनाई न देना, ये दो बातें सामान्यरूप से असमंजस में अवश्य डाल देती हैं। किन्तु इन विधानों से श्रुतियों को समप्रमाण तो कदापि नहीं सिद्ध किया जा सकता।

इन शब्दों के पीछे शार्ङ्गदेव का निगूढ़ अभिप्राय यही रहा होगा कि एक सप्तक में बाईस तार बाँध कर, उन्हें क्रमशः 'मनागुच्चध्वनिः' के सूत्रानुसार मिलाकर, संवाद से सिद्ध करके स्वरों की स्थापना की जाए। स्वर-संवाद को तो वे किसी अवस्था में भी ताक में उठा कर नहीं रख सकते थे। इसीलिए उन्होंने जो यह कहा है कि एक से दूसरा नाद, इतना कम ऊँचा रहे कि जिससे दोनों नादों के बीच में कोई अन्य ध्वनि सुनाई न दे, उनके इस कथन को भी स्वर-संवाद की दृष्टि से ही समझना चाहिए।

इन तारों को स्वरसंवाद के अनुसार कैसे मिलाया जाए, यह प्रश्न हो सकता है। हम समझते हैं कि जिन्हें वीणादिक तन्तुवाद्यों को मिलाने का अभ्यास है, जिनके कान स्वर-संवाद के पृथक्त्व को समझ सकते हैं, उनके लिए ही शार्ङ्गदेव ने यह विधान किया होगा। जो लोग सा-म और सा-प संवाद को कान से पहिचान सकते हैं, उनके लिए इन २२ तारों को उसी षड्ज-मध्यम-भाव या षड्ज-पंचम-भाव से देखकर, जाँच कर मिलाना कठिन नहीं होगा। शार्ङ्गदेव के 'मनागुच्चध्वनि' से यह मतलब नहीं ही लेना चाहिए, जैसा कि पं० भातखण्डे ने लिया है, कि अन्धाधुन्ध एक से एक उच्च नादों में २२ तारें मिला ली जाएँ। इस सम्बन्ध में पुनः यही कहा जा सकता है कि जो लोग तार मिलाना जानते हैं, स्वरों के संवाद को कान से पहिचानते हैं, उनके लिए ही शार्ङ्गदेव का उपर्युक्त विधान होगा। इसीलिये इस प्रकार तारों को या पर्दों को दो समान वीणाओं में स्थापित करके समान रूप से मिला लेने को कहा गया है। दोनों वीणा ऐसी मिलाई हुई हों कि दोनों बजने पर पूर्णतया एकरूप मालूम हों। ऐसी स्वर में लीन होने वाली दो वीणाओं पर, ध्वनि-शुद्धि का निश्चय करके स्वर-स्थापना करने के लिए प्राचीनों ने चतुःसारणा की विधि बताई है। निम्नलिखित उद्धरणों से सारणा का प्रयोजन स्पष्ट हो जाएगा :—

'ध्वनिशुद्धिनिश्चयार्थम्'—

श्रुतिद्वाविंशतावेवं सारणानां चतुष्टयम्।
ध्रुवाश्रुतिषु लीनायामियत्ता ज्ञायते स्फुटम्॥

सप्तक में तीन प्रकार के स्वरान्तर हैं—द्विश्रुति, त्रिश्रुति और चतुःश्रुति। इन अन्तरों को स्वर-संवाद द्वारा सिद्ध करने के लिये ही यह प्रयोग बताया गया है, जिससे प्रत्यक्ष कर्ण प्रत्यय से निषाद गान्धार की दो श्रुति, ऋषभ धैवत की तीन श्रुति और षड्जमध्यमपञ्चम की चार चार श्रुति के निर्णय की प्रामाणिकता जाँची जा सकें।

पं० भातखण्डे न जाने किस मुहूर्त में इन श्रुतियों को सम प्रमाण की मान बैठे हैं और उसी मान्यता पर चिपक कर वे सारे तर्क लड़ाते रहे हैं। अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए वे अनेकों निराधार वितर्क करते रहे हैं और इसीलिए यह प्रतिपादन करने का भी वे निष्फल यत्न करते रहे हैं कि प्राचीन ग्रन्थकार इन श्रुतियों को समप्रमाण मानते थे। इस सम्बन्ध में इस युग के अन्य पण्डितों का सप्रमाण वक्तव्य हम द्वितीय तन्त्री में उद्धृत कर चुके हैं, जिससे निर्विवाद सिद्ध है कि प्राचीनोक्त श्रुतियाँ सम प्रमाण की नहीं हीं हैं।

पं० भातखण्डे का श्रुति सम्बन्धी मन्तव्य देखने के बाद अब हम उनके स्वरों को और उनके लिए दिए हुए आधार को देख लें। इस सम्बन्ध में 'संगीत पारिजात' का आधार दिखाते हुए उन्होंने ग्रन्थस्थ अर्थ की और भाव की कैसी कैसी खींचातानी की है, विद्यार्थियों या वाचकों का ध्यान किस प्रकार दिशान्तरित किया है—इत्यादि सब बातें सप्रमाण उन्हीं के शब्दों में अब हम उद्धृत करें तो समुचित होगा। हिं० सं० प० भाग २ में वे कहते हैं :—

पृ० ८३ "अब प्रथम श्रहोबल के शुद्ध स्वर देखो, समझ लो कि तुम्हारे पास एक ऐसी वीणा है, जिस पर बजने वाली (ध्वन्यवच्छिन्न) तार ३६ इंच लंबी है। उस तार को छेड़ने से मेरु से घोड़ी तक की जो लंबाई है, उसमें

से आवाज निकलेगा, यह तुम तत्काल समझ सकोगे। पं० अहोबल का कहना है कि ऐसी तार के बीचोंबीच कोई पर्दा बाँधा जाए तो उस पर, तार षड्ज निकलेगा।

प्र० "वह हम उत्तम रूप से समझे। हमारे सितार की दूसरी तार जो खरज की होती है, जिसे हम जोड़ की तार कहते हैं, उस तार के मध्यम के पर्दे पर उँगली दबाने से तार षड्ज मिलता है सही।

उ० "आगे अहोबल कहता है—उभयोः षड्जयोर्मध्ये मध्यमं स्वरमाचरेत्। इसका ऐसा अर्थ है कि मेरु और तार सा के बीचोंबीच शुद्ध मध्यम का स्थान है। उसका यह कथन पूर्णतया यथार्थ है। यदि अपनी वीणा पर तुम उस मध्यम का स्थान टटोल कर देखोगे तो तुम्हें भी यह अनुभव होगा। तार की लंबाई पर इन स्थानों को टटोल कर देखने का अवसर न मिलने से हमारे गुणीजनों का इस ओर ध्यान जाता ही नहीं है।"

टि० गुणीजन तो क्या, हमारे वाद्यों को बनाने वाले अशिक्षित कारीगर भी शास्त्र की इस परिभाषा को न जानते हुए भी अपने कानों की सूक्ष्म सुरीलेपन द्वारा स्वरों को पहिचान कर सितार इसराज आदि पर्दे वाले वाद्यों पर ठीक परिमाण से पर्दे बाँध लेते हैं। हम जानते हैं कि हमारे गुणीजन भी, जिन पर पं० भातखण्डे ने उपर्युक्त आक्षेप किया है, वे भी आवश्यकता पड़ने पर पर्दों को यथोचित रीति से खिसका कर यथास्थान-स्थित कर लेते हैं। इस क्रिया के लिये स्वरज्ञान की जरूरत है, पाण्डित्य की नहीं। फिर भी यह कहना कि हमारे गुणीजनोंका इस ओर ध्यान जाता ही नहीं है, कहाँ तक समुचित होगा?

पं० भातखण्डे और भी कहते हैं :—

"किन्तु अहोबल का उस ओर लक्ष्य गया था इसलिये उसकी तारीफ़ ही करनी पड़ेगी। मध्यम का स्थान कायम करने के बाद अहोबल पंचम की ओर मुड़ता है। वह कहता है :—

'त्रिभागात्मकवीणायां पञ्चमः स्यात्तदग्रिमे।'

अर्थात्—वीणा की पूरी तार के यदि तीन भाग करें, तो पहिले भाग के अन्त में शुद्ध पञ्चम स्वर आएगा। उसका यह कथन भी बिल्कुल ठीक है।

प्र०—"तब यही कहें न कि अहोबल के शुद्ध सा म और प के सम्बन्ध में सर्वत्र एक वाक्यता है।

उ०—"हाँ, ऐसा कहने में भूल नहीं होगी। अन्य दो स्वरों के सम्बन्ध में भी समाज में मतभेद नहीं है और वे हैं शुद्ध ग और शुद्ध नी। इनके सम्बन्ध में ग्रन्थकार कहता है":—

षड्जपंचमयोर्मध्ये गान्धारस्य स्थितिर्भवेत्।

अर्थात्—षड्ज और पंचम के बिल्कुल बीचों-बीच या मध्यस्थान पर शुद्ध गान्धार आएगा। यह तुम्हारा हिन्दुस्तानी कोमल ग होगा। यह प्रत्यक्ष प्रयोग से तुम देख सकोगे।

प्र०—"तो फिर मेरु से १८ इञ्च पर तार सा, १२ इञ्च पर शुद्ध प, ९ इञ्च पर शुद्ध म और ६ इञ्च पर कोमल ग, यही इनके स्थान होंगे न?

उ०—"तुम बिल्कुल ठीक समझे हो। अब शुद्ध निषाद देखो।

तत्रांशद्वयसंत्यागान्निषादस्य स्थितिर्भवेत्।

अर्थात्—तार सा व शुद्ध प इन दोनों के बीच के अन्तर के तीन भाग करने के बाद पंचम की ओर से दो भाग छोड़कर शुद्ध निषाद की स्थापना करना।

प्र०—"शुद्ध प और तार सा के बीच का अन्तर ६ इंच है। इसलिये शुद्ध निषाद पंचम के आगे चार इंच पर आएगा, ऐसा ही न?

उ०—"यह भी तुम ठीक समझे हो। इससे हमें सा, म, प, नि, ग—ये स्वरस्थान उत्तमरीत्या प्राप्त हुए। अहोबल के इन शुद्ध स्वर-स्थानों के सम्बन्ध में कहीं मतभेद नहीं है। प्रत्यक्ष प्रयोग से भी तुमने उन स्थानों को देख लिया। उनमें जो शुद्ध ग नि स्वर हैं, वे तुम्हारे हिंदुस्तानी कोमल ग नि के बराबर होंगे। वही दक्षिण के साधारण ग और कैशिक नि कहे जाएँगे।"

प्र०—"अहोबल ने अपने स्वरों के सम्बन्ध किस नियम से कायम किये होंगे भला ?"

उ०—"वह अपना नियम इस प्रकार कहता है :—

'षड्जपञ्चमभावेन षड्जे ज्ञेया स्वरा बुधैः ।
गनिभावेन गान्धारे, मसभावेन मध्यमे ।'

यह नियम समझाने के पूर्व Blasserna साहब के एक दो अवतरण मैं तुम्हें पढ़कर सुनाता हूँ। सुनो—उसकी मदद से तुम जल्दी समझ जाओगे।

The Greek Musical scale was developed by successive fifths. Raising a note to its fifth signifies multiplying its number of Vibration by $\frac{3}{2}$. This principle was rigorously maintained by the Greeks, rigorously because the fourth of which they made use from the very beginning, is only the fifth below the fundamentel note raised an Octave. To make the tracing out of these musical ideas clearer, recourse will be had to our modern nomenclature making the supposition that our scale is already known to the reader; calling the fundamental note C, and the successive notes of our scale D,E,F,G,A, B, C, with the term sharps & flats for the intermediate notes as is done in our modern music. In this scale, the first note, the C, represents the fundamental note, the others are successively the second, the third, the fourth, the fifth, the sixth the seventh, and octave, according to the position which they occupy in the musical scale.

If the C be taken as a point of departure, its fifth is G and its fifth below is F. If this last note be raised an octave, so as to bring it nearer to the othernotes, and if the octave of C be added also, the following four notes are obtained :—

C, F, G, C. with ratios, 1, $\frac{4}{3}$, $\frac{3}{2}$, 2.

Progress by fifths up & down can be further continued. The fifth of G is D, and if it be lowered an octave, its musical ratio will be $\frac{9}{8}$. The fifth below F. is Bb, whence its musical ratio when raised an octave is $\frac{16}{9}$. We have thus the following Scale :—C, D, F, G, Bb, C which is nothing more than a succession of fifths, all transposed into the same octave in the following way :—Bb, F, C, G, D.

But the scale can be continued further by successive fifths Omitting, as the greeks did, the fifth below Bb, and adding instead three successive fifths upwards, we shall have A as the fifth of D & E as the fifth of A, and finally B as the fifth of E. The ratios of these when brought into the same octave will be $\frac{27}{16}$, $\frac{81}{64}$, $\frac{243}{128}$ and thus the scale is C, D, E, F, G, A, B, C, with the ratios 1, $\frac{9}{8}$, $\frac{81}{64}$, $\frac{4}{3}$, $\frac{3}{2}$, $\frac{243}{128}$, 2. The first & second of the last three fifths, the A & the E, were introduced by Tarpendro, the last, the B, by Pythagoras, whence the Greak Scale still bears the name of the Pythagorean Scale.

The Pythagorean scale held almost exclusive sway in Greece. However, in the last century before the christian era. that is to say, during the

period of Greak decline in politics & art, many attempts at modifying it are found. Thus for example, they divided the interval between the notes corresponding to our C & D into two parts, introducing a note in the middle. At last they went so far as to again divide these intervals into two, thus introducing the quarter tone which we look upon as discordant. Others again introduced various intervals founded for the most part rather on theoretical speculation than on artistic sentiment. All these attempts have left no trace behind them & therefore are of no importance. But the Pythagorean Scale passed from Greece to Italy, where it held sovereign sway up to the sixteenth century; at whic epoch began its slow and successive transformation into our two musical scales.

It ought to be added that the Greeks, in order to increase the musical resources of their scale, also formed from it several different scales, which are distinguished from the first only by the point of departure. The law of formation was very simple, in fact suppose the scale is written thus :—C, D, E, F, G, A, B, C. Any note whatever may be taken as the starting point and the scale may be written, for example thus :—E, F, G, A, B, C, D, E; or A, B, C, D, E, F, G, A etc. It is evident that seven scales in all can be formed in this way, which were not all used by the Greeks at different epochs, but which were all possible. A musical piece founded on one or other of them must evidently have had a distinctive character, and it is in this respect, in the blending of shades, that Greek melody must be considered as more rich than ours, which is subject to far more rigid rules.'

इसके आगे अब मैं नहीं पढ़ूँगा।

प्र०—"हम अब षड्ज-पंचम-भाव उत्तम रूप से समझ गए। यह अवतरण बड़ा मज़ेदार रहा। अपने संगीत पर भी इससे कुछ प्रकाश पड़ सकता है न?

उ०—"हाँ, तभी तो मैंने इसे पढ़ कर दिखाया है।"

टि० ऊपर के उद्धरण में हम देखते हैं कि धाराप्रवाह रूप से प्रत्येक स्वर का स्थान क्रमशः बताने की बजाय अ़ोबल के स्वर-स्थापन के नियम के प्रश्न को उठाकर पं० भातखण्डे पाठकों का कैसा दिशान्तर करते हैं और स-प-भाव के मूल अर्थ को छिपा कर रि-ध स्वरों के ग्रन्थस्थ स्थान के प्रति आँख-मिचौनी खेलते हैं। पाठकों का बुद्धि-भेद करते हुए वे ऐसा यत्न करते हैं जिससे पाठकों का मन प्रसंगप्राप्त विषय से हट कर पाश्चात्य स्वरमंडल के प्रति मंडराया करे।

पं० भातखण्डे ने ब्लेसर्ना साहब का अवतरण देकर षड्जपञ्चमभाव के अर्थ का यहाँ पर कैसा अनर्थ किया है, इसके प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करना नितान्त आवश्यक है। अपनी अनुकूलता के लिए यानी अपना गृहीत और वांछित ऋण्भ प्राप्त करने के लिए और तदर्थ ग्रन्थ का आधार दिखाने के लिए ग्रन्थस्थ भाषा के अर्थ का यानी 'षड्जपञ्चमभाव' का उन्होंने कैसा विपर्यास किया है, उसे अब हम देखें।

अहोबल ने तो यों लिखा है—'षड्जपञ्चमभावेन षड्जे ज्ञेयाः स्वरा बुधैः।' अर्थात् 'षड्जे' यानी षड्जग्राम में षड्जपञ्चम-भाव से स्वर-संवाद होता है। अर्थात् षड्ज के साथ पञ्चम का, ऋषभ के साथ धैवत का, गान्धार के साथ निषाद का और मध्यम के साथ तार षड्ज का संवाद है, यही षड्जपञ्चमभाव ग्रंथकार को अभिप्रेत है। इस वचन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सा के साथ प मिलाया जाए, प के साथ उस (प) का प तार रे मिलाया जाए और इसी क्रम से सारे स्वर मिलाये जाएँ, जैसा कि पं० भातखण्डे समझाना चाहते हैं।

षड्जग्राम में षड्जपञ्चमभाव है, इस सम्बन्ध में भरत का वाक्य भी बहुत स्पष्ट है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि हम ने ऊपर जो अर्थ लगाया है, वही यथार्थ है। भरत कहते हैं:—

"यथा षड्जमध्यमौ, षड्जपञ्चमौ, ऋषभधैवतौ, गान्धारनिषादौ इति षड्जग्रामे। मध्यमग्रामेऽप्येवमेव षड्जपञ्चमवर्ज्यं पञ्चमर्षभयोश्चात्र संवाद इति।"

पुनः भरत कहते हैं :—

संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च। षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च॥

इस से यह भी स्पष्ट है कि पञ्चम-ऋषभ का संवाद षड्जग्राम में नहीं ही है। क्योंकि त्रिश्रुति ऋषभ के साथ चतुःश्रुति पञ्चम का संवाद संभव नहीं है। इसीलिये मध्यमग्राम के त्रिश्रुतिक पंचम के साथ त्रिश्रुतिक ऋषभ का संवाद कहा गया है।

सोमनाथ का निम्न कथन भी इसी अर्थ की पुष्टि करता है :—

सपयोः रिधयोश्चैव तथैव गनिषादयोः। संवादः संमतो लोके मसयोः स्वरयोर्मिथः॥

अर्थात् षड्जग्राम में स-प-रि-ध ग-नी और म-सा का संवाद है। रि-प या प-रि संवाद प्राचीनोक्त षड्जग्राम में नहीं है।

अहोबल के बाद का ग्रन्थ 'संगीत-सारामृत' भी उसी अर्थ को प्रतिपादित करता है। यथाः—

यत्र यत्र षड्जग्रामे शुद्धषड्जपञ्चमौ, शुद्धावृषभधैवतौ, शुद्धौ गान्धारनिषादौ शुद्धौ षड्जमध्यमावपि संवादिनौ भवतः। मध्यमग्रामे तु पञ्चमर्षभौ संवादिनौ भवतः।

'स-प-भाव' से अहोबल का अभिप्राय cycle of fifth से नहीं है।

ऊपर अहोबल की स्वर-व्यवस्था दिखाते समय जिस प्रकार स प भाव को लेकर पं० भातखण्डे ने विषयान्तर करके यूरोपियन cycle of fifth की ओर पाठकों का ध्यान मोड़ दिया है, तद्वत् श्रुति विषयक आधुनिक अन्वेषकों की चर्चा आरंभ करके पुनः दिशान्तर किया है, जो निम्नोद्धृत अंशों में दिखाई देगा।

पृ० ८७ "अब अहोबल के अन्य श्लोकों के अर्थ लगाने के पूर्व कुछ महत्त्व की बातें हम देख लें। हमारे श्रुति-स्वर-स्थापना करने वाले विद्वानों ने अपने विचार करीब दो साल हुए एक छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रसिद्ध किये हैं। इस पुस्तक में उन्होंने संस्कृत ग्रन्थकारों की प्रसिद्ध श्रुतियों और उन पर आधारित स्वरों का खुलासा पाश्चिमात्य आन्दोलन से और तार की भिन्न-भिन्न लम्बाई से किया है। इस प्रकार स्पष्ट लिखने की शैली अपने यहाँ के लिये कुछ नई होने से इस पुस्तक का काफी जयजयकार हुआ और वह योग्य ही हुआ। यद्यपि उनके मत ग्राह्य न हों, तब भी उन की लिखने की शैली अत्यन्त रुचिकर थी, यह कोई भी कहेगा। उनके लिखने से संगीताभिरुचिक विद्वानों में अपने आप काफी हलचल हुई। सुदैव से उन पंडितों ने अपने सारे ही आधार अपनी उस पुस्तक में क्रमवार कह छोड़े हैं। इसलिये किस ग्रन्थ का कौन सा भाग उन्होंने लिया और उसे वे ठीक से समझे हैं या नहीं, यह देखना पाठकों के लिये आसान हो गया।

प्र०—"उन्होंने श्रुति-स्वर-स्थापना के लिये किन ग्रन्थों का आधार लिया?

उ०—"उनके मुख्य सिद्धान्त 'रागविबोध' और 'पारिजात' इन दो ग्रन्थों पर ही आधारित थे। 'रत्नाकर' की श्रुति रचना तो तुम देख ही चुके हो। उसकी मदद से स्वर-रचना नहीं की जा सकती ऐसा दिखाई देगा। शार्ङ्गदेव

प्रचारानुसार स्वर गाता बजाता था इसलिए उसका स्वर-सप्तक हमारा बिलावल अथवा काफ़ी अथवा मुखारी समझा जाए, [यों कह देना या] यह विचार पाठकों पर थोप देना [उनको] शोभा न देता। प्रत्येक सिद्धान्त ग्रन्थ की भाषा से सिद्ध किया जाना चाहिए, ऐसा उन पंडितों को लगा हो तो आश्चर्य नहीं। ऐसे आधार रत्नाकर में न मिलने के कारण पण्डितों ने अपना कार्य सोमनाथ और अहोबल की मदद से पूर्ण किया। किन्तु इसमें तुम कौन सा मुद्दा ध्यान में रखोगे ? कहो, देखें !

प्र०—"हम ऐसा समझेंगे कि उन पण्डितों ने श्रुतियाँ और उन पर के स्वर शार्ङ्गदेव की मदद से स्थापित नहीं किये थे। वह रचना सोमनाथ और अहोबल के ग्रन्थों की सहायता से हो सकी है। किन्तु क्योंजी ! ये दो ग्रन्थकार तो बिल्कुल भिन्न पद्धति के हैं न ? कहते हैं कि एक पण्डित दक्षिण का और दूसरा उत्तर का है।

उ०—"तुम्हारा प्रश्न बराबर है। उन दोनों को जोड़ने का यत्न करने के कारण ही हमारे उन पण्डितों को बड़ी बड़ी अड़चनें आईं, ऐसा तुम अब देखोगे।"

प्र०—"तो फिर हमें उनकी विचारधारा बताइए।

उ०—"ठीक है, कहता हूँ। परन्तु मैं वह सारी विचारधारा उनके ग्रन्थों पर से उत्थित तर्कों के आधार पर ही कह सकूँगा। (संभव है) कहीं-कहीं वे तर्क यथार्थ नहीं भी होंगे। जिन तर्कों से उनके साथ अन्याय होगा, वहाँ मेरी ही भूल हुई, ऐसा समझना। (इस सम्बन्ध में) प्रथम मुझे एक ऐसा संशय आया कि जब उन पण्डितों ने अपनी पुस्तक लिखी होगी, तब सोमनाथ और अहोबल की पद्धति बिल्कुल भिन्न है, यह उनको दिखा ही न होगा। उन दोनों पण्डितों [सोमनाथ और अहोबल] ने तीव्र रि-ध स्वर कहे हैं, यह भी भूल का एक कारण हो सकता है। हमारे बिलावल थाट के रि ध तीव्र हैं, यह प्रसिद्ध ही है और उन दोनों स्वरों के आन्दोलन क्रमशः २७० और ४०५ है, यह भी [उन पण्डितों को] ज्ञात था। पाश्चिमात्य संगीत में major, minor और semi ऐसे तीन स्वरान्तर प्रसिद्ध थे। हमारे यहाँ भी बृहदन्तर, मध्यान्तर और क्षुद्रान्तर ये दीखते थे। इसलिये हमारे तीव्र रि-ध स्वर ही उन ग्रन्थों के तीव्र स्वर होंगे, ऐसा लगना स्वाभाविक था, और ऐसा उन्हें लगा भी, कारण तीव्र रि ध स्वरों के आन्दोलन उन्होंने सचमुच २७० और ४०५ रखे हैं। ये स्वर अहोबल के 'षड्जपञ्चम भाव' से सहज ही में निकलने वाले थे। परन्तु तीव्र रि ध स्वरों को ग्रन्थकार विकृत मानते हैं और उनके स्थान शुद्ध स्वरों से एक श्रुति ऊँचा मानते हैं। इसलिये शुद्ध स्वरों को तीव्र रि ध के नीचे मानना पर्याय से प्राप्त है। तीव्र रि ध स्वर ४-४ श्रुति के निश्चित हुए और उनका major अन्तर $\frac{9}{8}$ प्रमाण का ठीक जँचा। तीन श्रुति का यानी minor अन्तर समझने के लिये बिलावल थाट के रि ग के अन्तर की कीमत समझना आवश्यक था। पाश्चिमात्य पण्डितों का यह अन्तर $\frac{१०}{९}$ प्रमाण का है। $\frac{३००}{२७०} \times \frac{१}{२७०} = \frac{१०}{९}$—इस प्रकार वह निकलता है। (दो स्वरों का सम्बन्ध उनकी कम्पन—संख्या के भागाकार से कहने का प्रकार प्रसिद्ध ही है।) $\frac{१०}{९}$ प्रमाण मिलने से और उसका प्रयोग षड्ज के आगे करने से तीन श्रुति का अथवा शुद्ध रि निकलने वाला था। जैसे $\frac{२५०}{९} \times \frac{१०}{९} = \frac{८०३}{९} = २६६\frac{२}{३}$; उसी प्रकार पञ्चम के आगे $\frac{३६०}{९} \times \frac{१०}{९} = ४००$ का धैवत निकलना था। ऐसे आधुनिक स्वर प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में से निकलते ही या निकाल के दिखाते ही हमारे पुरातन पण्डितों की कीर्ति हुई ही समझो, ऐसा उन्हें (आधुनिक पण्डितों को) लगना संभव था।

प्र०—"फिर वह major अंतर वे कैसे लाये ?

उ०—"मैं कहता हूँ। वे भगीरथ प्रयत्न से ही उसे ला सके, ऐसा कहना पड़ेगा। वे कहेंगे कि तंबूरे पर की खरज की तार बजने से उसमें से अच्छे कान वाले लोगों को सूक्ष्म ऐसा तीव्र गान्धार सुनाई देता है और उसी प्रकार पंचम की तार से ऋषभ सुनाई देता है, यह अनुभव है। अब यहाँ तर्कशास्त्र लड़ाइए। यदि वह अनुभव आज हमें मिलता है, तो अहोबल और सोमनाथ सरीखे दिग्गजों को क्यों न मिला होगा ? प्रमाण देने का बोझ नाकबूल करने वाले पर रहेगा। तथापि इस तकरार का अन्त लाने के लिये हम कहते हैं कि वह सूक्ष्म स्वर (जिन्हें यूरोपियन पंडित harmonics कहते हैं) सोमनाथ ने अवश्य सुने थे। वह उन स्वरों को 'स्वयंभू स्वर' कहता है। अलबत्ता षड्ज से गान्धार और पंचम से ऋषभ सुनाई देता है, इस विषय में वह एक अक्षर भी अपने ग्रन्थ में नहीं कहता है, यह स्वीकार

है। परन्तु स्वयंभू यानी अपने आप उत्पन्न हुए स्वर, इतने इशारे पर से, अपने आप निकलने वाले स्वर harmonics हैं, ऐसा, जिसे थोड़ा सा कुछ ज्ञान होगा, वह सहज समझ सकेगा।

प्र०—"इसका आशय समझ मे नही आया।

उ०—"एकदम से वह आने वाला भी नहीं है। उस स्वयंभू की प्रार्थना करने के पीछे निराला ही हेतु है।

प्र०—"वह कौन सा?

उ०—"षड्ज में से जो गान्धार सुनाई देता है, वह तीव्र है और उसकी कंपन-संख्या ३०० है, यह पाश्चिमात्य पंडितों ने सिद्ध कर रखा है। इसलिये वह ग स्वयंभू की मार्फत लाना है।

प्र०—"पर इसकी क्या आवश्यकता है? अहोबल का षड्जपञ्चमभाव लगा कर देखो।

उ०—"तुम्ही देखो, वह वैसा आता है क्या?

प्र०—"लीजिये। तीव्र धैवत को सा मान कर वह भाव (षड्जपंचमभाव) लगाने से $\frac{४०५}{१} \times \frac{३}{२} = \frac{१२१५}{२} =$ ६०७½ का तार ग आएगा उसे एक सप्तक नीचे उतारा कि—हाँ, वह ३०३½ का ग आएगा, नहीं भला? यह अड़चन है सही। फिर स्वयंभू का क्या उपयोग?

उ०—"वहाँ ऐसी कल्पना करें कि सोमनाथ और अहोबल, हवा के भीतर के उस harmonics अथवा स्वयंभू ग को पकड के ३०३½ के ग को दुरुस्त कर लेते होंगे। एक बार ३०० कंपन का वह ग लोगों ने कबूल किया कि सारी स्वर-पंक्ति जुड़ गई। फिर जो है सो मात्र श्रुतियों की बात रही, वह देखी जाएगी। मैं भी यह सब तर्क से कहता हूँ। सत्य क्या होगा, वह ईश्वर जाने।"

टि० ऊपर के कथन को सूक्ष्म रूप से समझने से ज्ञात हो जायगा कि पं० भातखण्डे के तर्क का क्या रुख है और वास्तविक अर्थ को मरोड़ कर उन्होंने पाठकों की ऐसी दिशाभूल क्यों की है। पं० भातखण्डे को अपने जिस तर्क की सत्यता पर स्वयं सन्देह है, उस तर्क का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि सोमनाथादिक ग्रन्थकारों को स्वयंभू गान्धार को हवा में से पकड़ने के लिये आकाश में हाथ उछालने की जरूरत नहीं थी। जो गान्धार स्वयमव ठोक बजाकर अपना अस्तित्व सुना रहा हो, जिसे सामान्य विद्यार्थी भी सुन सकते हों, उसे भला किसी वैज्ञानिक को खोजने की आवश्यकता पड़ेगी? प्राचीनों ने भी उस गान्धार को सुना था और इसीलिये उसे अन्तर गान्धार कहकर अपने स्वरों में स्थान दिया था। और हम यह भी जानते हैं कि उसी के संवाद-रूप काकली निषाद को भी उन्होंने अपने स्वरों में समाविष्ट किया था।

इस युग में भी, जिन्हें कान हैं, जो सूक्ष्म स्वरों को सुन सकते हैं, वे सभी सामान्यतः घंटा, गिलास या अनुरणनात्मक नाद को उत्पन्न करनेवाले पदार्थों में से उन सूक्ष्म स्वरों को भलीभाँति सुनते हैं। 'चर्च' के विशाल घंटों से जो रव निनादित होते हैं, उसमें भी सुननेवाले कान उन सूक्ष्म स्वरों को, मानो प्रत्यक्ष हों, ऐसा अनुभव करते हैं। अभ्यासी जन प्रातःकाल में जब मन्द्रसाधना करते हैं, उस समय तानपुरे के भीतर से ये सब नाद उत्थित होकर कान में प्रवेश पाते हैं और आत्मा को प्रफुल्लित कर देते हैं। इतना ही नहीं नित्यप्रति मन्द्रसाधना करने वालों के कण्ठ के खरज से भी वह स्वयंभू गान्धार स्पष्ट सुनाई देता है। जिन्हें न सुनाई देता हो, उनकी क्या कहें? यह तो अभ्यास का ही विषय है। वह सूक्ष्म स्वर पुस्तक में नहीं सुनाई देगा, वीणा में से ही श्रवणगोचर होगा।

सब जानते हैं कि पं० भातखण्डे सुनने के लिये सदैव कान में एक यन्त्र लगाए रहते थे। संभव है इस बधिरता के कारण या स्वरों के निरन्तर अभ्यास के अभाव के कारण उन्हें वे सूक्ष्म स्वर सुनाई न दिये हों। इसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। किन्तु परानुभव की अवहेलना करना, उसका मज़ाक बनाना और उसके विरुद्ध तर्क लड़ाना, यही मात्र खेद का विषय है। इस समय वे स्वयं विद्यमान नहीं हैं, ऐसी अवस्था में 'कौन सुने कासे कहूँ ये दुख बतियाँ' वाली कहावत याद आती है। अस्तु। अब इस सम्बन्ध में अधिक

न कह कर हम उनके उस प्रकरण को देखें, जहाँ उन्होंने छोड़े हुए सूत्र को पुनः पकड़ कर रि – ध का स्थान बताया है।

पृ० ६४. प्र०—" सा ग म प नि—ये स्वर निर्विवाद हैं, ऐसा आपने कहा ही था।

उ०—" तुमने ठीक ध्यान में रखा है। हम जिन्हे तीव्र रि ध कहते हैं, अहोबल के वे तीव्र रि ध नहीं थे, यह मुद्दा तुम्हें अब ध्यान में रखना होगा। अहोबल अपना शुद्ध रि इस प्रकार कहता है—

सपयोः पूर्वभागे च स्थापनीयोऽत्र रिस्वरः।

इस श्लोकार्ध का क्या अर्थ लगाओगे, कहो तो ?

प्र०—"इसका सरल अर्थ तो ऐसा होगा। षड्ज और पञ्चम इन स्वरांतरों के पूर्व भाग में रि स्वर स्थापित करना। पूर्व और उत्तर ये [दो] भाग होंगे।

उ०—"यह सही है, परन्तु 'पूर्वभागे' यानी पूर्व भाग के अन्त में—ऐसा अर्थ तो नहीं ही लगेगा, कारण इस प्रकार ऋषभ स्वर मेरु से छै इञ्च पर आयेगा।

प्र०—"यानी शुद्ध रि और शुद्ध ग एक ही स्थान पर आएँगे, नहीं भला ! अच्छा, परन्तु 'पूर्वभागे' यानी पूर्वभाग के मध्य में, ऐसा अर्थ लें तो ?

उ०—"नहीं, ऐसा अर्थ भी स्वीकार्य होगा, ऐसा नहीं दीखता। तुम जो कहते हो, ऐसा अर्थ इसके पूर्व कुछ विद्वानों ने लगाकर देखा था। सन् १८९३ में श्रीमन्त गायकवाड़ सरकार पाठशाला खाते की ओर से 'संगीत पारिजात' का प्रथम गुजराती भाषान्तर प्रसिद्ध हुआ था। वह अनुवाद कै० वे० कृष्णशास्त्री सूरतकर ने किया था। उस विद्वान् सज्जन ने 'पूर्वभागे' यानी पूर्वभाग के मध्य में, ऐसा अर्थ किया था।

"मेरु से ३ इञ्च पर बोलने वाला वह ऋषभ बिलकुल असुविधाजनक है, ऐसा हमारे विद्वान् कहते हैं। मुझे भी उनका कहना यथार्थ दिखता है। अहोबल का वह अर्थ न होगा।

प्र०—"तो फिर हमारे उन विद्वानों ने क्या अर्थ निकाला !

उ०—"उन्हें अहोबल की भाषा में से पाश्चिमात्य पण्डितों के सारे स्वर उत्पन्न करने की इच्छा रही होगी, ऐसा उनके तर्कों से दिखता है।

"उन्होंने तर्क की प्रथम कोटि ऐसी लगाई। 'पूर्वभागे' इस पद से ऐसा समझा जाए कि अहोबल के मन में 'पूर्वभाग' 'मध्यम भाग' और 'उत्तर भाग' ऐसे तीन भाग बनाने की कल्पना रही होगी। पाठकों को यह जँचते ही अपने आप पूर्वभागे यानी मेरु से चार इञ्च पर शुद्ध रि निश्चित होगा। वह ऋषभ २७० आन्दोलन का है, कारण वह [घोड़ी से] ३२ इञ्च की तार का ध्वनिरूप है। कोई इस विचार-सरणी का आधार माँगे तो वे कहेंगे कि अहोबल ने आगे अपने श्लोक में 'त्रिभागात्मकवीणायां' 'भागत्रयान्विते मध्ये' वगैरह विशेषण बारम्बार प्रयुक्त किये हैं, इस पर से ऐसे ही तीन भाग करने का उसके मन में होगा, परन्तु ऐसा स्पष्ट लिखना वह भूल गया। वहाँ उसे ऐसा कहना चाहिये था—

भागत्रयान्विते मध्ये षड्जपंचमयोः पुनः। पूर्वभागे स्वरः स्थाप्यः शुद्धरिर्मर्मवेदिभिः॥

प्र०—"यह अर्थ हमें संतोषजनक नहीं मालूम देता है। जिसने पाँच जगह याद रख कर 'त्रिभागात्मक' वगैरह विशेषण लगाए, वह यहाँ प्रथम स्थान पर ही भूल गया ऐसा कैसे कह सकते हैं ? यह मुद्दा तो उलटा अध्याहार के विरुद्ध ही जाएगा। पाँच जगह स्पष्ट कहकर केवल यहीं पर जो पद उसने छोड़ दिया, वह उसे अभिप्रेत नहीं ही था, ऐसा कहना वाजिब होगा, नहीं क्या ? हमें तो उसके श्लोकों में कहीं भी 'खण्डित-भाव' नहीं दिखता है।

उ०—"तुम्हारे कथन का मुझे किञ्चित् भी गुस्सा नहीं है। पण्डितों को जो लगा, वह उन्होंने कहा, तुम्हें जो लगे, वह तुम कहो। खुद मैं तो अध्याहार का बिलकुल ही पक्षपाती नहीं हूँ। तुम्हारे कथन में न्याय नहीं है, ऐसा भी मैं कैसे कहूँ ? इसी मत के और भी कोई कोई विद्वान् मैंने देखे हैं।

प्र०—"सचमुच ! तब तो अच्छा ही हुआ। यह सुनकर हमारा ढाढ़स बँधा। अच्छा ! वे लोग इस मुद्दे पर क्या कहते हैं !

उ०—"उन्होंने स्पष्ट लिखकर प्रसिद्ध किया है कि अहोबल को शुद्ध रि ध स्वरों के स्थान निश्चित करना ही नहीं आया है। यद्यपि उनका मत हमें ग्राह्य न हो, फिर भी उनका यह तर्क मुझे भी ठीक लगा। इतना ही प्रश्न रह जाएगा कि अहोबल को ऐसा करना आया नहीं, या उसने जान बूझकर उसे टाल दिया। हमारे पंडितों की दशा फिर से यहाँ पर कुछ विचित्र सी ही हुई थी, उन्हें हिंदुस्थानी तीव्र रि तो चाहिए ही था, किन्तु उसे ले आएँ कैसे ? क्योंकि उसके आन्दोलन २७० होते हैं और मेरु से उसका अन्तर ४ इंच का होता है।

प्र०—"उनकी अड़चन ठीक से समझ में नहीं आई।' 'षड्जपंचमभाव से मेरे स्वर सम्भे जाएँ' ऐसा अहोबल ने स्वयं ही कहा है न !

उ०—"यह ठीक है, परन्तु उन्हें उस मार्ग में दूर-दृष्टि से अड़चनें दिखाई दी होंगी।

प्र०—"क्या अड़चनें होंगी भला ! सा का प और प का प रि और उसे ही एक सप्तक नीचे उतारा कि सुन्दर तीव्र रि मिला होता। उस रि का पाँचवाँ तीव्र ध और उस धैवत का पाँचवाँ तीव्र ग उसको एक सप्तक नीचे लाये कि—किन्तु ठहरिये, सचमुच वहाँ अड़चन है सही इस तरह वह जो तीव्र गान्धार आएगा, वह अहोबल का शुद्ध ग कैसे होगा ! वह सप्तक बिलावल सा होने लगेगा। अहोबल को तो शुद्ध गान्धार निषाद कोमल चाहिए न !"

टि० इस अड़चन से भी पाठक समझ जाएँगे कि पं० अहोबल को षड्जपंचम-भाव से वह अर्थ अभिप्रेत नहीं था, जो पं० भातखण्डे लगा रहे हैं।

उ०—"लो, तुम गान्धार पर कहाँ से पहुँच गए ! पहिले धैवत ही पर अटकना होगा।

प्र०—"वह कैसे ?

उ०—"अजी, तुम्हारी रीति से आनेवाला धैवत ४०५ कम्पन का तीव्र होगा। वह किसे स्वीकार होगा ! हमारे पण्डितों को उससे नीचे का, आँख-कान को सुन्दर लगनेवाला और पाश्चिमात्यों को भानेवाला (४०० कम्पन का) धैवत चाहिए हो, तो !

प्र०—"तो वहाँ अहोबल की व्याख्या है ही न !

उ०—"अहोबल कहता है 'सपयोर्मध्यदेशे तु धैवतं स्वरमाचरेत्' कृष्णशास्त्री ठहरे सीधे सादे शास्त्री। उन्होंने 'मध्यदेशे' पद का पुनः वही अर्थ (मध्यस्थान में) लगाया और चूके। मध्यस्थान पर जो धैवत आएगा, उसके आन्दोलन तीव्र धैवत से ऊपर ही जाएँगे। वह अर्थ गलत ही है, इसमें संशय नहीं।

प्र०—" आपका यह कथन सत्य है। वह धैवत 'षड्जपंचमभाव' के नियम का भी उल्लंघन करेगा, ऐसा हमें दिखाई देता है।

उ०—"खुला ही है। हमारे कल्याण बिलावलादिक रागों का तीव्र धैवत ४०५ आन्दोलन का है, यह बहुसम्मत है।"

टि० बहुसम्मत नहीं है, न कभी हो सकता है। पं० भातखण्डे भले ही कहते हों कि ४०५ का धैवत बहुसम्मत है, किन्तु यहाँ स्पष्ट करना समुचित होगा कि वह धैवत न लक्ष्यसम्मत है, न गुणीजनसम्मत है, न स्वरज्ञ विद्वज्जनसम्मत है और न ही बहुसम्मत है। वास्तव में क्रियाकुशल गुणी ही इस विषय में प्रमाण हैं। बहुसम्मति इसी प्रमाण पर आधारित होनी चाहिए। इसलिए बहुसम्मत धैवत तो ४०० कंपन का ही है, ४०५ का नहीं। इस लक्ष्यसम्मत सत्य को हम कभी ओझल न होने दें।

"वह धैवत २१½ इंच लंबी तार का ध्वनिरूप है, यह सहज सिद्ध किया जा सकेगा। अब बताओ, अक्ल दौड़ाने का मौका आया कि नहीं ! तुम हम बड़ी सड़क से जाने वाले तो कह देंगे कि—"षड्जपंचमभावेन षड्जे ज्ञेया स्वरा बुधैः"—और अपना धैवत स्थापित करेंगे। किन्तु—!

प्र०—"किन्तु वह धैवत जिन्हें अपेक्षित नहीं है, वे क्या कहेंगे ?

उ०—"उनका प्रकार कुछ उद्दण्ड सा होगा। कदाचित् वे कहेंगे कि 'यदि ग्रन्थकार ने अपना वर्णन सन्दिग्ध रखा है, तो हम जो अर्थ लगाएँ, वही उसे चुपचाप मान लेना चाहिए। हम उसके हित का ही और उसकी कीर्ति को बढ़ाने वाला ही अर्थ करेंगे। उसे शंका करने का अधिकार ही नहीं है। हमें बड़ी बड़ी दिक्कतों से पार होना है। इसलिये हमारे काम में विघ्न उपस्थित न करना ही उस (ग्रन्थकार) के लिए श्रेयस्कर है। हम स्पष्ट कहते हैं कि हमें तो ४०० आन्दोलन का ही धैवत चाहिए। अहोबल को वह चुपचाप मान लेना चाहिए, ऐसी हमारी उसे सलाह है। लिखते हुए लिख जाना उसके लिए आसान था, किन्तु उसकी दिक्कतों से निस्तार पानेवालों को कितने उपद्रव का सामना करना पड़ेगा, इसका उसे विचार करना चाहिए था। कह दिया—'षड्जपंचमभाव से मेरे स्वर निकाल लो'। कहते हैं 'टके-सी ज़बान हिला ली'। ४०५ के धैवत से तीव्र ग, तीव्र नी, तीव्र म, ये स्वर जैसे हमें चाहिए, वैसे फिर कौन ला देगा ? और यदि ये सारे स्वर सुविधा से हमें न मिलते हों तो हम अहोबल का कहना क्यों मानें ?"

टि० वास्तव में पं० भातखण्डे को ४०० का धैवत नहीं चाहिए, उन्हें तो ४०५ का ध चाहिए।' उस ४०५ कंपन के धैवत को पाने के लिए ही यह सारा घटाटोप है। जिस अहोबल के शब्दों का विपर्यस्त अर्थ निकाल कर वे अपने मत की पुष्टि की इच्छा रखते हैं, उसी अहोबल पर, अन्य पण्डितों के नाम के बहाने, कैसा घोर अवहेलनायुक्त कटाक्ष करते हैं! यहाँ पं० भातखण्डे ने शास्त्रकारोचित वैदग्ध्य से काम न ले कर वकालत के ढङ्ग का सहारा लिया है। यह सच्चे जिज्ञासुओं को अखरना स्वाभाविक है। हम जानते हैं कि आज के युग में सामान्य जनसमूह को कानून और कानूनगो का जो अनुभव है, वह तो यही कहेगा कि कानून का विपरीत अर्थ लगा कर उसे अपने अनुकूल बनाने में ही कानूनगो अपना कौशल समझते हैं। वास्तव में सत्य की सिद्धि के लिए तर्क करना, यही समुचित मार्ग है। उसी से श्रेय की प्राप्ति होती है। क्या ही अच्छा होता यदि पं० भातखण्डे वकील न होते, या कम से कम संगीत शास्त्र को उन्होंने वकालत से अछूता रखा होता। हम जानते हैं कि महात्मा गांधी ने मानव-जीवन को कलुषित, द्वेषमय और दुःखमय बनाने के लिए वकीलों और डाक्टरों को दोषी ठहराया है। शरीर के रोग डाक्टरों ने और मन के रोग वकीलों ने बढ़ाए हैं। इसमें अपवाद अवश्य हैं, किन्तु सामान्य जनसमूह की जो धारणा है, वह जीवन में प्रतिपल देखी जाती है। कम से कम संगीत शास्त्र ऐसे वकालतभरे तर्क-वितर्कों से अतीत रहता तो परम कल्याण होता। अस्तु।

पं०भातखण्डे के कथन को हम और आगे पढ़ें।

प्र०—"परन्तु यह न्यायसंगत कैसे होगा ? क्षण भर पूर्वभाग के तीव्र रि को स्वीकार कर लिया जाएगा, तो तीव्र ध अपने आप संवाद रूप से आएगा ही। अहोबल को तीव्र गान्धार-निषाद अपेक्षित नहीं ही थे। इसलिए उसने षड्जपञ्चमभाव को तोड़कर, जान-बूझ कर तार की लम्बाई से अपने शुद्ध ग नी कहे होंगे, ऐसा हम कह सकते हैं। उन दो स्वरों में तो संवाद है ही। हमें तो उसका कहना ठीक ही लगता है।

उ०—"यह सब ठीक है, परन्तु वह नहीं ही जुड़ेगा।

प्र०—"तब किससे जुड़ेगा ?

उ०—"अजी, यों देखा कि ४०५ कंपन का शुद्ध ध स्वीकार किया जाय तो बिहाग, कल्याण बिलावल वगैरह अहोबल के रागों के लिये [वह धैवत] उत्तम सुविधाजनक होगा, यह कोई भी कहेगा। किन्तु शुद्ध सप्तक में यह ४०५ का धैवत पाश्चिमात्य पंडितों को कैसा लगेगा, हमें इसका भी विचार करना चाहिए। उस धैवत से Siren पर तत्काल Beats होने लगेंगे न ?"

टि० पाश्चात्य ग्रन्थकारों की सहायता से पं० भातखण्डे स्वयं जानते हैं कि ४०५ के धैवत से Siren पर Beats बजेंगे। फिर भी न जाने क्यों वे ४०५ के धैवत को पकड़े बैठे हैं और उसे अहोबल के गले पर मढ़ते हैं। संवाद-दृष्ट्या कोई भी गुणी अपनी गायन-वादन-क्रिया में ४०५ के धैवत का प्रयोग नहीं करते हैं,

क्योंकि सतत झंकृत होनेवाले षड्ज के साथ उसका पंचश्रुति का अन्तर है, जो विवादी है। संवाद, जो भारतीय संगीत का प्राण है, उसीका जहाँ भंग होता हो, उस स्वर को गुणीजन छुएँगे तक नहीं। पं० भातखण्डे ने क्या समझकर इस विवादी धैवत को भारतीय संगीत का लक्ष्यसम्मत स्वर मान लिया है? आज व्यवहृत होनेवाला धैवत ४०० का ही है, ४०५ का नहीं। फिर भी अपनी गृहीत मान्यता को पुष्ट करने के लिए वे कैसे कैसे तर्क करते हैं और कहते हैं—

प्र०—"अहोबल को उसकी चिन्ता क्यों? वह Siren क्या जाने? अपनी स्वर-संगतियाँ वह क्यों बजाएगा? और Beats उसे क्यों चुभेंगे! हम तो कहेंगे कि Beats वगैरह कुछ न देखते हुए उसकी भाषा का हम सरल अर्थ लगाएँ; वही बेहतर होगा। परन्तु उस 'मध्यदेश' का फिर क्या अर्थ लगाया गया?

उ०—"कहता हूँ। वह भी एक मज़े की कहानी है। 'मध्यप्रदेशे' यानी पञ्चम और तार षड्ज के बीच के किसी अन्तर में हमें जहाँ सुकर हो, परन्तु, जहाँ तक हो सके वहाँ तक मध्य के आसपास, ऐसा अर्थ पसंद किया गया।

प्र०—"यह सुन कर तो मात्र हमें हँसी आती है बाबा। मध्यभाग के आसपास तो उल्टा ४०५ आंदोलन का धैवत ही आया होता।

उ०—"अच्छा! ऐसा हुआ क्या? तो वह भाग छोड़ दो। हमारे पंडित शायद कहेंगे कि 'हमारा वहाँ कोई आग्रह नहीं। चाहे सो करो, किन्तु हमें हमारा ४०० आंदोलन का धैवत ला दो। हमारी कई महत्व की बातें उसी पर अवलंबित हैं। यदि तुम्हारी बुद्धि से वह न निकलता हो तो हमें अपनी बुद्धि का उपयोग करना होगा। एक बार ४०० का धैवत हमारे हाथ में आने तो दो, वह आते ही हम पाश्चात्य पंडितों को क्षण भर में चकित कर छोड़ेंगे।' परंतु यह सब मैं उनके लेखों को पढ़कर तर्क से ही कह रहा हूँ, भला?

टि० 'सपयोर्मध्यदेशे तु धैवतं स्वरमाचरेत्।' इस वचन की ओर सूक्ष्मता से ध्यान देने से पता चलता है कि 'सपयोर्मध्यदेशे' अर्थात् सा और प के बीच के अवकाश में धैवत है, इस वचन से ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि तार षड्ज और मध्य पंचम के दर्म्यान धैवत का स्थान है। दर्म्यान या मध्यदेश का अर्थ बीचोंबीच नहीं। किन्तु इसी शब्द के सम्बन्ध में अर्थ लगानेवाले खींचातानी करते हैं और त्रिश्रुतिक या चतुःश्रुतिक अर्थात् ४०० या ४०५ कंपन के धैवत कीजगह अपने २ मतानुसार स्थिर करने का यत्न करते हैं।

पृ० १०० प०—"यह ४०० आन्दोलन का शुद्ध धैवत न जाने कान को कैसा लगता होगा?

उ०—"लगता होगा त्रिशंकु जैसा। न वह तीव्र ही है, न कोमल ही। उसमें भी सामान्य कानों को तो वह (तीन श्रुति का ४०० कंपन वाला) धैवत कुछ तीव्र की ओर झुकता हुआ सा ही दिखाई देगा। इस पर भी यदि गायक वादक चाहें तो अपने कल्याण, बिलावल, छायानट, बिहाग [इसी धैवत पर] निभा लें। एक श्रुति का फरक वहाँ कौन जाँचने जाता है और वह उन्हें क्या मिलेगा!"

टि० पं० भातखण्डे इस ४०० आन्दोलन के धैवत को त्रिशुंक कह रहे हैं, आश्चर्य है। जिन्हें कान हैं, जो वीणा या सितार बजाते हैं, जो तानपुरे पर गाते हैं और स्वर-संवाद को समझते हैं, वे भली भाँति जानते हैं कि वे जब भी गाते या बजाते हैं, तब वे 'खरज' की तार से निकलने वाले ३०० कम्पन के स्वयम्भू गान्धार के साथ संवाद करने वाले ४०० कम्पन का धैवत ही प्रयुक्त करते हैं। साथ ही वह धैवत षड्ज के साथ भी षट्श्रुति संवाद करता है चाहे वे कल्याण, बिलावल, नट, बिहाग आदि राग बजाते हों, वे भूल कर भी ४०५ के धैवत का प्रयोग नहीं करेंगे।

शास्त्र का न जानने वाले गायक-वादक भी वही ४०० का धैवत लगाएंगे, उससे चढ़ा हुआ ४०५ का धैवत उन्हें बेसुरा ही प्रतीत होगा क्योंकि उस धैवत का षड्ज से पाँच श्रुति का अन्तर होता है, जो कि सर्वथा विवादी है।

यह ४०० का धैवत, जो त्रिश्रुतिक है, वह षड्जग्राम में प्रयुक्त होने वाले त्रिश्रुति ऋषभ के साथ संवाद करता है। षड्जग्राम में जो 'षड्जपञ्चम भाव' कहा गया है, वह इसी ऋषभ धैवत के संवाद को सूचित करता है।

षड्ज के साथ षट्श्रुति अन्तर से तथा गान्धार के साथ नवश्रुत्यन्तर से संवाद करने वाले एवं 'सायरन' पर Beats बजने के डर को निर्मूल करने वाले उस ४०० कंपन के धैवत को, जो कि गान-वादन की क्रिया में नित्य प्रयुक्त होता है, उसे छोड़ कर पं० भातखण्डे ने ४०५ कंपन के धैवत को अपने स्वर सप्तक में स्थान दिया है। और उसी की पुष्टि के लिए वे बारंबार इधर उधर से भिन्न भिन्न तर्क करते हैं। पाश्चात्य दृष्टि से जो धैवत Siren पर Beats उत्पन्न करने के कारण त्याज्य माना गया है एवं भारतीय कला और कलाकार स्वर-संवाद की दृष्टि से जिस धैवत को निषिद्ध मानते हैं, उसी के लिए पं० भातखण्डे अपनी गृहीत मान्यता के कारण अनावश्यक वकालत करते हैं और पाठकों का बुद्धिभेद करने का यत्न करते हैं। आज ऋषभ यद्यपि चतुःश्रुतिक है, किन्तु धैवत हम त्रिश्रुतिक ही बरतते हैं। इस धैवत के साथ षड्जग्रामिक त्रिश्रुति ऋषभ का और तानपुरे से उत्थित ३०० कंपन के गान्धार का संवाद होता है, आज के चतुःश्रुति ऋषभ का नहीं।

आन्दोलन-संख्या या श्रुति संख्या से अनजान रहते हुए भी स्वर-संवाद के सहारे, कुशल कलाकार अपेक्षित स्वर स्थानों का ही प्रयोग करते हैं। इस सब शुष्क चर्चा के पीछे जीवन बिताने का उन्हें अवकाश नहीं होता है। उन्हें तो नित्यप्रति उन स्वर-श्रुतियों की साधना में, रागों में उनका यथोचित प्रयोग करने में और परंपरा को निभाने के लिए दिवा को रात्रि में और रात्रि को दिवा में परिणत करने तक के घोर परिश्रममय अभ्यास में अपने आपको लीन रखना पड़ता है। तभी वे क्रियाकुशल हो सकते हैं। जिन्हें ४०० और ४०५ का झगड़ा मचाकर उस विवादी सुर के लिए विवाद करना हो, वे भले ही करते रहें। गायक वादक उनकी बातों को सुनेंगे और आपस में कहेंगे कि—'भई! यह ४०० का धैवत क्या है और ४०५ का क्या है, यह हमारी बला जाने। हम तो इतना ही जानते हैं कि सुर के साथ सुर मिला या नहीं।" शास्त्रीय चर्चा करनेवाले पण्डित इन गुणियों के उपेक्षानिष्ठ मौन को सम्मति मान लेते हैं। वास्तव में यह सत्य और तथ्य से अतीत है। वास्तवदर्शी, ऐसे शब्दच्छल को सदैव अनादर भाव से देखते हैं, उसे सत्य का विरोधी मानते हैं और अनृत का अनादृत प्रचार कहते हैं। अस्तु।

अब हम पं० भातखण्डे के ही शब्दों में आगे बढ़ें।

प्र०—"फिर भला यह शास्त्र कैसा! ऐसा प्रकार लोग कैसे पसन्द करेंगे!

उ०—"अरे भाई हमारा रहा। तुम्हें अपनी कोई युक्ति सूझे तो बताओ।

प्र०—"हमें तो अहोबल का कथन यथायोग्य ही लगता है। आप की यदि परवानगी हो, तो हम मुक्त मन से, जो हमें लगता है, सो कहें।

उ०—"जरूर कहो ऐसी परवानगी मैंने तुम्हें कभी की दे रखी है।

प्र०—"हमारे मत से अहोबल का शुद्ध थाट आप जो मानते हैं, वही काफ़ी थाट है, यानी उसमें ध तीव्र और ग-नी कोमल—ये स्वर हैं।

उ०—"किस आधार पर! निराधार कल्पना कोई स्वीकार नहीं करेगा। हाँ, कहो देखें!

प्र०—"आपने अहोबल का नियम 'षड्ज-पंचमभाव' से कहा है; उस आधार पर।

उ०—"किन्तु 'पूर्वभागे' और 'मध्यदेशे' इन शब्दों का अर्थ सयुक्तिक होना चाहिए न, वह कैसे होगा!

प्र०—"वह उत्तम होगा, देखिए। षड्ज और पंचम के बीच का जो अन्तर है, उसके 'पूर्व' और 'उत्तर' यों दो भाग करने के लिये अहोबल कहता है। यानी प्रत्येक भाग ६ इंच का होगा। 'पूर्वभागे' यानी पहिले ६ इंचों के भाग में षड्जपञ्चम-भाव से बनाया गया शुद्ध रि आएगा, ऐसा वह कहता है। और वह बराबर है। 'सा' का 'प' और 'प' का 'प' यानी तार 'रे'—उसे मध्य सप्तक में लाने से वह चार इञ्च पर आएगा और वह स्थान पूर्व भाग में है ही न! उस रि का संवादी तीव्र 'ग' भी 'प' और तार षड्ज के मध्य देश में है ही।

उ०—"यानी मालूम देता है तुम इन श्लोकों का अर्थ ऐसा लगाओगे—"सपयोः पूर्वभागे षड्जपञ्चमभाव-मनुल्लंघ्य यथा स्यात्तथा रिस्वरो देयः। सपयोर्मध्यदेशेऽपि षड्जपञ्चमभावमनुल्लंघ्य यथा स्यात्तथा धैवतः स्याप्यः।" इस प्रकार कुछ भी अध्याहार न रखते हुए तीव्र 'रि' 'ग' स्वर मिल जाते हैं एवं 'पूर्वभागे' और 'मध्यदेशे' ये पद भी जुड़ जाते हैं। यही न? यह विचार-सरणी ठीक मालूम देती है। किन्तु हमारे पण्डितों को वह कैसे पसन्द पड़ेगी? उन्हें सुन्दर सा तीव्र गान्धार चाहिये। [यानी वही स्वरज से स्वतः निकलने वाला ३०० कंपन का गान्धार] वह तुम्हारे ४०५ कंपन के धैवत से थोड़ा सा बिगड़ जायगा। सो?

प्र०—"वह कैसे और कितना बिगड़ेगा?

उ०—"थोड़ा सा बिगड़ेगा। अहोबल कहता है—'मेरुधैवतयोर्मध्ये तीव्रगान्धारमाचरेत्'—४०५ का धैवत लिया जाए, तो मेरु से उसका अंतर १४$\frac{2}{3}$ इञ्च होता है। इस अंतर का आधा भाग किया जाय तो ७$\frac{1}{3}$ आएगा और उस स्थान पर उत्पन्न होने वाला तीव्र ग ३०१$\frac{1}{3}$ अंश कंपन का आएगा। किन्तु पाश्चिमात्यों को बराबर ३०० कंपन का 'ग' चाहिये।

प्र—"कैसी विचित्रता है! ४०० के 'ध' को लेते समय हम ५ कंपन संख्या को छोड़ने के लिये तैयार हैं और एक आन्दोलन हमें चुभेगा! एक आन्दोलन से वीणा पर गान्धार का कितना सा स्थान बदलेगा! एक आन्दोन के लिये ग्रंथ के सरल अर्थ का विपर्यास करना कैसे शोभा देगा! ग्रंथकार का षड्जपंचम-भाव का नियम एक ओर क्यों धकेल दिया जाए! अहोबल को स्वरों के कंपन का क्या पता होगा!

उ०—परन्तु फिर पाश्चिमात्यों को आन्दोलनों में अथवा तार की लंबाई में हम सुन्दर सा Progression लाकर कैसे दिखा सकेंगे!

प्र०—क्षण भर ऐसा समझ लें कि पाश्चिमात्य पण्डितों के मतों से अपने मत को सुसंगत करने की हम पर कोई जिम्मेवारी नहीं है तो फिर हमारा कहा हुआ खुलासा सयुक्तिक होगा या नहीं?

उ०—हाँ। ऐसा कहें तो वह सुविधा जनक होगा। तुम्हारा उत्पन्न किया हुआ काफ़ी थाट अहोबल के रागों को जरा भी अखरेगा नहीं, यह मैं कबूल करने को तैय्यार हूँ। परन्तु उस ४०५ के धैवत से और तीव्र ग के एक अधिक आन्दोलन से पाश्चिमात्य दृष्टि से अहोबल उत्तम गणिती नहीं कहलाएगा यह भी उतना ही सत्य है।

प्र०—उसे ऐसा कहलाना ही चाहिये क्या! हमारे सारे संगीत पण्डित गणिती थे, पश्चिम में उनकी ऐसी ख्याति है क्या!

उ०—ऐसा मैंने कहीं पढ़ा तो नहीं है। एक साहब ने तो उल्टे ऐसा कहा है।

'In strong contrast to the Persians, the inhabitants of the great Peninsula appear to have sedulously avoided applying mathematics to their scales; and though the Indian Scales are even more complicated and numerous than the Persian, they have been handed down from generation to generation for ages purely by aural tradition. Unfortunately this avoidance of mathematics has caused the subject of Indian Scales to be extremely obscure, and the extra-ordinary highflown imagery which is used in Indian Treatises on Music renders the unravelling of their system the more difficult. The method for arriving

at the actual scales used by musicians is to ascertain the exact length of the subdivisions of the strings which are indicated by the positions of the frets upon the lute-like instrument called the Vina, which has been in universal use for many hundreds of years and to test and compare the notes which are produced by sounding the strings when stopped at such points. The frets are supposed to mark the points at which the strings should be stopped with the finger to get the different notes of the scale ; but in practice a native player can always modify the pitch by making his finger overlap the fret more or less and thereby regulate the fret to get the interval which tradition taught him to be the right one. In fact the frets on difierent instruments vary to a considerable degree ; even the octave is sometimes too low and sometimes too high ; but through examining a number of specimens a rude average has been obtained which seems to indicate a system curiously like the modern European system of twelve notes. But it is clear that this can be only a rough approximate scheme upon which more delicate variations of relative pitch are to be grafted, for the actual system of Indian Scale is too complicated to be provided for by a mere arrangement of twelve equal semitones.

As in the case of the Persian and Arabic systems the Indian Scale does not come within the range of intelligible record till it is tolerably mature and complete from octave to octave. In order to get a variety of major & minor tones and semitones, the scales were in ancient times divided into twenty-two small intervals called 'Shrutis', which were a little larger than quarter-tones. A whole tone contained four Shrutis, a three-quartertone three, and a semitone two. By this system a very fair scale has been obtained in which the fourth and fifth were very nearly true, and the sixth high, the Pythagorian. In what order the tones and semitones where arranged, seems to be doubtful, and in modern music the system of twenty-two Shrutis has disappeared and a system of the most extra-ordinary complexity has taken its place."

टि० पं० अहोबल अच्छे गणिती थे, यह निःसन्देह है। उनके ग्रन्थों में वर्णित अपार मूर्च्छना-प्रकरण, तानों के प्रस्तार-प्रकरण इत्यादि में दी हुई calculations से यह स्पष्ट है।

भारत का प्राचीन गणितशास्त्र कितनी उच्चकोटि पर स्थित है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वपीठाधीश जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीभारतीयकृष्ण तीर्थ के वैदिक काल के गणित पर व्याख्यान जिन्होंने सुने हैं, वे पूर्णतया जानते हैं और अपने पूर्वजों की गणितसिद्ध गुण-गरिमा से गौरवान्वित होते हैं। विश्व को गणित का ज्ञान देनेवाले भारत के प्राचीन ग्रन्थकार गणिती नहीं थे, ऐसा कहना, यह सत्य का अनादर है। वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थकारों ने श्रुति-स्वरों में गणित का सम्बन्ध जोड़ना अनावश्यक समझा होगा। श्रुति-स्वरों के अन्तर को मापकर देखने के लिये अहोबल के सदृश जिन्होंने गणित का उपयोग किया है, उन सबने भी अनुभव पाया है कि गणित से स्वर-श्रुतियाँ पूर्णरूप से सुलझती नहीं हैं। गणित से स्थापित स्वर या श्रुति को जब कान 'जज' बनकर जाँचता है, तब उनका यथायथरूप प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये सूक्ष्म नाद को जाँचकर

उसकी नपी-तुली अवस्था में उसे ग्रहण करनेवाला कान ही इन ग्रन्थकारों ने आधारभूत माना है। कान ही उनका मुन्सफ़ रहा और उस मुन्सफ़ का दिया हुआ न्याय त्रिकाल के लिये अबाधित माना गया। खैर! पं० भातखंडे आगे कहते हैं :—

प्र०—"एक प्रश्न पूछ लेने का दिल में आया है। हमारे विद्वानों ने अहोबल का शुद्ध धैवत इतने प्रयास से ४०० का निश्चित किया, तो ४०५ का 'ध' उनके किसी काम में नहीं आता है क्या?

उ०—"यह पूछ लिया, यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो बड़ा अन्याय होता। ४०५ कंपन का ध वह अपने संग्रह में अवश्य रखते हैं, किन्तु उसे तीव्र 'ध' कह कर श्रुति के खाते में जमा किये रहते हैं।

प्र०—"वे उसका कहीं उपयोग करते हैं?

उ०—"यह मैं नहीं कह सकूँगा, कारण उनका राग-विचार अभी आने वाला है [प्रकाशित होने वाला है।] कल्याण, बिलावल, बिहाग वगैरह रागों में वे तीव्र रि-ध का उपयोग करते होंगे, ऐसी मुझे आशा है।

'किन्तु ४६२ – ४६६ श्लोकों में तो अहोबल पुनः कहता है कि मैं अपने रागों में तीव्र रि-ध का कभी उपयोग नहीं करूँगा। कल्याणादिक रागों में वह केवल शुद्ध रि-ध ही प्रयुक्त करता है।

प्र०—"मालूम होता है फिर से अड़चन आएगी।

उ०—"४०५ के धैवत को शुद्ध समझने से (सब) ठीक जम जाता है, किन्तु वहाँ Siren खटकता है। सारांश यही है कि जहाँ जहाँ अहोबल शुद्ध धैवत मांगेगा, वहाँ वहाँ हमारे पंडित उसे ४०० का धैवत देंगे। फिर उसके रागों का चाहे जो हो।

प्र०—"मालूम देता है शुद्ध धैवतवाले उसके बहुत से राग होंगे।

उ०—"हाँ, हाँ, तो। उनमें से कुछ कुछ राग तो बिल्कुल सामान्य और लोकप्रिय भी हैं। किन्तु शास्त्र सो शास्त्र; वह किसी की लाज थोड़े ही रखेगा? पंडित कहेंगे कि सशास्त्र होने की कामना हो तो जिसे हम कहें, उस स्वर को स्वीकार करो और [यदि] कुछ भी कर्कश चिल्लाना हो तो अपने मत से चलो।

"अहोबल के ग्रन्थ में कल्याण, बिलावल, बिहाग, छायानट, सोरठ, धनाश्री, देवगिरि, काम्बोधी, शंकराभरण वगैरह रागों में (जहाँ जहाँ) शुद्ध 'ध' कहा गया है, मैं वहाँ बखुशी अपना तीव्र 'ध' समझता हूँ। मैं तुम्हें मुक्त मन से कहूँगा कि खुद मुझको अहोबल के गले में ४०० कंपन का धैवत पहिनाने की तनिक भी हवस नहीं है। उसका शुद्ध ध मैं ४०५ का ही [मानकर] प्रयुक्त करता हूँ। यह मैं कह ही चुका हूँ। मुझे उसके रागों का उपयोग करना अधिक पसन्द है। वह [अहोबल] कहता है कि मेरा तीव्र ग मेरु और शुद्ध ध के मध्यभाग में होगा। वहाँ उसकी भूल १९३ कंपन की होती है। मुझे लगता है ऐसा गान्धार वीणा पर मेरु और धैवत के बीच में अहोबल को दिखेगा। एक आन्दोलन से पर्दे की जगह में कोई विशेष फ़रक होगा, ऐसा मैं नहीं समझता हूँ। मैं कहूँगा कि हमारे श्रुति-पण्डित भी ऐसी भूल करेंगे। परंपराप्राप्त 'ग' से सभी परिचित होते हैं, और उसी [स्वर] ज्ञान की मदद से हम पर्दे बाँधते हैं औतार मिलाते हैं। हमारे गायक वादकों ने भला किस जन्म में ये आन्दोलन सुने होंगे? ३०० [कंपन] का 'ग' उत्पन्न करने के लिये यह ४०० का ध उल्टा सुल्टा उत्पन्न करने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं। उस धैवत से अहोबल के कुछ राग भी बिगड़ जाएँगे। और [उससे] आज उसका जो कुछ उपयोग हमें हो रहा है, उसे हम गँवा बैठेंगे। यह अपना अंतरंग मत मैं तुम्हें कह छोड़ता हूँ।"

टि० पं० भातखंडे की विचार-सरणी, उनकी तर्क-पद्धति, स्वमत-प्रतिपादन के लिए अर्थों का विपर्यास, प्रश्नोत्तर शैली में पाठकों और विद्यार्थियों की दिशाभूल करने का यत्न वगैरह उन्हीं के शब्दों में हमने देख लिये। अधिक अवतरण की आवश्यकता न समझ कर हम यही कहेंगे कि पं० भातखंडे ने स्वयं गाकर या बजाकर स्वरों को देखा होता, सुना होता, समझा होता, जाँचा होता, ग्रन्थों के साथ उन्हें मिलाकर नापा होता, वीणा पर बँधे हुए पर्दों को टटोल कर, उनके नादों को सुनकर, उनके संवाद को साधकर स्वानुभव लिया

होता, तो शास्त्र की, ग्रन्थकारों की, श्रुति-स्वरों के सम्बन्ध की और तार पर स्थित स्वरों के स्थानों की ऐसी विडम्बना कभी न होती, अशास्त्रीय और असमंजस बातें न लिखी जातीं और न प्रचारी जातीं।

अब पं० भातखण्डे के अपने श्रुति-स्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों के निष्कर्ष रूप में उनके कुछेक उद्धरण देकर इस तन्त्री का उपसंहार करना समुचित होगा।

हि० सं० प० भा० २

पृ० ११३ "१—श्रुति यानी एक सूक्ष्म स्वरान्तर समझा जाए। उसके भाग नहीं हैं और नियमित नाप नहीं है।

"आगे चलने के पूर्व एक बात अवश्य ध्यान में रखो कि मैं अपने निजके श्रुति—सिद्धान्त अभी नहीं कह रहा हूँ। हाँ—हमारे विद्वानों ने जो जो बातें प्रसिद्ध की है, वह और उन पर अपने प्रामाणिक तर्क ही में तुम्हें कह रहा हूँ।

२—"मुख्य १२ स्वर-स्थान हमारे संगीत के द्वादश प्राण बन कर बैठे हैं। उन की अस्वीकृति से हमारे यहाँ और पश्चिम में [हमारा] उपहास होगा। इसलिये उन्हें ढहने नहीं देना चाहिये। उन स्थानों को आधार-स्तम्भ समझ कर उन्हीं के आगे पीछे श्रुतियों को भरना है। तीसरी बात जरा नाजुक है। किन्तु वह भी ध्यान में रखो।

३—"पाश्चिमात्य ग्रन्थकारों की विशेष खोज अथवा उनके विशेष सिद्धान्त—यथा major tone, minor tone इत्यादिकों के प्रमाण जहाँ व जितने लगाए जा सकें, उतनी मात्रा में [हमारी] पद्धति की शोभा ही है।

४—"ग्रन्थकारों ने स्वरों की [जो] श्रुतिसंख्या कही हैं, उन्हे ठीक से संभाल कर रखा जाए। आन्दोलन तो उन्हें ज्ञात नहीं ही थे। इसलिये वहाँ हमे पर्याप्त मुक्तता रहेगी।

५—एक श्रुति, दो श्रुति, तीन श्रुति और चार श्रुति के ऐसे ढाँचे अथवा अन्तर हमारे पास तैय्यार रखे जाएँ [क्योंकि हमें] उनकी योग्य स्थान पर योग्य पसंदगी करके नियोजना करनी पड़ेगी।

प्र०—यह [हम] नहीं समझे।

उ०—वह कुछ कठिन ही है। कहता हूँ। सुनो [तुम जानते हो कि] आधुनिक शुद्ध ग—म यह सूक्ष्मान्तर है इसका प्रमाण पश्चिम मे $\frac{३२}{३१} \times \frac{१}{१००} = \frac{१६}{१५}$ मानते हैं इसलिये यह दो श्रुतियों का अन्तर अथवा कोमलान्तर समझा जाए। रि—ग इस अन्तर की कीमत $\frac{३}{३००} = \frac{१}{१००}$ है। इसलिये यह तीन श्रुति का अन्तर है। चार श्रुतियों का $\frac{३२}{३००} = \frac{४}{३}$ [अन्तर] प्रसिद्ध ही है। एक श्रुति का [अन्तर] $\frac{३}{२००} = \frac{२५}{२४}$ यह होगा। यह अन्तर कुछ विचित्र सा है। उसकी कीमत $\frac{४०५}{४००} = \frac{८१}{८०}$, अथवा प्रसंगानुसार उससे कुछ भिन्न हो तो [उसका] आश्चर्य न किया जाए। कौन-सी श्रुति कहाँ लगाई जाए इसका मुन्सफ़ कान को माना जाए। सारांश—एक श्रुति के अन्तराल की कीमत निश्चित नहीं, ऐसा कहेंगे। अब इस खुलासे के अनुसार षड्ज से श्रुतियाँ भरते चलो। सुविधा के लिये षड्ज के आन्दोलन २४० गृहीत माने जाएं।

"प्र०—तो फिर षड्ज की अगली पहिली श्रुति $\frac{२४०}{२३} \times \frac{२५}{२४} = २५०$ कीमत की होगी। ऐसा ही न?

"उ०—[आधुनिक] पण्डितो ने पहिली व्यवस्था मे ऐसा ही कहा था। किन्तु दूसरी आवृत्ति में आन्दोलन संख्या २५२ प्रसिद्ध हुई है। तब भी वहाँ एक बात ध्यान में रखनी होगी और वह यह कि पहिली बार अहोबल और सोमनाथ के आधार पर रचना की गई थी और अब वह केवल शार्ङ्गदेव की मिल्कियत है। कदाचित् इसलिये फरक पड़ा हो।

"प्र०—किन्तु कान अब भिन्न ध्वनि पहिचानने लगा है अथवा वह नई ध्वनि अधिक मधुर है, ऐसा हमें मान लेना होगा क्या? इस श्रुति का प्रमाण $\frac{२५३}{२४०} = \frac{२१}{२०}$ होगा। प्रथम किस श्लोक के लगाने में भूल हुई होगी?

"उ०—वह मैं कैसे कहूँ? उसके कारण प्रसिद्ध नहीं हुए हैं। उससे तुम्हारी क्या बड़ी सी हानि होगी? निभा लो।

प्र०—"आगे $\frac{२५२}{२४३} \times \frac{३}{२}$

"उ०—हैं ! हैं ! यह क्या करते हो ? दो श्रुतियों का ढाँचा जो तैय्यार रखा है, वह किस लिये है ? इससे तो तुम स्वयं अपने ही आधार को बिगाड़ दोगे न ? मालूम होता है तुम तो 'मनागुच्चध्वनिः' इस प्रमाण से शार्ङ्गदेव के सदृश श्रुति बिठाने लगे।

"प्र०—सचमुच। यह तो हम भूल ही गये। तब फिर दूसरी श्रुति $\frac{२४०}{२४३} \times \frac{१६}{१५} = २५६$ होगी। वह कोमल रि है न ?

"उ०—अलबत्ता। आगे चलो।

"प्र०—परन्तु अहोबल ऋषभ क्षेत्र के तीन भाग करके दूसरे पर कोमल ऋषभ लगाता है, सो ?

"उ०—उसे ऐसा विचित्र रि—चाहे तो, लेने दो। परन्तु वह शार्ङ्गदेव से तो वंचित ही रह जाएगा।

"प्र०—पं० अहोबल ने अपनी सारी बाईस श्रुतियों का स्वतन्त्र स्पष्टीकरण कहीं नहीं किया है क्या ?

"उ०—यह भी तुमने खूब पूछ लिया। अजी, जिसने अपने शुद्ध रि—ध स्वरों में भी चालबाजी की, वह तुम्हारे लिये श्रुतियाँ रच रखेगा ?

"प्र०—तब फिर यदि हमें किसी ने स्पष्ट प्रश्न किया कि तुम अपनी श्रुतियाँ किस ग्रन्थ के आधार पर स्थापित करते हो ? तब हम क्या उत्तर दें ?

"उ०—उत्तम पक्ष यही है कि तुम स्वतः उत्तर देने की उलझन में पड़ो ही नहीं, कारण अहोबल के अन्यवस्थित विधान तो तुम अभी ही कह गए हो।"

टि० इसके बाद की चर्चा का श्रुतियों की कम्पन-संख्या के साथ सम्बन्ध न होने से, उसे छोड़ देना समुचित समझा है। फिर भी श्रुतियों के सम्बन्ध में पं० भातखण्डे जी अब जो कुछ आगे कहेंगे उसके पूर्व का उनका कथन उन्हीं के शब्दों में उतार देने से उनकी भाव-सृष्टि की अभिव्यक्ति हो जाएगी। इसलिये उसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं। वे लिखते हैं—

पृ० ११६ "हमारे पण्डितों ने प्रथमतः अहोबल और सोमनाथ को अपने हाथ में लेकर अपना कार्य सुविधापूर्वक चलाया था। परन्तु अधिक अनुभव से उनकी सहाय्य उन्हें असुविधा—जनक प्रतीत हुई। तब फिर धीरे से उनको एक ओर रास्ता दिखा कर अंत में अनुरणन और सारणा जैसे निर्जीव साधनों को हिये से चिपकाने के लिये उन्हें बाध्य होना पड़ा, ऐसा भी कोई तर्क करेंगे। वस्तु-स्थिति क्या होगी, वह भगवान ही जानें। हमारा यह सौभाग्य ही समझना चाहिये कि हमें खुद को मताभिमान नहीं है और संस्कृत ग्रन्थों के भीतर से नई नई खोज करके दिखाने का हमारा प्रण भी नहीं है। नहीं तो हमारी धज्जियाँ उड़ जातीं। पर तुम अपनी श्रुतियाँ आगे बढ़ाओ।

प्र०—हाँ, $\frac{२४०}{२४३} \times \frac{१६}{१५} = २५६$ यह अब शार्ङ्गदेव की दूसरी श्रुति हुई। उसे $\frac{३५}{३२}$ से गुणा करते ही $२६६\frac{३}{५}$ यह तीसरी [श्रुति] होगी। किंवा षड्ज को यकदम तीन श्रुति का अन्तर चिपका कर $\frac{२४०}{२४३} \times \frac{१०}{९} = \frac{८०}{८१} - २६६\frac{३}{५}$ यों ले आएँ क्या ? End justifies the means—इस प्रकार समझा जाए तो यह दोनों रीतियाँ चल जानी चहिये।

उ०—तुम्हें जैसा पसन्द हो, वैसा करो। शुद्ध रि $२६६\frac{३}{५}$ का चाहिये। कारण तीव्र रि २७० का निश्चित है। तीव्र रि निकालने के लिये तुम कहीं तीसरी श्रुति को $\frac{३५}{३२}$ से गुणा देने न लग जाना भला ? वहाँ बड़ा अन्तराल [है]।

प्र०—समझे। $\frac{२४०}{२३} \times \frac{९}{८} = २७०$ ऐसा ही न ? पर ठहरिये। शार्ङ्गदेव की परिभाषा में और कोष्ठक में कहीं चार श्रुति का तीव्र रि नहीं दीखता तो ? यह क्या होगा भला ? अहोबल की तीसरी श्रुति २७० आन्दोलन की थी।* और सोमनाथ की तीसरी श्रुति यानी २५६ का कोमल रि।

---

*यहाँ ध्यान रहे कि २७० आन्दोलन के चतुःश्रुति ऋषभ को ही पं० भातखण्डे अहोबल की तीसरी श्रुति बता रहे हैं। जिस प्रकार दक्षिण के ग्रन्थकारों ने द्विश्रुति ऋषभ को, त्रिश्रुति और चतुःश्रुति ऋषभ को पञ्चश्रुति गान्धार मान लिया था।

उ०—तुम इस प्रकार पग पग पर अगल बगल में देखने लगोगे तो व्यर्थ ही उलझ जाओगे। तुम शार्ङ्गदेव की ओर मुड़ो। वहाँ सारा संदिग्ध होने के कारण सबूत देने का बोझा 'नेति नेति' कहने वाले पर ही रहेगा, [तुम पर नहीं]।

प्र०—अच्छा, तो $२७^{०} \times \frac{३५}{३२} = २८१\frac{३}{४}$ यह पाँचवीं श्रुति होगी ऐसा ही न ?

उ०—चल जाएगा। किन्तु वहाँ पर एक युक्ति कहता हूँ। शुद्ध ग और शुद्ध म के बीच में चार श्रुति का यानी $\frac{९}{२}$ का अन्तर है। इसलिये मध्यम से उलटा गुणाकार किये जाने पर जो शुद्ध ग निकलेगा, वह $\frac{३२}{३५} \times \frac{९}{२} = २८४\frac{४}{५}$ होगा। वह शुद्ध गान्धार भी जमा खाते में रखे रहो। कहीं किसी ने वह मांग लिया तो !

प्र०—अच्छा, परन्तु शार्ङ्गदेव का (गांधार) कौन सा होगा ?

उ०—वह अब कौन कह सकेगा ! तुम २८४$\frac{४}{५}$ को अभी मुख्य समझ कर चलो।

प्र०—और [पहिले कहा हुआ] २८१$\frac{३}{४}$ के गान्धार का कहाँ और कैसे उपयोग करें ?

उ०—वह बड़े गुणी कभी कभी उपयोग में लाते हैं, ऐसा कह दो और वाद मिटा दो। परन्तु वह श्रुति कौन सी है ? २३ वीं है ? क्या [यानी २२ से कुछ नई है क्या ?] उसकी नाड़ी कौन सी है ? शार्ङ्गदेव उसे मानेगा क्या ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर मैं नहीं दूँगा। कान जिसे पहिचानेगा और गायक वादक [जहाँ] जिसे हाँ कहेंगे, उसे श्रुति समझना।

प्र०—अच्छा बाबा। छठी श्रुति यानी साधारण गान्धार, यानी कोमल 'ग' कह 'कर landmark आ गया। वह $\frac{३७}{३२} \times \frac{१६}{१५} = २८८$ कंपन का होगा यही न ! परन्तु षड्ज-पञ्चमभाव से २७० का तीव्र ऋषभ ला कर उसे $\frac{१६}{१५}$ से गुणा दे कर २८८ की कीमत निकलती है।

उ०—तुम अहोबल का नियम शार्ङ्गदेव पर थोप रहे हो। शार्ङ्गदेव को तीव्र रि किस लिये चाहिये ? जरा उस का नक्शा देखो। शुद्ध 'रि' और शुद्ध 'ग' के दर्म्यान उस का कोई स्वर ही नहीं है। उसे [हमारे पण्डितों ने] २६६$\frac{३}{४}$ का शुद्ध रि दिया ही है न !

प्र०—समझे, समझे। आगे चलें। २८८ को $\frac{३५}{३२}$ से गुणा दिया कि ३०० का ग—

उ०—अजी, यह क्या कर रहे हो ! ३०० का ग कैसे उत्पन्न करने लगे हो ? वह तो स्वयंभू स्वर है न ! यदि वह न होगा तो $\frac{३५}{३२}$ का तुम्हारा प्रमाण ही तुम कहाँ से लाओगे ! और वह न रहे तो हमारी सारी इमारत ही ढह जाएगी न ! वह 'मध्यदेशपुराण' भूल गए क्या ?

प्र०—सचमुच, वह ३०० का ग स्वतःसिद्ध कह कर ही हमें स्वीकारना होगा। तब फिर वह मध्यम की दूसरी श्रुति हुई। आगे $३०० \times \frac{३५}{३२} = ३११\frac{१}{४}$ ऐसा किया जाये ? या २८८$\frac{१६}{१५}$ = २०७$\frac{१}{५}$ ऐसा करें ?

उ०—वहाँ [हमारे] पण्डितों को कोई हर्ज नहीं है। वह कहेंगे 'ऐसे स्वर भी कोई गाएँगे।' कौन गाते हैं, कब गाते है, कौन पहिचानता है, इस झंझट में वह पड़ते ही नहीं। "भिन्नरुचिर्हि लोकः" इस तत्व से वे सहमत हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे ३०३$\frac{३}{४}$ आन्दोलन के गान्धार की सिफारिश भी करेंगे।

प्र०—क्यों भला !

उ०—उससे [उपर्युक्त गान्धार को मानने से] ४०५ के धैवत के साथ संवाद किया सा होगा। और 'षड्ज पंचमभाव' रख लिया सा होगा। साथ ही पाश्चिमात्यों की झोली में Pythagorean third डाल दिया सा भी होगा। कहते हैं न—'एक पन्थ दो काज।' अच्छा, अब तुम मध्यम तक तो पहुँचे ही। मध्यम की शुद्ध की हुई श्रुतियाँ अब २८८, ३००, ३०३$\frac{३}{४}$, ३२० ये हुई। यदि बीच में कोई ३०७$\frac{१}{५}$—३११ [की श्रुतियाँ] लाने लगे, तो तुम अपना मन उदार रखना;उनसे लड़ना नहीं।

प्र०—और इस तोड़ मरोड़ को गायक-वादकों का अनुमोदन है ही न !

उ०—अन्यथा छुपवा कर प्रसिद्ध करने का साहस भला कैसे होगा ! अवसर पड़ने पर [आधुनिक] पण्डित कहेंगे—'तुम अपना monochord और गायक ले कर आओ और श्रुति लगाओ। एक बड़े गणित पण्डित को

मुन्सफ़ नियुक्त करेंगे। जिसका [गणित सिद्ध] अंक उत्तम progressions में है, ऐसी राय मुन्सफ देगा, उसी की श्रुतियाँ सच्ची मानी जाएँगी। और तब वह शार्ङ्गदेव की निश्चित होंगी ही।

प्र०—यह न्यायशास्त्र सचमुच कुछ ज़बर्दस्त तो है ही। कम से कम समझने के लिये तो वह कठिन है ही।

उ०—होगा। तुम पंचम की श्रुति की ओर मुड़ो। उस अन्तर की भी थोड़ी सी दुरुस्ती हुई है। मैं समझता हूँ कि पंचम की श्रुतियों के सम्बन्ध में तुम्हें मैं ही कुछ कह दूँ, तो यह उचित होगा। कुछ दिन पहिले पंचम की श्रुतियाँ ३२०, ३३७½, ३४५⅓ और ३६० ऐसी प्रसिद्ध हुई थीं। यह बात, जब अहोबल और सोमनाथ की मदद से श्रुतियाँ सिद्ध हुई थीं, तब की है। आगे चल कर उन ग्रन्थकारों की मदद अनुपयोगी सिद्ध हुई, और श्रुतियों में दुरुस्ती करना उचित माना गया। अब वे ३२४, ३३७½, ३४१⅓, ३६०—ऐसी प्रसिद्ध की गई हैं। उनमें [और] अधिक दुरुस्ती न हो, ऐसी हम आशा करें।

प्र०—हमें मजे की बात तो यह मालूम देती है कि गायक-वादकों ने पुरानी [श्रुतियाँ] पसंद कीं और नई भी पसन्द की।

उ०—वहाँ मैं क्या कहूँ? 'भूलचूक लेनी देनी', यह व्यवहार अपने यहाँ पुराना ही है। किन्तु तुम यह देखो कि श्रुतिस्थापन का कार्य अकेले के बस का थोड़े ही है? वहाँ अनेकों को हाथ बँटाना चाहिए, ऐसा भी कोई कहेगा। गायक की दुरुस्ती गणिती करेगा, [तद्वत्] गणिती की दुरुस्ती गायक करेगा और कदाचित् उन दोनों की दुरुस्ती श्लोक का अर्थ लगाने वाला करेगा। तुम जितना समझते हो, उतना यह काम सहल नहीं है। अस्तु। पंचम की अगली श्रुतियाँ स्थापित करने का कार्य तो सचमुच ही आसान है। वहाँ पूर्वार्ध की श्रुतियां 'षड्जपंचममाव' लगा कर कायम की जाती हैं।

प्र०—यानी अगली प्रत्येक श्रुति को ३/२ से गुणा दें, यही न?

उ० "हाँ, अब कहो, तुम्हारी वह जगत्प्रसिद्ध बाईस श्रुतियाँ पूर्ण हुईं न?

प्र० "हुईं, बाबा हुईं। मज़े की बात तो यह है कि अब उन्हें 'रत्नाकर' की मानकर चलना होगा।

उ० "दूसरा कोई इलाज ही नहीं है। दक्षिण के उन धूर्त ग्रन्थकारों ने वीणा पर पर्दे बाँध कर स्वर कहे हैं और वहाँ का प्रचार अब उन्हीं की गवाही दे रहा है। यह श्रुति-मंडल वहाँ के ग्रन्थकारों को कैसे मान्य होगा? सुना है, उधर भी अब श्रुति पंडित खटपट करने लगे हैं। यदि वे अनायास-प्राप्त इस रचना को ले लेंगे तो उनकी पर्याप्त मेहनत बच जाएगी। शार्ङ्गदेव ने 'अनुरणनात्मकाः स्वराः' 'सारणाचतुष्टय वगैरह अतिरिक्त प्रसंग न जोड़े होते तो वह श्रुतियों का मालिक न बना होता।"

पं० भातखण्डे के उद्धरणों से हमने उनकी भाषा, भाव, तर्क इत्यादि का अवलोकन किया। उनकी सामान्य विचारधारा भी हमने देखी। प्रचीन तथा मध्ययुगीय ग्रन्थकारों के प्रति उनकी भावना का दर्शन किया और आधुनिक श्रुति-पंडितों के प्रति किये गए उनके कटाक्ष भी देखे। उनके ग्रन्थों के पठन परिशीलन से हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं, उनका यहाँ उपसंहार के रूप में अब उल्लेख करना समुचित होगा।

(१) भरत, शार्ङ्गदेवादि प्राचीन ग्रन्थकारों के श्रुति स्वर को वे समझ नहीं पाए हैं या शायद सहानुभूतिपूर्ण भाव से समझने का उन्होंने यत्न ही नहीं किया है।

(२) जिन जिन ग्रन्थों को उन्होंने देखा, उनका अर्थ लगाने में मुक्त मानस रखने की बजाय वे अपनी पूर्वगृहीत मान्यताओं से आबद्ध रहे हैं।

(३) पाश्चात्य आधुनिक समसाधृत स्वरावली (tempered Scale) उनकी मान्यता को परिचालित करती रही है। यह उनके cycle of fifth के आग्रह से स्पष्ट है।

(४) स्वयं क्रियाकुशल गुणी न होने के कारण उनसे कई मौलिक भूलें या ग़लतफ़हमियाँ हो गई हैं। यह सभी जानते हैं कि उन्होंने कहीं कभी भी गान वादन की प्रत्यक्ष क्रिया आजीवन नहीं की थी।* इसलिए भारतीय संगीत के लक्ष्य को समझने में वे असमर्थ रहे।

(५) लक्ष्य की सच्ची जानकारी के अभाव में उन्होंने, tempered Scale (समासाधृत ग्राम) के सदृश सारी भारतीय संगीत की परपरा केवल बारह स्वरों पर आधारित है, ऐसा मान लिया।

(६) ऐसी पूर्वगृहीत मान्यताओं के लिए शास्त्राधार देने के निमित्त उन्हें पूर्व-ग्रन्थों के अनेक विपर्यस्त अर्थ लगाने पड़े और नाना तर्क वितर्कों का सहारा लेना पड़ा।

(७) प्राचीन या मध्यमुगीय ग्रन्थों से उनके अपने पूर्वगृहीत मत को पूरी पुष्टि की संभावना न देख कर उन्होंने 'लक्ष्य-संगीत' 'अभिनवरागमंजरी' इत्यादिक संस्कृत ग्रन्थ लिख कर उन्हें उपनाम से प्रकाशित कराया और अपने मराठी ग्रन्थों में अपने मत के लिए अपने ही उन संस्कृत ग्रन्थों को आधार माना और दिखाया।

(८) अपने पूर्वगृहीत मत को प्रस्थापित और प्रचारित करने के लिए तथा एक नए मार्ग का निर्माण करने के लिए उन्होंने विपुल साहित्य की रचना की। इस साहित्य से जनता पर सामान्य प्रभाव यह पड़ा कि संगीत के प्रयोग-पक्ष से अनजान, किन्तु पठित लोगों की दिशाभूल हुई और क्रियाकुशल गुणियों की उपेक्षा से उनके 'पन्थ' को पनपने का अवसर मिला।

फिर भी, जो कुछ हुआ है, अच्छा ही हुआ है। आप्तवचन है कि जो होता है, अच्छे के लिए ही होता है। पं० भातखण्डे का साहित्य प्रकाशित न होता तो अन्य जन शास्त्र का मन्थन क्यों करते, सत्य का नवनीत क्यों निकालते, अपने अध्ययन, परिशीलन तथा साधना का प्रकाश क्यों फैलाते और तमस मिटाने का यत्न क्यों करते। भारतीय संगीत की जो परंपरा भरत से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है, भारत के हिन्दू मुस्लिम कलाकारों की कला में जो अभी तक जीवित है, उसकी इस युग में शास्त्रीय रूप से प्रतिष्ठा कैसे होती, यदि पं० भातखण्डे के विपुल साहित्य द्वारा क्षीर-नीर-विवेक से सत्यानृत का निर्णय करने की प्रेरणा न मिलती और सत्य की खोज तथा उसकी प्रस्थापना के लिए गहरी आकांक्षा न जागती। इसलिए आधुनिक युग पं० भातखण्डे का ऋणी है और रहेगा।

———

* हम जानते हैं कि वे 'स्वान्तःसुखाय' थोड़ा-थोड़ा सितार बजाते थे और गुनगुना लेते थे। किन्तु यह सत्य स्पष्ट है कि वे यदि स्वयं क्रियाकुशल गुणी होते तो अपने तथाकथित पट्टशिष्य को मरहूम खाँ साहेब फैय्याज खाँ के पास शिक्षा लेने के लिए न भेजते।

पंचम तन्त्री

स्वर-श्रुति का आधुनिक लक्ष्य

और

गुरुदेव पं० विष्णुदिगम्बरजी की गुरु-परंपरा

इसके पूर्व के अध्यायों में हमने प्राचीनों की स्वर-श्रुति-व्यवस्था देखी। तत्पश्चात् उनकी प्रस्थापित स्वर-श्रुति-व्यवस्था को मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने कैसे समझा और निरूपित किया और आधुनिक ग्रन्थकार पं० भातखण्डे ने इन प्राचीन और मध्ययुगीय ग्रन्थकारों के सिद्धान्तों को किस दृष्टि से देखा, समझा और अपने ग्रन्थों में ग्रथित किया, यह भी हमने देखा। हमने यह भी देखा कि प्राचीनों की विशुद्ध परम्परा को समझने में कहाँ, किससे कैसी कैसी भूलें हुई, कहाँ कितनी ग़लतफ़हमियाँ हुई और उससे, प्राचीन परम्परा को अनुगण रखने का आग्रह रखने पर भी उस परम्परा से कैसा और कितना विच्छेद हुआ और लक्ष्य तथा लक्षण के असामंजस्य की कैसी सृष्टि हुई।

इस प्रकार पिछले अध्यायों में मध्ययुगीय ग्रन्थकारों की प्रामाणिक ग़लतफ़हमी तथा पं० भातखण्डे की उनसे भिन्न तर्क शैली का हम अवलोकन कर चुके हैं। कुछ अंशों में यत्र तत्र हम यह भी उल्लेख कर आए हैं कि जहाँ कर्णाटकीय संगीत भरतोक्त परम्परा से विच्छिन्न हुआ है, वहाँ 'उत्तर' के संगीत में वह परम्परा अक्षुण्ण रही है।

इस तन्त्री में अब हम विस्तार से यह देखेंगे कि आधुनिक भारतीय संगीत (तथाकथित औत्तरात्य संगीत) में जिस शुद्ध स्वर-सप्तक का प्रयोग होता है, जिसे हम बिलावल के नाम से पहिचानते हैं, वह प्राचीन परंपरा के साथ दृढ़रूप से संबद्ध है, उसमें किसी प्रकार का विच्छेद नहीं हुआ है। आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक का इस दृष्टि से अवलोकन करने के पश्चात् हम आधुनिक भारतीय संगीत के लक्ष्य के अन्य सभी स्वरों और उनकी श्रुति-व्यवस्था को देखेंगे। वर्तमान युग के क्रियाकुशल गुणी किन किन स्वरों का अपनी क्रिया में उपयोग करते हैं तथा हमारी गुरु परम्परा और उस गुणी-सम्मत लक्ष्य में कैसी एकता है, यह दिखाकर हम सिद्ध करेंगे कि भारतीय संगीत केवल बारह स्थूल स्वरों पर नहीं, अपितु बाईस सूक्ष्म श्रुतियों पर आधारित है।

हमारा आज का शुद्ध स्वर-सप्तक प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से कैसे चला आ रहा है, इसके निम्नलिखित चार प्रमाण हैं :—

१—षड्जग्रामिक मध्यम को षड्ज या स्वरित मानने की भरतोक्त परम्परा।

२—तन्तुवाद्यों के मुक्त तार के नाद को स्वरित मानने की प्रवृत्ति। तानपुरे के पूर्वरूप इकतारा आदि वाद्यों पर प्राप्त प्राकृतिक स्वर-सप्तक और आधुनिक शुद्ध स्वरों की एकरूपता।

३—वीणादिक पर्दे वाले तन्तुवाद्यों पर मुक्त तन्त्री को षड्ज मानने की प्रवृत्ति।

४—मध्यमग्रामिक निषाद की मूर्च्छना और आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक की एकरूपता।

इन प्रमाणों को हम क्रमशः कुछ विस्तार से देख लें, जिससे यह सिद्ध हो जाए कि हमारा आज का शुद्ध स्वर-सप्तक प्राचीनकाल से अविच्छिन्न-रूप से कैसे चला आ रहा है; न वह पाश्चात्यों की देन है और न वह अरब या ईरान से भारत में आया है।

(१) हम एकाधिक बार पहिले कह आए हैं कि षड्जग्रामिक मध्यम को 'अविलोपी', 'अविनाशी', 'प्रवर' या स्वरित मानकर व्यवहार करने का जो आदेश भरत ने दिया है, संभवतः भरत के पूर्वकाल से ही वह परम्परा प्रचलित थी। भरत कहते हैं—

मध्यमस्य विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन।
सर्वस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यमः॥

अर्थात्—मध्यम का कभी लोप या विनाश नहीं करना चाहिए। मध्यम सभी स्वरों में से मुख्य या प्रवर है और अविनाशी है।

इतना ही नहीं, भरत ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सामगान और गान्धर्वगान—दोनों में मध्यम प्रमुख और अविनाशी माना गया है। यथा—"गान्धर्वकल्पेऽभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः।"

यहाँ यह प्रश्न होता है कि मध्यम को सभी स्वरों में से प्रवर या प्रमुख बनाना हो तो क्या करना चाहिए? उसे अनुल्लंघ्य, अविलोपी या अविनाशी किस विधान से बनाया जा सकता है?

हम जानते हैं कि षड्ज ही एक ऐसा स्वर है, जो सभी स्वरों में प्रमुख है, अविनाशी है, अविलोपी है और अनुल्लंघ्य है। वही हमारा स्वरित है। इसका अर्थ यह हुआ कि अविनाशी आदि विशेषण जो षड्ज के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं, वही विशेषण यदि मध्यम को लगाए जाएँ तो मध्यम को ही षड्ज बनाना होगा। मध्यम को षड्ज या स्वरित का स्थान देने से ही या मध्यम को मध्यम न मानकर उसे षड्ज के अधिकारों पर आरूढ़ करने से ही वह अविनाशी, अनुल्लंघ्य, अविलोपी और 'सर्वस्वराणां प्रवरः' की पदवी पा सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए हम दृढ़ भाव से, ठोक बजाकर यह कह रहे हैं कि षड्जग्राम के मध्यम को ही भरत ने स्वरित या षड्ज माना है, वहीं से मूर्च्छनादिक प्रयोग किए हैं और उसे ही वीणावादन की क्रिया के आधार स्वर के रूप में स्वीकार किया है। वही परिपाटी अविच्छिन्न रूप से आज तक उत्तर भारत में चली आ रही है। भरत के पूर्व से ही उस क्रिया का सतत प्रयोग और विपुल प्रचार समाज में स्थान पाकर दृढ़ीभूत हुआ होगा, और वही परंपरा क्रियाकुशल गुणियों द्वारा अखण्ड रूप से आज तक व्यवहार में रूढ़ बनी हुई है।

मध्यम को षड्ज मानने के लिए, भरत के ऊपर उद्धृत वचन के अतिरिक्त नारदीय शिक्षा के 'यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः'—इस वचन का भी आधार प्राप्त होता है। इस वचन से यह सिद्ध है कि सामगान गाने वालों का जो आद्य स्वर है, वह वेणु का मध्यम स्वर है। प्राचीन सामगान वेणु और वीणा की संगत से होता था और इसीलिए वेणु के साथ षड्ज का मिलान करने के लिए वीणा वाले भी उसी मध्यम को आदि स्वर मानकर सप्तक आरम्भ करते होंगे, ऐसा प्रबल अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार सामगान और गान्धर्वगान में एक ही परंपरा दृढ़ हो गई थी, जैसा कि भरत के ऊपर उद्धृत वचन से स्पष्ट है।

भरतादिक क्रियाकुशल गुणियों का शुद्ध स्वर-सप्तक जो आधुनिक काफ़ी के सदृश था, वह बिलावल के रूप में कैसे और कब से परिवर्तित हुआ होगा, इस प्रश्न का उत्तर प्रामाणिक रूप से हमारे उपर्युक्त कथन में साधार दिया गया है। इसे कुछ और अधिक स्पष्ट रूप से समझ लें।

जब से प्राचीनों ने षड्जग्राम के मध्यम को मुख्य स्वर या स्वरित मानकर प्रयोग शुरू किया, तब से स्वरों की वही परम्परा चली आ रही है, जो आज सितारादिक वाद्यों में प्रयुक्त होती है। आज सितारादिक वाद्यों में जिस पर्दे को हम षड्ज मानकर चलते हैं, वही प्राचीनों का षड्जग्रामिक मध्यम है, जिसे उन्होंने अविनाशी कहा है। वहीं से उनके 'मध्य सप्तक' का आरम्भ होता था। हम यह जानते हैं कि गान-वादन की क्रिया मध्य सप्तक से ही शुरू करनी होती है और तभी वह क्रिया सुविधापूर्वक की जा सकती है। इस प्रकार प्राचीनों के 'मध्य सप्तक' का आरम्भ-स्थान वही है, जो आज का हमारा षड्ज है, जो षड्जग्रामिक मध्यम है। उस स्थान से सप्तक का आरम्भ करने से क्या स्वरावली उद्भूत होती है, उसे हम देख लें—

म – प – ध – नि् – सा – रे – ग् – म

४ ३ २ ४ ३ २ ४

सा – रे – ग – म – प – ध – नि् – सा

४ ३ २ ४ ३ २ ४

सकृद्दर्शन से इस स्वर सप्तक में आधुनिक कोमल निषादयुक्त और शुद्ध निषाद रहित खमाज का दर्शन होता है। आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक से इसमें केवल निषाद के विषय में ही भेद है। कोमल निषाद के स्थान पर इसमें शुद्ध निषाद का प्रयोग होते ही बिलावल का स्वर-सप्तक बन जायगा। हम जानते हैं कि प्रचीनों ने अपने शुद्ध स्वर-सप्तक में अन्तर-काकली का प्रयोग विहित माना है। इसलिए मध्यम से मध्यम तक की मूर्च्छना में प्रयुक्त अन्तर गान्धार के साथ में संवाद करनेवाले काकली निषाद का प्रयोग होना स्वाभाविक है।

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय संगीत में सदैव स्वर-सवाद की तरफ़ अधिक ध्यान दिया गया है। प्राचीन षड्ज-ग्रामिक मूल स्वर-सप्तक में शुद्ध गान्धार (आधुनिक कोमल गान्धार) के साथ संवाद करनेवाला शुद्ध निषाद (आधुनिक कोमल निषाद) विद्यमान है। तद्वत् मध्यम से मध्यम तक की मूर्च्छना, जो हम ऊपर दिखा आए हैं, उसमें प्रयुक्त अन्तर गान्धार के साथ संवाद करनेवाला काकली निषाद अनिवार्य है। और इसलिए मूर्च्छना में आए हुए प्राचीन शुद्ध निषाद को त्याग कर काकली का प्रयोग किया जाना स्वर-संवाद की दृष्टि से स्वाभाविक है। स्वरों का पारस्परिक सवाद हमारे संगीत का प्राण है और उस प्राण की प्रतिष्ठा को हमारे गुणी अब तक निभाते आए हैं। जैसे, सामान्यतः काफ़ी राग की स्वरावली में आधुनिक कोमल गान्धार-निषाद का प्रयोग होता है, किन्तु गाते समय कलाकार जब आधुनिक शुद्ध गान्धार का प्रयोग करते हैं, तब साथ ही आधुनिक शुद्ध निषाद को भी लेते ही हैं। जहाँ जहाँ ऐसे आगन्तुक या विशेष स्वरों का रस-दृष्टि से प्रयोग होता है, वहाँ उस उस स्वर के संवादी स्वर का भी प्रयोग किया जाता है, फिर वह संवाद चाहे षड्ज-पंचम-भाव से हो या षड्ज-मध्यम-भाव से हो।

आशंका निर्मूल करने के हेतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भीमपलासी के निषाद के स्थान पर आधुनिक शुद्ध निषाद का प्रयोग अथवा आधुनिक मालकंस के निषाद के स्थान पर शुद्ध निषाद का प्रयोग करके कुछ नये राग की अवतारणा करने के मोह में, आजकल कुछेक विसंवादी अशुद्ध रागों का प्रचार हो रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह शास्त्रसम्मत नहीं है। यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि सदियों से जो राग शास्त्र-सम्मत रूप से चले आ रहे हैं, उनमें से भी कुछेक तो ऐसे हैं, जिनमें संवाद-तत्त्व का उल्लंघन दिखाई देता है। जैसे श्रीरागमें रे-प। इस शंका के समाधान में हमें यहाँ कहना पड़ता है कि पं० भातखण्डे ने श्री राग में कोमल ऋषभ और पञ्चम का संवाद माना है। वास्तव में ऐसा संवाद मानना यह संवाद-दृष्टि से सर्वथा अनुचित है, क्योंकि कोमल ऋषभ के साथ पञ्चम का संवाद त्रिकाल में असंभव है। वास्तव में श्री राग की रे-प और प-रे की स्वर-संगति, भयानक तथा बीभत्स रस के निर्माण के लिए ही बार बार ली जाती है। यों कोमल ऋषभ के साथ संवाद करने वाले दो स्वर श्री राग में विद्यमान हैं ही, यथा-कोमल ध् और तीव्र मध्यम। इससे सिद्ध है कि इस राग के स्वरों मे विसंवाद नहीं है, केवल रस की दृष्टि से गुणियों ने विसंवादी स्वर-संगति का प्रयोग किया है, अन्यथा शास्त्रसम्मत सभी रागों में स्वर-संवाद आनवार्य रूप से स्वीकार किया गया है। उसी स्वर-संवाद के नाते षड्जग्रामिक मध्यम से बनी हुई स्वरावली में काकली या आधुनिक तीव्र निषाद का प्रयोग स्वाभाविक मानने से यह सिद्ध हो जाता है कि आज की शुद्ध स्वरावली इसी रूप में प्राचीन काल से ही चली आ रही है।

इस प्रकार आधुनिक शुद्ध स्वर-संप्तक प्राचीन स्वर-व्यवस्था से अभिन्न है, इसका एक प्रमाण तो हमने ऊपर सविस्तर देख लिया। दूसरा प्रमाण निम्नोक्त है—

(२) प्रकृति से उत्पन्न मनुष्य की सहज प्रवृत्ति होती है कि वह प्रकृति के अनुरूप रहे और प्राकृतिक साधनों को उपयोग में ले। हमारे प्राचीन महर्षियों ने मूल सप्त स्वरों का पक्षियों के नाद के साथ जो सम्बन्ध जोड़ा है, वह इसी बात का परिचायक है कि मानव को अपने संगीतोपयोगी स्वर प्रकृति से ही प्राप्त हुए हैं। प्राणिमात्र की विकास-भूमिका में हम देखते हैं कि वे सभी अनुकरण-प्रिय होते हैं। बालक अपने बोलने, चलने, आवाज लगाने, रोने चिल्लाने आदि में उसी का अनुकरण करते हैं, जो कि वे अपने सन्निकट देखते सुनते हैं। यह हम अपने घरों में देखते ही हैं। बड़े होकर भी मनुष्य उन प्राकृतिक नियमों से अतीत नहीं होता। कवियों ने भिन्न भिन्न उपमाओं में मीनाक्षी, मृगाक्षी, गजगामिनी, हंसगामिनी, चन्द्रवदनी, अलिकेशा, शिखरि-दशना इत्यादि शब्दों के प्रयोग जो किए हैं, वे भी प्रकृति के साथ मानव के सीधे सम्बन्ध को सूचित करते हैं।

उसी अनुकरणप्रियता से किसी भी संगीतोपयोगी नाद के साथ अपना स्वर मिलाने की मनुष्य की सहज इच्छा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैसे, बाँस के बन मे भ्रमरों के बनाए हुए रन्ध्रों में वायु के संचार से स्वयंभूरीत्या जो स्वर निकलता है, उसी को देखकर मनुष्य ने और भी अधिक रन्ध्र बना कर बाँसुरी का आविष्कार किया हो तो आश्चर्य नहीं।

मनुष्य भी तो एक प्राणी है। इसलिए जिस प्रकार पशु, पक्षी आदि प्राणी भिन्न भिन्न ऋतुओं में अपनी स्वाभाविक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के स्वर आलापते है, तद्वत् मनुष्य को भी अपने सुख-दुःखादि की अभिव्यक्ति के लिए गाने की सहज प्रेरणा होती होगी। और तब वह अपने सन्निकट जिस भी प्राकृतिक नाद को सुनता होगा, उसी के साथ अपना कंठ मिला कर गा उठता होगा। यहाँ यह कहना होगा कि मानव स्वाभाविक रूप से ऐसे ही नाद के साथ अपना कंठ मिलाएगा, जो कि उसके कंठ की स्वाभाविक उच्च नीच गति के लिए अनुकूल हो, क्योंकि जिस नाद के साथ आवाज मिलाई गई हो, वही नाद गाने का आधार स्वर होगा, जिसे मध्य म रखकर ऊपर नीचे के स्वरों का प्रयोग करके पुनः उसी मध्यस्थ नाद पर ठहरता होगा। संभवतः इसी प्रकार मनुष्य को प्राकृतिक स्वरों की प्राप्ति हुई होगी।

विकास के उसी प्राकृतिक नियमानुसार प्रकृति से उत्पन्न तुम्बा और बाँस को जोड़कर उस पर, (धातु के तार बनने के पूर्व), तात बाँध कर उससे उत्थित स्वर के साथ अपना स्वर मिलाने की और गाने की सहज प्रवृत्ति हुई होगी। आदिवासी जातियों के समागम में हमने स्वयं यह देखा है कि वे लोग एक थाली के बीचोबीच किसी वनस्पतिविशेष का पतला सा डण्डा, जो कि पोला और बड़ा नाजुक होता है, रखकर एक हाथ से ऊपर से पकड़ कर दूसरे हाथ से ऊपर से नीचे तक दो उंगलियां से दबाकर हाथ फेरते हैं। उससे एक विशेष प्रकार का नाद उद्भूत होता है, जिसके साथ सुर मिला कर वे लोग अपने गीत गाते हैं। यह जितना प्राकृतिक है, उतना ही एकतारे पर गीत गाना भी स्वाभाविक है। उसी एकतारे का एक दिशा में विकसित रूप तानपुरा हो और दूसरी दिशा में विकसित रूप वीणा, सितार आदि पर्दे वाले तन्तुवाद्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

एकतारे पर, तानपुरे पर या किसी भी तन्तुवाद्य पर मुक्त तार के नाद के साथ स्वर मिला कर गाने से स्वयंभूरीत्या प्राप्त स्वरों का उपयोग होना स्वाभाविक है। ये प्राकृतिक स्वर और हमारा आज का शुद्ध सप्तक संपूर्णतया एक हैं।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि 'शुद्ध'स्वर-सप्तक किसे कहना चाहिए? 'शुद्ध'स्वर-सप्तक उसे ही कहना चाहिए, जो कि प्राकृतिकरीत्या सहज उपलब्ध हो। यानी मनुष्य जब सहज गान की इच्छा से, बिना सीखे, बिना संस्कार के, गा उठता है, तब जिन स्वरों का प्रयोग होता है, वही प्राकृतिक स्वर हैं और उन्हें ही शुद्ध कहना चाहिए। इसी को पाश्चात्य पण्डित भी 'नेचुरल स्केल' या प्राकृतिक क्रम कहते हैं। पाश्चात्यों के इस 'नचुरल स्केल' के साथ हमारे शुद्ध स्वरों की एकरूपता देखकर कुछ लोग कहने लगे हैं कि हमारे शुद्ध स्वरों पर पाश्चात्य प्रभाव है। किन्तु वास्तव में प्रकृति सर्वत्र एक है, उसमें पूर्व-पश्चिम का भेद नहीं है।

कुछ लोगों ने यह अनुमान लगाया है कि सामगान का जो स्वर-सप्तक है, वही शुद्ध है और प्राकृतिक भी। उसी स्वर-ग्राम को भरत ने अपनाया है और इसलिए भरत का स्वर-ग्राम शुद्ध है। हम इसके पूर्व यह सिद्ध कर आए हैं कि सामगान के स्वर और गान्धर्वगान के स्वर—दोनों एक ही है और उन दोनों का आरम्भ स्थान षड्जग्रामिक मध्यम है। उस मध्यम को षड्ज मानकर आरम्भ किया हुआ स्वर-सप्तक ही शुद्ध और प्राकृतिक है, जिसे पाश्चात्यों ने, पौर्वात्यों ने, प्राचीनों ने और अर्वाचीनों ने उसी रूप में स्वीकार किया है। आज के हमारे बिलावल में उन्हीं भरतोक्त और सामगान-सम्मत शुद्ध स्वरों की प्राकृत परम्परा अखण्ड रूप से विद्यमान है।

कुछ दाक्षिणात्य पंडितों की यह धारणा है कि कनकांगी मेल भरतोक्त है। हम सिद्ध कर चुके हैं कि यह धारणा भ्रान्तिजन्य है। इससे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दाक्षिणात्यों का कनकांगी मेल न शुद्ध है, न प्राकृत है और न ही भरतोक्त है। अस्तु।

• परम्पराप्राप्त वीणा के पर्दों पर स्वरों की अवस्था देखने से भी यह सिद्ध होता है कि हमारा आजका शुद्ध स्वर-सप्तक प्राकृतिक है। इस प्रकार हमें तीसरा प्रमाण मिलता है कि हमारे शुद्ध स्वर अति प्राचीनकाल से अपरिवर्तित रूप में चले आए हैं। इस तीसरे प्रमाण को हम नीचे सविस्तर देख लें।

३—वीणा पर के किसी पर्दे को सा मानने की बजाय प्राकृतिकरीत्या उसके मुक्त तार को ही षड्ज मान लिया जाए, तो उस अवस्था में भी वही स्वर-सप्तक हमें उपलब्ध होगा, जिसे आज हम परम्पराप्राप्त शुद्ध स्वरावली मान रहे हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि इस प्रकार आए हुए स्वर-सप्तक में धैवत त्रिश्रुति की बजाय चतुःश्रुति आता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि वह धैवत षड्जग्रामिक पंचम का और जोड़ की तारों के ऋषभ का प्रतिनिधि होने के कारण, प्राकृतिक नियमों का भंग नहीं करता है। उससे siren पर Beats नहीं बजते हैं, वह विरुद्ध डाल नहीं पैदा करता है और तारा के अनुरणन में घुलामिल जाने के कारण वह प्राकृतिक धैवत के स्थान की पूर्ति करता है।

इस सम्बन्ध में चौथा प्रमाण निम्नोक्त है।

४—इस ग्रन्थ की दूसरी तन्त्री में जिन्होंने ग्राम-प्रकरण में मध्यमग्राम को पढ़ा और समझा है, उन्हें यह समझने में दिक्कत नहीं होगी कि षड्जग्राम का मध्यम ही मध्यमग्राम का निषाद है। वहाँ से मध्यमग्राम के स्वरों की मूर्च्छना बनाने से हमें पूर्णरूप से आज का लक्ष्य-सिद्ध स्वर-सप्तक प्राप्त होता है। उसी स्थान को जब हम षड्जग्रामिक मध्यम मानकर षड्जग्रामिक स्वरों की मूर्च्छना बनाते हैं, तब जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, हमें अपने शुद्ध स्वर पाने के लिए प्राचीन शुद्ध निषाद के स्थान पर काकली निषाद का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु उसी स्थान को जब हम मध्यमग्रामिक निषाद मानकर मध्यमग्रामिक स्वरों का प्रयोग करते हैं, तो बिना किसी परिवर्तन के हमें वही स्वर-सप्तक उपलब्ध होता है जो आज प्रचारित है। उस मूर्च्छना में मध्यमग्रामिक चतुःश्रुति धैवत, जो कि षड्जग्रामिक अन्तर गान्धार है, उसका स्थान काकली निषाद को मिल जाता है और इस प्रकार शुद्ध निषाद मिल जाने से आज का बिलावल पूर्ण होता है। मूर्च्छना-प्रकरण में दी हुई सारिणी से यह स्पष्ट हो जाएगा। कहना न होगा कि वह मध्यमग्रामिक निषाद और षड्जग्रामिक मध्यम या आज का षड्ज एक ही है। षड्जग्रामिक मध्यम को स्वरित मानकर चलने की परिपाटी के साथ साथ उस प्रकार आई हुई स्वरावली में उसी आरम्भ स्थान को मध्यमग्रामिक निषाद मानकर बनी हुई स्वरावली के रूप का सम्मिश्रण होने से, आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक का प्रचार रूढ़ हो जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह वास्तविक शुद्ध सप्तक है।

ऊपर के चारों प्रमाणों से यह स्वतः सिद्ध है कि अधुना प्रचलित भारतीय शुद्ध स्वर यानी बिलावल का स्वर-सप्तक प्राचीन परम्परा से ही चला आया है। पाइथागोरस से लेकर अमीर खुशरू और अमीर

.खुशरू से लेकर आज तक वे स्वर किसी से प्रभावित नहीं हुए हैं। वही स्वर-सप्तक शुद्ध है, वही प्राकृत है और उसे कहीं से उधार लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्राकृत होने के नाते वह सर्वव्यापी है, विश्व-व्यापी है।

अन्य विकृत स्वर

सप्त शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त आज हम अपनी गान-वादन की क्रिया में किन-किन स्वरों का उपयोग करते हैं, यह भी देख लेना और निर्णीत रूप से दिखा देना आवश्यक है। अतः अब हम उन विकृत स्वरों को स्पष्ट करना चाहते हैं, जिनका आज भारतीय संगीत में नित्य व्यवहार होता है। किन्तु उन विकृत स्वरों की पूरी तालिका देने के पूर्व यहाँ यह दोहरा देना समुचित होगा कि विकृत स्वरों का उपयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यद्यपि भरत मतङ्गादि ने साधारण संज्ञा से अभिहित अन्तर काकली के अतिरिक्त अन्य विकृत स्वरों के नाम नहीं दिये हैं, तथापि मूर्च्छना-प्रयोग में सभी विकृत अन्तरालों का उपयोग होता था, उसमें कोई सन्देह नहीं है। यहाँ यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि इन विकृत अन्तरालों को समझाने और उनका उपयोग करने के लिए ही प्राचीनों ने मूर्च्छनाओं का निर्देश किया है। प्रत्येक ग्राम के सप्त-स्वरों की सप्त मूर्च्छनाएँ भिन्न-भिन्न विकृत अन्तरालों की ही सूचक हैं। जिन लोगों ने मूर्च्छनाओं को मेल या थाट समझा है, वे भी उनके द्वारा भिन्न-भिन्न स्वरान्तरालों को ही तो निर्दशित करते हैं। हमारी राय में, प्राचीन कलाविज्ञ जिन शुद्ध विकृत अन्तरालों से अपनी गान-वादन की क्रिया करते थे, उसी के स्पष्टीकरण के लिए इन मूर्च्छनाओं के नामों का निर्देश किया गया है। जैसे आज भैरव, भैरवी, काफी इत्यादि थाट-नामों द्वारा विशिष्ट स्वरावलियों को निदर्शित किया जाता है, और उससे उन उन स्वरावलियों मे प्रयुक्त शुद्ध-विकृत स्वरों का अपने आप पता चल जाता है, तद्वत् उस काल में भैरव, भैरवी इत्यादि शब्दों के स्थान पर मूर्च्छनाओं के नामों का प्रयोग किया जाता था और उन उन मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त भिन्न-भिन्न स्वरावलियों का मध्य सप्तक में प्रयोग करना अभिप्रेत था।

प्राचीन स्वर-व्यवस्था और मूर्च्छना प्रणाली को इस दृष्टि से देखने के बाद दृढ़ीभूत भाव से यह समझने में कोई आशंका नहीं रहनी चाहिए कि प्राचीन काल में भी इन विकृत अन्तरालों का उपयोग होता था। शार्ङ्गदेव ने भी वास्तव में भिन्न-भिन्न विकृत स्वरान्तरालों को दिखाने के लिए भरत-मतंग वाली मूर्च्छनाओं की प्रणाली ही अपनाई है। 'विकृत' स्वरों के नाम से उन्होंने जिन स्वरान्तरालों का निरूपण किया है, वह तो केवल अन्तर-काकलीयुक्त द्वैग्रामिकी मूल स्वर-व्यवस्था दिखाने के लिए ही है। तृतीय तन्त्री में यह हम स्पष्ट कर ही चुके हैं कि शार्ङ्गदेव ने विकृत स्वरों के सम्बन्ध में भरत, मतंग से भिन्न ऐसा किंचित् भी निरूपण नहीं किया है। शार्ङ्गदेव के निरूपित शुद्ध विकृत स्वरों की तालिका को यथायथ न समझ कर उनके बाद के ग्रन्थकारों ने भिन्न भिन्न रूप से और भिन्न-भिन्न संख्याओं में विकृत स्वरों का निरूपण किया है। और इससे मूर्च्छनाओं द्वारा विकृत स्वरान्तराल सूचित करने की प्रणाली 'रत्नाकर' के बाद छूट गई सी दीखती है, यद्यपि परम्परा के आग्रहवश स्वतन्त्र रूप से मूर्च्छनाओं का निर्देश भी परवर्ती ग्रन्थकार करते रहे हैं।

किन-किन ग्रन्थकारों ने कितनी संख्या में कौन-कौन से विकृत स्वर माने हैं, यह हम विस्तार से इसके पूर्व देख ही चुके हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों ने संख्या-क्रम से २२, १५, १२, ११, १०, ७ और ५ विकृत स्वर माने हैं। हम जानते हैं कि अपने स्वरों को वीणा पर निदर्शित करने के लिए किसी ने एक सप्तक में १२ पर्दे तो किसी ने १४ पर्दे बाँधने को कहा है। इसी से किसी-किसी को यह भ्रान्ति हुई है कि जिन्होंने १२ पर्दे बाँधने को कहा है, उन्होंने केवल ५ विकृत स्वर माने होंगे और जिन्होंने १४ पर्दे बाँधने को कहा है, उन्होंने केवल ७ विकृत स्वर माने होंगे। श्रुतियों की सूक्ष्मता में और सूक्ष्म स्वरों की गहराई में न जाकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी सप्त शुद्ध और पाँच विकृत—इस प्रकार केवल बारह ही स्वरों पर अपने शास्त्र की नींव डाली है। पं० भातखण्डे उन्हीं ग्रन्थकारों में से हैं।

किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वीणा पर पर्दों द्वारा स्वर-स्थापना दिखानेवाले ग्रन्थकारों में से भी कइयों ने यह स्पष्टतया ठोक बजा कर कहा है कि वीणा पर बँधे हुए पर्दों तक ही संगीतोपयोगी नाद सीमित नहीं है। यह निम्न उद्धरणों से स्पष्ट होगा। उनके ये शब्द आज भी हमें चेतावनी देते हैं कि स्वरों के सम्बन्ध में स्थूल दृष्टि नितान्त अवांछनीय है। यथा—

(१) वक्ष्यते स्वरवीणात्र तस्यामपि विचक्षणाः। अंकित्वा स्वरदेशानां भागानुद्विभन्दते श्रुतीः॥

(सं० र०)

अर्थात्—अब मैं (श्रुति वीणा बता चुकने के बाद) स्वरवीणा बताऊँगा। कुशल जन इस स्वरवीणा में भी स्वरों के भाग अंकित करके श्रुतियों को पृथक्-पृथक् रूप से प्रयुक्त कर लेते हैं।

इससे ग्रन्थकार का यह अभिप्राय स्पष्ट है कि वीणा पर जितने पर्दे बँधे रहते हैं, केवल उतने ही स्वर क्रिया में प्रयुक्त होते हों, ऐसी बात बिलकुल नहीं है।

(२) सूक्ष्मबुद्धयः अस्यामपि स्वरवीणायां दण्डादिषु स्वरप्रदेशानां चतुःसंख्याकादिकान् भागाञ्श्रुतीनां न्यूनाधिकभावो यथा न भवति तथा चिह्नितान् कृत्वा तीव्रादिकसंज्ञाः श्रुतीराविर्भावयितुं शक्नुवन्तीति।

(संगीत सारामृत)

अर्थात्—सूक्ष्मबुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति इस स्वरवीणा में भी (श्रुतिवीणा की भाँति) वीणादण्ड पर स्थित स्वरों के पारस्परिक अवकाश में स्वरान्तराल के अनुसार चार, तीन इत्यादि भाग इस प्रकार चिह्नित कर लेते हैं, जिससे श्रुतियों में कोई न्यूनाधिक भाव न आने पाए। ऐसा करके वे तीव्रा आदि संज्ञा वाली श्रुतियों का आविर्भाव करा लेते हैं।

इस उद्धरण से भी स्पष्ट है कि वीणादण्ड पर जितने पर्दे बँधे रहते हैं, उन्हीं पर्दों का स्वर-वीणा में उल्लेख किया गया है। इससे कोई यह न समझे कि वे ग्रन्थकार संगीतोपयोगी द्वादश नाद ही मानते थे। द्वादश पर्दों पर इन स्वर-स्थानों को निर्धारित करके उन्हीं स्थानों में से अवशिष्ट श्रुतियों का स्वर के रूप में कुशल गायक-वादक प्रयोग करते थे और करते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जिन ग्रन्थकारों ने १२ स्वर कहे हैं, वे वीणा पर बँधे हुए १२ पर्दों को ही लक्षित करते हैं। यदि वे केवल द्वादश ही स्वर मानते होते तो श्रुतियों की चर्चा में न पड़ते।

पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर केवल १२ ही संगीतोपयोगी नाद माननेवाले आधुनिक ग्रन्थकार शायद उन ग्रन्थों का आशय समझने में या तो असमर्थ रहे हैं और या एक सरल पद्धति के निर्माण के मोह में उनसे वास्तविक तथ्य की उपेक्षा हो गई है।

जो सिद्धान्त उपर्युक्त उद्धरणों में सन्निहित है, वही आज के प्रचार में भी विद्यमान है। क्रिया-कुशल गुणियों की नित्य की क्रिया में जो शुद्ध विकृत स्वर व्यवहृत हो रहे हैं, जो भिन्न-भिन्न रागों में भिन्न-भिन्न रूप से पू० गुरुदेव पं० विष्णुदिगम्बरजी द्वारा हमें संप्राप्त हुए हैं, उनका अब यहाँ स्पष्टतया निरूपण करना हमें क्रमप्राप्त है। सर्वप्रथम उन सब स्वरों की तालिका देकर हम उनकी पृथक्-पृथक्, कुछ विस्तार से विवेचना करेंगे।

नीचे दी हुई तालिका में स्वरों का क्रम मार्जनी श्रुति से आरम्भ किया गया है—क्योंकि आज हम वीणा पर मुख्य तार या बाज की तार के मुक्त नाद को मध्यम मान कर चलते हैं। उस मेरुस्थित मध्यम से क्रमशः आगे बढ़ते हुए हमने षड्ज की यथास्थान-स्थिति दिखाकर पुनः षड्ज तक जाकर एक सप्तक पूर्ण किया है। इस प्रकार आया हुआ षड्ज ही षड्जग्राम की मार्जनी-श्रुति है।

वीणा की मध्यम तंत्री पर आधुनिक स्वर-स्थान

श्रुति-संख्या और नाम	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
०—क्षोभिणी	मध्यम	
१—तीव्रा		तीव्र मध्यम
२—कुमुद्वती		तीव्रतर मध्यम
३—मन्दा		तीव्रतम मध्यम
४—छन्दोवती	पंचम	
५—दयावती		अतिकोमल धैवत
६—रंजनी		कोमल धैवत
७—रक्तिका	धैवत	
८—रौद्री		तीव्र (चतुःश्रुति) धैवत
९—क्रोधा		अति कोमल निषाद
१०—वज्रिका		कोमल निषाद
११—प्रसारिणी	निषाद	
१२—प्रीति		तीव्र निषाद
१३—मार्जनी	षड्ज	
१४—क्षिति		अति कोमल ऋषभ
१५—रक्ता		कोमल ऋषभ
१६—सन्दीपनी		प्राचीन शुद्ध (त्रिश्रुति) ऋषभ
१७—आलापिनी	ऋषभ	
१८—मदन्ती		अतिकोमल गान्धार
१९—रोहिणी		कोमल गान्धार
२०—रम्या	गान्धार	
२१—उग्रा		तीव्र गान्धार
२२—क्षोभिणी	मध्यम	
१—तीव्रा		तीव्र मध्यम
२—कुमुद्वती		तीव्रतर मध्यम
३—मन्दा		तीव्रतम मध्यम
४—छन्दोवती	पंचम	
५—दयावती		अतिकोमल धैवत
६—रंजनी		कोमल धैवत
७—रक्तिका	धैवत	
८—रौद्री		तीव्र (चतु श्रुति) धैवत
९—क्रोधा		अति कोमल निषाद
१०—वज्रिका		कोमल निषाद
११—प्रसारिणी	निषाद	
१२—प्रीति		तीव्र निषाद
१३—मार्जनी	षड्ज	

यह ध्यान रहे कि षड्ज और पञ्चम ये दोनों स्थिर, ध्रुव या अचल स्वर हैं। स्वर-सप्तक के पूर्वांग और उत्तरांग—ये दो भाग सर्वविदित हैं। पूर्वांग का आदि स्वर षड्ज है और उत्तरांग का आदि-स्वर पञ्चम है। इसलिये ये दोनों स्वर स्थिर माने गए हैं। इन दो अचल स्वरों के अतिरिक्त जो पाँच स्वर बच जाते हैं वे 'रे ग म ध नि' अपनी शुद्धावस्था से जब भी नीचे उतरते हैं, तब कोमलादि संज्ञा पाते हैं। और जब ऊपर चढ़ते हैं, तब तीव्रादि संज्ञा पाते हैं।

आज के शुद्ध स्वरों की श्रुति-व्यवस्था का तो हम सविस्तर निरूपण कर चुके हैं। अब ऊपर दी हुई सारिणी में से क्रमशः विकृत स्वरों का स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है। इस ग्रन्थ के दूसरे और तीसरे अध्याय में हम यत्र तत्र अल्प उल्लेख कर आए हैं कि रागों में जो स्वर प्रयुक्त होते हैं, वे पारस्परिक स्वर संगति के कारण, रागों में प्रयुक्त रागांग और क्रियांग के कारण अपना स्थान या श्रुति बदलते हैं और उन बदली हुई अवस्थाओं को स्थूल मान से 'चढ़ी' 'उतरी' या तीव्र कोमल संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। ये स्वर भिन्न भिन्न राग-रस और राग-रंग की निष्पत्ति कराते हैं। अतः इन विकृत स्वरों का प्रत्यक्ष प्रयोग में उपयोग समझने और समझाने के लिए कतिपय रागों का उल्लेख करना आवश्यक है। नीचे यथास्थान रागों के उदाहरण देकर इन विकृत स्वरों का प्रायोगिक रूप समझाया जायगा।

अति-कोमल ऋषभ-धैवत—जिन रागों में स्थूल मान से रि-ध कोमल प्रयुक्त होते हों, तानपुरे की प्रथम तार पर पञ्चम निनादित होता रहता हो, और ऋषभ-धैवत पर जिनमें ठहरना मना हो, तद्वत् उनके ऊपर के स्वरों को छुआ न जाता हो, 'प ध् प' या 'सारे सा' यों केवल छू कर ही ऋषभ-धैवत का प्रयोग किया जाता हो, ऐसे रागों में ऋषभ-धैवत एक एक श्रुति के ही लगेंगे और उनकी 'अतिकोमल' संज्ञा होगी।

कोमल ऋषभ-धैवत—भैरव में तानपुरे की पहिली तार पंचम की बजाय मध्यम में ही मिलानी चाहिए, क्योंकि उससे द्विश्रुतिक यानी कोमल ऋषभ-धैवत ही प्रयुक्त होंगे, जो कि मध्यम के साथ क्रमशः सप्तश्रुति और षट्श्रुति के अन्तर से संवाद करते हैं। अर्थात् मध्यम उस ऋषभ से सप्त श्रुति के अन्तर पर है और धैवत मध्यम से षट्श्रुति के अन्तर पर होता है। इस प्रकार ऋषभ षड्ज से दो श्रुति ऊँचा और धैवत भी पंचम से दो श्रुति ऊँचा रहता है। आज की सामान्य भाषा में 'कोमल' संज्ञा से स्थूल रूप से यही ऋषभ-धैवत अभिप्रेत होते हैं। जो लोग भैरव में तानपुरे की पहिली तार पंचम में मिलाते हैं, वे भी ऋषभ का, गान्धार को छूकर या मध्यम से मींड लेकर उच्चार करते हैं और उत्तरार्ध में धैवत का भी उसी प्रकार निषाद को छू कर या षड्ज से मींड लेकर उच्चार करते हैं। ऐसी अवस्था में उनसे भी द्विश्रुति रि-ध् का ही स्वाभाविकरीत्या प्रयोग होता है।

प्राचीन शुद्ध ऋषभ यानी त्रिश्रुति ऋषभ—हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि आज के शुद्ध स्वर-सप्तक में ऋषभ चतुःश्रुतिक ही है। किन्तु यह ध्यान रहे कि जब तानपुरे की पहिली तार पंचम की बजाय मध्यम में मिलाकर हम अपना शुद्ध ऋषभ लगाएँगे तब वह ऋषभ त्रिश्रुतिक ही लगेगा, चतुःश्रुतिक नहीं, क्योंकि मध्यम के साथ षट्श्रुति के अन्तर से त्रिश्रुति ऋषभ का ही संवाद होता है और चतुःश्रुति ऋषभ का मध्यम से पांच श्रुति का विवादी अन्तर होने से हम चतुःश्रुति ऋषभ नहीं ही लगाते हैं, न वह स्वाभाविकरीत्या लग सकता है। तानपुरे की प्रथम तार मध्यम में मिली रहने से यह त्रिश्रुति ऋषभ ही शुद्ध ऋषभ के रूप में प्रयुक्त होता है। तद्वत् तानपुरे की प्रथम तार को पंचम में मिलाकर, और उस पंचम को षड्ज मानकर जब हम गाएँगे, तब जो शुद्ध ऋषभ लगेगा, वह भी त्रिश्रुति ही होगा, क्योंकि जोड़ की तारें उस पंचम को 'सा' बनाने से मध्यम बन जाती हैं। कई गुणीजन पीलू, झिंझोटी, गारा जैसे राग, जिनकी तार गति षड्ज से अधिक नहीं होती, उन्हें गाते समय मध्यम या पंचम को सा मान कर शुरू करते हैं। जब मध्यम को सा मानेंगे तब तो चतुःश्रुति ऋषभ ही लगेगा, क्योंकि जोड़ की तारें उस मध्यम के स्थान पर स्थित षड्ज का पंचम हो जाती हैं, किन्तु जैसा कि हम अभी कह आए हैं, पंचम को सा माननें से त्रिश्रुति ऋषभ ही प्रयुक्त होता है।

स्वर सदैव संवाद-प्रिय हैं और हमारे कान, मन, हृदय और आत्मा भी विवादी बेसुरेपन को सुनने से इन्कार करते हैं। इसलिये गुणीजनों से अपनी क्रिया में ऐसे अवसर पर स्वयमेव त्रिश्रुति ऋषभ का ही प्रयोग होगा। यही अवस्था अन्य स्वरों के संवाद में भी निहित है। स्वर-सिद्धान्त के रूप में हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि इसी प्रकार भिन्न भिन्न रागों में भिन्न भिन्न स्वर-संयोग के अवसर पर गान-वादन की क्रिया में वही संवादमय स्वर प्रयुक्त होते हैं, जो कि कान को भानेवाले, मन को लुभानेवाले, हृदय को तन्मय करनेवाले और आत्मा को आनन्दमग्न करनेवाले होते हैं।

क्रियाकुशल गुणी जानते हैं कि जब वे विभास गाते हैं, तब स्थूल मान से 'कोमल' ऋषभ-धैवत लगाने का यत्न करते हैं। किन्तु तानपुरे की प्रथम तार पंचम में मिली रहने के कारण ऋषभ और धैवत क्रमशः षड्ज और पंचम से दो दो श्रुत्यन्तर के विवादी सम्बन्ध स्थापित करते हैं इसलिए, तथा देशकार और भूपाली के स्वर संस्कार मनमें दृढ़ होने के कारण उन रि–ध की प्रवृत्ति कुछ चढ़ने की ओर रहती है। इसलिए ऐसी अवस्था में रि–ध् कभी कभी या तो त्रिश्रुतिक हो जाते हैं और या फिर सा रे सा और प ध् प करते समय एक एक श्रुति के लगते हैं, यद्यपि गुणीजन 'सा ध् प' या 'ग प गरे,' करते समय द्विश्रुति ऋषभ धैवत को बार बार दिखाने का यत्न करते रहते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक ही राग में सूक्ष्मतया एक, दो या तीन श्रुति के रि–ध का प्रयोग हो जाता है, जो भिन्न भिन्न भावों को दिखा जाते हैं।

अतिकोमल और कोमल गान्धार—सामान्यरूप से जिसे आज हम कोमल गान्धार कहते हैं, जो षड्ज से षट्श्रुति के अन्तर पर है, वही अधिकतर प्रयोग में आता है, क्योंकि उस गान्धार का दोनों ओर से संवादात्मक संबंध है। अर्थात् षड्ज से वह षट्श्रुति के अन्तर पर है एवं पंचम से सप्तश्रुति के अन्तर पर है। किन्तु, जब सोरठ, जयजयवन्ती जैसे रागों में केवल छूने मात्र के लिए कोमल गान्धार का प्रयोग होता है, तब वह गान्धार पंचश्रुतिक होता है, अर्थात् षट्श्रुति कोमल गान्धार से एक श्रुति नीचा होता है। यहाँ यह ध्यान रहे कि यह पंचश्रुति गान्धार, जो प्राचीनों का शुद्ध गान्धार है, षड्ज से पाँच श्रुति और पंचम से आठ श्रुति के अन्तर पर स्थित होने के कारण विवादी ही माना गया है। फिर भी हमारे भारतीय संगीत में रस-निष्पत्ति के लिए उसे भी स्थान मिला है।

तोड़ी में भी जब 'सा रे॒ ग॒,' 'रे॒ ग॒ रे॒ सा' यों स्वर प्रयुक्त होते हैं, तब वह गान्धार भी पंचश्रुति ही लगता है। अति कोमल रि॒ से गान्धार पर जाते समय गान्धार अधिक ऊँचा नहीं जाता है। इतना ही नहीं, विरहोत्पन्न करुणा की असह्य वेदना उसी गान्धार से प्रस्फुटित होती है। और स्वाभाविकरीत्या उसी पंचश्रुति गान्धार का प्रयोग हो जाता है।

आज कुछ गुणियों ने हार्मोनियम की संगत से ऐसे रागों का प्रयोग करके तोड़ी की वास्तविक स्वरावली भुला दी है, क्योंकि (tempered scale) के बाजे के सुरों के संस्कार से तोड़ी के करुणावाही स्वर उनकी क्रिया में से तिरोहित हो गए हैं। यह दुःखद है। फिर भी यह कहने में किंचित् भी सत्यका उल्लंघन नहीं है कि तोड़ी में रेग॒ करते समय पंचश्रुतिक गांधार ही प्रयुक्त होना चाहिए।*

तीव्र गान्धार—हमारा शुद्ध गान्धार वही है, जो षड्ज से सप्तश्रुति और पंचम से षट्श्रुति के अन्तर पर स्थित है। तानपुरे में से निकलने वाला प्राचीन अन्तर गान्धार वही है। तानपुरे में से निकलने वाले उस स्वयंभू सप्तश्रुति गान्धार और शुद्ध मध्यम के बीच में एक और श्रुति का स्थान है, जिसे हमने तीव्र गान्धार संज्ञा दी है। यह गान्धार tempered scale में स्थूल मान से शुद्ध गान्धार के रूप में प्रयुक्त होता

---

* यहाँ हम षट्श्रुति गान्धार और सप्तश्रुति गान्धार के बीच में एक अन्य गान्धार का उल्लेख करना चाहते हैं। यद्यपि यह नाद २२ श्रुतियों के अंतर्गत नहीं है, तथापि हमारी गुरु परंपरा जो मरहूम खाँ साहब बड़े मुहम्मद खाँ हद्दू-हस्सू खाँ और रहमत खाँ से चली आई है उसमें दरबारी और मल्हार के गान्धारों का पृथकत्व दिखाने के लिए इस गान्धार का प्रयोग हमें सिखलाया गया है।

हुआ सा दीखता है। उस गान्धार का हम अपने विशुद्ध संगीत में प्रयोग नहीं ही करते हैं। किन्तु हार्मोनियम पर गाने वालों से इस गान्धार का ही उपयोग होता है। तद्वत् जिस ४०५ आन्दोलन के चतुःश्रुति धैवत से siren पर Beats होते है और जो षड्ज-पंचम से विवादी अन्तर पर स्थित है; जिसे पं० भातखण्डे ने न जाने क्या समझ कर अपने शुद्ध स्वर सप्तक में स्थान दिया है उस धैवत का भी सामान्यतः हम अपने भारतीय संगीत में प्रयोग नहीं करते हैं। हाँ, शुद्ध गान्धार से शुद्ध मध्यम में मिलते समय उस तीव्र गान्धार को छुआ जाता है। किन्तु हार्मोनियम पर गाने वाले गायक उसका शुद्ध गान्धार के रूप में नियमपूर्वक प्रयोग करते ही हैं। वह शुद्ध गान्धार से एक श्रुति ऊँचा होने के कारण हमने उसे तीव्र गान्धार कहा है।*

तीव्र और तीव्रतर मध्यम—जिसे हम आज सामान्य भाषा में 'तीव्र मध्यम' कहते हैं, वह शुद्ध मध्यम से दो श्रुति के अन्तर पर स्थित है। अतः उस 'तीव्र मध्यम' और शुद्ध मध्यम के बीच में एक श्रुति का स्थान रहता है। उसी श्रुति को, जो शुद्ध मध्यम के ठीक बाद आती है, हमने उसे यहाँ 'तीव्र मध्यम' संज्ञा दी है और सामान्यतः जिसे 'तीव्र मध्यम' कहा जाता है, उसे 'तीव्रतर मध्यम' नाम दिया है। इस तीव्रतर मध्यम के प्रयोग से तो सभी परिचित हैं, जो शुद्ध म से दो श्रुतिपर स्थित है। परन्तु इसके पूर्व की श्रुति पर जो तीव्र मध्यम स्थित है, उसका प्रयोग समझने योग्य है। ललित में जब शुद्ध मध्यम पर दीर्घ मुकाम करके म—म् म, यों तीव्र मध्यम को मात्र थोड़ा सा छू कर पुनः शुद्ध मध्यम पर ठहरते हैं, ऐसी अवस्था में शुद्ध मध्यम के बाद की श्रुति वाला तीव्र मध्यम ही लगता है, किन्तु जब शुद्धेतर मध्यम पर कुछ देर ठहरते हैं अथवा 'ग रे_ म् ग रे_ सा' या 'नि ध_ म्' करते हैं, तब शुद्ध मध्यम से दो श्रुति के अन्तर पर जो तीव्रतर मध्यम स्थित है, उसी का प्रयोग होता है। इस प्रकार ललित में तीव्र और तीव्रतर दोनों मध्यम का प्रयोग लक्ष्य-सम्मत है। जानकर या अनजानपने में गुणीजन इन तीव्र और तीव्रतर दोनों विकृत मध्यम को व्यवहृत करते हैं।

चतुःश्रुति धैवत—हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारे आज के शुद्ध स्वर-सप्तक में धैवत त्रिश्रुतिक ही है, चतुःश्रुतिक नहीं। ऐसी अवस्था में चतुःश्रुतिक धैवत का प्रयोग समझने योग्य है।

हम जानते हैं की वीणादिक पर्दे वाले तन्तुवाद्यों पर मुक्त तार को षड्ज मानकर चलने से जिस पर्दे पर धैवत का स्थान आता है वह चतुःश्रुति धैवत का ही होता है। यह हम एकाधिकवार स्पष्ट कर चुके हैं। वह धैवत जोड़ की तारों का ऋषभस्थानीय होने के कारण विरुद्ध डोल उत्पन्न नहीं करता, यह भी हम स्पष्ट कर चुके हैं। साथ ही वीणा की पंचम की मुक्त तार पर जब मेरु से दूसरे पर्दे पर धैवत लिया जाएगा, तब भी वह चतुःश्रुतिक होगा। यद्यपि यह चतुःश्रुतिक धैवत नियमित रूपसे व्यवहृत नहीं ही होता, फिर भी वह उपरोक्त विधि में ग्राह्य माना गया है। इसके अतिरिक्त मारवा में जब तानपुरे की पहिली तार गान्धार में न मिला कर तीव्रतर मध्यम अथवा तीव्र निषाद† में मिलाई जाती है, तब त्रिश्रुति की बजाय चतुःश्रुति धैवत ही सहज में प्रयुक्त होता है। इसका कारण यह है कि तीव्रतर मध्यम से त्रिश्रुति धैवत का अन्तर पाँच श्रुति का हो जाता है। ६ : उस विवादी अन्तर से बचने की सहज प्रवृत्ति के कारण तीव्रतर मध्यम से षट्श्रुत्यन्तर पर स्थित चतुःश्रुति धैवत का प्रयोग हो जाना स्वाभाविक है। तद्वत् जब तानपुरे की प्रथम तार तीव्र निषाद में मिलाई जाती है, तब त्रिश्रुति धैवत से उस निषाद का पाँच श्रुति का विवादी अन्तर बन जाता है। किन्तु चतुःश्रुति धैवत के प्रयोग से वह अन्तर चार श्रुति का रह जाता है और पाँच श्रुति के विवादी अन्तर से बचाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में भी धैवत सहजरीत्या चतुःश्रुतिक प्रयुक्त होता है। हाँ, यदि प्रथम तार धैवत में मिलाई जाएगी तो वह ध त्रिश्रुतिक ही होगा।

---

* टेंपर्ड स्केल के इस गान्धार में और हमारे तीव्र गान्धार में कुछ अन्तर अवश्य है।

† कुछ आगे चलकर तीव्र निषाद का स्थान दिखाते समय हम यह स्पष्ट करेंगे कि तानपुरे की प्रथम तार जब निषाद में मिलाई जाती है, तब षड्ज में लीन होने की निषाद की सहज प्रवृत्ति के कारण वह निषाद हमारे आज के शुद्ध निषाद या प्राचीन काकली से एक श्रुति ऊँचा मिलाया जाता है, जिसे हमने 'तीव्र' संज्ञा दी है।

अतिकोमल और कोमल निषाद—सामान्यतः जिसे आज हम कोमल निषाद कहते हैं यानी श्रुत्यन्तरों के सूक्ष्म भेद न जानने वाले या न मानने वाले जिसे स्थूल मान से कोमल निषाद के नाम से पहिचानते हैं, उसके सूक्ष्म भेदों को यहाँ समझ लेना समुचित होगा।

सामान्यजन मालकौंस और भीमपलासी में प्रयुक्त होने वाले कोमल निषाद को एक ही समझते हैं। हार्मोनियम पर गाने वाले तो इन दोनों रागों में एक ही प्रकार का कोमल निषाद प्रयुक्त करते हैं। अतः वे कोमल निषाद का एक ही रूप जानते हैं। किन्तु वास्तव में ये दोनों निषाद एक दूसरे से भिन्न हैं। मालकौंस में तानपुरे की प्रथम तार मध्यम में मिली रहने से मध्यम के साथ नव-श्रुत्यन्तर से संवाद करने वाला अति कोमल निषाद ही प्रयुक्त होता है। किन्तु, भीमपलासी में वही तार पंचम में मिलाई जाती है, अतः पंचम के साथ षट्श्रुत्यन्तर से संवाद करने वाला कोमल निषाद, जो कि मालकौंस के निषाद से एक श्रुति ऊँचा है, वही भीमपलासी में प्रयुक्त होता है। श्रुति की भाषा में इसे हम यों कह सकते हैं कि मालकंस के मध्यम की श्रुति मार्जनी के साथ क्षोभिणी का संवाद होगा, तीव्रा का कदापि नहीं। अतः मालकौंस में क्षोभिणी वाला अति कोमल निषाद ही प्रयुक्त होता है। तद्वत् भीमपलासी के पंचम यानी आलापिनी के साथ षट्श्रुत्यन्तर से संवाद करने वाला कोमल निषाद जो तीव्रा श्रुति पर स्थित है, वही प्रयोग में आता है, क्षोभिणी वाला नहीं।

इस प्रकार स्थूल रूप से इन दोनों निषादों के लिए कोमल संज्ञा का प्रयोग करने पर भी गायक-वादक इन दोनों को, जिनमें एक एक श्रुति का अन्तर है, पृथक्तया प्रयुक्त करते हैं। इस प्रकार गुणीजनों की क्रिया में सहज ही, बिना प्रयास इन सूक्ष्म स्वरों का प्रयोग हुआ करता है। चाहे जानकर या अनजानपने में इन दोनों निषादों का प्रयोग आज सभी गुनी अपने गान वादन में कर रहे हैं यह निस्संदेह सत्य है।

तीव्रतम मध्यम और तीव्र निषाद—पंचम से एक श्रुति पूर्व का तीव्रतम मध्यम और षड्ज से एक श्रुति पूर्व का तीव्र निषाद—ये दो स्वर रागों में नियमपूर्वक प्रयुक्त नहीं होते। किन्तु जब जब हम तीव्रतर मध्यम से पंचम में मिलते हैं और शुद्ध निषाद से षड्ज में मिलते हैं, उस समय इन तीव्रतम मध्यम और तीव्र निषाद का सहज ही प्रयोग हो जाता है। यही मध्यम भरत का त्रिश्रुति पंचम है और 'वराली मध्यम' संज्ञा का प्रयोग करनेवालों को भी शायद यही मध्यम अभिप्रेत रहा होगा, ऐसा उनके कथन से प्रतीत होता है।

प्रायः यह देखा गया है कि तानपुरे की पहिली तार जब पंचम, मध्यम या गान्धार में न मिला कर, कुछेक रागों में; निषाद में मिलाते हैं, तब वह निषाद आधुनिक शुद्ध निषाद और षड्ज के बीच वाली श्रुति पर स्थित होता है, क्योंकि इस प्रकार वह निषाद षड्ज से दो श्रुत्यन्तर के विवादी सम्बन्ध से छूट कर षड्ज में लीन होने की क्रिया को पुष्ट करता है।

जो गुणीजन महफ़िल में दो तानपुरे मिलाते हैं, वे पूरिया, कल्याण, बिहाग जैसे रागों में एक तानपुरे की पहिली तार गांधार या पंचम में मिलाते हैं और दूसरे तानपुरे की प्रथम तार निषाद में मिलाते हैं। ऐसी अवस्था में जो निषाद मिलाया जाता है, वह आधुनिक शुद्ध निषाद या प्राचीन काकली ही होता है, क्योंकि वह पंचम से सप्तश्रुति और गान्धार से त्रयोदश श्रुति के अन्तर से संवाद करता है। इस संवाद के कारण षड्ज के साथ उसका दो श्रुति का विवादी नाता बहुत अंश में न्यून हो जाता है। किन्तु जब एक ही तानपुरे पर निषाद मिलाया जाता है, तब वह निषाद काकली अथवा कुमुद्वती पर नहीं, अपितु मन्दा पर मिलाया जाता है। गुणीजन इस सूक्ष्मताको प्रत्यक्ष क्रिया से जाँच कर देख सकते हैं।

यहाँ हम पुनः स्पष्ट करना उचित समझते हैं कि भिन्न भिन्न स्वरों से उत्थित मूर्च्छनाओं में भिन्न भिन्न स्वरान्तराल प्रयुक्त होते हैं, चाहे शास्त्र से और श्रुति-भेद से अनभिज्ञ जन उन्हें स्थूल मान से कोमल तीव्रादि संज्ञा से पहिचानते हों। यह भी नितान्त सत्य है कि प्रत्येक गुणी इन सूक्ष्म स्वरान्तरों का अपनी क्रिया में व्यवहार करते ही रहते हैं। किन्तु सुविधा के लिए, सूक्ष्म स्वरान्तरों का भेद दिखाने वाली कोमल, अति कोमल, तीव्र, तीव्रतर तीव्रतम इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग वे प्रायः नहीं करते हैं, अपितु शुद्ध, कोमल,

और तीव्र कहकर ही अपना कार्य निभाते हैं। पूज्यपाद गुरुदेव पं० विष्णुदिगम्बरजी ने अपनी प्रगाढ़ साधना से इन सूक्ष्म स्वरान्तरों को देखा, सुना, जाँचा और अपनी शिष्य परम्परा को उनसे अभिज्ञात कराया। उनके प्रकाशित ग्रन्थों के राग विवरण में यत्र तत्र इन सूक्ष्म स्वरान्तरों के नाम उल्लिखित हैं।

हमने इस अल्प विवरण में सभी रागों के सूक्ष्म स्वरान्तरों का ब्यौरा नहीं दिया है, क्योंकि वह ब्यौरा तो इस ग्रन्थ के दूसरे भागमें, जो राग-विषयक होगा, दिया जायगा।

ऊपर हमने संक्षेप में यह देखा कि भिन्न भिन्न रागों में स्वर संवाद के नियमानुसार एवं रस-भाव की अनुकूलता के अनुसार सूक्ष्म स्वर-भेद प्रयुक्त होते हैं। एकाध उदाहरण और दे कर अब हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

मारवा और पूरिया के धैवत में भी गुणीजन सूक्ष्म भेद बरतते हैं। हम यह जानते हैं कि आज अधिकतर गुणीजन पूरिया में शुद्ध धैवत का प्रयोग करते हैं। किन्तु, वे भी जब ग म् ध ग म् ग-यों करते हैं तब धैवत को छू कर ही आते हैं और ऐसे अवसर पर त्रिश्रुतिक शुद्ध धैवत का प्रयोग करने वालों से भी द्विश्रुति धैवत लग जाता है। इसी से कई गुणीजन स्थूल भाषा में यह कहते हैं कि पूरिया का धैवत न कोमल है, न तीव्र है।

जो लोग बारह स्वरों को अपनी संगीत पद्धति का आधार मानते हैं, वे भी तोड़ी और मुल्तानी के गान्धार की भिन्नता की चर्चा करते रहते हैं। उस पद्धति से सीखने वाले विद्यार्थी ही एतद्विषयक प्रश्न उठाकर उन्हें इस चर्चा में उलझने को बाध्य करते हैं। अन्य सूक्ष्म स्वरान्तरों को न मानने पर भी उन्हें यह तो कहना ही पड़ता है कि इन दोनों गान्धारों में अवश्य अन्तर है। किन्तु उन लोगों का कहना है कि राग रचना में स्वर लगाने के ढंग से ऐसे परिवर्तन होते ही रहते हैं, इसलिए ऐसे अपवादों के लिए हमें अपने आधार को नहीं छोड़ना चाहिए।

हमारी ऐसी दृढ़ मान्यता है कि रागों के रस-भाव इन सूक्ष्म स्वरान्तरों पर, स्वरोंके काकवादि उच्चारों पर, स्वर संगति पर, श्रुत्यन्तर, स्वरान्तर, संवादान्तर, विवादान्तर, सप्तकान्तर, एवं ताल और लयके विभिन्न भेदों पर अवलंबित है। तोड़ी के ऋषभ-गान्धार से उद्भूत करुणा और जोगी की स्वरावली में सन्निहित करुणा—इन दोनों के अन्तर को और ऐसे ही अन्य सूक्ष्मान्तरों को समझने वाले हृदय और कान ही यह अनुभव कर सकते हैं कि ये सूक्ष्म स्वर किस प्रकार रस का आविर्भाव कराते हैं। इस विषय की विशद विवेचना तो राग और रस पर प्रकाशित होने वाले, इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में की जाएगी। किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हम अपने संगीत में रस की अभिव्यक्ति चाहते हैं, यदि आलाप और तानों द्वारा केवल गले की कसरत नहीं; अपितु, भाव का दर्शन कराना चाहते हैं, यदि हमारे संगीतको मर्यादित सीमा तक सीमित न रखकर हम उसे निस्सीम विश्व में फैलाना चाहते हैं, तो इन सूक्ष्म स्वरान्तरों को अपनाना पड़ेगा, उनसे उद्भूत भाव सृष्टि का विकास करना पड़ेगा। इनको अपनाए बिना, इनकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार किए बिना हम रागों की रस-सिद्धि, जो कि संगीत का प्राण है, उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, भारतीय संगीत को क्षितिज के पार नहीं पहुँचा सकते, और पूर्व-पश्चिम के भेद नहीं मिटा सकते।

आधुनिक लक्ष्य-सम्मत शुद्ध विकृत स्वरों को श्रुतियों की प्राचीन भाषा में भली भाँति समझ लेने के पश्चात् आधुनिक दृष्टि से, आन्दोलन-संख्या द्वारा उनकी पारस्परिक ऊँचाई निचाई को गणित-दृष्टि से समझ लेना अब क्रम-प्राप्त है।

पाठकों को स्मरण होगा कि श्रुतियाँ सम प्रमाण की नहीं, अपितु विषम प्रमाण की हैं, यह दिखाते समय हम ने कोमा, लीमा और लघु-अर्धस्वर—ऐसे तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर बताए थे। भरत की सारणानुसार षड्जग्राम में इन श्रुत्यन्तरों का क्या क्रम रहता है, यह भी हम पृ० ८६ पर दिखा आए हैं। इन तीन श्रुत्यन्तरों का गणित-मूल्य या गुणोत्तर-प्रमाण क्रमशः $\frac{८१}{८०}$ (कोमा), $\frac{२५६}{२४३}$ (लीमा) और $\frac{३२}{३१}$ (लघुअर्धस्वर) है, यह

श्रुति संख्या और नाम	षड्जग्राम में श्रुत्यन्तरों का क्रम	षड्जग्राम के स्वरों का स्थान	आधुनिक 'ग्राम' में श्रुत्यन्तरों का क्रम	आधुनिक शुद्ध स्वरों का स्थान
१—तीव्रा	कोमा	... ...		
२—कुमुद्वती	लघु अर्ध स्वर	... ...		
३—मन्दा	लोमा	... ...		
४—छन्दोवती	कोमा	... ...		
५—दयावती	लघु अर्ध स्वर	षड्ज		
६—रंजनी	लीमा	... ...		
७—रक्तिका	कोमा	ऋषभ		
८—रौद्री	लीमा	... ...		
९—क्रोधा	कोमा	गान्धार		
१०—वज्रिका	कोमा	... ...	कोमा	
११—प्रसारिणी	लघु अर्धस्वर	अन्तर गान्धार	लघु अर्धस्वर	
१२—प्रीति	लीमा	... ...	लीमा	
१३—मार्जनी	कोमा	मध्यम	कोमा	षड्ज
१४—क्षिती	कोमा	... ...	कोमा	... ...
१५—रक्ता	लघु अर्धस्वर	... ...	लघु अर्धस्वर	... ...
१६—सन्दीपनी	लीमा	... ...	लीमा	... ...
१७—आलापिनी	कोमा	पञ्चम	कोमा	ऋषभ
१८—मदन्ती	लघु अर्धस्वर	... ...	लघु अर्धस्वर	... ...
१९—रोहिणी	लीमा	... ...	लीमा	... ...
२०—रम्या	कोमा	धैवत	कोमा	गान्धार
२१—उग्रा	लीमा	... ...	लीमा	... ...
२२—सोभिणी	कोमा	निषाद	कोमा	मध्यम
१—तीव्रा	कोमा	... ...	कोमा	... ...
२—कुमुद्वती	लघु अर्धस्वर	काकनी निषाद	लघु अर्धस्वर	... ...
३—मन्दा	लीमा	... ...	लीमा	... ...
४—छन्दोवती	कोमा	षड्ज	कोमा	पञ्चम
५—दयावती	लघु अर्धस्वर	... ...	लघु अर्धस्वर	... ...
६—रंजनी	लीमा	... ...	लीमा	... ...
७—रक्तिका	कोमा	ऋषभ	कोमा	धैवत
८—रौद्री	लीमा	... ...	लीमा	... ...
९—क्रोधा	कोमा	गान्धार	कोमा	... ...
१०—वज्रिका	कोमा	... ...	कोमा	... ...
११—प्रसारिणी	लघु अर्धस्वर	अन्तर गान्धार	लघु अर्धस्वर	निषाद
१२—प्रीति	लीमा	... ...	लीमा	... ...
१३—मार्जनी	कोमा	मध्यम	कोमा	षड्ज

भी हम दिखा चुके हैं। किसी भी 'ग्राम' की बाईसों श्रुतियों के आन्दोलन-प्रमाण निकालने के लिए इन्हीं गुणोत्तर-प्रमाणों का सहारा लेना होगा, क्योंकि श्रुतियों की पारस्परिक तारता दिखाने के लिए ये प्रामाणिक साधन स्वीकार किये गये हैं। इसलिए किसी भी ग्राम की श्रुतियों के आन्दोलन-प्रमाण निकालने के लिए हमें सर्वप्रथम उस ग्राम में इन तीन श्रुत्यन्तरों का क्या क्रम रहता है, यह निर्णीत करना होगा।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि हमारा आज का स्वर-सप्तक षड्जग्रामिक मध्यम से आरम्भ होता है। अतः षड्जग्राम में भरतोक्त सारणानुसार श्रुतियों का जो क्रम निर्णीत किया गया है, उसी के आधार पर आधुनिक स्वर-सप्तक में श्रुत्यन्तरों का क्रम इस प्रकार निकाला जा सकता है, जो कि ऊपर दी हुई सारिणी से स्पष्ट होगा।

ऊपर की सारिणी में दिए हुए श्रुत्यन्तरों के क्रम के अनुसार आधुनिक 'ग्राम' की बाईसों श्रुतियाँ (जिनके स्वर-रूप हम ऊपर दिखा चुके हैं), उनके आन्दोलन-प्रमाण, षड्ज के आन्दोलन २४० गृहीत मानने से, इस प्रकार बनेंगे, जैसा कि आगे दी हुई सारिणी से स्पष्ट होगा। इस सारिणी में प्रत्येक श्रुति का संवाद सम्बन्ध षड्ज-मध्यम-भाव से यानी प्रत्येक श्रुति से उसकी नवीं श्रुति के साथ, सिद्ध किया गया है। हम जानते हैं कि षड्जग्राम के मूल षड्ज से हमारे स्वर-सप्तक का आरंभ नहीं होता है, अपितु षड्जग्राम के मध्यभ से उसका आरंभ होता है। इसलिए हमारे सप्तक में स-म संवाद ही सिद्ध होता है, स-प संवाद नहीं। हमारे आधुनिक संगीत में जो स–प संवाद दीखता है, वह उस सा–म को उल्टाने से म–सा हो कर दीख रहा है। साथ ही हमारा आज का शुद्ध स्वर-सप्तक जहाँ से शुरू होता है, वह मध्यम—ग्राम के निषाद की मूर्च्छना है। इस दृष्टि से भी, स-म संवाद जिस में सन्निहित है, ऐसे मध्यमग्राम से हमारा आज का स्वर-सप्तक विशेष रूप से सम्बन्धित है। हमारे शुद्ध सप्तक का आरम्भ-स्थान षड्जग्राम का मध्यम है और मध्यमग्राम का निषाद है। इसलिए इन दोनों ग्रामों के सा–प और सा–म संवाद का सम्मिश्रित रूप इसमें उपलब्ध होता है। आज के हमारे शुद्ध स्वर-सप्तक में सा–म, सा–प, रे–प (रे–ध संवाद नहीं है) ग-ध ग–नि, म–नी, म–सां, इस प्रकार षड्ज-पञ्चम और षड्ज-मध्यम उभय भावों का संवाद संनिहित है। केवल रे–ध संवाद नहीं है। क्योंकि हमारा रे चतुःश्रुति है और ध त्रिश्रुति। हाँ, यदि वीणा की मध्यम वाली मुक्त तार को सा मान कर वीणा—वादन किया जाएगा (भारतीय संगीत में ऐसा प्रायः नहीं किया जाता), तो उस समय रि–ध संवाद होगा, क्योंकि तब धैवत चतुःश्रुति बन जाएगा। तानपुरे पर गाते समय यह रि–ध संवाद नहीं ही होगा, यह सदैव ध्यान रखा जाए। यह ध्यान रहे कि सा–प, ग–नि और म–सां—इन मुख्य स्वरों के स–प संवाद के अतिरिक्त हमारे सप्तक में सभी श्रुतियों का परस्पर स–प भाव से संवाद नहीं होता है, अपितु स–म भाव से ही होता है। जिज्ञासु जन गणित-प्रयोग द्वारा इस सत्य की प्रतीति पा सकते हैं।

हमारे प्रचलित स्वरों के आन्दोलन प्रमाण और उनका स–म संवाद नीचे दी हुई सारिणी से स्पष्ट होंगे।

नीचे की सारिणी में सभी श्रुतियों में स–म भाव से संवाद-सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। हम यह भी कह चुके हैं कि स–प—भाव से इस 'ग्राम' में सभी श्रुतियों का संवाद संबन्ध नहीं जुड़ पाता है। आधुनिक 'ग्राम' में स्वर-संवाद की यह अवस्था देखने से यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि प्राचीनोक्त षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम में सभी श्रुतियों का संवाद सम्बन्ध इसी गणित-प्रणाली से किस रूप में सिद्ध होता होगा? नीचे दी हुई अन्य दोनों सारिणियों में यह स्पष्टतया दिखाया गया है कि षड्जग्राम में षड्ज-पंचम-भाव से और मध्यम-ग्राम में षड्ज-मध्यम-भाव से संवाद-सम्बन्ध है।

षड्ज के आन्दोलन २४० ही गृहीत मान कर दोनों ग्रामों के स्वरों के आन्दोलन-प्रमाण निकाले गए हैं।

आधुनिक लक्ष्यसम्मत स्वरों के आन्दोलन

(मार्जनी से मार्जनी तक)

श्रुति-संख्या और नाम	श्रुत्यन्तरों का क्रम	श्रुत्यन्तरों का गुणोत्तर प्रमाण	आन्दोलन प्रमाण	शुद्ध स्वरों के स्थान	श्रुतियों का परस्पर संवाद संबन्ध	समभाव से संवादी श्रुतियाँ
१०—वज्रिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२१६		$\frac{८०००}{२७०} \times \frac{२१६}{१} = ४ \times ४$	१६—रोहिणी
११—प्रसारिणी	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	२२५		$\frac{३००}{१००} \times \frac{१}{२२५} = ४ \times ४$	२०—रम्या
१२—प्रीति	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	२३७$\frac{२७}{८१}$		$\frac{२५६०००}{८१०००} \times \frac{२७}{६४०००} = ४ \times ४$	२१—उमा
१३—मर्जानी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२४०	षड्ज	$\frac{३२०}{१००} \times \frac{१}{२४०} = ४ \times ४$	२२—क्षोभिणी
१४—क्षिती	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२४३		$\frac{३२७}{१००} \times \frac{१}{२४३} = ४ \times ४$	१—तीव्रा
१५—रक्ता	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	२५३$\frac{१}{८}$		$\frac{६७५}{२००} \times \frac{८}{२०२५} = ४ \times ४$	२—कुमुद्वती
१६—सन्दीपनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	२६६$\frac{३}{४}$		$\frac{३२०००}{८१००} \times \frac{३}{८००} = ४ \times ४$	३—मन्दा
१७—आलापिनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२७०	ऋषभ	$\frac{३६०}{१००} \times \frac{१}{२७०} = ४ \times ४$	४—छन्दोवती
१८—मदन्ती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	२८८$\frac{१}{४}$		$\frac{३७५}{१००} \times \frac{४}{१२१५} = ४ \times ४$	५—दयावती
१९—रोहिणी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	२९६$\frac{२७}{८१}$		$\frac{३२०००}{८१००} \times \frac{२७}{८०००} = ४ \times ४$	६—रञ्जनी
२०—रम्या	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३००	गान्धार	$\frac{४००}{१००} \times \frac{१}{३०००} = ४ \times ४$	७—रक्तिका
२१—उमा	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	३१६$\frac{४}{८१}$		$\frac{१०२४००}{२४३००} \times \frac{८१}{२५६०००} = ४ \times ४$	८—रौद्री
२२—क्षोभिणी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३२०		$\frac{१२८००}{३९००} \times \frac{१}{३२०००} = ४ \times ४$	९—क्रोधा
१—तीव्रा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३२४	मध्यम	$\frac{४३२}{१००} \times \frac{१}{३२४} = ४ \times ४$	१०—वज्रिका
२—कुमुद्वती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	३३७$\frac{१}{२}$		$\frac{४५०}{१००} \times \frac{२}{६७५} = ४ \times ४$	११—प्रसारिणी
३—मन्दा—	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	३४५$\frac{५}{९}$		$\frac{१२८०००}{२७००} \times \frac{९}{३२०००} = ४ \times ४$	१२—प्रीति
४—छन्दोवती	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३६०	पञ्चम*	$\frac{४८०}{१००} \times \frac{१}{३६०} = ४ \times ४$	१३—मार्जनी
५—दयावती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	३७५		$\frac{३७५}{१००} \times \frac{४}{१२१५} = ४ \times ४$	१८—मदन्ती
६—रञ्जनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	३९५$\frac{८}{८१}$		$\frac{३२०००}{८१००} \times \frac{२७}{८०००} = ४ \times ४$	१९—रोहिणी
७—रक्तिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४००	धैवत	$\frac{४००}{१००} \times \frac{१}{४००} = ४ \times ४$	२०—रम्या
८—रौद्री	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	४२१$\frac{९७}{२४३}$		$\frac{१०२४००}{२४३००} \times \frac{८१}{२५६०००} = ४ \times ४$	२१—उमा
९—क्रोधा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४२६$\frac{२}{३}$		$\frac{१२८००}{३९००} \times \frac{१}{३२०००} = ४ \times ४$	२२—क्षोभिणी
१०—वज्रिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४३२		$\frac{४३२}{१००} \times \frac{१}{३२४} = ४ \times ४$	१—तीव्रा
११—प्रसारिणी	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	४५०	निषाद	$\frac{४५०}{१००} \times \frac{२}{६७५} = ४ \times ४$	२—कुमुद्वती
१२—प्रीति	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	४७४$\frac{२}{७}$		$\frac{१२८००}{२७००} \times \frac{९}{३२०००} = ४ \times ४$	३—मन्दा
१३—मार्जनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४८०	षड्ज	$\frac{४८०}{१००} \times \frac{१}{३६०} = ४ \times ४$	४—छन्दोवती

* पञ्चम के साथ तार षड्ज का संवाद जाँचने के बाद एक सप्तक की मर्यादा पूरी हो जाती है। इसलिए पंचम के बाद वाली श्रुतियों का एक ही सप्तक में संवाद जाँचना संभव नहीं है। अतः पंचम के बाद अवरोह गति से गिनाई करके प्रत्येक श्रुति के साथ उसकी नवीं श्रुति का संवाद दिखाया गया है।

षड्जग्राम

(छन्दोवती से छन्दोवती तक)

श्रुति संख्या और नाम	श्रुत्यन्तरों का क्रम	श्रुत्यन्तरों का गुणोत्तर प्रमाण	आन्दोलन प्रमाण	शुद्ध स्वरों के स्थान	श्रुतियों का परस्पर संवाद-सम्बन्ध	स-प-भाव से संवादी श्रुतियाँ
१—तीव्रा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२१६		$\frac{३२४}{२१६} \times \frac{२१६}{२१६} = \frac{२१६}{२१६}$	१४-क्षिती
२—कुमुद्वती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	२२५		$\frac{६७५}{३००} \times \frac{२१६}{२१६} = \frac{२१६}{२१६}$	१५-रक्ता
३—मन्दा	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	२३७$\frac{१}{२७}$		$\frac{३२००}{२७} \times \frac{२१६}{२१६} = \frac{२१६}{२१६}$	१६-सन्दीपनी
४—छन्दोवती	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२४०	षड्ज	$\frac{३६०}{३००} \times \frac{२१६}{२१६} = \frac{२१६}{२१६}$	१७-आलापिनी
५—दयावती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	२५०		$\frac{३७५}{३००} \times \frac{२१६}{२१६} = \frac{२१६}{२१६}$	१८-मदन्ती
६—रञ्जनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	२६२$\frac{२१}{२४३}$		$\frac{३२०००}{८१} \times \frac{२४३}{२४३} = \frac{२४३}{२४३}$	१९-रोहिणी
७—रक्तिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२६६$\frac{३}{३}$	ऋषभ	$\frac{४००}{३००} \times \frac{२४३}{२४३} = \frac{२४३}{२४३}$	२०-रम्या
८—रौद्री	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	२७९$\frac{५०९}{२९३}$		$\frac{१०२४०००}{२४३} \times \frac{७२९}{७२९} = \frac{७२९}{७२९}$	११-उग्रा
९—क्रोधा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२८४$\frac{४}{९}$	गान्धार	$\frac{१२८०}{३} \times \frac{२५६}{२५६} = \frac{२५६}{२५६}$	२२-क्षोभिणी
१०—वज्रिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२८८		$\frac{४३२}{३००} \times \frac{२७२}{२७२} = \frac{२७२}{२७२}$	१-तीव्रा*
११—प्रसारिणी	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	३००		$\frac{४५०}{३००} \times \frac{३००}{३००} = \frac{३००}{३००}$	२-कुमुद्वती
१२—प्रीति	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	३१६$\frac{४}{८१}$		$\frac{१२८००}{२७} \times \frac{२८१}{२८०} = \frac{२८१}{२८०}$	३-मन्दा
१३—मार्जनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३२०	मध्यम†	$\frac{४८०}{३००} \times \frac{३२०}{३२०} = \frac{३२०}{३२०}$	४-छन्दोवती
१४—क्षिती	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३२४		$\frac{३२४}{३००} \times \frac{३२४}{३२४} = \frac{३२४}{३२४}$	१-तीव्रा
१५—रक्ता	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	३३७$\frac{१}{२}$		$\frac{६७५}{३००} \times \frac{३२४}{३२४} = \frac{३२४}{३२४}$	२-कुमुद्वती
१६—सन्दीपनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	३५५$\frac{५}{९}$		$\frac{३२००}{९०} \times \frac{३२७}{३२७} = \frac{३२७}{३२७}$	३-मन्दा
१७—आलापिनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३६०	पञ्चम	$\frac{३६०}{३००} \times \frac{३४०}{३४०} = \frac{३४०}{३४०}$	४-छन्दोवती
१८—मदन्ती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	३७५		$\frac{३७५}{३००} \times \frac{३५६}{३५६} = \frac{३५६}{३५६}$	५-दयावती
१९—रोहिणी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	३९५$\frac{५}{८१}$		$\frac{३२०००}{८१} \times \frac{३४३}{३४३} = \frac{३४३}{३४३}$	६-रञ्जनी
२०—रम्या	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४००	धैवत	$\frac{४००}{३००} \times \frac{३६०}{३६०} = \frac{३६०}{३६०}$	७-रक्तिका
२१—उग्रा	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	४२१$\frac{९७}{२४३}$		$\frac{१०२४०००}{२४३} \times \frac{७२९}{७२९} = \frac{७२९}{७२९}$	८-रौद्री
२२—क्षोभिणी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४२६$\frac{३}{३}$	निषाद	$\frac{१२८०}{३} \times \frac{३८४}{३८४} = \frac{३८४}{३८४}$	९-क्रोधा
१—तीव्रा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४३२		$\frac{४३२}{३००} \times \frac{४०५}{४०५} = \frac{४०५}{४०५}$	१०-वज्रिका
२—कुमुद्वती	लघु अर्ध०	$\frac{२५}{२४}$	४५०		$\frac{४५०}{३००} \times \frac{४०५}{४०५} = \frac{४०५}{४०५}$	११-प्रसारिणी
३—मन्दा	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}$	४७४$\frac{३}{२७}$		$\frac{१२८००}{२७} \times \frac{४२६}{४२६} = \frac{४२६}{४२६}$	१२-प्रीति
४—छन्दोवती	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४८०	षड्ज	$\frac{४८०}{३००} \times \frac{४५६}{४५६} = \frac{४५६}{४५६}$	१३-मार्जनी

* यहाँ पर तीव्रा से लेकर छन्दोवती तक क्रमशः जो चार श्रुतियाँ दिखाई गई हैं, वे सप्तक के पूरक तार षड्ज की श्रुतियाँ हैं। और इसके बाद ही पुनः जो तीव्रादिक चार श्रुतियाँ दिखाई गई हैं, वे सप्तक के आरंभक षड्ज की श्रुतियाँ हैं, क्योंकि वहाँ से अवरोहक्रम से गिनाई करके संवाद दिखाया गया है।

† मध्यम से तार षड्ज का संवाद जाँचने के बाद एक सप्तक की मर्यादा पूर्ण हो जाती है। इसलिए मध्यम से बाद वाली श्रुतियों का एक ही सप्तक में संवाद जाँचना संभव नहीं है। अतः पंचम के बाद अवरोह गति से गिनाई करके प्रत्येक श्रुति के साथ उसकी तेरहवीं श्रुति का संवाद दिखाया गया है।

मध्यमग्राम

(आलापिनी से आलापिनी तक)

श्रुति-संख्या और नाम	श्रुत्यन्तरों का क्रम	श्रुत्यन्तरों का गुणोत्तर प्रमाण	आन्दोलन प्रमाण	शुद्ध स्वरों के स्थान	श्रुतियों का परस्पर संवाद-सम्बन्ध		स-म-भाव से संवादीश्रुतियाँ
१४—क्षिति	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२१६		×		×
१५—रक्ता	लघु अर्ध०	$\frac{२५६}{२४३}$	२२५		×		×
१६—सन्दीपनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	२३७$\frac{९}{२७}$		$\frac{२५६०००}{२४३०००}$ ×	$\frac{२७}{२७}$ =	३–मन्दा
१७—आलापिनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२४०	षड्ज	$\frac{३२०}{३००}$ ×	$\frac{१}{१}$ =	४–छन्दोवती
१८—मदन्ती	लघु अर्ध०	$\frac{२५६}{२४३}$	२५०		$\frac{१०००}{९३००}$ ×	$\frac{१}{२५०}$ =	५–दयावती
१९—रोहिणी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	२६३$\frac{९}{२७}$		$\frac{२५६०००००}{२४३०००००}$ ×	$\frac{२७}{२७}$ =	६–रञ्जनी
२०—रम्या	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२६६$\frac{२}{३}$	ऋषभ	$\frac{३२०००}{३००००}$ ×	$\frac{८}{८}$ =	७–रक्तिका
२१—उग्रा	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	२८०$\frac{६}{७}\frac{९}{२७}$		$\frac{८१९२०००}{७२९००००}$ ×	$\frac{७२७}{२५६००}$ =	८–रौद्री
२२—क्षोभिणी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२८४$\frac{४}{९}$	गान्धार	$\frac{१०२४०}{९७०}$ ×	$\frac{९}{२५६}$ =	९–क्रोधा
१—तीव्रा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	२८८		$\frac{३८४}{३६०}$ ×	$\frac{१}{२८८}$ =	१०–वज्रिका
२—कुमुद्वती	लघु अर्ध०	$\frac{२५६}{२४३}$	३००		$\frac{४००}{३६०}$ ×	$\frac{१}{३००}$ =	११–प्रसारिणी
३—मन्दा	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	३१६$\frac{८}{९}$		$\frac{१०२४०००}{९७२००००}$ ×	$\frac{८१}{२५६००}$ =	१२–प्रीति
४—छन्दोवती	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३२०	मध्यम	$\frac{१२८०}{१२०}$ ×	$\frac{१}{३२०}$ =	१३–मार्जनी
५—दयावती	लघु अर्ध०	$\frac{२५६}{२४३}$	३३३$\frac{१}{३}$		×		×
६—रञ्जनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	३५१$\frac{१२१}{२७९}$		×		×
७—रक्तिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३५५$\frac{५}{९}$	पञ्चम*	$\frac{१२८००}{१२०}$ ×	$\frac{९}{३२००}$ =	१६–सन्दीपनी
८—रौद्री	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	३७४$\frac{१२६२}{२८७}$		×		×
९—क्रोधा	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३७९$\frac{७}{८१}$		$\frac{१०२४०}{९७०}$ ×	$\frac{९}{२५६०}$ =	२२–क्षोभिणी
१०—वज्रिका	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	३८४		$\frac{३८४}{३६०}$ ×	$\frac{१}{२८८}$ =	१–तीव्रा
११—प्रसारिणी	लघु अर्ध०	$\frac{२५६}{२४३}$	४००	धैवत	$\frac{४००}{३६०}$ ×	$\frac{१}{३००}$ =	२–कुमुद्वती
१२—प्रीति	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	४२१$\frac{२७}{२७}$		$\frac{१०२४०००}{९७२००००}$ ×	$\frac{८१}{२५६००}$ =	३–मन्दा
१३—मार्जनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४२६$\frac{२}{३}$	निषाद	$\frac{१२८००}{१०८००}$ ×	$\frac{१}{३२०}$ =	४–छन्दोवती
१४—क्षिति	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४३२		×		×
१५—रक्ता	लघु अर्ध०	$\frac{२५६}{२४३}$	४५०		×		×
१६—सन्दीपनी	लीमा	$\frac{२५६}{२४३}\frac{९}{२७}$	४७४$\frac{२}{२७}$		$\frac{१२८००}{१२०००}$ ×	$\frac{९}{३२००}$ =	७–रक्तिका
१७—आलापिनी	कोमा	$\frac{८१}{८०}$	४८०	षड्ज	×		×

* त्रिश्रुति पञ्चम के साथ च्युतषड्ज का संवाद-सम्बन्ध दिखाने के बाद एक सप्तक की मर्यादा पूरी हो जाती है। इसलिए पंचम के बाद वाली श्रुतियों का एक ही सप्तक में संवाद जाँचना संभव नहीं है। अतः पञ्चम के बाद अवरोह गति से गिनाई करके प्रत्येक श्रुति के साथ उसकी नवीं श्रुति का संवाद दिखाया गया है।

मध्यमग्रामिक स्वर-व्यवस्था में श्रुत्यन्तरों का क्रम षड्जग्राम के पञ्चम से आरम्भ किया गया है, क्योंकि वही मध्यमग्राम का आरम्भ-स्थान है। मध्यमग्राम की इस सारिणी से यह अधिक रूप से स्पष्ट हो जाएगा कि मध्यमग्राम में षड्ज-मध्यम संवाद ही है। भरत ने स्पष्ट ही कह दिया है कि मध्यमग्राम में षड्ज-पञ्चम-संवाद नहीं है—'मध्यमग्रामेऽप्येवमेव षड्जपञ्चमवर्ज्यं पञ्चमर्षभयोश्चात्र संवाद इति'।

ऊपर दी हुई सारिणी में भी वही बात स्पष्ट हो जाती है कि मध्यमग्राम में षड्ज-पञ्चम-संवाद नहीं ही होता है। इसीलिए २४० आन्दोलन के षड्ज के साथ संवाद करनेवाले ३६० आन्दोलन के पञ्चम का इसमें दर्शन नहीं होता है। सप्तक की मर्यादा में षड्ज-मध्यम-भाव निषाद तक पहुँचकर पूर्ण होता है और वह प्रस्तुत सारिणी में भी पूर्ण हुआ है। फिर भी सामान्यतः सप्तक के पूरक तार षड्ज की श्रुतियाँ दिखाई जाती हैं। किन्तु, मध्यमग्राम में मध्यम और पञ्चम के दर्म्यान की श्रुतियों और निषाद-षड्ज के दर्म्यान की श्रुतियों में परस्पर षड्ज-मध्यम भाव से संवाद की सिद्धि नहीं होती। केवल त्रिश्रुति पञ्चम जिसे च्युत पञ्चम कहते हैं, तथा च्युत षड्ज (षड्ज के पूर्व वाली श्रुति) का संवाद मिलता है। इस च्युतषड्ज के अतिरिक्त षड्ज की जो तीन श्रुतियाँ बच जाती हैं, उनका स-म-भाव से संवाद न होकर अवरोह-क्रम में स-प-भाव से संवाद होता है। अलबत्ता षड्जपञ्चमभाव को उल्टाने से म-सा भाव यानी सा-म-भाव की सिद्धि हो सकती है। किन्तु मध्यमग्राम में, जैसा कि हमने सारिणी में दिखाया है, सा-म-भाव ही रहता है और रहना चाहिए।

कुछेक आधुनिक विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिबिन्दु से श्रुतियों के गणित-मूल्य दिखाने का यत्न किया है और यह सब भरतोक्त सारणा के अनुसार है, ऐसा उनका कथन है। तुलना के लिए श्रीकृ० ग० मुले, श्रीयुत गं० भी० आचरेकर तथा मि० क्लेमेण्ट के मत को पं० कृ० ग० मुले के मराठी ग्रन्थ 'भारतीय संगीत' के पृ० १२६-३० पर दी हुई सारिणियों से यहाँ उद्धृत करते हैं।

इन पण्डितों के मत परस्पर भिन्न हैं, यह उनकी सारिणियों को देखने से स्पष्ट होगा। हमारे अभ्यास का निष्कर्ष हमने अपनी सारिणियों में दिया है। पाठकों से अनुरोध है कि वे क्षीर-नीर दृष्टि से 'सारं ततो ग्राह्यमपोह्य फल्गु' को चरितार्थ करें।

इस प्रकरण में दिखाए हुए श्रुति-संवाद, पारस्परिक स्वरों की संगति, उनकी आन्दोलन-संख्या इत्यादि के स्पष्टीकरण से अब कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए कि आज के प्रचार में किन-किन स्वरों और श्रुतियों का हम प्रयोग करते हैं। स्वाभाविकरीत्या गुणीजन इन्हें नित्य के प्रयोग में आज व्यवहृत कर रहे हैं। साथ ही, ऊपर के विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारा आज का बिलावल वाला शुद्ध स्वर-सप्तक षड्जग्राम के मध्यम और मध्यमग्राम के निषाद से आरम्भ होता है। आधुनिक लक्ष्य-सम्मत स्वरों की ऊपर दी हुई सारिणी से यह भ्रम भी निमूल हो जाएगा कि मध्यमग्राम इस पृथ्वी पर से उठ गया है और षड्जग्राम ही में हमारा संगीत सीमित रह गया है। वास्तव में इस भ्रांति की सृष्टि इसलिए हुई है कि गीतादिक का आरम्भ और न्यास षड्ज पर किया जाता है। यों तो प्राचीन काल से ही मध्यम को षड्ज मानकर वहीं से सारी संगीत क्रियाएँ व्यवहृत होती आई हैं; किन्तु उस काल में 'ग्राम' और उनके उपयोग को वे लोग समझते थे, जब कि मध्ययुग से आज तक ग्राम का वास्तविक अर्थ, रचना और उपयोग समझ से ओझल हो गया है। इसीलिए ग्रन्थकारों की उपर्युक्त धारणा बनी होगी। किन्तु उक्त सारिणी को देखने से यह समझ में आया होगा कि आज हमारे स्वर-सप्तक में श्रुतियों का जो ढाँचा बना हुआ है, जो प्राचीन परम्परानुसार है, उसमें षड्जमध्यम-संवाद निहित है। हम यह जानते ही हैं कि स-म संवाद मध्यमग्राम का प्राण है और इस प्रकार सूक्ष्म संवाद-दृष्टि से हमारा संगीत मध्यमग्राम पर ही आधारित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिसमें स—प संवाद हो, वही षड्जग्राम है और जिसमें स-म संवाद हो, वह मध्यमग्राम है। इसके पूर्व हम यह कह आए हैं कि हमारे आज के सप्तक का आरम्भ-स्थान षड्जग्राम का मध्यम और मध्यमग्राम का निषाद है। इसलिए दोनों

भरत की सारणानुसार उनकी श्रुतियों के गणित–मूल्य

(पं० कृ० ग० मुले के अनुसार)

श्रुति क्रम	श्रुति की जाति	श्रुति नाम	श्रुतियों का सेण्टम् में अंतर	गुणोत्तर प्रमाण से गणित-मूल्य	आन्दोलन प्रमाण	सप्त-स्वर	वीणा पर स्वर-स्थान या पर्दे
०	मध्या	क्षोभिणी	९९६	०	२१३$\frac{१}{३}$	नि	नी
१	दीप्ता	तीव्रा	१०१८	६/५	२१६		कै० नी
२	आयता	कुमुद्वती	१०८८	१५/८	२२५		का० नी
३	मृदु	मंदा	११७८	१६०/८१	२३७$\frac{१}{२७}$		च्यु० सा
४	मध्या	छंदोवती	१२००	१	२४०	सा	सा
५	करुणा	दयावती	७०—९०	२५६/२४५	२५०$\frac{३}{४९}$		
६	मध्या	रंजनी	११२	१६/१५	२५६		
७	मृदु	रक्तिका	१८२	१०/९	२६६$\frac{३}{५}$	रि	रि
८	दीप्ता	रौद्री	२७२	११७/१००	२८०$\frac{४}{५}$		
९	आयता	क्रोधा	२९४	३२/२७	२८४$\frac{४}{९}$	ग	ग
१०	दीप्ता	वज्रिका	३१६	६/५	२८८		साधा० ग०
११	आयता	प्रसारिणी	३८६	५।४	३००		अंतर० ग०
१२	मृदु	प्रीति	४७६	३००/२४३	३१६$\frac{४}{८१}$		(च्यु० म०)
१३	मध्या	मार्जनी	४९८	४/३	३२०	म	म
१४	मृदु	क्षिति	५२०	२७/२०	३२४		
१५	मध्या	रक्ता	५९०	४५/३२	३३७$\frac{१}{२}$		
१६	आयता	संदीपनी	६८०	४०/२७	३५५$\frac{५}{९}$		च्यु० प०
१७	करुणा	आलापिनी	७०२	३/२	३६०	प	
१८	करुणा	मदन्ती	७७२	२५/१६	३७५		
१९	आयता	रोहिणी	८६२	८/५	३८४		
२०	मध्या	रम्या	८८४	५/३	४००	ध	ध
२१	दीप्ता	उमा	९७४	१२८०/७२९	४२१$\frac{९७}{१२३}$		
२२	मध्या	क्षोभिणी	९९६	१६/९	४२६$\frac{३}{३}$	नी	नी
१	दीप्ता	तीव्रा	१०१८	९/५	४३२		कै० नी०
२	आयता	कुमुद्वती	१०८८	१५/८	४५०		का० नी०
३	मृदु	मंदा	११७८	१६०/८१	४७४$\frac{३}{३}$		च्यु० सा
४	मध्या	छंदोवती	१२००	२	४८०	सा	सा

विभिन्न विद्वानों के मतानुसार २२ श्रुतियों के गणित-मूल्य

क्रमांक	प्रो० आचरेकर का मत			मि० क्लेमेण्ट का मत			प्रो० परांजपे का मत
	आन्दोलन-प्रमाण	षड्ज से सेगट्स का अन्तर	षड्ज से गुणोत्तर प्रमाण	आन्दोलन-प्रमाण	षड्ज से सेगट्स का अन्तर	षड्ज से गुणोत्तर प्रमाण	भरत के अनुसार षड्ज से सेगट्स का अन्तर
० नि	४२६$\frac{3}{3}$	९९६	१६/९	२१३$\frac{1}{3}$	९९६	१६/९	९९६
१	४३२	१०१८	९/५	२१६	१०१८	९/५	१०६६
२	४५०	१०८८	१५/८	२२५	१०८८	१५/८	१०८८
३	४५५$\frac{5}{7}$	१११०	२५६/१३५	२२७$\frac{5}{9}$	१११०	२५६/१३५	११७८
४ सा	२४०	१२००	१	२४०	१२००	१	१२००
५	२५३$\frac{1}{7}$	९२	१३५/१२८	२५२	९०	१३५/१२८	९०
६	२५६	११२	१६/१५	२५६	११२	१६/१५	११२
७ रि	२६६$\frac{3}{3}$	१८२	१०/९	२६६$\frac{3}{3}$	१८२	१०/९	१८२
८	२७०	२०४	९/८	२७०	२०४	९/८	२७२
९ ग	२८४$\frac{4}{9}$	२९६	१६०/१३५	२८४$\frac{4}{9}$	२९६	१६०/१३५	२९४
१०	२८८	३१६	६/५	२८८	३१६	६/५	३१६
११	३००	३८३	५/४	३००	३८६	५/४	३८६
१२	३०३$\frac{3}{9}$	४०८	८१/६४	३०३$\frac{3}{9}$३१५	४०८,४७६	$\frac{८१}{६४}$,$\frac{२१}{१६}$	४७६
१३ म	३२०	४९८	४/३	३२०	४९८	४/३	४९८
१४	३३७$\frac{1}{3}$	५९०	४५/३२	३२४	५२०	८९/६०	५२०
१५	३४१$\frac{3}{3}$$\frac{3}{3}$	६१०	—	३३७$\frac{1}{3}$	५९०	४५/३२	५९०
१६	३५५$\frac{5}{9}$	६८०	४०/२७	३४१$\frac{1}{3}$	६१०	—	६८०
१७ प	३६०	७०२	३/२	३६०	७०२	३/२	७०२
१८	३७९$\frac{1}{1}$$\frac{1}{6}$	७९४	—	३७८	७९४	—	७७२
१९	३८४	८१४	८/५	३८४	८१४	८/५	८६२
२० ध	४००	८८४	५/३	४००	८८४	५/३	८८४
२१	४०५	९०६	२७/१६	४०५,४२०	९०६,९७४	$\frac{२७}{१६}$,$\frac{२१}{१२}$	९७४
२२ नि	४२६	९९६	१६/९	४२६	९९६	१६/९	९९६

ग्रामों के मुख्य स्वर-संवाद यानी षड्ज-पञ्चम-भाव और षड्ज-मध्यम-भाव के सम्मिश्रित रूप का इसमें दर्शन होता है।

इस प्रकरण में यह भी सिद्ध हो जाता है कि भरतादि प्राचीनों ने मुख्यतः दो ही ग्राम क्यों माने होंगे, क्योंकि जैसा कि हम ऊपर दोनों ग्रामों की सारिणियों में देख आए हैं, तदनुसार सा–प और सा–म यों दो ही संवाद सिद्ध हैं और दोनों की सिद्धि दो ग्रामों द्वारा ही होती है।

हम आशा करते हैं कि आधुनिक लक्ष्य के स्वरों से सम्बन्धित उलझनें और भ्रांतियाँ इस स्पष्टीकरण के बाद निर्मूल हो जाएँगी और हमारी श्रुति-स्वर-व्यवस्था प्राचीन परम्परा से किसी प्रकार विच्छिन्न नहीं है, इस सत्य की दृढ़ प्रतीति हो जाएगी। जिन लोगों ने केवल बारह स्वरों पर आधुनिक संगीत के लक्ष्य की नींव डाली है, और उस नींव पर अपने शास्त्र की इमारत खड़ी की है, आशा है कि वे भी, आज कलाकारों द्वारा व्यवहृत और प्रचलित विशुद्ध शास्त्र परम्परा को, जो कि ऊपर के विवरण में निदर्शित की गई है, अपनाएँगे और दक्षिणेतर भारतीय संगीत से सम्बन्धित मतभेद को मिटा कर उस संगीत को एकता के सूत्र में पिरो देंगे।

———

षष्ठ तन्त्री

मूर्च्छना-जाति

(क)

मूर्च्छना

प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपनी मूल स्वरावली स्थिर करने के बाद उसी के आधार पर मूर्च्छनाएँ बनाई हैं। सभी ग्रन्थकारों ने इसी नियम को अपनाया है और ऐसा करना अनिवार्य भी है। हम एकाधिकवार कह चुके हैं कि एक ही स्वरावली के भिन्न भिन्न स्वरों से आरोहावरोह करके मूर्च्छनाएँ बनाने से भिन्न-भिन्न अन्तराल वाले स्वर समूह प्राप्त होते हैं। इन्हीं स्वर-समूहों में से औडव-षाड़व सम्पूर्णादि प्रयोग द्वारा भिन्न-भिन्न राग-रूप उपजाए जाते हैं। इसीलिए मूर्च्छना को राग-परम्परा का आदि कारण माना गया है और इसीलिए प्राचीन काल में रागों का स्वर-रूप निर्दशित करने का साधन मूर्च्छना को ही माना गया था। किन्तु मध्ययुग में संभवतः ग्रामों की मूल स्वर-व्यवस्था दुर्बोध हो जाने से द्वैग्रामिकी मूर्च्छनाओं का नामोल्लेख किये जाने पर भी उन-उन मूर्च्छनाओं के स्वर-रूप उन-उन ग्रामों की मूल स्वर-व्यवस्था पर आधारित नहीं रह गए थे। इसी से उस काल में ग्राम-राग की चर्चा उठ गई सी दीखती है। हम दोनों ग्रामों की स्वर-व्यवस्था विशद रूप से स्पष्ट कर चुके हैं। उसी के आधार पर अब हम दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाएँ निर्दशित करेंगे। उससे प्राचीन परम्परा पुनः स्थापित हो सकेगी, ऐसी आशा है।

हम जानते हैं कि मूर्च्छना के बीज सामगान-परम्परा में प्रातःसवन, मध्याह्न सवन और सायं सवन के रूप में उपलब्ध होते हैं।*

'मूर्च्छना' की कुछेक ग्रन्थस्थ व्याख्याएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं, यथा:—

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।

(भरत ना० शा०)

क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।

(सं० र०)

आरोहश्चावरोहश्च स्वराणां जायते यदा। तां मूर्च्छनां तदा लोके प्राहुः॥

(सं० पा०)

स्वरः संमूर्च्छितो यत्र रागतां प्रतिपद्यते। मूर्च्छनामिति तां प्राहुः कवयो''॥

(संगीत विनोद)

इन व्याख्याओं का तात्पर्य यह है कि क्रम से सप्त स्वरों का आरोहावरोह करने से मूर्च्छनाओं का निर्माण होता है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जिन सप्त स्वरों का आरोहावरोह करने से मूर्च्छनाएँ बनती हैं, वे सप्त स्वर कौन से होंगे? हम ग्राम-प्रकरण में 'ग्राम' की निम्नलिखित व्याख्या देख आए हैं:—

---

*इस सवन-त्रय में सामगान के आरम्भक स्वर बदले जाते थे। और आरम्भक स्वरों में परिवर्तन होते ही भिन्न-भिन्न स्वर-सप्तकों का निर्माण होता था। उसी परम्परा का गान्धर्व-संगीत में मूर्च्छना के रूप में विकास हुआ है।

ग्रामः स्वरसमूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः

(सं० र०)

अर्थात् 'ग्राम' उस स्वर-समूह को कहेंगे, जो कि मूर्च्छनादि का आश्रय हो।

इस वचन से यह स्पष्ट है कि ग्राम की मौलिक श्रुति—व्यवस्था जिन सप्त स्वरों में हो, उन्हीं का क्रमशः आरोहावरोह करने से मूर्च्छनाओं का उद्भव होता है। ऐसे ग्राम शास्त्रकारों ने दो माने हैं। यहाँ यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि जिस स्वर-सप्तक को मूल मानकर हम उसी के भिन्न-भिन्न स्वरों से मूर्च्छनाएँ बनाएँगे, उसी स्वर-सप्तक के अनुसार उन मूर्च्छनाओं का रूप बनेगा। प्राचीनों की मूल स्वर-व्यवस्था दो ही थीं। इसलिए दो ग्रामों की मूर्च्छनाएँ बनाने को कहा गया है।* दोनों ग्रामों से बनी हुई मूर्च्छनाओं के स्वर-रूप स्थूल मान से एक से दिखाई देते हैं। फिर भी उनकी श्रुति व्यवस्था में भेद इसीलिए आता है कि दोनों ग्रामों की मौलिक श्रुति-व्यवस्था भिन्न है। इसीलिए कहा गया है कि ग्राम मूर्च्छना का आश्रय है और मूर्च्छना ग्राम के आश्रित है।

भिन्न-भिन्न स्वरों को मूर्च्छित करके आरोहावरोह करने की क्रिया ही मूर्च्छना है, ऐसा जो कहा गया है, उसका भी यही तात्पर्य है कि जिस स्वर से आरंभ कर के आरोहावरोह करना हो, उसी स्वर को षड्ज या स्वरित मानकर चलना होगा। उस अवस्था में वह आरंभक स्वर रे ग म प ध नि जो कुछ भी हो, उसका मूल स्वरूप मूर्च्छित हो जाता है। तदनुसार सप्तक के सभी स्वरों के मूल स्थान स्थिर रहने पर भी उनकी संज्ञाएँ बदल जाती हैं और इस प्रकार सभी स्वरों का मूल रूप 'मूर्च्छित' हो जाता है। उदाहरणार्थ, मान लें कि तानपुरे पर षड्ज बज रहा है और हमें गान्धार की मूर्च्छना करनी है। उस समय षड्ज के गान्धार तक हम पहुँचते हैं और उसे स्थिर करके उस गान्धार को षड्ज का स्थान दे देते हैं। उस अवस्था में गान्धार का गान्धारत्व मूर्च्छित हो जाता है और वह षड्जत्व को पा जाता है। तदनुसार अन्य सभी स्वरों की संज्ञाएँ बदल जाती हैं। जैसे कि ग-म-प-ध-नि-सा-रे--ये मूल स्वर क्रमशः सा-रे-ग-म-प-ध-नि हो जाएँगे। इसी से उनके अन्तराल अपने आप परिवर्तित हो जाएँगे। इस प्रकार आरंभक स्वर की मूर्च्छितावस्था को लक्ष्य में लेते हुए उस स्वर सप्तक को गान्धार की मूर्च्छना कहा जाएगा।

हम पाँचवीं तन्त्री में यह स्पष्ट कर आए हैं कि विकृत स्वरों को निर्दिष्ट करने के लिए ही प्राचीनों ने मूर्छना की प्रणाली अपनाई थी। जिन लोगों ने मूर्च्छना को मेल का पूर्वरूप माना है, उनकी मान्यता से भी हमारे इस कथन को पुष्टि मिलती है कि मूर्च्छना भिन्न-भिन्न विकृत अन्तरालों को दिखाने का साधन थी, क्योंकि मेल भी तो स्वरान्तरालों का ही द्योतक है। एक ओर से मूर्च्छना को मेल मानना और दूसरी ओर यह कहना कि प्राचीनों ने विकृत स्वर नहीं माने थे, यह भला कैसे संगत हो सकता है?

कुछ लोगों ने ऐसी आशंका की है कि भरतादि प्राचीनों के काल में स्वरित की भावना दुर्बल थी और इसलिए एक ही स्वरित या षड्ज से यानी 'मध्यम सप्तक' में सभी मूर्च्छनाओं का प्रयोग नहीं होता था।* हम भरत मतंग के आधार पर तृतीय तन्त्री में (पृ० १०६-११ पर) इस आशंका की निर्मूलता सिद्ध कर चुके हैं और यह स्पष्ट कर आए हैं कि विभिन्न मूर्च्छनाओं से प्राप्त विकृत स्वरान्तरों का, भरतोक्त 'अविनाशी मध्यम' को षड्ज मानकर उसी स्थान से आरंभ करके, प्रयोग किया जाता था। भरतोक्त 'अविलोपी मध्यम' और मतंगोक्त 'मध्यम सप्तक' एक ही हैं और वहीं से इन मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त स्वरान्तरों का क्रिया में प्रयोग होता था। इस विषय का प्रस्तुत प्रकरण के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण यहाँ उसका स्मरण दिलाना आवश्यक प्रतीत हुआ है।

---

* गान्धार-ग्राम को किसी भी ग्रन्थकार ने प्रयोगोपयोगी नहीं माना है। इसलिए यहाँ केवल दो ग्रामों का उल्लेख किया गया है।

* देखिए तृतीय तन्त्री पृ० १०७-९

भरत और मतंग के पश्चात् शार्ङ्गदेव ने भी उन्हीं के बताए हुए मार्ग पर चलकर वही बात कुछ भिन्न शब्दों में कही है। यथा :—

मध्यस्थानस्थषड्जेन मूर्च्छनाऽरभ्यतेऽग्रिमा ॥ अधस्तनैर्निषादाद्यैः षडन्या मूर्च्छनाः क्रमात्।
मध्यमध्यममारभ्य सौवीरी मूर्च्छना भवेत् ॥ षडन्यास्तदधोऽधःस्थस्वरानारभ्य तु क्रमात्।
षड्जस्थानस्थितैर्न्यासैः रजन्याद्याः परे विदुः ॥

(सं० र० १।४।१२-१४)

अर्थात्—पहिली मूर्च्छना 'मध्यस्थान' के षड्ज से आरम्भ होती है। उस षड्ज के नीचे के निषादादि* से क्रमशः अन्य छै मूर्च्छनाएँ बनती हैं। उसी प्रकार 'मध्यमध्यम' से आरम्भ करके सौवीरी मूर्च्छना बनेगी और उसके नीचे के छैः स्वरों से आरंभ करके अन्य छै मूर्च्छनाएँ बनेंगी। षड्जस्थानस्थित निषादादि से (षड्जग्राम की) रजनी आदि मूर्च्छनाएँ बनती हैं।

इस उद्धरण में दो शब्द विशेष रूप से सारगर्भित हैं—(१) 'मध्यस्थानस्थ षड्ज' और (२) 'षड्जस्थानस्थित निषादादि'।

'मध्यस्थानस्थ षड्ज' से ग्रन्थकार का यह तात्पर्य है कि जो षड्ज मध्य स्थान में स्थित है, उसी से यानी वीणा पर मध्य सप्तक जहाँ से आरम्भ होता है, वहीं से षड्जग्राम की पहिली मूर्च्छना का आरम्भ किया जाए और उससे क्रमशः नीचे 'नि' 'ध' इत्यादि स्वरों से छैः अन्य मूर्च्छनाएँ बनाई जाएँ। शार्ङ्गदेव के 'मध्यस्थानस्थित षड्ज' से वही स्थान अभिप्रेत है, जहाँ हम आज वीणा पर षड्ज मानते हैं। इस वचन से हमारा सिद्धान्त ही पुष्ट होता है।

ऊपर उद्धृत शार्ङ्गदेव के दूसरे वचन 'षड्जस्थानस्थित निषादादि' का सीधा अर्थ यही है कि नि-ध प इत्यादि स्वरों को षड्ज के स्थान पर स्थित किया जाए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन मूर्च्छनाओं के आरम्भ-स्वर को षड्ज मानने से जो भिन्न भिन्न स्वरान्तर प्राप्त होते हैं, उन सबका मध्य षड्ज से प्रयोग किया जाए। इसीलिए कहा है कि निषादादि स्वरों को षड्ज के स्थान पर स्थित किया जाए यानी निषादादि स्वरों से आरम्भ की हुई मूर्च्छनाओं में जिन जिन स्वरान्तरों की प्राप्ति होती है, उन्हीं स्वरान्तरों का, मूर्च्छना की सिद्धि के लिए, मध्यस्थ षड्ज से प्रयोग किया जाए।

षड्जग्राम और मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम तथा आरम्भक स्वर भरत के निम्न उद्धरण से स्पष्ट होंगे। परवर्ती सभी ग्रन्थकारों ने इन्हीं संज्ञाओं को अपनाया है। यथा:—

आद्या ह्युत्तरमन्द्रा स्यात् रजनी चोत्तरायता। चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पञ्चमी मत्सरीकृता ॥
अश्वक्रान्ता तु षष्ठी स्यात् सप्तमी चाभिरुद्गता। षड्जग्रामाश्रिता एता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥

तत्र षड्जग्रामे षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन शुद्धषड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति।

सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात् कलोपनता तथा। चतुर्थी शुद्धमध्या तु मार्गवी पौरवी तथा ॥
हृष्यका चैव विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमा। मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेया सप्त मूर्च्छनाः ॥

अथ मध्यमग्रामे मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हरिणाश्वा, ऋषभेण कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी पञ्चमेन हृष्यका इति।

इस प्रकार दोनों ग्रामों की सात-सात मूर्च्छनाएँ मिला कर कुल चौदह मूर्च्छनाएँ हुईं।

भरत ने तो गान्धारग्राम का उल्लेख ही नहीं किया है, अतः उनके नाट्यशास्त्र में दो ही ग्रामों की मूर्च्छनाओं का उल्लेख मिलता है। मतंग ने भी 'नारदकथित' गांधारग्राम को स्वर्ग में ही स्थित कह कर छोड़

* प्राचीन परंपरा वंश-स्वर पर आधारित थी। इसलिए उसमें स्वरों के अवरोह-क्रम से मूर्च्छनाओं की गणना की गई है।

दिया है, उसकी मूर्च्छनाओं इत्यादि का उल्लेख नहीं किया है। नारद (?) के 'संगीत मकरन्द' में और 'रत्नाकर' में गांधार ग्राम की मूर्च्छनाओं का मात्र नामोल्लेख मिलता है। यथा:—

नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रावती शुभा। आलापा चेति गान्धारग्रामे स्युः सप्त मूर्च्छनाः॥
(सं० म० १।१।९५)

नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रावती सुखा॥ आलापा चेति गान्धारग्रामे स्युः सप्त मूर्च्छनाः।
(सं० र० १।४.२५-२६)

इसी नामोल्लेख के आधार पर लोग इक्कीस मूर्च्छनाओं की कथा कहते आए हैं। किंतु ग्रन्थों में इन मूर्च्छनाओं के स्वरूप का कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। गांधार-ग्राम का स्वर-रूप ही आज जब स्पष्ट नहीं है, तब उसकी मूर्च्छनाओं का स्वरूप जानना तो असम्भव ही है, क्योंकि मूर्च्छना ग्राम पर ही आधारित होती है।

मध्यमग्राम का भी मध्ययुगीय ग्रन्थकारों ने उल्लेख मात्र किया है, प्रत्यक्ष क्रिया के लिए उसे उपयोगी नहीं माना है। और आधुनिक ग्रन्थकारों ने तो गान्धार-ग्राम की भाँति मध्यमग्राम को भी स्वर्ग में पहुँचा दिया है। किन्तु आज हम प्रत्यक्षरूप से मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं का उपयोग कर रहे हैं। स्वरों के श्रुत्यन्तरों को समझनेवाले सूक्ष्म कान इसको भली-भाँति जानते हैं।

गान्धार-ग्राम के लिए जैसे अन्य लोग मौन रहे हैं, हम भी मौन रहना चाहते हैं। जब तक मध्यमग्राम के सदृश गान्धार-ग्राम का गान-वादन की क्रिया में हम सरलता से उपयोग न दिखा सकें, तब तक लेखनी उठाना समुचित नहीं जान पड़ता। जिस प्रकार हम मध्यमग्राम का साधिकार और सप्रमाण निरूपण कर सके हैं, तद्वत् यदि हमारी तपस्या ने फल दिया और गान्धारग्राम को हम स्वर्ग से पृथ्वी पर अवतरित कराने में समर्थ हो सके, तो हम अपने जीवन का वह निष्कर्ष अवश्य निवेदित करेंगे।

षड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ

षड्जग्राम की मूर्च्छनाओं के संबन्ध में सर्वप्रथम एक उल्लेख आवश्यक है। हम तृतीय और पञ्चम तन्त्री में यह विस्तार से प्रतिपादित कर चुके हैं कि भरत के काल में षड्जग्रामिक मध्यम को स्वरित या षड्ज मान कर प्रयोग-क्रिया की जाती थी। ग्राम-प्रकरण में हम यह भी देख चुके हैं कि षड्जग्राम का आरंभ-स्थान वीणा के मेरु से चौथी श्रुति पर है। अतः 'शुद्धषाड्जी' मूर्च्छना के नामानुसार उस मूर्च्छना का आरंभस्थान वही होना चाहिए, जहाँ आज का मन्द्र पञ्चम है। किन्तु षड्जग्राम के मूर्च्छना—क्रम में शुद्धषाड्जी का स्थान पहिला न होकर चौथा है। मूर्च्छना-क्रम को देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा। उसी क्रम में शुद्धषाड्जी का यथायथ स्थान तभी उपलब्ध हो सकता है, जब की हम षड्जग्राम की पहली मूर्च्छना उस ग्राम के षड्ज से आरंभ न करके उसके मध्यम से आरंभ करें। ऐसा करने से ही षड्जग्राम के अवरोह क्रम में उसकी चौथी मूर्च्छना शुद्धषाड्जी की हमें यथास्थान प्राप्ति होगी। इन दोनों दृष्टियों से वीणा पर षड्जग्राम की पहिली मूर्च्छना उत्तरमन्द्रा (जिसके उत्तर में मन्द्र है) का आरम्भ-स्थान षड्जग्रामिक मध्यम या आज का षड्ज ही ठहरता है। षड्जग्रामिक स्वर व्यवस्था क्या है, कैसी है, इसी को स्पष्ट करने के लिए भरत ने उस मूल षड्ज की मूर्च्छना को 'शुद्धषाड्जी' संज्ञा दी है। षड्जग्राम के इस मूल स्थान की उपलब्धि न होने से ग्रन्थकारों को षड्जग्राम के बारे में और उसकी मूर्च्छनाओं के बारे में उलझन बनी रही होगी। षड्जग्रामकी मूल स्वर-व्यवस्था का आरम्भ-स्थान और उसके मूर्च्छना—क्रम का यानी पहिली मूर्च्छना का आरम्भ-स्थान—दोनों एक नहीं है, यह हमारे उपर्युक्त कथन से भली भाँति समझ लेने के बाद सब उलझनें दूर हो जाएँगी।

षड्जग्राम की पहिली मूर्च्छना 'उत्तरमन्द्रा' को भरत ने षड्ज से आरम्भ करने को कहा है। यह षड्ज कौन सा ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। किन्तु 'पञ्चमेन शुद्धषड्जा' यह पढ़ने के बाद यह प्रश्न सुलझ जाता है, क्योंकि यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतोक्त 'अविनाशी मध्यम' को षड्ज मानने से ही शुद्धषाड्जी का आरंभ-स्थान आज के मन्द्र पञ्चम पर आता है, और 'पञ्चमेन शुद्धषड्जा' यह वचन सार्थक होता है, अन्यथा नहीं। इसलिए प्रथम मूर्च्छना यानी 'उत्तरमन्द्रा' को षड्जग्रामिक मध्यम यानी आज के षड्ज से ही आरम्भ करने का भरत का अभिप्राय है, इसमें कुछ सन्देह नहीं रह जाता। अन्यथा 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' ऐसा उन्होंने कभी न कहा होता।

षड्जग्रामिक मध्यम से 'उत्तरमन्द्रा' नाम की पहली मूर्च्छना का आरंभ करके क्रमशः अवरोह-क्रम से मूर्च्छनाएँ बनाने से जो स्वरावलियाँ प्राप्त होती हैं और उन स्वरावलियों से जिन आधुनिक रागों का सादृश्य दृष्टिगोचर होता है, उन सब को संलग्न सारिणी में स्पष्टतया दिखाया गया है। आधुनिक रागों से उन स्वरावलियों में जो सूक्ष्म श्रुति-भेद हैं, वे भी उससे स्पष्ट हो जाएँगे।

मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ

मध्यमग्राम के शुद्ध स्वर-सप्तक के आरंभक स्वर के विषय में हम इसके पूर्व ग्राम प्रकरण में विस्तृत चर्चा कर आए हैं। यहाँ मध्यम-ग्राम का मूर्च्छना-क्रम दिखाते समय उस चर्चा को संक्षेप में दोहराना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी ग्राम की मूल स्वर-व्यवस्था का आरंभ-स्थान जाने बिना उसकी मूर्च्छनाएं बनाना और समझना असंभव है।

हम कह चुके हैं कि मध्यमग्राम की पहिली मूर्च्छना यानी सौवीरी को 'मध्यम' से आरंभ करने को ग्रन्थकारों ने कहा है। उस कथन का अब तक प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने यह अर्थ लगाया है कि षड्जग्राम के मध्यम से मध्यमग्राम की मूलस्वर-व्यवस्था का आरंभ करना चाहिए। किन्तु वास्तव में षड्जग्राम के मध्यम से आरंभ किया हुआ स्वर-सप्तक षड्जग्राम के मध्यम की मूर्च्छना है, उसे मध्यमग्राम नहीं ही कह सकते। यदि वह मूर्च्छना ही मध्यमग्राम हो, तब तो फिर सातों स्वरों की मूर्च्छनाओं से ऋषभग्राम, गान्धारग्राम इत्यादि सात ग्राम बन सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि इस प्रकार ग्राम-रचना नहीं होती, क्योंकि ग्राम-रचना के मूल में स्वर-संवाद का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से रहता है। इसीलिए यह कहा गया है कि षड्जग्राम में षड्ज-पंचम संवाद है और मध्यमग्राम में षड्ज-मध्यम संवाद है। षड्जग्राम का पञ्चम ही एक ऐसा स्थान है, जहाँ से बनी हुई स्वरावली में 'षड्ज-पञ्चम-भाव टूट जाता है। यह आगे दी हुई सारिणी से स्पष्ट होगा। इसीलिए हमने षड्जग्राम के पञ्चम से यानी आधुनिक ऋषभ से मध्यमग्राम का आरम्भ करने को कहा है। वीणा पर की प्रत्यक्ष क्रियाओं को देखने से भी हमारे इस सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध होती है, क्योंकि षड्जग्राम के मध्यम से बने हुए स्वर-सप्तक में तो त्रिश्रुति पञ्चम और त्रिश्रुति ऋषभ की प्राप्ति नहीं ही होती है और पर्दों को एक एक श्रुति उतारने से वीणा में वैगुण्य आ जाता है, जिससे सारी वीणा का स्वर-संवाद टूट जाता है। किन्तु हमारे कहे हुए स्थान से वीणा पर मध्यमग्रामिक स्वर, बिना किसी वैगुण्य के, अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

मध्यमग्राम का मूल षड्ज या आरंभ—स्थान इस प्रकार निश्चित हो जाने के बाद मध्यमग्राम के मूर्च्छना क्रम को जाँचना क्रमप्राप्त है। इस संबन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जैसे षड्जग्राम की मूल श्रुति स्वर-व्यवस्था जिस स्थान से उपलब्ध होती है—वहाँ से उस ग्राम का मूर्च्छना-क्रम आरम्भ न करके हम भरत के कथनानुसार उस मूल स्वर-व्यवस्था के मध्यम से ही पहिली मूर्च्छना बनाते हैं, तद्वत् मध्यम ग्राम का मूर्च्छना-क्रम भी उस ग्राम के मध्यम से आरंभ करना होगा। जिस प्रकार षड्जग्राम की शुद्धषाड्जी

षड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ

मूर्च्छना-क्रम और नाम	आरंभक स्वर: मूल षड्जग्रामिक व्यवस्थानुसार	आरंभक स्वर: षड्जग्राम के मध्यम को षड्ज मानने से	षड्जग्रामिक स्वर	सप्तक का पूरक स्वर	मूर्च्छना के आरंभक स्वर को षड्ज मानने से बनी हुई स्वर-व्यवस्था	सप्तक का पूरक स्वर	किन आधुनिक रागों से सादृश्य दिखाई देता है ?
१ उत्तरमन्द्रा	म	सा	म–प–ध–नि–सा–रे –ग ४–४–३–२ –४ –३ –२	म ४	सा–रे–ग–म–प–ध–नि् ४ –४–३–२–४–३–२	सा ४	खमाज
२ रजनी	ग	नि	ग–म–प–ध –नि–सा–रे २–४–४–३ –२–४ –३	ग २	सा–रे–ग–म्–प–ध–नि २ –४–४–३–२–४–३	सा २	कल्याण
३ उत्तरायता	रे	ध	रे–ग–म–प –ध–नि –सा ३–२–४–४ –३–२ –४	रे ३	सा–रे्–ग्–म–प्–ध–नि् ३ –२–४–४–३ –२–४	सा ३	भैरवी
४शुद्धषाड्जी	सा	प	सा–रे–ग–म–प–ध –नि ४ –३–२–४–४–३ –२	सा ४	सा–रे –ग्–म–प–ध–नि् ४ –३–२–४–४–३–२	सा ४	काफी
५ मत्सरीकृता	नि	म	नि–सा–रे–ग–म–प –ध २–४–३–२–४–४ –३	नि २	सा–रे–ग–म–प–ध–नि २ –४–३–२–४–४–३	सा २	बिलावल
६ अर्धक्रान्ता	ध	ग	ध–नि–सा–रे–ग–म –प ३–२–४ –३–२–४ –४	ध ३	सा–रे्–ग्–म–म्–ध् नि् ३ -२–४–३–२–४–४	सा ३	पंचम-वर्जित दो मध्यम की भैरवी अथवा बहादुरी तोडी
७अभिरुद्गता	प	रे	प–ध–नि–सा–रे–ग –म ४–३–२–४ –३–२–४	प ४	सा–रे–ग्–म–प*–ध्–नि ४ –३–२–४–३ –२–४	सा ४	आसावरी

* इस मूर्च्छना में षड्जपंचम-भाव भंग हो जाता है, क्योंकि इसमें षड्ज से पंचम का अन्तर १३ श्रुति का न होकर १२ श्रुति का ही है। इससे यह सिद्ध है कि मध्यमग्राम का आरंभ स्थान यही है।

द्वैग्रामिकी चौदहों मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त स्वरान्तरों का एक ही मध्य सप्तक में प्रयोग

	षड्जग्राम							मध्यग्राम						
	१	२	३	४	५	६	७	१	२	३	४	५	६	७
श्रुति-नाम	उत्तर मन्द्रा म	रजनी ग	उत्तरायता रे	शुद्धषाड्जी सा	मत्सरीकृता प	अश्वक्रान्ता ध	अभिरुद्गता प	सौवीरी म	हरिणाश्वा ग	कलोपनता रे	शुद्ध मध्यमा सा	मार्गी नि	पौरवी ध	हृष्यका प
१–तीव्रा														
२–कुमुद्वती														
३–मन्दा														
४–छन्दोवती	सा	सा	सा	सा	मा	सा	सा	म	—	म	म	म	म	—
५–दयावती	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	म
६–रञ्जनी	—	—	रे	—	—	रे	—	—	म	—	—	—	म	—
७–रक्तिका	—	—	—	रे	—	—	रे	—	—	—	प	—	—	—
८–रौद्री	रे	रे	—	—	रे	—	—	प	प	प	—	प	—	प
९–क्रोधा	—	—	—	ग	—	—	ग	—	—	—	—	—	—	—
१०–वज्रिका	—	—	ग	—	—	ग	—	—	—	ध	—	—	ध	ध
११–प्रसारिणी	ग	—	—	—	ग	—	—	ध	—	—	ध	ध	—	—
१२–प्रीति	—	ग	—	—	—	—	—	—	ध	—	—	—	—	—
१३–मार्जनी	म	—	—	म	म	म	म	नि	—	—	नि	—	नि	—
१४–क्षिति	—	—	म	—	—	—	—	—	—	नि	—	—	—	नि
१५–रक्ता	—	म	—	—	—	म	—	—	नि	—	—	नि	—	—
१६–सन्दीपनी	—	—	—	—	—	—	प	—	—	—	—	—	—	—
१७–आलापिनी	प	प	प	प	प	—	—	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा
१८–मदन्ती	—	—	—	—	—	—	ध	—	—	—	—	—	—	—
१९–रोहिणी	—	—	ध	—	—	ध	—	—	—	रे	—	—	रे	—
२०–रम्या	ध	—	—	ध	—	—	—	रे	—	—	रे	—	—	—
२१–उग्रा	—	ध	—	—	ध	—	—	—	रे	—	—	रे	—	रे
२२–क्षोभिणी	नि	—	—	नि	—	—	नि	—	—	—	ग	—	—	—
१–तीव्रा	—	—	नि	—	—	नि	—	—	—	ग	—	—	ग	ग
२–कुमुद्वती	—	नि	—	—	नि	—	—	ग	ग	—	—	ग	—	—
३–मन्दा														
४–छन्दोवती	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा	म	—	म	म	म	म	—
५–दयावती	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	म
६–रंजनी	—	—	रे	—	—	रे	—	—	म	—	—	—	म	—
७–रक्तिका	—	—	—	रे	—	—	रे	—	—	—	प	—	—	—
८–रौद्री	रे	रे	—	—	रे	—	—	प	प	प	—	प	—	प
९–क्रोधा	—	—	—	ग	—	—	ग	—	—	—	—	—	—	—
१०–वज्रिका	—	—	ग	—	—	ग	—	—	—	ध	—	—	ध	ध
११–प्रसारिणी	ग	—	—	—	ग	—	—	ध	—	—	ध	ध	—	—
१२–प्रीति	—	ग	—	—	—	—	—	—	ध	—	—	—	—	—
१३–मार्जनी	म	—	—	म	म	म	म	नि	—	—	नि	—	नि	—
१४–क्षिति	—	—	म	—	—	—	—	—	—	नि	—	—	—	नि
१५–रक्ता	—	म	—	—	—	म	—	—	नि	नि	—	नि	—	—
१६–सन्दीपनी	—	—	—	—	—	—	प	—	—	—	—	—	—	—
१७–आलापिनी	प	प	प	प	प	—	—	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा

नोट :—हम पहिले कह आए हैं कि इस सारिणी में समझने और समझाने के सौकर्य के लिए षड्जग्राम का षड्ज छन्दोवती पर और मध्यमग्राम का षड्ज आलापिनी पर दिखाया है।

मूर्च्छना में षड्ज ग्राम की मूल स्वरावली उपलब्ध होती है, तद्वत् मध्यमग्राम की शुद्धमध्यमा, मूर्छना में मध्यमग्राम की मूल स्वरावली प्राप्त होगी। 'शुद्धषाड्जी' और 'शुद्धमध्यमा' इन नामों का ग्रन्थकारों ने जो प्रयोग किया है, वह इसी बात को स्पष्ट करने के लिए है कि इन ग्रामों की मूल स्वर-व्यवस्था किस स्थान से उपलब्ध होगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि मध्यमग्राम का मूर्च्छना-क्रम हमें उसी ग्राम के मूल षड्ज के मध्यम से आरंभ करना होगा, षड्जग्राम के मध्यम से कदापि नहीं। षड्जग्राम का मूल षड्ज मध्यमग्राम का मध्यम है, जो आज का मन्द्र पञ्चम है। उसी पंचम का, वीणा पर आज के मध्यम सप्तक में जो स्थान है, जो षड्जग्राम का तार षड्ज है, वहीं से वीणा पर मध्यग्राम की पहिली मूर्च्छना का आरंभ होगा। अतः 'मध्यमेन सौवीरी' का अर्थ हुआ मध्यमग्राम के मध्यम से आरंभ होने वाली मूर्च्छना। इस प्रकार मध्यमग्राम का निम्नलिखित मूर्च्छना क्रम बनेगा। (देखिए अगला पृष्ठ)

इस प्रकार दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाएँ हमने स्पष्ट रूप से देख लीं। उनकी भिन्न भिन्न श्रुति-व्यवस्था और उनसे उद्भूत स्वरावलियों का आज के रागों के साथ सादृश्य भी हमने समझ लिया। हम यह एकाधिकवार स्पष्ट कर चुके हैं कि भिन्न भिन्न मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त विभिन्न स्वरान्तरालों का एक ही मध्य सप्तक में प्रयोग प्राचीनों को अभीष्ट था और इस प्रकार दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाएँ मिलाने से एक सप्तक की बाईसों श्रुतियाँ स्वरत्व को पा जाती हैं। इस सत्य को समझने में पाठकों को सौकर्य हो, इसलिए दोनों ग्रामों की चौदहों मूर्च्छनाओं द्वारा प्राप्त स्वरान्तरों को एक ही मध्यसप्तक में प्रयुक्त करके संलग्न सारिणी में दिखाया गया है। मध्यमग्राम का आरम्भ षड्जग्राम के पञ्चम से होता है। इसलिए पंचम से पंचम तक मध्यमग्राम का सप्तक पूरा करने के लिए षड्जग्राम के षड्ज से उसके तार पञ्चम तक डेढ़ सप्तक में इस स्वरान्तरों का प्रयोग दिखाया गया है। यानी 'रत्नाकर' के कथनानुसार निषादादि को षड्ज के स्थान पर स्थित करके इन स्वरान्तरों का प्रयोग दिखाया गया है। इस प्रकार दोनों ग्रामों में प्राप्त स्वरान्तरों से श्रुतियों की स्वर-सिद्धि का हमें स्पष्ट दर्शन होता है। पाठक नीचे दी हुई सारिणी को सूक्ष्मतया अभ्यास-पूर्वक देखें, ऐसा हमारा अनुरोध है।

संलग्न सारिणी को समझने में पाठकों को उलझन न हो, इसलिए निम्नोक्त स्पष्टीकरण किया जाता है।

पाठक देखेंगे कि षड्जग्राम की सभी मूर्च्छनाओं में षड्ज का स्थान छन्दोवती पर दिखाया गया है। तद्वत् मध्यमग्राम की मूर्च्छनाएँ आलापिनी पर षड्ज स्थापित करके निर्दर्शित की गई हैं। वास्तव में दोनों ग्रामों का मूर्च्छना-क्रम उन-उन ग्रामों के मूल षड्ज के मध्यम से आरम्भ होकर म—ग—रे—सा नि—ध—प—यों बनता है। समझने और समझाने के सौकर्य के लिए ही मार्जनी से मार्जनी न दिखाकर षड्जग्राम में छन्दोवती से छन्दोवती और मध्यमग्राम में आलापिनी से आलापिनी तक मूर्च्छना-क्रम दिखाया गया है।

इन द्वैग्रामिकी मूर्च्छनाओं के मुख्य स्थूल चार भेद* माने गये हैं। यथा—

(१) शुद्धा—सा रे ग् म प ध नि् सां।
(२) सान्तरा—सा रे ग् ग म प ध नि् सां।
(३) साकाकली—सा रे ग् म प ध नि् नि सां।
(४) सकाकल्यन्तरा—सारे ग् ग म प ध नि् नि सां।

भरत ने इन भेदों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है :—

चतुर्धा ताः पृथक्शुद्धाः काकलीकलितास्तथा। सान्तरास्तद्द्वयोपेताः षट्पञ्चाशत ईरिताः॥

—(ना० शा०)

षड्जग्राम और मध्यमग्राम को मिलाकर कुल चौदह मूर्च्छनाएँ होती हैं। उनमें से प्रत्येक के उपरिलिखित चार भेद करने से १४ × ४ = ५६ भेद बनेंगे। मूर्च्छनाओं में प्रयुक्त स्वरों की संख्या की दृष्टि से

मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ

मूर्च्छना-संख्या और नाम	आरंभक स्वर	मध्यमग्रामिक स्वर	सप्तक का पूरक स्वर	मूर्च्छना के आरंभक स्वर को षड्ज मानने से बनी हुई स्वर-व्यवस्था	सप्तक का पूरक स्वर	किन आधुनिक रागों से सादृश्य दिखाई देता है ?
१–सौवीरी	म	म–प–ध–नि्–सा–रे–ग्	म	सा–रे–ग–म–प–ध–नि्	सां	खमाज—
		४–३–४–२–४–३–२	४	४–३–४–२–४–३–२	४	
२–हरिणाश्वा	ग्	ग्–म–प–ध–नि्–सा–रे	ग्	सा–रे–ग–म्–प–ध–नि्	सां	कल्याण—
		२–४–३–४–२–४–३	२	२–४–३ ४–२–४–३	२	
३–कलोपनता	रे	रे–ग्–म–प–ध–नि्–सा	रे	सा–रे्–ग्–म–प–ध्–नि्	सां	भैरवी,
		३–२–४–३–४–२–४	३	३–२–४–३–४–२–४	३	
४–शुद्धमध्यमा	सा	सा–रे–ग्–म प–ध–नि्	सा	सा–रे–ग्–म–प–ध–नि्	सां	काफ़ी,
		४–३–२–४–३–४–२	४	४–३–२–४–३–४–२	४	
५–मार्गी	नि्	नि्–सा–रे–ग्–म–प–ध	नि्	सा–रे–ग–म–प–ध–नि	सां	बिलावल।
		२–४–३–२–४–३–४	२	२–४–३–२–४–३–४	२	
६–पौर्वी	ध	ध–नि्–सा–रे–ग्–म–प	ध	सा–रे–ग्–म–म्–ध्–नि्	सां	पंचमवर्जित दो मध्यम की भैरवी अथवा बहादुरी तोडी
		४–२–४–३–२–४–३	४	४–२–४–३–२–४–३	४	
७–हृष्यका	प	प–ध–नि्–सा–रे–ग्–म	प	सा–रे–ग्–म–प–ध्–नि्	सां	आसावरी—
		३–४–२–४–३–२–४	३	३–४–२–४–३–२–४	३	

एक और प्रकार का वर्गीकरण भी शास्त्रों में बताया गया है। उसे भी हम लोग भरत की भाषा में देख लें। यथा :—

षाडवौडुवितसंज्ञिताः पूर्णाः साधारणकृताश्चेति चतुर्धिधश्चतुर्दशमूर्च्छनाः।
क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः षट्पञ्चकस्वरास्तासां षोडवौडुवितस्मृताः॥
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलङ्कृताः। अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छनाः ग्रामयोर्द्वयोः॥

(ना० शा २८)

अर्थात्—चौदह मूर्च्छनाएँ (दोनों ग्रामों की सात सात मिला कर) चार प्रकार की होती हैं :—

(१) पूर्ण—जिनमें सातों स्वरों का प्रयोग हो।
(२) षाडवीकृता—जिनमें छः स्वरों का प्रयोग हो।
(३) औडुवीकृता—जिनमें पाँच स्वरों का प्रयोग हो।
(४) साधारणकृता—जिनमें स्वर-साधारण किया गया हो।

वास्तव में तो 'सान्तरा' 'सकाकली' और 'सकाकल्यन्तरा'—इन तीनों भेदों से 'साधारणीकृता' कुछ भिन्न नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम अभी देखेंगे, साधारणीकरण की विधि से भी अन्तर-काकली की ही प्राप्ति होती है; किन्तु 'सान्तरा' 'सकाकली' इत्यादि वाला वर्गीकरण, स्वरों की अवस्था पर आधारित है और साधारणीकृता वाला प्रस्तुत वर्गीकरण स्वरों की संख्या पर आधारित है।

'साधारणकृता' का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उसके लिए पहले भरत के शब्द ही देख लें। यथा :—

साधारणविधिमिदानीं वक्ष्यामः। साधारणं नामान्तरस्वरता। कस्मात्? द्वयोरन्तरस्थं तत् साधारणम्। यथा ऋत्वन्तरे।

छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो वा भवति चातपस्थस्य। न च नागतो वसन्तो न च निःशेषः शिशिरकालः॥

इति कालसाधारणः।

(ना० शा० २८)

अर्थात्—'अन्तर-स्वरता' को 'साधारण' कहते हैं, क्योंकि 'अन्तर' स्वर दो स्वरों के मध्य में स्थित होने से उभय साधारण होता है। (उदाहरण देते हुए भरत कहते हैं) जैसे ऋत्वन्तर के समय अर्थात् दो ऋतुओं के सन्धिकाल में ऐसा अनुभव होता है, कि छाया में आने से शीत लगती है और धूप में प्रस्वेद होता है, इससे प्रतीत होता है कि अभी वसन्त का आगमन नहीं हुआ है और शिशिर भी अभी समाप्त नहीं हुआ है।

जैसे यह ऋतु का साधारणत्व है, वैसे ही 'स्वर-साधारण' भी समझना चाहिए। अर्थात् निषाद और षड्ज के बीच एवं गान्धार और मध्यम के बीच की जो अवस्था है, उसे 'स्वर-साधारण' कहा है। भरत इस सम्बन्ध में आगे कहते हैं:—

स्वरसाधारणं काकल्यन्तरस्वरौ। तत्र द्विश्रुति प्रकर्षान्निषादादयः। काकलीसंज्ञो निषादो, न षड्जः। द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात् साधारणत्वं प्रतिपद्यते, एवं गांधारोऽप्यन्तरस्वरसंज्ञः गांधारो, न मध्यमः। तयोरन्तरस्वरत्वात्। अत एव स्वरसाधारणं, तस्मान्निषादः काकलीसंज्ञः। कलत्वात् काकली कृष्टत्वाद्वा अतिसौक्ष्म्यात् अथवा कात्स्न्यित्वात् उभयसम्बन्धत्वात् काकलीसंज्ञा। यथा षण्णां रसानां मध्ये लवणः क्षारसंज्ञः, एवं निषादः काकलीसंज्ञः साधारणस्वरश्चांतरसंज्ञो भवति।

(ना० शा०)

अर्थात्—'स्वरसाधारण' से काकली और अन्तर गान्धार—ये स्वर अभिप्रेत होते हैं। दो श्रुति उत्कर्ष से निषाद की काकली संज्ञा होती है। वह 'काकली' संज्ञा निषाद की होती है, षड्ज की नहीं। वह 'काकली निषाद' अन्तर स्वर होने के कारण निषाद और षड्ज-दोनों से उसका साधारणत्व रहता है। उसी प्रकार गान्धार और मध्यम के बीच स्वर-साधारण होने पर गान्धार की 'अन्तर' संज्ञा होती है, मध्यम की नहीं। ('काकली' संज्ञा की व्युत्पत्ति देते हुए भरत कहते हैं) 'कल' युक्त होने से, कृष्ट होने से, अति सूक्ष्म होने से अथवा उभयसम्बन्धी होने से काकली संज्ञा होती है। जैसे छः रसों में से लवण क्षारसंज्ञक होता है, तद्वत् निषाद की काकली संज्ञा होती है। 'साधारण' स्वर की (सामान्यरूप से) 'अन्तर' संज्ञा होती है।

इन साधारणीकृता मूर्च्छनाओं के सम्बन्ध में दत्तिल मुनि-प्रणीत 'दत्तिलम्' नाम के ग्रन्थ में जो स्पष्टीकरण मिलता है, वह यहाँ स्पष्टता के लिये उल्लेखनीय है।* यथा:—

गांधारं धैवतीकुर्यात् द्विश्रुत्युत्कर्षणात् यदि। तद्वशान्मध्यमादींश्च निषादादीन् यथास्थितान्॥
ततोऽभूत् यावथित्येषा (?) षड्जग्रामस्य मूर्च्छनाः। जायते तावथित्येव (?) मध्यमग्राममूर्च्छना॥
श्रुतिद्वयापकर्षेण गांधारीकृत्य धैवतम्। पूर्ववन्मध्यमायाश्च (?) भावयेत् षड्जमूर्च्छनाः॥

---

* इस सम्बन्ध में भरत का एक उद्धरण हमें पृ० १०१ पर दे आए हैं। दत्तिल मुनि के यहाँ उद्धृत वचनों में और भरत के उस उद्धरण में एक ही बात भिन्न शब्दों में कही गई है। इसलिए यहाँ भरत को पुनः उद्धृत नहीं किया गया है।

यहाँ पर यह उल्लेख समुचित होगा कि गांधार और निषाद का ही साधारणीकरण करना है और वह द्विश्रुति उत्कर्ष से किया जाएगा। इसीलिये 'गांधारं धैवतीकुर्यात्' ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है। गांधार को धैवत बनाने की क्रिया इसमें करनी है। इस प्रसंग में दो बातें समझने योग्य हैं। स्वरों के उत्कर्ष और अपकर्ष से यानी चढ़ाने और उतारने से दोनों ग्रामों में दो क्रियाएँ होंगी। एक क्रिया में 'गांधारं धैवतीकुर्यात्' के अनुसार गांधार को धैवत बनाया जाएगा और दूसरी क्रिया में 'गांधारीकृत्य धैवतम्' इस वचनानुसार धैवत को गांधार बनाना होगा। अर्थात् प्राचीन शुद्ध गांधार से मध्यम तक दो श्रुति चढ़ानी होगी या मध्यम से दो श्रुति उतारनी होगी। इन्हीं क्रियाओं को उत्कर्ष और अपकर्ष शब्द से समझाया गया है। वही उत्कर्षापकर्ष की क्रिया निषाद और षड्ज के दर्म्यान करनी होगी। प्राचीन शुद्ध निषाद से षड्ज तक चार श्रुति का अन्तर है। निषाद को दो श्रुति चढ़ाने से या षड्ज को दो श्रुति उतारने से इस बीच के स्वर यानी काकली का स्थान निश्चित हो सकता है।

षड्ज से अन्तर गान्धार कितनी श्रुति के अन्तर पर स्थित होगा, इसको समझाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'गान्धारं धैवतीकुर्यात्' अर्थात् मध्यम से धैवत की जितनी ऊँचाई है, उतनी ऊँचाई षड्ज से अन्तर गान्धार की होनी चाहिए। मध्यम से पञ्चम चार श्रुति और पञ्चम से धैवत तीन श्रुति—यों मध्यम से सात श्रुति के अन्तर पर धैवत है। उतना ही सप्तश्रुति का अन्तर षड्ज से अन्तर गान्धार का होना चाहिए, यही ग्रन्थकार का तात्पर्य है। दूसरी भाषा में यों कह सकते हैं कि 'सा' को 'म' समझ लें और 'म प ध' यों तीन स्वर प्रत्यक्ष लगा कर देख लें। ऐसा देखने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि वह माना हुआ धैवत और तानपुरा या वीणा के मन्द्र षड्ज से उत्थित स्वयम्भू गान्धार—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। षड्ज को मध्यम मान कर जो 'म प ध' किया जाता है, वही षड्ज की दृष्टि से 'सा रे ग' होता है। षड्जग्राम में इसी क्रिया को दत्तिल ने 'गान्धारं धैवती कुर्यात्' इस प्रकार कहा है। मध्यमग्राम में इससे उल्टा क्रम बनाने से अर्थात् मध्यमग्राम के मध्यम को षड्ज मानने से मध्यम की दृष्टि से जो 'म प ध' होगा, वही षड्ज की दृष्टि से 'सा रे ग' बन जाएगा। और इस प्रकार वह धैवत गान्धार हो जाएगा। उसी को 'गान्धारीकृत्य धैवतम्' इस सूत्र से उल्लिखित किया गया है।

षड्ज को दो श्रुति उतारने से अथवा शुद्ध निषाद को दो श्रुति चढ़ाने से निषाद का साधारणत्व सिद्ध होगा। इसी प्रकार दोनों ग्रामों में स्वर-साधारण्य नियोजित करके उससे मूर्च्छना-सिद्धि की जाती थी, जो आज भी की जा सकती है।

जैसे प्राचीन शुद्ध निषाद और षड्ज के दर्म्यान और शुद्ध गान्धार तथा मध्यम के दर्म्यान चार-चार श्रुति का अन्तर होने से दोनों स्वर-जोड़ियों में स्वर-साधारण किया गया है, तद्वत् शुद्ध मध्यम और पञ्चम के दर्म्यान भी तो चार श्रुति का अन्तर है, फिर वहाँ स्वर-साधारण क्यों नहीं किया गया? यह प्रश्न उठ सकता है। इसका सम्यक् उत्तर निम्नोक्त है।

द्वितीय तन्त्री में पृ० ९७-१०० पर हम स्पष्ट कर आए हैं कि वीणा पर प्राचीन परंपरा से जो पर्दे बँधे हुए चले आ रहे हैं, उनमें ऐसी व्यवस्था रखी गई है कि मेरु को चाहे 'सा' मान कर चलें, 'म' मान कर चले या 'नि' मान कर चलें, प्रत्येक अवस्था में अन्तर काकलीयुक्त स्वर-सप्तक की प्राप्ति हो सके। कहना न होगा कि मध्यम और पञ्चम के बीच तीव्र मध्यम का स्थान तो वीणा पर चला ही आ रहा है, किन्तु उसका पृथक् नामोल्लेख प्राचीनों ने आवश्यक नहीं समझा था, क्योंकि अन्तर गान्धार और काकली निषाद—इन दो में से किसी एक संज्ञा द्वारा उनकी स्वर व्यवस्था में उस स्थान का निर्देश हो ही जाता था। नीचे के विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा।

वीणा पर प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न स्वरों पर से भिन्न-भिन्न मूर्च्छनाएँ की जाती थीं और ऐसे अवसर पर भिन्न-भिन्न स्वर-स्थानों को मुख्य स्वर बनाकर प्रयोग किया जाता था। और तब उसमें भी

अन्तर काकली का प्रयोग होता था। इसीलिए वीणा पर उस प्रकार पर्दे बाँधे गए थे जो आज तक अखण्ड रूप से उसी नियम से चले आ रहे हैं। यदि प्राचीन शुद्धषाड्जी मूर्च्छना, जो आज के मन्द्र पञ्चम से आरम्भ होती है, उस मूर्च्छना में अन्तर काकली का प्रयोग किया जाए, तो जो लोग सितार जैसे पर्दे वाले तन्तु—वाद्यों से परिचित हैं, वे सहज ही में समझ जाएँगे कि आज का मन्द्र तीव्र मध्यम का पर्दा काकली निषाद बन जाएगा और आज का मन्द्र तीव्र निषाद का पर्दा अन्तर गान्धार बन जाएगा। वादन की सुविधा के लिए इतने ही पर्दे पर्याप्त हैं। इससे अधिक पर्दे बाँधना असुविधाजनक होता है। हम जानते हैं कि प्राचीन संगीत परंपरा वीणा पर आधारित है। इसलिए वीणा पर जो चारु रूप से सुविधाजनक हो, उन्हीं स्वरों को समाविष्ट किया गया। इसलिए मध्यम-पञ्चम के दर्म्यान स्वर-साधारण की आवश्यकता न मान कर केवल अन्तर काकली का स्वर-साधारण स्वीकृत किया गया। अस्तु।

मूर्च्छनाओं के औडव-षाडव प्रकार के सम्बन्ध में भरत ने कहा है:—

तत्र मूर्च्छनातानाश्चतुरशीतिः। तत्रैकोनपञ्चाशत् षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत्पञ्चपरा, लक्षणं तु षाडवानां सप्तविधम्। यथा ऋषभनिषादपञ्चमहीनाश्चत्वारस्तानाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु षड्जर्षभगांधारहीनाश्चत्वारस्तानाः। स्वमेतेऽपि षाडवासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा, भवन्त्येकोनपञ्चाशत् तानाः। पञ्चस्वराणां तु पञ्चविधमेव लक्षणं यथा—षड्जपञ्चमहीना ऋषभपञ्चमहीना गांधारनिषादहीना इति त्रयस्तानाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु षड्जधैवतहीनौ निषादगांधारहीनाविति द्वौस्तानाविति। पञ्चस्वरासु सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणास्तानाः षट्त्रिंशत् भवन्ति। षड्जग्रामे एकविंशतिर्मध्यमग्रामे चतुर्दश। एवमेते एकत्र गम्यमानाश्चतुरशीतिर्भवन्ति।

(ना० शा० २८)

अर्थात्—मूर्च्छना-तानें चौरासी हैं। उनमें से ४९ छै: स्वरों की यानी षाडव हैं और ३५ पाँच स्वरों की यानी औडव हैं। षाडवतानें सात प्रकार की हैं। यथा-ऋषभ-निषादपञ्चम से रहित चार तानें षड्जग्राम की हैं और षड्जऋषभ-गान्धार से रहित तीन तानें मध्यमग्राम की हैं। ये सात प्रकार की षाडव तानें हुईं। इन सात प्रकारों का षाडव मूर्च्छनाओं में प्रयोग करने से ४९ तानें बनती हैं। पाँच स्वरों की तानें पाँच प्रकार की ही होती हैं। यथा-षड्जपञ्चमरहित, ऋषभ-पञ्चमरहित और गान्धार निषाद-रहित—ऐसे तीन प्रकार षड्जग्राम में हैं एवं मध्यमग्राम में षड्ज-धैवत-हीन और निषाद गान्धार-हीन ये दो प्रकार हैं। इन पाँच प्रकारों का पाँच स्वरों वाली सभी मूर्च्छनाओं में प्रयोग करने से ३६ तानें बनेंगी, जिनमें २१ षड्जग्राम की होंगी और १४ मध्यमग्राम की। इन सबको एक साथ ग्रहण करने से ४९ + ३५ = ८४ तानें होती हैं।

भरत के दिये हुए इस विवरण के अनुसार अगले पृष्ठ पर दो ग्रामों की ८४ मूर्च्छना तानें बनाकर दिखाई गई हैं।

पं० अहोबल ने विभिन्न विकृत स्वरों का उपयोग करके मूर्च्छनाओं की विपुल संख्या की सृष्टि की है। जिज्ञासु जन 'संगीत पारिजात' में यह विवरण देख सकते हैं।

इस प्रकार हम ने दोनों ग्रामों की मूर्च्छना, उनके स्वरों के पारस्परिक अन्तर, उन मूर्च्छनाओं के सकाकली इत्यादि भेद और उनके औडवषाड़वादि भेदों की संख्या इत्यादि मूर्च्छना-सम्बन्धी विषय समझ लिए। हम इस प्रकरण के आरंभ में कह आए हैं कि मूर्च्छनाएँ स्वर-रूप हैं और इसलिए रागों का आदिकारण हैं। पाठक इस बात से अभिज्ञ हैं कि ये मूर्च्छनाएँ ग्राम के आश्रित हैं और तद्वत् राग-रूप या गीत-प्रकार मूर्च्छना के आश्रित हैं, क्योंकि राग स्वरों से ही बनते हैं। मूर्च्छनाओं से प्राप्त स्वर-समूहों को विशेष प्रकार के नियमों से निबद्ध करने से ही रागों की रचना होती है।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ऐसे नियमों से निबद्ध जिन गीत-प्रकारों का या राग-रूपों का निदर्शन किया है, उन्हें उसने 'जाति' संज्ञा दी है। नाट्यशास्त्र में जातिगान के अतिरिक्त अन्य-राग-नामों का उल्लेख

षड्जग्रामकी २८ षाड़व तानें

(सा, रे, प, नि इतने स्वर वर्ज्य करके षाड़व मूर्च्छना)

१ × रे ग म प ध नि २ सा × ग म प ध नि ३ सा रे ग म × ध नि ४ सा रे ग म प ध ×	उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना के षाडवरूप	४
५ नि × रे ग म प ध ६ नि सा × ग म प ध ७ नि सा रे ग म × ध ८ × सा रे ग म प ध	रजनी मूर्च्छना के षाडवरूप	४
९ ध नि × रे ग म प १० ध नि सा × ग म प ११ ध नि सा रे ग म × १२ ध × सा रे ग म प	उत्तरायता मूर्च्छना के षाडवरूप	४
१३ प ध नि × रे ग म १४ प ध नि सा × ग म १५ × ध नि सा रे ग म १६ प ध × सा रे ग म	शुद्धषड्जा मूर्च्छना के षाडवरूप	४
१७ म प ध नि × रे ग १८ म प ध नि सा × ग १९ म × ध नि सा रे ग २० म प ध × सा रे ग	मत्सरीकृता मूर्च्छना के षाडवरूप	४
२१ ग म प ध नि × रे २२ ग म प ध नि सा × २३ ग म × ध नि सा रे २४ ग म प ध × सा रे	अश्वक्रांता मूर्च्छना के षाडवरूप	४
२५ रे ग म प ध नि × २६ × ग म प ध नि सा २७ रे ग म × ध नि सा २८ रे ग म प ध × सा	अभिरुद्गता मूर्च्छना के षाडवरूप	४

षडजग्रामकी २१ औड़व तानें

(सा–प; रि–प; ग–नि; इतनी जोड़ियाँ वर्ज्य करके)

१ × रि ग म × ध नि २ सा × ग म × ध नि ३ सा रे × म प ध ×	उत्तरमंद्रा मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३
४ नि × रे ग म × ध ५ नि सा × ग म × ध ६ × सा रे × म प ध	रजनी मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३
७ ध नि × रे ग म × ८ ध नि सा × ग म × ९ ध × सा रे × म प	उत्तरायता मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३
१० × ध नि × रे ग म ११ × ध नि सा × ग म १२ प ध × सा रे × म	शुद्धषड्जा मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३
१३ म × ध नि × रे ग १४ म × ध नि सा रे ग १५ म प ध × सा रे ×	मत्सरीकृता मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३
१६ ग म × ध नि × रे १७ ग म × ध नि सा × १८ × म प ध × सा रे	अश्वक्रांता मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३
१९ रे ग म × ध नि × २० × ग म × ध नि सा २१ रे × म प ध × सा	अभिरुद्गता मूर्च्छनाकी ओडव तानें	३

षड्जग्रामकी कुल षाडव तानें २८ षड्जग्रामकी कुल औडव तानें २१ मिलाकर २८ + २१ = ४९

नोटः—ध्यान रहे कि इन षाडव औडव तानों में षड्ज का लोप हुआ है, किन्तु मध्यम का कहीं लोप नहीं किया गया है, क्योंकि मध्यम को 'अविनाशी' मानकर उसे षड्ज का स्थान दिया गया है।

मध्यमग्राम की मूर्च्छना की तानें

	षाडव तानें (सा, रे, ग वर्ज्य)		ओडव तानें (ग—नि; रि—ध; वर्ज्य)
१	म प ध नि × रे ग	सौवीरी	१ म प ध × सा रि ×
२	म प ध नि सा × ग		२ म प × नि सा × ग
३	म प ध नि सा रे ×		
४	ग म प ध नि × रे	हरिणाश्वा	३ × म प ध × सा रे
५	ग म प ध नि सा ×		४ ग म प × नि सा ×
६	× म प ध नि सा रे		
७	रे ग म प ध नि ×	कलोपनता	५ रे × म प ध × सा
८	× ग म प ध नि सा		६ × ग म प × नि सा
९	रे × म प ध नि सा		
१०	× रे ग म प ध नि	शुद्धमध्या	७ सा रे × म प ध ×
११	सा × ग म प ध नि		८ सा × ग म प × नि
१२	सा रे × म प ध नि		
१३	नि × रे ग म प ध	मार्गी	९ × सा रे × म प ध
१४	नि सा × ग म प ध		१० नि सा × ग म प ×
१५	नि सा रे × म प ध		
१६	ध नि × रे ग म प	पौरवी	११ ध × सा रे × म प
१७	ध नि सा × ग म प		१२ × नि सा × ग म प
१८	ध नि सा रे × म प		
१९	प ध नि × रे ग म	हृष्यका	१३ प ध × सा रे × म
२०	प ध नि सा × ग म		१४ प × नि सा × ग म
२१	प ध नि सा रे × म		

मध्यमग्रामकी षाडव तानें २१
मध्यमग्रामकी ओडव तानें १४
मिलाकर ३५

न होने के कारण कइयों ने यह धारणा बनाई है कि भरत-काल में राग-रूप और उनके नाम प्रचार में नहीं रहे होंगे। किन्तु नाट्यशास्त्र ही में आए हुए कुछ उल्लेखों से ऐसा आभास भी मिलता है कि रागों के नाम और रूप उस काल में प्रचार में रहे होंगे।* हाँ, भरत ने नाट्य में रससिद्धि के लिए उपयुक्त, ऐसी केवल जातियों का ही अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। अब मूर्च्छना के बाद भरत की जाति-व्यवस्था देख लेना हमें क्रमप्राप्त है।

(ख)

जाति

मूर्च्छना-प्रकरण के बाद भरत ने जाति का निरूपण किया है। वास्तव में श्रुति, स्वर, ग्राम और मूर्च्छना के बाद 'जाति' को जान लेना क्रमप्राप्त ही है। भरत के काल में जो गान-क्रियाएँ प्रचलित होंगी, जिस प्रकार के गीत-प्रयोग नाट्य में व्यवहृत होते होंगे, वे सब प्रयोग नाट्यशास्त्र में 'जाति' के अन्तर्गत विभाजित किए गए हैं। भरत की अपनी दी हुई 'जाति' की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या तो उपलब्ध नहीं होती। फिर भी इस विषय पर मतंग के निम्नलिखित वचनों से काफी प्रकाश पड़ता है :—

१) **श्रुतिग्रहस्वरादिसमूहाज्जायन्त इति जातयः—**

अर्थात्—श्रुति और ग्रह-स्वरादि के समूह से जो जन्म पाती हैं, उन्हें जाति कहा है।

अथवा—

२) **यस्माज्जायते रसप्रतीतिरारभ्यते इति जातयः—**

अर्थात्—जिससे रसप्रतीति की उत्पत्ति अथवा आरम्भ हो, उसे 'जाति' कहा है।

अथवा—

३) **सकलरागादेर्जन्महेतुत्वात् जातयः—**

अर्थात्—सब रागों के जन्म का हेतु होने के कारण जाति कहा गया है।

अथवा—

४) **जातय इति जातयः। यथा नराणां ब्राह्मणत्वादयो जातयः।**

(बृहद्देशी पृ०, ५५-६)

अर्थात्—'जाति' शब्द का सामान्य अर्थ लिया, जैसे कि मनुष्यों में ब्राह्मणत्वादि जातियाँ होती हैं।

कल्लिनाथ की 'संगीत रत्नाकर' की टीका में 'जाति-सामान्य'—इस अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है। यथा:—

यथायोगं ग्रामद्वयाज्जायन्त इति जातयः। अत एवानित्यतया साकल्येन सामान्यरूपजाति-लक्षणाभावेऽप्यनेकगोव्यक्तिषु अनुवृत्तत्वमात्रेण गोत्वादिवज्जातय इति वा। गीतजातं तस्योपरञ्जनं वाऽऽभ्यो जायत इति जातय इति वा।

[सं० र० १।७।१ कल्लिनाथी टीका]

अर्थात्—यथायोग दोनों ग्रामों से उत्पन्न होती हैं, अतः जाति कहलाती हैं। जिस वस्तु की उत्पत्ति हो, वह अनित्य ही होती है। अतएव 'जाति' अनित्य है। अर्थात् संगीतशास्त्रोक्त 'जाति' में 'सामान्यरूप जाति' का लक्षण नहीं घट सकता, क्योंकि 'जाति सामान्य' तो नित्य होती है। फिर भी अनेक गेय व्यक्तियों में (अर्थात् पृथक्-पृथक् गीत प्रकारों में) अनुवृत्त होने के कारण अनेक गो-व्यक्तियों में अनुवृत्त गोत्व की भाँति इन्हें भी 'जाति' कहा जाता है। अथवा गीतसमूह की वा गीतोपरञ्जन की इनसे उत्पत्ति होती है; इसलिए ये 'जाति' कहलाती हैं।

'जाति' की व्याख्याएँ हमने पढ़ीं। सामान्यरूप से यह कहा जाता है कि भरत के काल में 'राग' गान का और 'राग' नाम का प्रचार नहीं था, यद्यपि भरत के निम्नोद्धृत वचन से ऐसा भास अवश्य होता है कि उनके काल में भी भिन्न रूप से रागों की प्रवृत्ति होती रही होगी :—

यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैष प्रवर्तते। (ना० शा० २८।)

जाति के दश लक्षणों में से अन्यतम लक्षण 'अंश' को समझाते समय ऊपर उद्धृत वचन भरत ने कहा है। चाहे भरत के काल में रागों का प्रचार रहा हो या न रहा हो, किन्तु उन्होंने 'जाति' में प्रयुक्त अंश के सम्बन्ध में यह जो कहा है कि जिसमें 'राग' हैं यानी 'रागत्व' और 'रंजकत्व' जिसमें सन्निहित है, उसे अंश

मानना चाहिए, तो ऐसे अंश का जिस स्वर-समूह में प्रयोग होता हो, उस स्वर-समूह यानी 'जाति' को रागों की जननी मानना उचित ही है।

यहाँ पर यह प्रश्न उद्भूत हो सकता है कि मूर्च्छना और जाति में क्या अन्तर है? मूर्च्छना केवल स्वर-समूह है और जाति उसे कहना चाहिए, जिसके द्वारा राग-रस की निष्पत्ति हो। सामान्य स्वर-सप्तक से कोई विशेष रसाभिव्यञ्जना नहीं होती। किन्तु जब उसमें ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास आदि नियम-विशेष, राग-रूप की अभिव्यञ्जना के लिए लगाए जाते हैं, तब वह 'जाति' कहलाती है। इसी बात को एक उदाहरण से समझ लें। यथा सा रे ग् म प ध नि् सां, सां नि् ध प म ग् रे सा—यह एक मूर्च्छना या स्वर-सप्तक है। उस स्वर-सप्तक में जब आरोहावरोह, औडवत्व, षाड़वत्व, ग्रह अंश, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व आदि नियम लगाए जाएँ, तब इसी स्वर-सप्तक या मूर्च्छना से अनेक रागों की उत्पत्ति हो सकती है। यथा, उपर्युक्त स्वरावली में से काफ़ी, सिन्धूरा, भीमपलासी, बागेश्री, सुहा-सुधराई इत्यादि विविध राग उपजते हैं। इसी प्रकार मूर्च्छना से जाति की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इस उदाहरण से यह समझना सुलभ होगा कि राग का ही पूर्वरूप या पूर्वसंज्ञा, यह 'जाति' है। इसी से कहा है कि मूर्च्छना स्वर-सप्तक है और 'जाति' गीत-प्रकार है। यानी नियमों से निबद्ध मूर्च्छना ही 'जाति' कहलाती है। भरत ने ऐसी भिन्न भिन्न जातियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है और 'रत्नाकरादि' में इनका विस्तार पाया जाता है। संभवतः भरतकाल में नाट्योपयोगी रस-भावानुकूल इन जातियों का उपयोग किया जाता होगा। वास्तव में ये सब राग प्रकार ही हैं। किन्तु उस समय तक रञ्जनात्मक स्वर-समूहों से युक्त इन जातियों को शायद 'राग' शब्द से अभिहित नहीं किया जाता होगा।

हम आगे चल कर देखेंगे कि भरत ने केवल १८ जातियों का उल्लेख और नामकरण किया है। साथ ही उन जातियों के अनेक विकृत भेद बनाने के नियम भी कह दिए हैं। जब तक नाट्योपयोगी रस के आविर्भाव की मर्यादा भरत ने १८ जातियों तक सीमित रखी है, तब तक तो कोई प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जब इनके औडव-षाड़वादि विकृत भेदों की विपुल सृष्टि उपजा कर उपयोग में ली जाती होगी, तब इस विपुल संख्या का भिन्न नामकरण करना आवश्यक हो गया होगा और संभवतः इन विपुल संख्या के अभिधान के लिए राग नाम प्रयुक्त हुए होंगे। इसी दृष्टि से मतंग ने जाति को रागों की जननी कहा होगा। ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है।

भरत की नीचे उद्धृत कारिका से स्पष्ट है कि मूर्च्छना के स्वर-सप्तक में निम्नलिखित दश लक्षणों के लगने से ही वह गानोपयोगी होकर जाति कहलाती बनती है:—१) ग्रह २) अंश ३) तार ४) मन्द्र ५) न्यास ६) अपन्यास ७) अल्पत्त्व ८) बहुत्व ९) षाडवित, एवं १०) औडवित। भरत कहते हैं:—

दशविध-जातिलक्षणम्

ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासोऽपन्यास एव च। अल्पत्वं च बहुत्वं च षाड़वौड़वितेे तथा॥

(ना० शा० २८।८०)

क्रमशः इन दसों लक्षणों की व्याख्या भरत और मतङ्ग के वचनों से हम समझ लें।

१) ग्रह

ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः। यत्प्रवृत्तं भवेद्गानं सोंऽशो ग्रहविकल्पितः॥

(ना० शा० २८।७१)

तत्रादौ जात्यदिप्रयोगो गृह्यते येनासौ ग्रहः।

(बृहद्देशी पृ० ५६)

अर्थात्—सब जातियों का जो अंश स्वर है, वही ग्रह कहलाता है। जिस स्वर से गान की प्रवृत्ति होती है, या गान-प्रवृत्ति के आरम्भ ही में जिस स्वर का प्रयोग होता है, वह अंश स्वर ही विकल्प से ग्रह कहलाता है।

जहाँ से जात्यादि प्रयोग आरम्भ किया जाए, उसे ग्रह कहते हैं।

२) अंश— अंश स्वर के निम्नलिखित दश लक्षण भरत ने बताए हैं :—

यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्तते। येन चै तार-मन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥
मन्द्रश्च तारविषया पञ्चस्वरपरा गतिः॥ अनेकस्वरसंयोगो योऽत्यर्थमुपलभ्यते।
अन्यच्च बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि॥ ग्रहोपन्यासविन्यासंन्यासाभ्यासगोचरः।
परिवार्य स्थितो यस्तु सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः॥

(ना० शा० २८।७२-७४)

अर्थात्—१) जिस स्वर में राग रहता हो या जिस स्वर पर राग-स्वरूप अवलम्बित हो २) राग, रञ्ज या रस के उत्पादन में जो स्वर मुख्यतः उपयोगी हो, या जो स्वर स्वयं राग, रञ्ज और रस को उपजाता हो, ३–४) मन्द्र और तार सप्तक में पाँच-पाँच स्वर तक जिस की अध-उर्ध्व गति हो, यानी मन्द्र में मन्द्र मध्यम तक और तार में तार पञ्चम तक जिसकी अध-उर्ध्व गति हो, अर्थात् गान क्रिया में जिस स्वर की संवादात्मक प्रवृत्ति नीचे और ऊपर पाँच-पाँच स्वर तक विस्तार पाई हुई हो, ५) जो अन्य स्वरों से वेष्टित हो, या अन्य स्वरों के संयोग से आवृत हो, ६) जिसके साथ संवाद और अनुवाद करने वाले अन्य स्वर भी उसके समान ही बलवान हों ७–१०) ग्रह, न्यास, अपन्यास और विन्यास का बार-बार उच्चार या अभ्यास होते समय भी जो स्वर निरन्तर दृष्टिगोचर होता हो, ऐसे दश लक्षणों से युक्त स्वर अंश कहलाता है।

अंश स्वर के दश लक्षणों की व्याख्या कुछ भिन्न शब्दों में मतंग इस प्रकार देते हैं :

अंशविभागः स दशविधो बोद्धव्यः, यस्मिन्नंशे क्रियमाणे रागाभिव्यक्तिर्भवति सोंऽशः। यस्माद्वारभ्य गीतः प्रवर्तते न ग्रहस्स्वरितः। स्वांशा द्वितीया तारमन्द्राभिव्यक्तिहेतुः स्वांशस्तृतीयः पञ्चमस्वरमारोहणं तारं कदाचित् षष्ठस्वरारोहणं पितारः। तारनियामकमन्द्रनियामक स्वरोऽप्यंशसप्तस्वरावरोहणा। यश्च बहुप्रयोगतरः सोऽप्यंशः। यो रागस्य विषयत्वेनावस्थितः स्वरः सोऽप्यंशः।

(बृहद्देशी पृ० ५७)

अर्थात्—अंश स्वर दस प्रकार से बनता है। यथा—१) जिससे रागाभिव्यक्ति हो, २) जिससे गीत का आरम्भ हो, किन्तु फिर भी जो ग्रह और स्वरित से भिन्न हो, ३–४) तार और मन्द्र स्थानों की अभिव्यक्ति का जो हेतु हो, ५) जिसके आगे पाँच या छैः स्वरों तक तार में आरोह हो सकता हो, ६–७) तार और मन्द्र स्थानों का जो नियामक हो, ८) जिससे सात स्वर तक नीचे अवरोह हो सकता हो, ९) जिसका अधिक प्रयोग हो, और १०) राग के 'विषय' अर्थात् केन्द्रबिन्दु के रूप में जो स्थित हो।

जाति के दो लक्षण—ग्रह और अंश हम पहिले देख आये हैं अब हम उसके शेष लक्षण क्रमशः देख लें।

३–४) **तार-मन्द्र**—अंश स्वर के जो दश लक्षण बताए गये हैं, उनमें तार और मन्द्र तक उसकी व्याप्ति की मर्यादा का उल्लेख हुआ है। उसी को दुहराते हुए यहाँ स्पष्ट किया गया है कि इन जातियों का गान केवल मध्य सप्तक में ही मर्यादित नहीं हैं, अपितु तार-मन्द्र में भी उसका प्रस्तार है। इससे सिद्ध होता है कि जाति-गान केवल मध्य-सप्तक के प्रयोग में ही सीमित नहीं था, अपितु तार-मन्द्र स्वरों में भी उसकी व्याप्ति थी अर्थात् तीनों सप्तकों में उसका प्रयोग होता था।

तार और मन्द्र की व्याख्या देते हुए भरत ने कहा है :—

अथ पञ्चस्वराः करणव्यांशात् (?) तारगतिः। अंशात्तारगतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह॥
पञ्चमं त्वथवा गच्छेत्ततोंऽशविहितं त्विह। आपञ्चमात्सप्तमाद्वा* नातः परमिहेष्यते॥

(ना० शा० २८।९२-३)

---

* नाट्यशास्त्र के चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संस्करण में 'आपञ्चमात्पञ्चमाद्वा' यह पाठ है। बृहद्देशी में उद्धृत इसी श्लोक के पाठानुसार यहाँ संशोधन कर लिया गया है।

त्रिविधा मन्द्रगतिः—अंशपरा न्यासपरा चेति अपन्यासपरा चेति वा।

अर्थात्—तार की त्रिविध गति है—अंश स्वर से लेकर चौथे, पाँचवें अथवा सातवें स्वर तक तार की गति समझनी चाहिए। मन्द्रगति भी त्रिविध है—अंशपरा, न्यासपरा और अपन्यासपरा। 'अंशपरा' अर्थात् अंश है परे जिसके अर्थात् अंशों के नीचे। उसी प्रकार न्यासपरा और अपन्यासपरा का भी यही अर्थ है कि जिसके परे न्यास अथवा अपन्यास हो।

जाति-गान में त्रिविधा तार-गति और त्रिविधा मन्द्र गति होती होगी, ऐसा इन उद्धृत वचनों से अनुमान होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यही प्रतीत होता है कि जिस जाति में जो स्वर अंश हो, उस अंश स्वर से चार स्वर, पाँच स्वर या सात स्वर तक तार सप्तक में जाने की मर्यादा उन्होंने बाँध ली है। इस से अधिक ऊँचा जाना संभवतः जाति-गानमें हानिकारक होता होगा। तद्वत् त्रिविधा मन्द्रगति कही गई है, जिसे अंशपरा, न्यास-परा और अपन्यासपरा कहा है। इसका भी स्पष्टार्थ यही प्रतीत होता है कि जिस जाति में जो अंश, न्यास अथवा अपन्यास स्वर हो, उससे चार, पाँच या सात स्वर तक मन्द्र में जाना चाहिए। इससे अधिक मन्द्र में नहीं जाना चाहिए। जाति-गान में यह नियम इसलिए लगाए गए होंगे कि जाति-गान में जिस राग-रूप का प्रयोग होता होगा, उसमें क्षति न आए, उसके रस-रंग में भंग न हो और उसका रूप अक्षुण्ण रहे।

इसको आज की दृष्टि से देखा जाए, तो वह मर्यादा राग-गान में भी आज हम प्रयुक्त करते हैं। क्रिया-कुशल गुणी जानते हैं कि कुछ राग ऐसे हैं कि जिनकी तार—सप्तक की मर्यादा बँधी हुई है, और कुछ राग ऐसे हैं, जिनकी मन्द्र सप्तक की मर्यादा बँधी हुई है। उस मर्यादा की लकीर को लाँघना, राग-रूप को बिगाड़ना है। इसके कुछ उदाहरण समझने से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। यथा दरबारी कान्हड़ा, इसकी तार मर्यादा बँधी हुई है यदि दरबारी में बार बार तार-सप्तक में संचार किया जाए, और ऋषभ-गान्धार से अधिक ऊँचा जाया जाए तो वहाँ दरबारी न रह कर अड़ाणा का दर्शन होने की पूरी संभावना है। दरबारी के मन्द्र सप्तक में जितना भी काम करना चाहे कर सकते हैं, किन्तु तार में नहीं। यह जैसी तार सप्तक की मर्यादा बँधी हुई है, वैसे ही सोहनी, अडाणा, देशकार इत्यादि रागों की मन्द्र मर्यादा भी बँधी हुई है। सोहनी में प्रायः मध्य गान्धार तक ही उतरने की मर्यादा बँधी हुई है, चाहे कभी कभी मध्य षड्ज को भी छू लेते हैं, किन्तु अधिकतर मध्य गान्धार तक ही उसकी मर्यादा है, मन्द्र में तो बिलकुल ही नहीं। यथा—सां नि ध मू ग —मू ध नि सां रे सांरे नि सां। तद्वत अडाणे में भी अधिक से अधिक नीचे उतरने की मर्यादा मध्य षड्ज तक है। गुणीजन जानते हैं कि सोहनी में तार षड्ज ही अंश स्वर है, और अडाणे में भी वही नियम है। सोहनी में पाँच स्वर तक उतरने की मर्यादा बनाई गई है और अडाणे में सात स्वरों तक उतरने की मर्यादा दिखाई गई है। जैसे इन रागों के निदर्शन के लिए इन मर्यादाओं का पालन आवश्यक है, वैसे ही भरतकालीन जातिगान में भी इन्हीं मर्यादाओं का पालन आवश्यक माना गया होगा। और इसी को समझाने के लिए त्रिविध तार गति और त्रिविधा मन्द्र गति का जाति के लक्षणों में उल्लेख किया गया होगा। ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति का भय नहीं है।

५—१) **न्यास-अपन्यास**—ये शब्द ही अपने अर्थ को स्पष्ट करते हैं। अर्थात् जहाँ गान समाप्त किया जाए अथवा गान के बीच में जहाँ मुकाम किया जाए, जातिगान की इन क्रियाओं के निदर्शन के लिए ही न्यास-अपन्यास आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

मतंग ने इस विषय की बड़ी सूक्ष्म विवेचना की है, जो इस प्रकार है :—

यत्र गीतमिति समाप्तिरिति संभाव्यते सोऽपन्यासः सर्वविदारी * मध्यमो भवति।

(बृहद्देशी पृ० ८७)

---

* गान-क्रिया के खण्डों को यहाँ विदारी कहा गया है। इन खण्डों को यानी मुकाम के स्थानों को न्यास अपन्यास, विन्यास आदि संज्ञाओं से पहिचाना जाता है।

अर्थात् जहाँ गीत समाप्त होता सा प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में समाप्त न हो, उसे 'अपन्यास' कहा जाता है।

'सर्वविदारी मध्यमो भवति' इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं। १) 'सर्वविदारी' और 'मध्यम' इन शब्दों को पृथक् पृथक् ग्रहण करने से 'सर्वविदारी' का अर्थ होगा—सब का विदारक, सब खण्डों को बनानेवाला यानी गान-क्रिया को खण्डों में बाँटने वाला। यहाँ मध्यम शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। हमारा अनुमानित अर्थ यह है कि यहाँ 'मध्यम' शब्द का प्रयोग गीत-प्रकार के अंगों को या खण्डों को विभक्त करने वाले तत्त्व के लिए किया गया है। 'मध्यम' शब्द मध्यम स्वर के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है और मध्यस्थान के लिए भी। स्वर-सप्तक की दृष्टि से देखा जाए तो 'मध्यम' उसका विदारक बनता है, क्योंकि "सारेग" और "पधनि" इन दोनों को विभक्त करने वाला मध्यम इन दोनों के बीच ही में आता है। किन्तु जब सप्तक में तार षड्ज जोड़ कर पूर्व और उत्तर ऐसे दो अंग बनाते हैं, तब सारिगम पधनिसा, इन दो अंगों का विदारक मध्यम न होकर पञ्चम होता है। इस अवस्था में 'मध्यम' शब्द का अर्थ स्वरविशेष न होकर मध्यस्थान को या मध्यस्थानस्थित किसी भी तत्व को निर्दर्शित करता है, चाहे वह जाति के गीत—प्रयोग से सम्बन्धित हो या राग-क्रिया से।

२) यदि 'सर्वविदारीमध्यमो भवति' इस प्रकार 'सर्वविदारी' और 'मध्यम' का समास कर लिया जाए तो ऐसा अर्थ होगा कि जाति-गान या गीत-गान के विभिन्न खण्डों के पारस्परिक मध्यभाग में जहाँ जहाँ मुकाम किया जाए या ठहरा जाए, वहाँ वहाँ अपन्यास समझना चाहिए।

हमारी राय में आज की राग-रचना और गीत-प्रयोग में मुकाम करने की क्रिया को देखते हुए ऊपर दिया हुआ दूसरा अर्थ अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

मतंग और भी कहते हैं:—

तत्र प्रथमविदारीमध्ये न्यासस्वराः प्रयुक्ताः। अंशस्य विवादी यथा न भवति प्रथमविदार्यान्तेर्यादि (?) प्रवृत्तो यदा भवति, तदासौ संन्यास इत्यर्थः...। एष एव तु संन्यासस्वरः पदान्ते विन्यस्ते तदा विन्यासः।

[बृहद्देशी पृ० ५८]

यदि यहाँ 'प्रथमविदारी मध्ये'—ऐसा पाठ लें तो यह अर्थ होगा कि गीत के प्रथम खण्ड के मध्य में यानी बीच में जिन स्वरों पर ठहराव किया जाता है, वे न्यास स्वर कहलाते हैं। यदि यहाँ 'प्रथममविदारी मध्ये' ऐसा पाठ लें तो ऐसा अर्थ होगा कि—'गान-क्रिया के विभिन्न खण्डों के बीच-बीच में जिस पर घूम फिरकर ठहरा जाए, वह न्यासस्वर कहलाता है। अर्थात् गान-क्रिया के विभिन्न खण्डों में एक खण्ड से दूसरे में जाते समय जो ठहराव किया जाता है, न्यास स्वर उसका द्योतक न होकर एक ही खण्ड के अन्तर्गत किये जानेवाले विभिन्न ठहरावों का द्योतक है। ये दोनों पाठ बृहद्देशी, के अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावली वाले संस्करण में दिए गए हैं।

मतंग के ऊपर उद्धृत कथनानुसार संन्यास स्वर उसे समझना चाहिए, जो कि अंश का विवादी न होते हुए, गीत के प्रथम खण्ड (विदारी) के अन्त में प्रयुक्त होता है। यदि यही संन्यास स्वर पद के अन्त में प्रयुक्त होता है, तो वह विन्यास कहलाता है।

उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन के अतिरिक्त मतंग ने न्यास की सामान्य व्याख्या भी दी है। यथा:—

'न्यस्यते त्यज्यते यस्मिन् येन वा गीतं तन्न्यास इति।'

(बृहद्देशी पृ० ६०)

अर्थात् जिस स्वर पर गीत को समाप्त किया जाए, वही न्यास है।

७-८) अल्पत्व एवं बहुत्व—इस सम्बन्ध में भरत ने कहा है—

द्विविधमल्पत्वं लङ्घनादनभ्यासाच्च। गीतान्तरमार्गमुपगतानां षाडवौडवितकरणत्वमंशानाञ्च स्वराणां लङ्घनादनभ्यासाच्च सकृदुच्चारणं यथाजाति, तद्वत् बहुत्वमल्पत्वविपर्ययात् द्विविधमेषामन्येषामपि बलिनां सञ्चारः।

अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च यथापूर्वं विनिश्चयात्। जातिस्वरैश्च नित्यं स्यात् जात्यल्पत्वं विधानतः॥
सञ्चारोंऽशबलस्थानमल्पत्वं दुर्बलेषु च। द्विविधोऽन्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः॥

(ना० शा० २८।९०-१)

अर्थात्—अल्पत्व द्विविध है—एक लङ्घन द्वारा अर्थात् छोड़ देने से और दूसरा अनभ्यास द्वारा यानी बार-बार आवृत्ति के अभाव से। गीत के अन्तरमार्ग में आनेवाली (जातियों की) षाडवौडवित क्रिया में जिन अंश स्वरों का लंघन या अनभ्यास द्वारा अल्पोच्चार होता है, उसे अल्पत्व कहते है*। इसके विपर्यय से यानी अलंघन और अभ्यास से बहुत्व होता है।

जातियों के स्वरों का अल्पत्व तथा बहुत्व—सर्वदा निर्धारित नियमों के अनुसार ही होता है। दो प्रकार के अन्तरमार्ग से जातियों की अभिव्यक्ति होती है—१) अंश या बलवान् स्वर के सञ्चरण से, और २) दुर्बल स्वरों के अल्पत्व से।

ऊपर उद्धृत भरत के गद्यांश में अल्पत्व की व्याख्या कुछ अस्पष्ट है। जातियों के शुद्धा या पूर्णा ऐसे जो भेद हैं, उनमें औडवषाड़वादि विकृत प्रयोग करते समय, उनके अंश स्वरों का जो लंघन और अनभ्यास द्वारा अल्पत्व किया जाता होगा, उसी को भरत उन शब्दों में समझाते हों, ऐसा प्रतीत होता है। आज के राग-प्रयोग की दृष्टि से हम इसका स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

इस विषय में मतंग कहते हैं :—

अल्पत्वं बहुत्वं च द्विविधो संन्यासादिगतो भवेत् तदान्तरमार्गेणेति। अन्तरमार्गस्य लक्षणं यथा जातिषु क्वचिद्वा अनंशो विनाल्पः।

(बृहद्देशी)

अर्थात् अल्पत्व और बहुत्व दो प्रकार का होता है। ऐसा द्विविध अल्पत्व और बहुत्व जब सन्यासादिगत होता है यानी जब स्वरों की न्यास, अपन्यास आदि अवस्था के अनुसार अल्पत्व-बहुत्व होता है, तब वह अल्पत्व-बहुत्व अन्तरमार्ग द्वारा हुआ समझना चाहिए। यह अन्तरमार्ग का लक्षण है। कभी-कभी जातियों के अनुसार अनंशत्व के बिना ही अल्पत्व होता है।

हम जानते हैं कि अंश स्वर बलवान् होता ही है और जो स्वर अंश नहीं होते, वे उसकी अपेक्षा दुर्बल होते हैं। उन अनंश स्वरों का यह एक प्रकार का अल्पत्व हुआ। यहाँ उस प्रकार के अल्पत्व से अभिप्राय नहीं है, बल्कि उस अल्पत्व से अभिप्राय है, जो अनंशत्व पर निर्भर नहीं है।

ऊपर के उद्धरण में मतंग के 'क्वचिद्वा अनंशो विनाल्पः' इस वचन को देखते हुए यदि भरत के ऊपर उद्धृत वचन 'अंशानाञ्च स्वराणां' के स्थान पर 'अनंशानाञ्च स्वराणां' पाठ लिया जाए तो उस गद्यांश का निम्नोक्तअर्थ होगा :—'गीत के अन्तर मार्ग में आए हुए जो अनंश स्वर हों, जो स्वर (जातियों के) औडव-षाडव प्रकार बनाने में साधन हों, उनके लंघन या अनभ्यास से अल्पत्व होता है।

हमने देखा कि मतंग ने अल्पत्व और बहुत्व दोनों का अन्तरमार्ग के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। किन्तु 'रत्नाकर' कार ने 'अन्तरमार्ग' द्वारा केवल अल्पत्व का निदर्शन किया है। यथा:—

न्यासादिस्थानभुक्तिरुक्ता मध्ये मध्येऽङ्गरागयुजाम्। स्वराणां या विचित्रत्व कारिण्यंशादिसंगतिः॥
अनभ्यासैः क्वचित्क्वापि लङ्घनैरेव केवलैः। कृता सोऽन्तरमार्गः स्यात्प्रायो विकृतजातिषु॥

(सं० र० १।७।५२-३)

*भरत के ये वचन कुछ अस्पष्ट हैं।

अर्थात्—न्यासादि स्थानों को छोड़कर, बीच बीच में, अल्प स्वरों के अनभ्यास द्वारा अथवा कभी कभी केवल लंघन द्वारा, उन स्वरों की अंशादि स्वरों के साथ जो संगति की जाती है, जिससे विचित्रता की सृष्टि होती है, उसे अन्तरमार्ग कहते हैं। यह प्रायः विकृत जातियों में ही होता है।

हमारे आधुनिक संगीत में भी किस स्वर पर कितना ठहरा जाए, या कौन सा स्वर कितना लंबाया जाए, इन बातों की मर्यादा नियम-बद्ध की गई है। जाति-गान के युग में भी गान-क्रिया के अवसर पर जिस स्वर का अल्प स्पर्श किया जाता होगा अथवा वक्रत्व से जिसका अल्पोच्चार होता होगा, या अन्य स्वरों की छाया में जो ढका हुआ रहता होगा, ऐसे स्वरों का अल्पत्व कहा गया है। जो स्वर ग्रह, अंश या न्यास न होते हुए भी गान में अधिक प्रयुक्त होता है, उसी स्वर का बहुत्व कहा गया है। संभवतः आज हमारी गान-क्रिया में अल्पत्व और बहुत्व का जो प्रयोग होता है, वह उसी प्राचीन परंपरा का द्योतक है।

आज के कुछ रागों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। जैसे केदार में गान्धार प्रयुक्त होते हुए भी मध्यम की छाया में ढका रहता है, और उसका केवल सकृदुच्चारण होता है, तद्वत् मल्हार का धैवत भी उसी अल्पत्व का द्योतक है। वक्रगति के अल्पत्व का उदाहरण शंकरा का धैवत है और ऐसे ही अन्य अल्पत्व के प्रकार भी भिन्न भिन्न रागों में सन्निहित हैं, जो विद्वज्जन से अविदित नहीं हैं।

जैसे आज की भाषा में हम ने अल्पत्व को समझ लिया, उसी प्रकार बहुत्व को भी समझ लें। जो स्वर राग में अंश न होते हुए भी बल पाता है, उसका 'बहुत्व' माना जाता है, जैसे कि कल्याण में गान्धार। पं० भातखण्डे ने यद्यपि कल्याण में गान्धार का बार बार प्रयोग होने से, उसी को वादी या अंश स्वर मान लिया है, तथापि वास्तव में कल्याण का अंश स्वर ऋषभ है, गान्धार नहीं; कारण गान्धार का लंघन करने से भी कल्याण का कल्याणत्व नष्ट नहीं होता यानी कल्याण बना ही रहता है, किन्तु ऋषभ के लंघन से कल्याण का समूचा लोप हो जाता है। गुणीजन प्रत्यक्ष प्रयोग से इसकी सत्यता जाँच सकते हैं। कल्याण के पूर्वांग में ऋषभ और उत्तरांग में पंचम के बिना कल्याण का अंग प्रस्फुट नहीं ही होगा।

कल्याण में रि-प निकाल कर यदि नि॒ सा ग, ध॒ नि॒ सा ग, म॒ ध॒ नि॒ सा ग, म॒ ग, ध म॒ ग, नि ध म॒ ग, म॒ ध म॒ ग, ऐसे, गान्धार का बहुत्व दिखाया जाएगा, तब भी उससे कल्याण का दर्शन नहीं ही होगा, परन्तु नि॒ रे-सा, ध॒ नि॒ रे-सा, म॒ ध॒ नि॒ रे-सा, अथवा म॒ ध-प, ग म॒ ध-प, म॒ ध नि ध-प, इस प्रकार कल्याण में गान्धार का लंघन करने पर भी कल्याण का कल्याणत्व पूरी तौर से विद्यमान रहता है। जैसे जयत कल्याण में कल्याण का अंग ऋषभ पर ही निर्भर है और पूर्वकल्याण में पंचम पर ही कल्याण दिखाई देता है, तद्वत् जहाँ जहाँ नि॒ रे-सा, म॒ ध-प, यों रे-प लगेंगे, वहाँ वहाँ कल्याण दिखाई देगा। इससे सिद्ध है कि कल्याण का कल्याणत्व रि-प पर ही अवलम्बित है, गान्धार पर नहीं, जैसा कि पं० भातखण्डे ने समझाया है।

इसलिए कल्याण में ऋषभ और पञ्चम ये अंश स्वर हैं और गान्धार उसमें अंश न होने पर भी बल पाता है। इसी को 'बहुत्व' कहा गया है। 'बहुत्व' द्वारा ऐसे स्वरों का सूचन किया जाता है, जो कि अंश न होते हुए भी बल पाते हैं।

९-१०) षाडवत्व-औडवत्व—संपूर्ण सप्तक के भीतर से एक स्वर निकालने से षाड़व और दो स्वर निकालने से औड़व प्रकार बनते हैं, यह सभी जानते हैं। इस विषय में भरत ने कहा है—

> **पञ्चस्वरमौडवितं विज्ञेयं दशविधं प्रयोगज्ञैः। षट्स्वरस्य प्रयोगोऽयं तथा पञ्चस्वरस्य च।**
> **चतुःस्वरप्रयोगोऽपि देशापेक्षः प्रयुज्यते॥**

(ना० शा० २८।९५)

अर्थात्—पाँच स्वरों के प्रयोग से औड़व प्रकार बनते हैं। ये औड़व प्रकार दशविध हैं। जैसे षाड़व में छः और औड़व में पाँच स्वरों का प्रयोग होता है; तद्वत् चार स्वरों का प्रयोग भी देशी संगीत में प्रचलित है।

भरत की ऊपर उद्धृत कारिकाओं के अन्तिम भाग में जातिगान में चार स्वरों के प्रयोग का जो उल्लेख मिलता है, इससे अधुना प्रचलित मालश्री, धवलश्री जैसे रागों को आधार मिल जाता है। कुछ लोगों ने राग के स्वरों की न्यूनतम संख्या पाँच मानकर इन रागों में तीव्र मध्यम का प्रयोग करके इन्हें औडव बनाने का यत्न किया है। ऊपर उद्धृत भरत के वचन के अनुसार ऐसा यत्न अनावश्यक ही नहीं, अपितु, इस शास्त्र-वचन के अनुसार अनुचित भी ठहरता है, क्योंकि चार स्वरों के रागों का प्रयोग भी विहित है, निषिद्ध नहीं है।

इस प्रकार भरत और मतंग के बताए हुए जाति के दसों लक्षण हमने विस्तार से देख लिए। शार्ङ्गदेव ने इन दश लक्षणों में संन्यास, विन्यास और अन्तरमार्ग—इन तीन नए लक्षणों को जोड़कर त्रयोदश जाति लक्षण बताए है। यथा:—

ग्रहांशतारमन्द्राश्च न्यासापन्यासकौ तथा। अपि संन्यासविन्यासौ बहुत्वं चाल्पता ततः॥
एतान्यन्तरमार्गेण सह लक्ष्माणि जातिषु। षाडवौडुविते क्वापीत्येवमाहुस्त्रयोदश॥

(सं० र० १।७।२९-३०)

अब हम इन जातियों के भेद-प्रभेदों के प्राचीन-ग्रन्थोक्त विवरण को समझ लें। जाति के दो मुख्य भेद हैं। यथा:—१) शुद्धा २) विकृता।

शुद्धा जातियाँ सात मानी गई हैं, जिनके नाम सप्त स्वरों पर से रखे गए हैं। यथा—षाड्जी, आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी, धैवती और नैषादी अथवा निषादवती। इन सात शुद्धा जातियों में से चार षड्जग्राम की हैं, यथा—षाड्जी, आर्षभी, धैवती और निषादवती तथा तीन मध्यमग्राम की हैं, यथा—गान्धारी, मध्यमा और पञ्चमी।

सामान्यतः षड्जग्राम और मध्यमग्राम के सभी स्वरों की मूर्च्छनाओं को ग्रह, अंश, न्यासादि नियम लगाने से जातियाँ बनाई जा सकती थीं। किन्तु भरत ने दोनों ग्रामों में मिलाकर कुल सात ही शुद्धा जातियाँ कही हैं। दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं के स्वर-रूप देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चौदह मूर्च्छनाओं के स्थान पर केवल सात ही मूर्च्छनाओं को शुद्धा जातियों का रूप देने के पीछे भरत का क्या हेतु रहा होगा। हम जानते हैं कि दोनों ग्रामों की मूल स्वर-व्यवस्था में जो अन्तर है, वह केवल पञ्चम में ही निहित है। इन दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाएँ यदि वीणा पर निकाल कर देखी जाएँ तो उनकी स्वरावलियों में, श्रुति-व्यवस्था के सूक्ष्म भेदों को छोड़कर, पर्याप्त साम्य पाया जाता है। अर्थात् स्थूल रूप से दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं द्वारा समान रागों का ही संकेत मिलता है। मूर्च्छना-प्रकरण में दी हुई सारिणियों से हम यह देख ही चुके हैं। ये स्वर-सप्तक या राग-रूप पुनरावृत्त न हों, संभवतः इसीलिए भरत ने शुद्धा जाति के लिए दोनों ग्रामों में से केवल सात मूर्च्छनाओं को ही चुना है।

इन द्वैग्रामिकी सात शुद्धा जातियों के नाम सात स्वरों पर से रखे गए हैं। यथा—षड्ज से षाड्जी ऋषभ से आर्षभी, गान्धार से गान्धारी, मध्यम से मध्यमा, पञ्चम से पञ्चमी, धैवत से धैवती और निषाद से निषादवती। इन शुद्धा जातियों के लक्षण भरत ने इस प्रकार निरूपित किये हैं :—

१) 'अन्यूनस्वराः'—अर्थात् जिनके आरोहावरोह सम्पूर्ण हों।

२) 'स्वस्वरांशग्रहन्यासा'—अर्थात् जिस स्वर पर से जिस जाति का नाम रखा गया हो, वही स्वर उसका ग्रह, अंश, न्यास भी हो। उदाहरण के लिए षड्जग्राम की षांड्जी जाति का आरम्भ षड्ज से हो यानी षड्ज उसका ग्रह हो और षड्ज ही उसका अंश और न्यास हो। इसी प्रकार दोनों ग्रामों की सभी शुद्धा जातियों को समझना चाहिए अर्थात् ये लक्षण सभी पर घटित होते हैं।

३) 'न्यासविधावप्यासां मन्द्रो नियमात् भवति शुद्धासु'—अर्थात् शुद्धा जातियों में न्यास स्वर नियम से मन्द्र में ही होना चाहिए।

'रत्नाकर' कार ने इस तीसरे लक्षण के सम्बन्ध में कहा है—'तारन्यासविहीनास्ताः'—यानी शुद्धा जातियों का न्यास कभी तार में न हो। 'रत्नाकर' के टीकाकार कल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या यों की है:—

यदपि भरतेन 'न्यासः शुद्धासु मन्द्रे स्यात्' इत्युक्तं तत्तारनिषेधपरं द्रष्टव्यम् अन्यथा षाडज्यां मध्यषड्जस्यासत्वं मतङ्गोक्तं लक्ष्ये विरुध्येत।

(सं० र० १।७। पर कल्लिनाथ की टीका)

अर्थात्—भरत ने जो यह कहा है कि शुद्धा जातियों का न्यास स्वर मन्द्र में होना चाहिए, इस का अर्थ यही लेना होगा कि न्यास तार में कभी न हो, पर वह मध्य में तो हो ही सकता है। अन्यथा, षाड्जी जाति में मध्यषडज पर न्यास मानना चाहिए, यह मतंग का कथन भरत के विधान से प्रतिकूल हो जाएगा।

आज भी जब हम गान-क्रिया या वादन-क्रिया करते हैं, तब अपवादरूप रागों को छोड़ कर प्रायः सभी रागों में हम मध्य षड्ज पर ही पूर्ण न्यास करते हैं। यानी गान-क्रिया, आलाप-क्रिया, तान-क्रिया उसी मध्यषड्ज पर पूर्ण होती है। ऐसा ही नियम जाति-गान के लिए भी प्रयुक्त होता होगा, यह उपर्युक्त वचन से स्पष्ट है। सामान्य बोलचाल में अल्पविराम, प्रश्न, उद्गार और पूर्णविराम के उच्चारों की भिन्नता देखने से स्पष्ट होता है कि पूर्णविराम का वाचिक स्वर मध्य में ही होता है। जो वाग्व्यवहार में पूर्णविराम कहलाता है, उसे ही संगीत में पूर्ण न्यास कहा जाता है। अतः संगीत में भी उसका प्रयोग तार में नहीं, अपितु मध्यस्थान में जो स्वारंत (मूल षड्ज) हो, उसी पर किया जाता है। इसी तथ्य को निर्दशित करने के लिए भरत ने यह कहा है कि शुद्धा जातियों का न्यास मन्द्र में ही होना चाहिए।

शुद्धा जातियों के भरतोक्त लक्षण ही शार्ङ्गदेव ने कुछ भिन्न शब्दों में इस प्रकार कहे हैं :—

यासां नामस्वरो न्यासोऽपन्यासोंऽशग्रहस्तथा। तारन्यासविहीनास्ताः पूर्णाः शुद्धाभिधाः मताः॥

(स० ८, १, ७२, ३)

अर्थात् जिन जातियों का अंश, ग्रह, न्यास एवं अपन्यास वही स्वर हो, जिस पर से उन जातियों का नामकरण हुआ हो, जिनका न्यास तार में कभी न हो और जो पूर्ण हों, वे शुद्धा कहलाती हैं।

प्राचीनों की शुद्धा जातियों की व्याख्या देखने के बाद अब हम जातियों के दूसरे मुख्य भेद विकृता को देख लें। भरत ने कहा है :—

एभ्योऽन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा लक्षणैर्विक्रियामुपगता न्यासवर्जं विकृतसंज्ञा भवन्ति।

अर्थात् शुद्धा जातियों के लक्षणों में से एक दो या उससे अधिक लक्षणों में विकार उपजाने से विकृता जाति बनती है। हाँ, उनके न्यास स्वर में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता।

इसका स्पष्टार्थ यही हुआ कि विकृता जातियाँ दो प्रकार से बनती हैं :—१) पूर्णत्व-सम्बन्धी नियम को विकृत करने से यानी ओडव षाडव प्रकार बनाने से और २) जिस स्वर पर से जिस शुद्धा जाति का नामकरण हुआ हो, उसी स्वर को अंश, ग्रह अपन्यास मानने के नियम का उल्लंघन करने से। केवल न्यास-स्वर के नियम का कभी उल्लंघन नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्रत्येक शुद्धा जाति के कितने विकृत भेद बनेंगे; इसका ब्योरा भरत ने नहीं दिया है, किन्तु 'रत्नाकर' कार ने इन गणितसिद्ध भेदों का पूरा विवरण दिया है, जिसका सारांश इस प्रकार है।

जाति नाम	कुल विकृत भेद संख्या	विकृतत्व के प्रकार	
		औडवषाड़वादि भेद	ग्रह, अंश, अपन्यास के नियम—भंग से बने भेद
१—षाड्जी	१५	८	७
२—आर्षभी	२३	१६	७
३—गान्धारी	२३	१६	७
४—मध्यमा	२३	१६	७
५—पञ्चमी	२३	१६	७
६—धैवती	२३	१६	७
७—निषादवती	२३	१६	७
कुल संख्या	१५३	१०४	४६

विकृता जातियों के उपरिलिखित प्रकारों के अतिरिक्त भरत ने एकादश संसर्गजा विकृता जातियों का भी उल्लेख किया है। ये एकादश और सात शुद्धा मिला कर कुल १८ जातियों को भरत ने प्रमुख स्थान दिया है। ये एकादश प्रकार-दो तीन चार या पाँच तक शुद्धा जातियों के मिश्रण से उपजाए गए हैं। भरत कहते हैं:—

स्यात् षड्जमध्यमाभ्यां निवृत्ता षड्जमध्यमा जातिः। षाड्जीगान्धारीभ्यां धैवत्याश्चापि या विनिष्पन्ना॥
संसर्गाद्वा विज्ञेया षड्जोदीच्यवा जातिः। षाड्जीगान्धारीभ्यां सम्भूता षड्कैशिकी जातिः॥
षाड्जीगान्धारीभ्यां धैवत्याश्चापि मध्यमया वा। निवृत्ता या जातिः सा मध्यमोदीच्यवा नाम्ना॥
गान्धारीपञ्चमीभ्यां नैषादीमध्यमाभ्याञ्च। रक्तगान्धारी नाम जातिः स्याच्चतसृभिस्त्वाभिः॥
गान्धारीषड्जाभ्यां संसर्गाज्जायते चान्ध्री। गान्धारीपञ्चमीभ्यामार्षभीभ्यां चैव नन्दयन्ती तु॥
गान्धारीपञ्चमीभ्यां जाता गान्धारपञ्चमी जातिः। नैषाद्यार्षभीभ्यां पञ्चम्याश्चैव संसर्गात्॥
कार्मारवी नाम्ना जातिः पूर्णा हि भवति चेयम्। धैवत्यार्षभीहीना पञ्चाद्याः कैशिकीं कुर्युः॥

ना० शा (२२। ४५-५२)

अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से यह विवरण स्पष्ट हो जायगा।

इन संसर्गजा विकृता जातियों के सम्बन्ध में भरत, मतंग और शार्ङ्गदेव ने इस प्रकार कहा है:—

(१) शुद्धा विकृताश्चैव समवायाज्जातयस्तु जायन्ते। पुनरेवाशुद्धकृता भवन्त्यथैकादशान्यास्तु॥

(ना० शा० २८।)

(२) तत्र शुद्धानां जातीनां शुद्धत्वं विकृतत्वं च रूपद्वयमस्ति। एकादशानां जातीनां विकृतोद्भवत्वाद् विकृतत्वमेव रूपं भवति।

(बृहद्देशी पृ० ५४)

(३) विकृतानां तु संसर्गाज्जाता एकादश स्मृताः॥

(सं० र० १।७८)

अर्थात्—(१) शुद्धा और विकृता, इनके समवाय से जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य एकादश जातियाँ हैं, वे शुद्धा जातियों को पुनः अशुद्ध करके बनाई जाती हैं।

संसर्गजा विकृता जातियाँ	ग्राम	किन शुद्धा जातियों के मिश्रण से बनी हैं ?
१—षड्जमध्यमा	षड्ज	षाड्जी + मध्यमा
२—षड्जोदीच्यवा	”	षाड्जी + गान्धारी + धैवती
३—षड्जकैशिकी	”	षाड्जी + गान्धारी
४—गान्धारोदीच्यवा	मध्यम	षाड्जी + गान्धारी + धैवती + मध्यमा
५—मध्यमोदीच्यवा	मध्यम	गान्धारी + पञ्चमी + धैवती + मध्यमा
६—रक्तगान्धारी	मध्यम	गान्धारी + पञ्चमी + नैषादी + मध्यमा
७—आन्ध्री	मध्यम	गान्धारी + षड्जा
८—नन्दयन्ती	मध्यम	गान्धारी + पञ्चमी + आषभी
९—गान्धारपञ्चमी	मध्यम	गान्धारी + पञ्चमी
१०—कार्मारवी	मध्यम	नैषादी + आर्षभी + पञ्चमी
११—कैशिकी	मध्यम	षाड्जी + गान्धारी + मध्यमा + पञ्चमी + नैषादी ।

(२) शुद्धा जातियों की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक शुद्धा और दूसरी विकृता। किन्तु ये एकादश जातियाँ शुद्धा जातियों की विकृतावस्था के संसर्ग से उत्पन्न होती हैं। इसलिए वे सर्वथा विकृत ही रहती हैं यानी वे नित्य विकृता हैं।

(३) शुद्धा जातियों की विकृतावस्था के संसर्ग से एकादश संसर्गजा जातियाँ बनती हैं।

संसर्गजा जातियों की ऊपर जो व्याख्याएँ हमने देखीं, उनमें 'विकृतोद्भवत्व', 'विकृतसंसर्गाज्जाता' या 'पुनरेवाशुद्धीकृता'—इन शब्दों से किसी किसी ने यह अर्थ लगाया है कि शुद्धा जातियों के अंश, ग्रह, संपूर्णा-त्व आदि के नियम—भंग से जो अवान्तर भेद बनते हैं, उनके संसर्ग से ये एकादश जातियाँ बनती हैं। उदाहरणार्थ, कल्लिनाथ कहते हैं :—

उक्ता विकृताः शुद्धजातीनामेवावस्थाऽन्तराणि, एताः पुनस्तद्विकृतभेदसंगोत्पन्नत्वान्न तथेति तु शब्दार्थः।

(सं० र० १।७८ पर टीका)

अर्थात् पहिले जो शुद्धा जातियों के विकृत भेद कहे जा चुके हैं, वे उन उन शुद्धा जातियों की ही भिन्न भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं, किन्तु, ये संसर्गजा जातियाँ उन विकृत भेदों के संसर्ग से उत्पन्न होती हैं। इसलिए ये उनसे भिन्न हैं।

हमारी राय में उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं बैठता है, क्योंकि शुद्धा जातियों के अवान्तर विकृत भेद १५३ बनते हैं, यह हम देख ही चुके हैं, और उनके संसर्ग से यदि संसर्गजा जातियों की सृष्टि करना हो, तब तो

अपार संख्या का निर्माण हो जाएगा, किन्तु इन संसर्गजा जातियों की संख्या तो केवल ग्यारह ही मानी गई है। संसर्गजा में जिन जातियों के संसर्ग का उल्लेख किया गया है, उनमें भी उन सप्त शुद्धा जाति-नामों का ही प्रयोग किया गया है। इस दृष्टि से उन १५३ विकृत भेदों के साथ इन संसर्गजा जातियों को नहीं जोड़ना चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि जब दो या अधिक शुद्धा जातियों का मिश्रण किया जाएगा, तब उनमें से किसी की भी पूर्ण शुद्धावस्था नहीं रह सकती। इसीलिए भरत ने 'पुनरेवाशुद्धीकृता भवन्त्यर्थैकदेशान्यास्तु', ऐसा कहा है। यानी शुद्धा जातियों का जब मिश्रण करेंगे, तब उनमें से प्रत्येक के कुछेक अंशों को ही ग्रहण कर सकेंगे। इसलिए वे शुद्धा नहीं ही रह सकतीं। मतंग और रत्नाकर ने भी यह जो कहा है कि ये संसर्गजा जातियाँ 'विकृतोद्भवा' हैं और 'विकृतसंसर्गाज्जाता' हैं उसका भी यही अर्थ लगाना चाहिए।

इस प्रकार हम ने देखा कि जातियों का विकृतत्व दो प्रकार का होना है—एक तो प्रत्येक जाति के स्वरूप में कुछ नियमों के परिवर्तन से उसी जाति के अन्तर्गत अवान्तर भेदों की सृष्टि करता है और दूसरे प्रकार का विकृतत्व दो या उससे अधिक विकृतावस्थापन्न शुद्धा जातियों के मिश्रण से जातियों के संसर्गज प्रकार उत्पन्न करना है। ये संसर्गज जातियाँ किसी एक जाति के अवान्तर भेद न होकर स्वतन्त्र एवं पृथक् स्वरूप वाले होते हैं।

संसर्गजा विकृता जातियों के संबंध में यहाँ कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। आज दो रागों के मिश्रण से बने हुए रागों का प्रचार हमारे संगीत में विद्यमान है। यथा—भूपकल्याण, बागेश्री—कान्हड़ा, काफ़ी—कान्हड़ा, कौंशी—कान्हड़ा, भैरव—बहार, वसन्त-बहार, अहीर—भैरव इत्यादिक रागों में हम देखते हैं कि दो दो रागों के मिश्रण किये गए हैं। और इन मिश्र प्रकारों का आदर के साथ प्रचार हुआ है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं दो से अधिक रागों का, यहाँ तक कि छः रागों का, सम्मिश्रण भी प्रचार में पाया जाता है (यथा षट् या खट में)। जिस प्रकार रागों का मिश्रण आज हमारे प्रचार में है, तद्वत् भरत-काल में और तदनन्तर भी इन जातियों के सम्मिश्रण से बनी विकृत जातियों का गान प्रचार में रहा होगा, ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है।

जातियों का यह सम्मिश्रण किस नियम से किया जाता होगा, यह कहना कठिन है। फिर भी अनुमानतः ऐसा कहा जा सकता है कि षाड्जी के जो स्वर हैं, उनमें आर्षभी, गान्धारी या धैवती इत्यादि जातियों के स्वर पूर्वांग में या उत्तरांग में, आरोह में या अवरोह में अथवा तीन तीन चार चार स्वरों के समूह में मिलाये जाते होंगे।

आजकल भी हम लोग यही कर रहे हैं। यथा पमूगमग—यह एक स्वरों का टुकड़ा है, जो किंचित् उच्चार-भेद से बिहाग में, पूर्वी में और परज में आता है। ऐसे टुकड़ों के द्वारा जो सम्मिश्रण होता है, उसका इस उदाहरण से बोध होगा। भैरव-बहार के पूर्वांग में भैरव और उत्तरांग में बहार है, तद्वत् अहीर-भैरव के पूर्वाङ्ग में भैरव और उत्तरांग में खमाज है (पं० भातखण्डे इसके उत्तरांग में काफ़ी का मिश्रण मानते हैं*।) भूप-कल्याण के आरोह में भूप और अवरोह में कल्याण है। (पं० भातखण्डे न जाने क्यों इस मिश्र प्रकार को शुद्ध कहते हैं)। इसी प्रकार जातियों का सम्मिश्रण भी संभवतः ऐसे ही कुछ नियमों से निबद्ध होता होगा और जनता में समादर के साथ उसका प्रचार भी रहा होगा।

•

*गुणीजन जानते हैं कि काफ़ी का अंग पूर्वांग में कोमल गान्धार लगाने से ही प्रस्फुट होता है और अहीर भैरव के पूर्वांग में तो पूरा भैरव का ही अंग है। उसके उत्तरांग में सांनिध्य यह टुकड़ा खमाज का ही दर्शन कराता है, काफ़ी का नहीं।

इन शुद्धा और विकृता जातियों के स्वर-रूप बनाने के लिए शास्त्रों में कोई आधार प्राप्त होता है या नहीं, इस विषय की विवेचना आवश्यक है। निम्नोक्त चर्चा से इस विषय की स्पष्टता होगी।

हम देख चुके हैं कि भरत ने जाति के 'न्यास स्वर को अपरिवर्तनशील माना है—यानी शुद्धा जातियों के विकृत भेद बनाते समय उनके ग्रह, अंश अपन्यास, संपूर्णत्वादि के नियमों का भंग हो सकता है, किन्तु न्यास स्वर में परिवर्तन नहीं किया जा सकता, ऐसा भरतादि प्राचीनों का स्पष्ट और दृढ़ विधान है। यह 'न्यास' क्या है? मतंग ने अनेक प्रकार का न्यास कहा है। यथा—गीत के विभिन्न खण्डों में प्रयुक्त होनेवाले ठहराव के लिए, पद के प्रथम खण्ड में, विभिन्न खण्डों के बीच में, पूरे पद के अन्त में इत्यादि स्थानों पर ठहरावों को निर्दर्शित करने के लिए उन्होंने न्यास, अपन्यास, संन्यास, विन्यास आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया है। ऐसे खण्डों का और उनसे सम्बन्धित ठहरावों का आज भी प्रयोग होता है। किन्तु 'न्यास' शब्द का सामान्य अर्थ आज सर्वत्र स्वरित (tonic) अथवा मूल स्वर ही लिया जाता है। भरत की कही हुई जातियों के 'न्यास' स्वर से भी यही अर्थ लिया जाना चाहिए, ऐसा हमारा मत है। तभी उनकी बताई हुई जातियों की मूल स्वर-व्यवस्था का हमें ठीक-ठीक बोध हो सकता है। भरत ने 'न्यास' स्वर को जो अटल माना है, उसकी सार्थकता भी तभी हो सकती है। यह दृढ़ रूप से कहा जा सकता है कि न्यास-स्वर ही उनकी जातियों के स्वर-रूप के नियामक हैं। इस दृष्टि से भरत की जातियों के स्वर-रूप समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अर्थात् जो स्वर जिस जाति का न्यास होगा, उसी स्वर की उस ग्राम की मूर्च्छना की स्वरावली उस जाति में प्रयुक्त होगी, ऐसा विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है। भरत की बताई हुई शुद्धा जातियों के अवान्तर विकृत भेदों में भी स्वर-रूप अपरिवर्तित रहेंगे, क्योंकि न्यास स्वर अटल माना गया है। केवल ग्रह, अंश, अपन्यास, संपूर्णत्वादि नियमों के परिवर्तन से इन अवान्तर भेदों की सृष्टि होती है। इनके अतिरिक्त जो संसर्गजा विकृता जातियाँ हैं, उनके न्यास-स्वर भी भरत ने निर्दिष्ट कर दिये हैं और उन्हीं के आधार पर उन-उन जातियों के स्वर-रूप बनाए जा सकते हैं। यानी उनके न्यास स्वरों से उद्भूत तत्तद्ग्रामिकी मूर्च्छनाओं की स्वरावली का ही उन-उन जातियों में विनियोग समझना चाहिए।

भरत के वचनों के आधार पर जातियों के स्वर-रूप की जो व्यवस्था हमने ऊपर समझी, उससे बिल्कुल भिन्न व्यवस्था, जातियों की मूर्च्छनाओं का उल्लेख करते हुए शार्ङ्गदेव ने दी है, जो निम्न तालिका में अंकित है।

शुद्धा जातियों की मूर्च्छनाएँ

जाति	ग्राम	मूर्च्छना		ग्राम
१—षाड्जी	षड्ज	— उत्तरायता	(ध)	षड्ज
२—आर्षभी	”	— शुद्धषाड्जी	(प)	”
३—गान्धारी	मध्यम	— पौरवी	(ध)	मध्यम
४—मध्यमा	”	— कलोपनता	(रे)	”
५—पञ्चमी	”	— कलोपनता	(रे)	”
६—धैवती	षड्ज	— अभिरुद्गता	(रे)	षड्ज
७—नैषादी	षड्ज	— अश्वक्रान्ता	(ग)	”

विकृता जातियों की मूर्च्छनाएँ

जाति	ग्राम	मूर्च्छना	ग्राम
१—षड्जकैशिकी	षड्ज	उत्तरमन्द्रा	षड्ज
२—षड्जोदीच्यवा	,,	अश्वक्रान्ता	,,
३—षड्जमध्यमा	,,	मत्सरीकृता	,,
४—गान्धारोदीच्यवा	मध्यम	पौरवी	मध्यम
५—रक्तगान्धारी	,,	कलोपनता	,,
६—कैशिकी	,,	हरिणाश्वा	,,
७—मध्यमोदीच्यवा	,,	सौवीरी	,,
८—कार्मारवी	,,	शुद्धमध्यमा	,,
९—गान्धारपञ्चमी	,,	हरिणाश्वा	,,
१०—आन्ध्री	,,	सौवीरी	,,
११—नन्दयन्ती	,,	हृष्यका	,,

इस तालिका से पता चलता है कि 'रत्नाकर' के अनुसार जाति का न्यास-स्वर ही उसकी मूर्च्छना का आरम्भक स्वर नहीं है, जैसा कि भरतादिक के कथनानुसार होना चाहिए। 'रत्नाकर' के इस विधान के अनुसार जातियों के स्वर-रूप, भरत के शब्दों के आधार पर हमने ऊपर जो अनुमान लगाया है, उससे बिलकुल भिन्न बनेंगे, जो भरत के कथन के सर्वथा विपरीत होंगे।

भरत और मतङ्ग ने तो यह स्पष्ट रूप से लिख दिया है कि शुद्धा जाति का ग्रह, अंश और न्यास स्वर वही होगा, जिस स्वर पर से उस जाति का नामकरण हुआ हो। पुनरुक्ति दोष को सिर पर लेकर भी यहाँ पुनः स्पष्ट करना समुचित होगा कि भरत के कथनानुसार षाड्जी जाति का षड्ज ही ग्रह, अंश और न्यास होना चाहिए। तद्वत् आर्षभी, गान्धारी जातियों में ऋषभ-गान्धारादि को ही वह स्थान प्राप्त होगा। भरत के इस स्पष्ट विधान को मान लेने से कोई उलझन नहीं होती; किन्तु शार्ङ्गदेव की बनाई हुई मूर्च्छनाओं से पुनः असामंजस्य की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ—उनके कथनानुसार षाड्जी जाति की मूर्च्छना धैवत से आरम्भ होती है, जब कि उसका न्यास षड्ज ही है। क्यों? उलझन यहीं पैदा होती है कि भरत के कथनानुसार षाड्जी जाति का न्यास स्वर यदि षड्ज ही हो, तो तदनुसार षड्जग्राम की उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना के स्वरों का ही उस जाति में उपयोग होना चाहिए। किन्तु 'रत्नाकर' कार भरत से भिन्न बात कहते हैं और षाड्जी की मूर्च्छना उत्तरमन्द्रा न मान कर उत्तरायता मानते हैं। ऐसा क्यों? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। पाठकों के बोध-सौकर्य के लिए हमने दोनों प्रणालियाँ उद्धृत कर दी हैं। हमारी राय में भरत और मतंग के कथन को मानकर षाड्जी की मूर्च्छना षड्ज से, आर्षभी की ऋषभ से और इसी प्रकार सभी शुद्धा जातियों के स्वर-रूपों का आरम्भ स्थान यानी उनकी मूर्च्छनाएँ उनके नाम स्वरों से माननी चाहिए। क्योंकि वही उनके न्यास स्वर हैं। उसी प्रकार संसर्गजा विकृत जातियां के न्यास स्वर ही उनकी मूर्च्छनाओं के निर्देशक हैं। हम कह चुके हैं कि मूर्च्छना के आरम्भ-स्थान से ही उससे उद्भूत स्वरावली का सूचन हो जाता है, क्योंकि मूर्च्छना मेल का ही रूप है।

हाँ, इन संसर्गजा जातियों में से केवल दो में दो दो न्यास-स्वर बताए गए हैं। उसका हम यही अर्थ समझ सकते हैं कि मिश्रण पाई हुई जातियों में यदि दोनों ही जातियाँ एक-सी बलवान् हों, तो दोनों के या किसी एक के न्यास-स्वर पर न्यास कर सकते हैं। दो स्वरों पर एक साथ तो न्यास नहीं ही हो सकता। इसलिए जिस जाति में दो जातियों का मिश्रण हो, और दोनों ही बलवान् हों, तो जिस समय गानक्रिया में गीत की समाप्ति करनी हो, उस समय उन दो में से किसी एक के न्यास-स्वर पर न्यास किया जाता होगा। और इसी को लेकर भरत ने किसी-किसी जाति में दो स्वरों पर न्यास बताया है।

यहाँ पर हम यह भी कह देना समुचित समझते हैं कि न्यास स्वर ही मूर्च्छना का या जाति का या राग का स्वरित (tonic) या मूल स्वर है। जो लोग ग्रह या अंश स्वर को मूल स्वरित स्वर या tonic समझते हैं, उनकी मान्यता के लिए, हमारी राय में, कोई आधार नहीं है। गीतारंभ कहीं से भी हो सकता है, राग के ग्रह या अंश स्वर भिन्न हो सकते हैं, किन्तु न्यास तो उसके tonic स्वर पर ही किया जाता है। उदाहरणार्थ मारवा के सभी आलाप और तान ऋषभ से ही उठते हैं और ऋषभ पर ही आकर ठहरते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि ऋषभ ही उसका न्यास या tonic स्वर है, वह तो केवल उस राग का ग्रह और अंश स्वर है, क्योंकि हम जानते हैं कि मारवा का पूर्ण न्यास तो षड्ज पर ही होता है। इसलिए षड्ज ही उसका न्यास स्वर है। बीच-बीच में मध्यम पर या धैवत पर जहाँ जहाँ मुकाम करते हैं, उसके लिए शास्त्रकारों ने अपन्यास इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। राग-क्रिया में जो भिन्न-भिन्न खण्ड होते हैं, जिनको शास्त्रीय भाषा में 'विदारी' कहा है, उन खण्डों पर जहाँ जहाँ मुकाम किया जाता है, उसके लिए 'अपन्यास' शब्द का प्रयोग विहित है। जिस पर राग का रागत्व निर्भर है, वह अंश स्वर है। राग की आलप्ति जहाँ से आरंभ होती है, वह ग्रह स्वर है, किन्तु न्यास वहीं है, जहाँ गीत, राग, आलाप आदि की पूर्णता हो। जहाँ पूर्णविराम हो, उसी को न्यास कहते हैं। इसीलिए, न्यास कभी तार में न हो, ऐसा नियम शास्त्रकारों ने बतलाया है।

'रत्नाकर' के भीतर से कोई ऐसा आधार प्राप्त नहीं होता है, जिससे यह जाना जा सके कि जातियों की मूर्च्छनाएँ जाति के न्यास स्वर से पृथक् क्यों मानी गई हैं। शुद्धा जातियों का लक्षण देते हुए तो 'रत्नाकर' कार ने भी भरत की भाँति यही कहा है कि उनका नाम-स्वर ही उनका ग्रह, अंश, न्यास, और अपन्यास होना चाहिए। साथ ही यह भी कहा है कि न्यास-स्वर अपरिवर्तनशील रहना है। ऐसा कहने पर भी उन्होंने जातियों की मूर्च्छनाएँ देते समय न्यास-स्वर से बिल्कुल भिन्न स्वरों की मूर्च्छनाएँ क्यों बताई हैं, यह समझना कठिन है। यदि किसी को इसका आधार ज्ञात हो तो कृपया सूचित करें। हम साभार उनके मत का उल्लेख करेंगे। किन्तु हम ग्रन्थोक्त वस्तु को यथायथ समझकर पाठकों के सामने रखना चाहते हैं। ग्रन्थकार का यही कर्तव्य है कि गुत्थी को सुलझा दे और यदि न सुलझा पाए, तो उलझाए नहीं।

प्राचीन ग्रन्थकारों की गुत्थी को सुलझाते समय सुलझाने वाला स्वयं उलझ जाता है, यह सभी का अनुभव है। हमारे सुलझाए हुए प्रश्नों में संभव है हम कहीं उलझ गए हों। गुणियों से और विद्वज्जनों से हमारा अनुरोध है कि ऐसी उलझनों को सुलझाने में साहाय्य करें। इसी प्रकार के सहयोग से ही सत्य का आलोक मिल सकता है।

भरत ने १८ जातियों के जो ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास में जो इत्यादि कहे हैं, उन्हें संलग्न सारिणी में, उन्हीं के वचनों के अनुसार स्पष्टतया दिखाया गया है। किसी किसी जाति के पूरे लक्षण भरत के वचनों में उपलब्ध नहीं होते। वहाँ वहाँ मतंग के वचनों के अनुसार स्थान-पूर्ति की गई है।

जाति-नाम	ग्रह	अंश	न्यास	अपन्यास	अल्पत्व	बहुत्व	षाड़व-प्रकार	औड़व-प्रकार	विशेष
१ षाड्जी	सा,ग,म,प,ध	सा,ग,म,प,ध	सा	ग, प	रि, नि	ग	नि-रहित		
२-आर्षभी	रि, ध, नि,	रि, ध, नि	रि	रि, ध, नि	प		प-रहित	नि-प रहित	विवादी स्वरों का सञ्चार
३ गान्धारी	स,ग,म,प,नि	सा,ग,म,प,नि	ग	सा, प		सा, म	रि-रहित		
४ मध्यमा	सा रि, म,	सा, रि, म,	म	प, ध	ग				
५ पञ्चमी	रि, प	रि, प	प	रि, प, नि	सा,ग,म				रि-म का संचार
६ धैवती	रि, ध	रि, ध	ध	रि, म, ध				सा-प-रहित	सम्पूर्णा
७ नैषादी	रि, ग, नि	रि, ग, नि	नि	रि, म, ध				सा-प रहित	संपूर्णा
८ षड्जोदीचवती	सा,म,ध,नि	सा, म, ध, नि	म	रि, ध	रि-प		रि-रहित	रि-प-रहित	
९ षड्जकैशिकी	सा, ग, प	सा, ग, प	ग	सा, नि, प	रि		×	×	नित्य पूर्णा
१० षड्जमध्यमा	सा, रि, ग, म प, ध, नि	सा, रि, ग,म प, ध, नि	म	सा,रि,ग, म,प,ध,नि	रि		रि-रहित	ग-नि-रहित	सब स्वरों का संचार इष्ट
११ रक्तगान्धारी	सा,ग,म,प,नि	सा,ग,म,प,नि	ग	म	×	ध, नि	×		
१२ गान्धारोदीच्यवा	सा, म	सा, म	म	रि-ध	रिप		रि-रहित		
१३ मध्यमोदीच्यवा	प	प	म	रि-ध	रि-प		रि-रहित		
१४ गान्धारपञ्चमी	प	प	ग	रि, प					सम्पूर्णा
१५ आन्ध्री	रि, ग, प, नि	रि, ग, प, नि	ग	रि,ग,प,नि			सा-रहित		सा-ग का परस्पर संचार
१६ नन्दयन्ती	ग	प	ग	म, प	रि		सा-रहित		मन्द्रगति, तार में षड्ज से आगे नहीं
१७ कार्मारवी	रि,प,ध,नि	रि, प, ध,नि	प	रि,प,ध,नि		ग			अनंश स्वरों का बाहुल्य नहीं है
१८ कैशिकी	सा, ग, म, प, ध नि	सा, ग, म, प, ध, नि	ग,नि	सा, ग, म, प, ध, नि	रि-प		रि-रहित	रि-धरहित	सब स्वरों का संचार

ऊपर दी हुई सारिणी में स्पष्ट है कि जातिगान में अधिकांश जातियों में एक से अधिक अंश स्वर मानने को कहा है। आज के प्रचार में ऐसी सामान्य धारणा बनी हुई है कि एक राग में एक ही स्वर मुख्य या वादी होता है। किन्तु एक ही जाति में एक, दो, तीन, चार या पाँच तक अंश स्वर बदले जाते हैं, ऐसा उल्लेख भरत ने किया है। आज के प्रचार में जो राग बरते जाते हैं, उनकी सूक्ष्मता को देखने से हमें यह स्पष्ट होता है कि एक राग में एकाधिक स्वरों को अंश बनाकर आलापचारी की जाती है यानी जब जिस स्वर को केन्द्र-बिन्दु बना कर आलापचारी की जाती है, तब तक के लिए वह स्वर 'अंश' का स्थान पाता है। अलबत्ता यह सब रागों में नहीं किया जा सकता और भरतकाल में भी सभी जातियों में ऐसा करने को नहीं कहा गया है। उदाहरण के लिए आज के कल्याण या कल्याण जैसे कुछ रागों में आलापचारी के समय आरम्भ में हम षड्ज को केन्द्रबिन्दु मानते हैं। पहिले मन्द्र स्वरों को भिन्न भिन्न रूप से लेकर पुनः पुनः षड्ज को दिखाते हैं, उसके बाद मध्य सप्तक में ऋषभ पर, गान्धार पर, मध्यम पर, पञ्चम पर, धैवत पर, निषाद पर,—यों सातों स्वरों पर ठहर कर, उन्हें विश्रामस्थान बना कर, उन्हीं स्वरों को केन्द्रीभूत मान कर भिन्न भिन्न स्वर-विधानों सहित उन्हीं स्वरों पर हम मुकाम करते हैं। संभवतः जैसे कल्याण में सातों स्वरों को केन्द्रित करके हम आलापचारी बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार जाति-गान में और निबद्ध गीतों में एक से अधिक स्वरों को केन्द्रित करते होंगे और उन्हीं स्वरों को अंश नामाभिधान देते होंगे। ऊपर दी हुई सारिणी में हमने देखा कि भरत ने सभी जातियों के लिए एक सा विधान नहीं रखा है। उसने किसी में एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार, पाँच, छः या सात स्वरों को अंश बताया है। इन भिन्न भिन्न अंशों का प्रयोग भिन्न भिन्न भावों और रसों को आविर्भूत कराने के लिए किया जाता होगा। इसी तन्त्री के उपसंहार में हम देखेंगे कि भरत ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि जो स्वर जब जिस जाति में बलवान् हो, तब उसी स्वर के अनुसार उस जाति द्वारा रसनिष्पत्ति होती है।

ऊपर हमने अंश स्वर की जो अवस्था समझ ली, वही अवस्था ग्रह स्वर की है। प्रत्येक बार, जब भी हम आलापचारी या गीत का आरंभ करें, तब जिस स्वर को राग का ग्रह स्वर माना गया हो, उसी एक स्वर से यदि हम बार बार आरंभ करेंगे तो रसभंग होगा, पुनरुक्ति दोष आएगा और बार बार एक ही रूप आने से गायन या वादन (Monotonous) एकस्वरतामय हो जाएगा, जो कि प्रयोक्ता और श्राता दोनों को उबाने वाला होगा। जिस प्रकार राग का एक मुख्य ग्रह स्वर होने पर भी आलापचारी में और गीत-प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न स्वरों से आज भी आरंभ किया जाता है, उसी प्रकार उस युग में भी किया जाता होगा। प्रचीनों के ग्रह-अंश—संबन्धी विधान से उलझन में उलझने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आज भी गुणीजन अपनी गान-वादन की क्रिया में भिन्न-भिन्न ग्रह-अंश स्वरों का विनियोग करते ही हैं, यद्यपि प्रत्येक राग-रूप का मूल ग्रह या अंश स्वर स्थिर रहता है।

जाति-साधारण

भरत ने 'साधारण-विधि' बताते समय दो प्रकार के 'साधारणय' का उल्लेख किया है—एक 'स्वर-साधारण' और दूसरा 'जाति-साधारण'। स्वर-साधारण को तो हम मूर्च्छना-प्रकरण में अन्तर-काकली की स्पष्टता करते समय पहिले ही समझ चुके हैं। 'जाति-साधारण' को यहाँ जाति-प्रकरण में समझ लेना उचित होगा। इस सम्बन्ध में भरत का वचन निम्नोक्त है :—

द्वे साधारणे स्वरसाधारणं जातिसाधारणञ्चेति। स्वरसाधारणं काकल्यन्तरस्वरौ। .....जातिसाधारणमेकग्रामांशानां जातीनां जात्योर्वा अन्यस्मिन् ग्रामे प्रत्यङ्गदर्शनं स्वराणामवगमात्।

[ना० शा० २८]

भरत के इस वचन में कहे हुए 'जाति-साधारण' के अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'रत्नाकर' को देखने पर यह कारिका उपलब्ध हुई :—

एकग्रामोद्भवास्त्वेकांशासु जातिषु यद्भवेत्। समानं गानमार्यास्तज्जातिसाधारणं जगुः ॥
(सं० र० १।५।१०)

अर्थात्—एक ग्राम से उत्पन्न होने वाली जातियों का जो समान गान होता है, उसे विज्ञ लोग जाति साधारण कहते हैं।

'जातिसाधारण' की रत्नाकरोक्त यह व्याख्या कुछ अपूर्ण सी लगती है। 'रत्नाकर' की टीकाओं से भी कुछ अधिक स्पष्टीकरण नहीं होता। एक ही ग्राम के अन्तर्गत जो ऐसी जातियाँ हों, जिनका अंश स्वर एक ही हो, उनके गान में जो समानता दिखाई दे, उसे जाति-साधारण समझना चाहिए,— केवल इतना ही अर्थ इस कारिका से निकलता है। किन्तु भरत के वचन में आए हुए 'अन्यास्मन् ग्रामे प्रत्यङ्गदर्शन'—इन शब्दों की रत्नाकरोक्त व्याख्या के साथ संगति बिठाना कठिन है। भरत के अपने शब्दों से जो सरल अर्थ निकलता है, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि एक ग्राम की ऐसी दो अथवा उससे अधिक जातियाँ, जिनका अंश स्वर एक ही हो, उनका दूसरे ग्राम की जातियों में जो प्रत्यङ्गदर्शन होता है, उसे जाति-साधारण समझना चाहिए। साथ ही भरत ने यह भी कहा है कि स्वरों की अवस्था को समझने से इस 'जाति-साधारण' का ज्ञान होता है।

इस विषय को उदाहरण सहित समझने का यत्न करें। षड्ज की षाड्जी जाति की मूर्च्छना की जो स्वरावली बनती है, उस स्वरावली का रूप अथवा अंग अन्य ग्राम (मध्यमग्राम) की अन्य जाति की स्वरावलियों में दर्शित हो, तो उन दोनों जातियों में ग्राम की भिन्नता होते हुए भी एक प्रकार की समानता हुई। दोनों ग्रामों की दो अथवा उससे अधिक जातियों का जो साधारण्य अथवा साम्य है, उसी को भरत ने 'जाति साधारण' कहा है। हम देख ही चुके हैं कि षड्जग्राम और मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं की स्वरावलियों में श्रुत्यन्तर की भिन्नता के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं से एक ही प्रकार के रागों का एक ही क्रम से संकेत मिलता है। इन मूर्च्छनाओं से बनी हुई जातियों में भी इसी प्रकार का जो ऐक्य पाया जाता होगा, उसी का और 'जाति-साधारण' द्वारा संकेत किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है। यथा षड्जग्राम की शुद्धषाड्जी और मध्यमग्राम की शुद्धमध्यमा मूर्च्छना—इन दोनों की स्वरावली में समानता है, यद्यपि दोनों के श्रुत्यन्तरों में कुछ भेद अवश्य है। शुद्धमध्यमा में पञ्चम त्रिश्रुतिक और धैवत चतुःश्रुतिक रहता है, जब कि शुद्धषाड्जी में पञ्चम चतुःश्रुतिक और धैवत त्रिश्रुतिक रहता है। श्रुत्यन्तरों का यह वैषम्य होने पर भी वीणा पर इन दोनों भिन्नग्रामिक मूर्च्छनाओं का जब वादन किया जाता है, तब एक जैसा ही रूप सुनाई देता है। दोनों की स्वरावलियाँ संवाद-सिद्ध होने से कोई वैषम्य कर्णगोचर नहीं होता। दोनों का रूप आधुनिक काफ़ी सदृश है, यह उनकी समानता है। ऐसी ही समानता इन मूर्च्छनाओं से बनी हुई जातियों में भी पाई जाती होगी। जातियों में इस स्वरावली के ऐक्य के अतिरिक्त अंश स्वर की समानता की ओर भी भरत का संकेत प्रतीत होता है। क्योंकि भरत के वचन में 'एकग्रामांशानां' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस समानता को समझाने के लिए ही भरत ने कहा है :—

जातिसाधारणमेकग्रामांशानां जातीनां जात्योर्वा अन्यस्मिन् ग्रामे प्रत्यङ्गदर्शनं स्वराणामवगमात्।

अर्थात्—स्वरों को समझने से, एक ग्राम की और एक से अंश स्वर वाली दो या उससे अधिक जातियों का जब दूसरे ग्राम (की जातियों) में प्रत्यङ्गदर्शन (बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की भाँति समानता का दर्शन) हो, तब उसे जाति-साधारण समझना चाहिए।

जाति-साधारण की उपरिलिखित व्याख्या के अतिरिक्त भरत ने जातियों के विवरण के आरम्भ में ही जातियों में प्रयुक्त स्वर-साधारण के संबन्ध में जो कहा है, उसे भी अल्प में समझ लें। यथा:—

स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः। मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥
आसामङ्गानि विज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥

(ना० शा० २८।३६।७)

अर्थात्—स्वरसाधारण का प्रयोग इन तीन जातियों में होता है—मध्यमा, पञ्चमी और षड्जमध्या। षड्ज, मध्यम और पञ्चम, ये स्वर इन जातियों के अंग हैं, यानी इनके मुख्याङ्ग को दिखाते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि सभी जातियों में 'स्वर-साधारण' (यानी अन्तर-काकली का प्रयोग) नहीं किया जाता होगा। मध्यमा, पञ्चमी और षड्जमध्या, मात्र इन तीन जातियों में ही वह क्रिया की जाती होगी। जैसे सप्त स्वरों में केवल निषाद और गान्धार का स्वर-साधारण होता है, जो 'अन्तर-काकली' नामों से वर्णित है, उसी प्रकार तीन जातियों में ही स्वर-साधारण का प्रयोग करने को कहा है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इन तीनों जातियों में मुख्य स्वर षड्ज, मध्यम और पञ्चम हैं, जिनका अपने पूर्व के स्वरों से चार-चार श्रुति का अन्तर है, और स्वर-साधारण इतने अन्तर के बीच में ही हो सकता है।

यहाँ एक बात का उल्लेख आवश्यक है। ग्रन्थकारों ने स्वर-साधारण का वर्णन करते समय निषाद और षड्ज के दर्म्यान एवं गान्धार और मध्यम के दर्म्यान ही इस क्रिया का विधान दिया है। किन्तु जातियों में प्रयुक्त स्वर-साधारण के सम्बन्ध में मध्यम और पञ्चम के बीच भी स्वर साधारण करने को कहा हो, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि षड्ज, मध्यम, और पञ्चम—इन तीनों स्वरों के बाहुल्य को इन जातियों में स्वर-साधारण का आधार बताया गया है। अतः जहाँ पञ्चम का बाहुल्य होगा, वहाँ मध्यम और पञ्चम के बीच स्वर-साधारण करना होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। मध्यम और पञ्चम के दर्म्यान भी चार श्रुति का अन्तर है। 'रत्नाकर' की टीका में कहा है :—

यदा षड्जोंऽशस्वरस्तदा षड्जसाधारणम्, यदा मध्यमपञ्चमौ तदा मध्यमसाधारणमिति।

इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ मध्यम अथवा पञ्चम का बाहुल्य हो, वहाँ दोनों स्थानों पर मध्यम-साधारण ही कहलाएगा। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मध्यम और पञ्चम के बीच होनेवाली स्वर-साधारण की क्रिया को पञ्चम-साधारण न कह कर मध्यम-साधारण क्यों कहा। पाठकों को याद होगा कि षड्ज और मध्यम-साधारण में भी षड्ज और मध्यम की दो-दो श्रुतियाँ देकर निषाद और गान्धार को ऊपर चढ़ाया गया था। किन्तु इस क्रिया को षड्ज-साधारण और मध्यम-साधारण कहने पर भी उस क्रिया से बने हुए स्वरों को काकली निषाद और अन्तर गान्धार इन नामों से ही अभिहित किया गया था। तद्वत् यहाँ पर मध्यम को दो श्रुति चढ़ाने की क्रिया से जो स्वर-साधारण हुआ, उसे भी मध्यम-साधारण कहा, पञ्चम-साधारण नहीं। कारण यही है कि सारणा-चतुष्टय की प्रथम सारणा में पञ्चम को एक श्रुति नीचे उतार कर उसे च्युत-पञ्चम का स्थान दिया गया था। यहाँ पर पञ्चम की दो श्रुति मध्यम को देने से अथवा अन्य शब्दों में पञ्चम को दो श्रुति उतारने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, वह भ्रम पैदा न करे, इसलिए 'पञ्चम-साधारण' न कह कर 'मध्यम-साधारण' कहा है।

जातियों में प्रयुक्त होनेवाले स्वर-साधारण के विषय में भरत ने और भी कहा है :—

एवं स्वर-साधारणं, अस्याल्पनिषाद-गान्धारासु जातिषु प्रयोगः।

अर्थात् स्वर-साधारण (अन्तर-काकली) का प्रयोग उन्हीं जातियों में होगा, जिनमें निषाद, गान्धार का अल्पत्व हो। अर्थात् शुद्ध गान्धार निषाद का अल्पत्व होने पर ही अन्तर-काकली का प्रयोग हो सकता है।

जब शुद्ध गान्धार अथवा शुद्ध निषाद—इनमें से कोई एक स्वर अंश हो, तो, तब स्वर-साधारण का प्रयोग नहीं हो सकता। इस संबन्ध में एक और विधान भी भरत ने दिया है। यथा :—

अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंयश्रः। कार्यस्त्वल्पो विशेषेण नावरोहि कदाचन ॥

(ना० शा० २८।३४)

अर्थात् अन्तर काकली का प्रयोग सदा आरोह में ही करना चाहिए, अवरोह में कदापि नहीं।

आरोह में ही स्वरों की अपने स्थान से ऊपर चढ़ने की प्रवृत्ति होती है, अवरोह में नहीं। आज भी हमारे संगीत में इसी परिपाटी का पालन होता है। काफ़ी जैसे जिन-जिन रागों में दोनों गान्धार निषाद (शुद्ध कोमल) का प्रयोग होता है, उनमें आरोह में शुद्ध और अवरोह में कोमल स्वरों को ही लिया जाता है।

ऊपर के विवरण में हमने जाति-साधारण और जातियों में प्रयुक्त स्वर साधारण को समझ लिया। इन जातियों द्वारा नाट्य में रससिद्धि का भरत ने जो विवरण दिया है, उसे अब हम देख लें। कौन-सी जातियाँ किन-किन रसों की अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी हैं, इस संबन्ध में भरत कहते हैं:—

षड्जोदीच्यवती चैव षड्जमध्या तथैव च। षड्ज* (? पञ्चम)मध्यमबाहुल्यात् कार्य शृङ्गारहास्ययोः ॥
आर्षभी चैव षाड्जी च षड्जर्षभग्रहस्वरात्। वीराद्भुते च रौद्रे च निषादाङ्गपरिग्रहात् ॥
गान्धार्यंशोपपत्त्या च करुणे षड्जकैशिकी। धैवती धैवतांशा च बीभत्से सभयानके ॥
गान्धारी रक्तगान्धार्योर्गान्धारोंऽशोपपत्तितः। करुणे तु रसे कार्यो जातिगाने प्रयोक्तृभिः ॥
मध्यमा पञ्चमी चैव नन्दयन्ती तथैव च। पञ्चममध्यमबाहुल्यात् कार्यं शृंगारहास्ययोः ॥
मध्यमोदीच्यवा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा। षड्जर्षभांशनिष्पत्त्या कर्तव्या वीररौद्रयोः ॥
कार्मारवी तथा चान्ध्री निषादांशोपपत्तितः। अद्भुते तु रसे कार्ये जातिगाने प्रयोक्तृभिः ॥
कैशिकी धैवतांशा स्यात् तथा गान्धारपञ्चमी। प्रयोक्तव्या बुधैः सम्यक् बीभत्से सभयानके ॥
एकैव षड्जमध्या ज्ञेया सर्वरससंश्रया जातिः। तस्या ह्यंशाः सर्वे स्वरास्तु विहिता प्रयोगविधौ ॥

(ना० शा० २९)

भरत के इन वचनों का भावार्थ अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से स्पष्ट होगा:—

भरत ने जातियों द्वारा रसों की सिद्धि के लिए जो विवरण दिया है, उसमें भिन्न-भिन्न स्वरों के बाहुल्य को रस-निष्पत्ति का आधार माना है। यथा:—

यो यदा बलवान् यस्मिन् स्वरो जातिसमाश्रयात्। तत्प्रयुक्ते रसे गानं कार्यं गेये प्रयोक्तृभिः॥

(ना० शा० २९।१२)

अर्थात्—जब जिस जाति में जो स्वर बलवान् हो, तब प्रयोक्ताओं को उसी स्वर के अनुरूप रस में गायन करना चाहिए।

भरत का यह सिद्धान्त अनेक दृष्टियों से यथार्थ है। आज के संगीत में भी विभिन्न स्वर-संयोगों द्वारा भिन्न-भिन्न भावों और रसों की जो अभिव्यक्ति होती है, उसे देखने से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। यथा—आज 'सा-ग-प'—यह स्वरावली जागृति को, चैतन्य को उपजाती है, जिसे अँग्रेजी में Bright कहते हैं और 'सा-ग्-प' यह स्वरावली कोमल नम्र इत्यादि भावों को जगाती है।

भरत ने भिन्न-भिन्न स्वरों को भिन्न-भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी माना है। यथा:—

मध्यमपञ्चमभूयिष्ठं हास्यशृङ्गारयोर्भवेत्। षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च ॥
गांधारसप्तमप्रायं करुणे गानमिष्यते। तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से सभयानके ॥

(ना० शा० २९।१३-४)

---

* यहाँ 'षड्ज' के स्थान पर 'पञ्चम' पाठ होना चाहिए, क्योंकि 'पञ्चम मध्यम' का बाहुल्य ही शृङ्गार-हास्य के लिए उपयोगी माना गया है।

जातियों के रसों की तालिका

जाति	रस	रसाभिव्यक्ति का कारण
१—षड्जोदीच्यवती	शृङ्गार, हास्य	मध्यम-पञ्चम-बाहुल्य
२—षड्जमध्यमा	,, ,,	,, ,, ,,
३—आषभी	वीर, अद्भुत, रौद्र	षड्ज-ऋषभ-ग्रह
४—षाड्जी	,, ,, ,,	,, ,, ,,
५—षड्जकैशिकी	करुण	निषाद-गान्धार-अंश
६—धैवती	बीभत्स, भयानक	धैवत-अंश
७—नैषादी	करुण	निषाद गान्धार-अंश
८—गान्धारी	,,	,, ,, ,,
९—रक्तगान्धारी	,,	,, ,, ,,
१०—मध्यमा	शृङ्गार, हास्य	मध्यम-पञ्चम-बाहुल्य
११—पञ्चमी	,, ,,	,, ,, ,,
१२—नन्दयन्ती	,, ,,	,, ,, ,,
१३—मध्यमोदीच्यवा	वीर रौद्र	षड्ज ऋषभ-अंश
१४—गान्धारोदीच्यवा	,, ,,	,, ,, ,,
१५—कार्मारवी	अद्भुत	निषाद* अंश
१६—आन्ध्री	,,	,, ,,
१७—गान्धारपञ्चमी	बीभत्स-भयानक	धैवत अंश
१८—षड्जमध्या	सर्वरस	सभी स्वर अंश

अर्थात्—मध्यम-पञ्चम का बाहुल्य हास्यशृङ्गार में, षड्ज-ऋषभ का बाहुल्य वीर-रौद्र अद्भुत में, गान्धार-निषाद का बाहुल्य करुण में और धैवत का बाहुल्य बीभत्स-भयानक में उपयोगी होता है।

भिन्न-भिन्न स्वर-संगतियों द्वारा भिन्न-भिन्न भावों और रसों की अभिव्यक्ति का जैसे हमें आज अनुभव हो रहा है, उसी प्रकार भरतकाल में भी भिन्न स्वरों के स्वरान्तर या frequency भिन्न भिन्न भावों की सृष्टि करते होंगे। जिन-जिन स्वरों से जिन-जिन भावों की या रसों की उत्पत्ति दिखाई दी होगी, उसी के निष्कर्ष को भरत ने अपने ग्रन्थ में ग्रथित किया है, जिसे हमने ऊपर देखा।

रागों में रसानुभव लेने वाले सहृदय जानते हैं कि स्वरों के परस्पर अन्तर के अतिरिक्त उनके उच्चार-भेदा काक्वादि-प्रयोग, लय-भेद इत्यादि भी रस की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। इन सबका निरूपण भरत ने किया ही है। इस विषय की विशद विवेचना इस ग्रन्थ के 'राग और रस' पर प्रकाशित होने वाले तृतीय भाग में की जाएगी। यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

---

* यहाँ 'निषाद' से काकली तो अभिप्रेत नहीं होगा? प्राचीन शुद्ध निषाद का करुण रस में प्रयोग कहा गया है, और वह नितान्त उचित है। वह करुणोत्पादक निषाद अद्भुत के लिए कैसे उपयुक्त होगा।

इन जातिगानों का समाज में जो प्रचार हुआ होगा और उसका जो असर समाज के जीवन पर पड़ा होगा, यह एक अनुसन्धान का विषय है। यदि कोई खोजने वाला दत्तचित्त होकर खोज करे तो न जाने कितने ही नूतन आविष्कार और प्राचीन अर्वाचीन का समन्वय जगत् के सामने लाया जा सकता है। इसका एक ही उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा।

गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, कर्णाटकादि प्रदेशों में, जहाँ जहाँ संस्कृत की परंपरा रही है, वहाँ विशेषत: ब्राह्मणों में विवाह के अवसर पर पाणिग्रहण के पूर्व ब्राह्मणों द्वारा जो मङ्गलाष्टक छन्दोबद्ध रूप से गाये जाते हैं; उनकी गान-परंपरा सर्वत्र एक सी पाई जाती है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दीखता। आश्चर्य होता है कि ये मंगलाष्टक के गीत की परंपरा के स्वर, इतनी सदियों से एक ही रूप से कैसे चले आ रहे हैं। और वह रूप षड्जग्राम की उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना से उत्पन्न आज की जो खमाजसदृश स्वरावली है, उसी में निबद्ध है। केवल मन्द्र में जाने की प्रवृत्ति उसकी विशेषता है. जिससे उसमें आज की झिंझोटी की छाया प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इससे अधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब पंजाबी भाषा में निबद्ध शोरी मियाँ के टप्पे सुनते हैं। उन टप्पों में मानो उसी मंगलाष्टक का प्रतिघोष होता हो, ऐसा ही प्रतीत होता है। भारतीय संगीत पर भरत की मूर्च्छना और जाति का बड़ा गहरा और विस्तृत असर पड़ा होगा, इसमें सन्देह नहीं है। यदि खोजनेवाला अधिक यत्न करे तो उसे अफ़ग़ानिस्तान जैसे पड़ोसी देशों के लोक-गीतों में भी इन मूर्च्छनाओं और जातियों के बीज-रूप मिलेंगे। हमने स्वयं अफ़ग़ानिस्तान में, जहाँ कि भारतीय संस्कृति के अति प्राचीन अवशेष विद्यमान हैं, वहाँ के लोकगीत सुनकर यह अनुभूति पाई है। इसलिए हम दृढ़ता से मानते हैं कि भरत की मूर्च्छना और जाति के स्वर-रूप भारत और उसके पड़ोसी देशों के लोक-गीतों में खोज करने से अवश्य उपलब्ध हो सकेंगे।

इस दृष्टिबिन्दु से देखने से यह स्पष्ट होगा कि भरत की जातियों का गान, उनकी शुद्धा और विकृता जातियाँ, भिन्न देशों में स्थान पाकर देशी संगीत में स्थान पाई होंगी और आगे चलकर देशी रागों में घुल गई होंगी। संगीत के क्षेत्र में अनेक अनुसन्धान-कार्य खोज करनेवालों की राह देख रहे हैं; यथा—सामगान, छन्दगान, अरण्यगान इत्यादि। तद्वत् गान्धर्व-गान में इन मूर्च्छना-जाति के गान का विषय भी अनुसन्धान-योग्य है। संस्कृत, संगीत, वैदिक-परम्परा एवं लोक-गीत के अभ्यासी जन, जिन्हें अनुसन्धान में रस हो, ऐसे व्यक्तियों की इस क्षेत्र में परमावश्यकता है। आशा है ऐसे व्यक्ति आगे आएँगे और इस कार्य को अग्रसर करेंगे।

सप्तम तन्त्री

वर्ण, अलंकार, तान

(क) वर्ण

अब हम वर्ण, अलंकार और तान का संगीत में विनियोग समझ लें। भरत ने यद्यपि केवल नाट्योपयोगी अथवा नाट्य में व्यवहृत होनेवाले संगीत को ही अपने 'नाट्य-शास्त्र' में स्थान दिया है, और उस संगीत से संबन्धित वर्ण, अलंकार आदि का ही यथास्थान वर्णन किया है, तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि नाट्य में प्रयुक्त होनेवाले संगीत में सभी रसों का समावेश होना चाहिए। उसी दृष्टि से भरत ने नाट्यान्तर्गत पाठ्य के लिये जिस प्रकार वर्ण-अलंकार आदि का वर्णन किया है, उसी प्रकार संगीत में भी वर्णालंकार इत्यादि को यथायोग्य स्थान दिया है। हमारी राय में नाट्य से भिन्न, केवल गान-वादन के प्रयोग में भी भरतोक्त वर्णालङ्कारों का रस-दृष्टि से समझपूर्वक उपयोग होना चाहिए। तभी राग से रस की निष्पत्ति हो सकती है। ध्यान रहे कि जिस प्रकार नाट्य का उद्देश्य रसाभिव्यक्ति माना गया है, तद्वत् नाट्य से पृथक् रूप से प्रयुक्त होनेवाले संगीत द्वारा भी रस-निष्पत्ति होनी ही चाहिए। आज के शिक्षित लोग हमारे शास्त्रीय संगीत के प्रति जो उदासीन बने रहते हैं, उसका यही कारण है कि हमारे वर्तमान संगीत में इन वर्ण, अलङ्कार, काकु आदि का यथास्थान भावानुकूल, रसानुकूल उपयोग नहीं किया जाता है। इसलिए यहाँ हम संगीतोपयोगी वर्ण-अलङ्कारादि का रस दृष्टि से वर्णन करेंगे और साथ ही तुलनात्मक विवेचना के लिए भरतोक्त पाठ्योपयोगी वर्ण अलङ्कार, काकु आदि का भी उल्लेख करेंगे।

भरत ने दो प्रकार के वर्ण बताए हैं :—

१) नाट्योपयोगी वर्ण, जिनका उच्चार-भेद से संबन्ध है।

२) संगीतोपयोगी वर्ण, जिनका स्वरों के अध-ऊर्ध्व, स्थिर और संचरित रूपों के साथ संबन्ध है। यह ध्यान रहे कि संगीत में केवल इन्हीं वर्णों का नहीं अपितु नाट्योपयोगी वर्णों का भी उपयोग आवश्यक है। इस दृष्टि से हम इन उभय वर्णों का संयुक्त वर्णन करेंगे।

उभय प्रकार के वर्णों के लिए भरत कहते हैं :—

१) नाट्योपयोगी पाठ्य वर्ण :—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा। वर्णाश्चत्वार एव स्युः.....॥

(ना० शा० १९-४१)

अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित—ये चार नाट्योपयोगी वर्ण हैं।

२) संगीतोपयोगी वर्ण :—

आरोही चावरोही च स्थायिसञ्चारिणौ तथा। वर्णाश्चत्वार एवैते अलङ्कारास्तदाश्रयाः॥
आरोहन्ति स्वरा यत्र आरोहीति स भण्यते। यत्र चैवावरोहन्ति सोऽवरोहीति संज्ञितः॥
स्थिरस्वराः समाः यत्र स्थायिवर्णः स संज्ञितः। सञ्चरन्ति स्वयं यत्र स सञ्चारीति संज्ञितः॥

(ना० शा० २९।१९-२१)

अर्थात्—आरोही, अवरोही, स्थायी और सञ्चारी—ये चार वर्ण हैं और अलंकार इनके आश्रित रहते हैं। जहाँ स्वरों का आरोह हो, वहाँ आरोही वर्ण, जहाँ अवरोह हो, वहाँ अवरोही वर्ण, जहाँ सब स्वर स्थिर और सम रहें, वहाँ स्थायी वर्ण[१] और जहाँ सब स्वरों का सञ्चरण हो[२] (उलटपुलट प्रयोग हो), वहाँ सञ्चारी वर्ण होता है।

इन दोनों प्रकारों के वर्णों को देखते हुए नाट्य में और संगीत में इनका परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है।

नाट्य के उदात्त के साथ संगीत के आरोही का, अनुदात्त के साथ अवरोही का, स्वरित के साथ स्थायी का और कंपित के साथ सञ्चारी का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नाट्योपयोगी वर्णों का भरत ने इसके साथ सीधा संबन्ध जोड़ा है। यथा :—

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुणवात्सल्यभयानकेषूदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैरुपादयेत् इति।

(ना० शा० १९)

अर्थात्—हास्य-शृङ्गार के लिये स्वरित और उदात्त, वीर-रौद्र-अद्भुत के लिये उदात्त और कम्पित, करुण-वात्सल्य-भयानक के लिये उदात्त, स्वरित और कम्पित—इस प्रकार विभिन्न रसों के लिये वर्णों का प्रयोग कर चाहिये।

इसी प्रकार भरत ने संगीत के सप्त स्वरों का भी रस के साथ सीधा संबन्ध जोड़ा है। यथा:—

हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ। षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु च।
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे। धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके॥

(ना० शा० १९।३८-३९)

अर्थात्—हास्य-शृङ्गार में मध्यम-पञ्चम, वीर-रौद्र-अद्भुत में षड्ज-ऋषभ, करुण में गान्धार-निषाद और बीभत्स-भयानक में धैवत का प्रयोग करना चाहिए।

नाट्योपयोगी वर्णों और संगीतपयोगी स्वरों का रस के साथ यह संबन्ध देखने से यह सिद्ध होता है कि संगीत में व्यवहृत होने वाले तीन सप्तकों में स्वरों के जो उलट-पुलट प्रकार प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वर्ण कहा है, उनमें भी रसाभिव्यक्ति का ध्यान रखा ही जाना चाहिए।

जिस प्रकार संगीत में तीन स्थान माने गए हैं, उसी प्रकार भरत ने पाठ्य में भी तीन स्थान बताए हैं और काक्वादि-भेदों का उपयोग अनिवार्य-रूप से उल्लिखित किया है। यथा :—

त्रीणि स्थानान्युरःकण्ठशिरांसीति भवन्त्यपि।
शारीर्यामथ वीणायां त्रिभ्य स्थानेभ्य एव च॥
उरसः शिरसः कण्ठात् स्वरः काकुः प्रवर्तते।

(ना० शा० ०१९।४०-१)

अर्थात्—शारीर वीणा में उरः, कण्ठ और शिर—ये तीन स्थान हैं। इन्हीं स्थानों से काकु का प्रयोग होता है।

संगीत में स्थान भेद से, उच्चार-भेद से और गति-भेद से जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें काकु कहते हैं। एक ही स्थान में एक ही स्वर भिन्न भिन्न रूप से उच्चारा जाए, जिससे भिन्न-भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति हो, उसे काकु कहना चाहिए। कभी मन्द, कभी बुलन्द, कभी आघात, कभी कम्प, कभी दोलायमान, इत्यादिक स्वर-भेद, भावाभिव्यञ्जना के लिए कंठ में प्रयुक्त हों, वह 'काकु' है।

१—"जहाँ एक ही स्वर पर ठहर कर उसका बार-बार विलम्बित उच्चार किया जाए, उसी क्रिया को स्थायी कहा जाता है।" ('रत्नाकर' पर सिंहभूपाल की टीका)

२—"आरोही, अवरोही एवं स्थायी—इन तीनों के सम्मिश्रण से जहाँ स्वरों में सञ्चरण किया जाए, अर्थात् कहीं चढ़ा जाए, कहीं उतरा जाए और कहीं ठहरा जाए, वहीं सञ्चारी वर्ण होता है।" (वही

नाट्य में बोलते समय या गीत में गाते समय यदि एक ही प्रकार के स्वर का उपयोग होता रहे, तो उससे वांछित भाव का आविर्भाव नहीं होगा। किन्तु जब यथास्थान, यथाभाव कण्ठ में परिवर्तन किया जाएगा, स्वर भेद किया जाएगा, तभी वांछित फल की लब्धि हो सकती है।

सुख-दुःखादि संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए कंठ में जो विविध परिवर्तन किये जाते हैं, वह काकु है। करुणा का प्रसंग नाट्य में अभिनीत किया जा रहा हो, या उस प्रसंग का कहीं वर्णन किया जा रहा हो, अथवा गीतालाप में उस भाव-रस को निदर्शित किया जा रहा हो, ऐसे अवसर पर अवरुद्ध और गद्गद कण्ठ के स्वर द्वारा ही वाँछित भावाविर्भाव कराया जा सकता है। अन्यथा वह अभिनय कथन और गीतालाप व्यर्थ है। तद्वत् शान्त, क्रोधित, चिन्तित, उत्तेजित, नैराश्य, निर्वेद, खेद, भय, ग्लानि, जुगुप्सा; आशंका आदिक अवस्थाओं को दिखाने के लिये कण्ठ में तदनुकूल स्वर-भेद करना नितान्त आवश्यक है। उसी स्वर-भेद की क्रिया को शास्त्रकारों ने काकु कहा है और उसका पूर्वकथित नाट्योपयोगी और संगीतोपयोगी दोनों वर्णों के साथ संयोग वांछित है।

संगीत में आज वर्ण का उपयोग गान-वादन की क्रिया में विस्तार के लिए ही सर्वदा और सर्वत्र किया जाता है। किन्तु वर्ण का रस-दृष्टि से समझपूर्वक उपयोग होना चाहिए, यह ऊपर की चर्चा से स्पष्ट हुआ होगा।

(ख) अलंकार

भरत ने अलंकारों को वर्णों के आश्रित कहा है। यथा :—

एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो गानयोगतः। एतान् समाश्रितान् सम्यगलंकारान्निबोधत॥

(ना० शा० २९।२४)

मतंग 'अलंकार' की व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

तत्रालङ्कारशब्देन किमुच्यते। अलङ्कारशब्देन मण्डनमुच्यते। यथा कटकटेयूरादिनालङ्कारेण नारी पुरुषो वा मण्डितः शोभामावहेत्, तथा एतैरलङ्कारैः प्रसन्नादिभिरलङ्कृता वर्णाश्रया गीतिर्गातृ-श्रोतृणां सुखावहा भवतीति।

(बृहद्देशी पृ० ३४)

अर्थात्—'अलंकार' शब्द से क्या अभिप्राय है? 'अलंकार' द्वारा मण्डन कहा जाता है। जैसे कटक, केयूरादि अलंकारों द्वारा नारी अथवा पुरुष मण्डित होकर शोभा पाते हैं, उस प्रकार इन वर्णाश्रित प्रसन्नादि अलंकारों द्वारा अलंकृत गीति, गायक और श्रोता-दोनों को सुखावह होती है।

'संगीतरत्नाकर' और 'संगीतपारिजात' में अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

विशिष्टं वर्णसंदर्भमलंकारं प्रचक्षते।

(सं० र० १।६।३)

क्रमेण स्वरसंदर्भमलंकारं प्रचक्षते।

(सं० पा० २२३)

अर्थात्—विशिष्ट वर्ण-संदर्भ को या किसी नियत क्रम में स्वरों के संदर्भ को अलंकार कहते हैं।

अलंकारों की संगीत में परमावश्यकता दिखाते हुए भरत कहते हैं :—

शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव। अविभूषितेव कान्ता गीतिरलङ्कारहीना स्यात्॥

(ना० शा० २९।७५)

अर्थात्—'अलंकार' रहित गीति की वही अवस्था होती है, जो चन्द्र के बिना रजनी, जल के बिना नदी, पुष्प के बिना लता और भूषणों के बिना कान्ता की होती है।

भरत मुनि का यह कथन कितना यथार्थ है! गद्य-पद्य काव्यों में ही नहीं, अपितु सामान्य नित्य की बोलचाल में भी अलङ्कारयुक्त वाणी ही अधिक प्रभावशाली होती है और उचित रूप से भावाभिव्यक्ति करती है। कहना न होगा कि जो अलंकार नित्य के व्यवहार में नितान्त आवश्यक माना गया है, उसका संगीत में

होना कितना अनिवार्य है। हाँ, यह सत्य है कि जैसे किसी काव्य में अलंकार ही अलंकार रह जाएँ तो वह काव्य नीरस बन जाता है, तद्वत् संगीत में भी केवल अर्थहीन अलंकारों या तानों का विपुल प्रयोग संगीत की आत्मा के लिए भारस्वरूप होकर भूषण की बजाय दूषण बन बैठता है। यह कौन नहीं जानता ?

जैसे मनुष्य के शरीर पर, काव्य में और संगीत में विपुल अलंकारों का प्रयोग भारस्वरूप होता है, तद्वत् अलंकारों का यथास्थान उपयोग न करना भी शोभा और रस की दृष्टि से दोषार्ह है। भरत ने ठीक ही कहा है—

एभिरलङ्कर्तव्या गीतिवर्णाविरोधेन। स्थाने चालङ्कारं कुर्यात् न ह्युरसि काञ्चिकां बध्येत्॥

(ना० शा० २९।७४)

अर्थात्—इन अलङ्कारों द्वारा गीत को इस प्रकार यथास्थान अलङ्कृत करना चाहिए, जिससे वर्ण का विरोध न हो, जैसे कि वक्षःस्थल पर काञ्चिका नहीं बाँधी जाती।

इसी सिद्धान्त के अनुसार भरत ने कुछ अलङ्कारों को कुछ गीत-प्रकारों में उपयोगी या अनुपयोगी माना है। एक उदाहरण देते हुए वे कहते हैं—

सप्त (?) रूपगता ज्ञेया अलङ्कारास्त्विमे बुधैः। नेष्यन्ते हि ध्रुवास्वेते जातिवर्णप्रकर्षणात्॥३८॥
बिन्दुर्वापि हि वेणुर्वा ये चान्येऽपि प्रकीर्तिताः। ते ध्रुवाणां प्रयोगेषु न कार्या स्वप्रमाणतः॥
यस्मादर्थानुरूपा हि ध्रुवा कार्यार्थदर्शिका। वर्णानां तु पुनः कार्यं कृशत्वं पदसंश्रयम्॥

(ना० शा० २९।३८-४०)

अर्थात्—सप्त (१) रूपगत ये अलङ्कार 'ध्रुवा' गीत के लिए उपयोगी नहीं हैं, बिन्दु, वेणु इत्यादि जो अलङ्कार कहे गए हैं, उनका 'ध्रुवा'—गीत में प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'ध्रुवा' द्वारा अभीष्ट अर्थ का बोध कराना ही ध्येय है। इसलिए 'ध्रुवा'—गान में वर्णों को दुर्बल ही रखना चाहिए।

जैसे भरत ने गीति प्रकार के लिए विधान दिया है, वैसे ही आज रागों में भी समझपूर्वक वर्णालङ्कारों का विनियोग किया जाना चाहिए। किन्तु आज हमारे संगीत में, जिसे जितने याद हों, उतने सभी अलंकारों का सभी रागों की द्रुतगति की तानों में एक ही प्रकार से उपयोग किया जा रहा है। इसी कारण ऊब कर जनता इसे गले की कसरत कहने लगी है और ऐसे संगीत से असंतुष्ट होकर उससे विकर्षित हो गई है।

संगीत में प्रयुक्त अलंकारों की भाँति भरत ने नाट्योपयोगी पाठ्य के लिए भी छैः अलंकार बताए हैं। यथा :—

उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुतविलम्बितौ। पाठ्यस्यैते ह्यलङ्काराः॥

[ना० शा० १९। ५५]

अर्थात्—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित—ये छैः पाठ्य के अलंकार हैं।

भरत ने इन अलंकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया है, किन्तु उसे विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है। इस विषय को कुछ उदाहरणों द्वारा समझ लेना ही यहाँ पर्याप्त होगा। यथा—

किसी को बुला रहे हों, संबोधन कर रहे हों, अथवा आश्चर्य व्यक्त कर रहे हों, विस्मित हो रहे हैं, आवेश दिखा रहे हों, डरा रहे हों, या वादविवाद कर रहे हों, किंवा इसी प्रकार के अन्य भावों का निदर्शन करते समय, मध्य सप्तक के पञ्चम से आरंभ करके तार सप्तक के ऋषभ तक, मध्यगति में स्वरों की योजना की जाए, तो वांछित भाव अभिव्यक्त होगा।

उसी प्रकार कलह में, युद्ध के आह्वान में, क्रोध के आवेश में, वाताधिक्य में, कठोरता, गर्व या शौर्य दर्शाने में, किसी की निर्भर्त्सना करने में, अथवा भय से चीखने में— तार सप्तक के उच्च स्वरों का द्रुतगति में उपयोग करना चाहिए।

विराग में, दैन्यदशा में, मनन की शून्यावस्था में, दीर्घ बीमारी में, निर्वेद में, किंवा चिन्तित स्थिति में अथवा ऐसे ही अन्य भावों में मन्द्रसप्तक के स्वरों का विलम्बित गति में मन्द आवाज़ से उच्चार करने से अपेक्षित भाव अभिव्यक्त होगा।

पाठ्य के छै: अंग भी भरत ने इस प्रकार से बताए हैं :—

विच्छेदोऽर्पणं विसर्गोऽनुबन्धो दीपनं प्रशमनमिति षडङ्गानि ।

(ना० शा० १९)

इन छै: अङ्गों के लक्षण और रसों में उनके सम्यक् विनियोग के सम्बन्ध में भरत ने विस्तृत विवरण दिया है, जिसे यहाँ विस्तार-भय से अवतरित नहीं किया गया है। यहाँ इनका उल्लेख केवल इसलिए किया गया है कि जिस प्रकार पाठ्य में स्वर-भेद, उच्चार-भेद इत्यादि पर रसाभिव्यक्ति को अवलम्बित माना गया है, उसी प्रकार संगीत में भी रसाभिव्यक्ति के लिए काकु-भेद इत्यादि का प्रयोग अनिवार्य है।

इन अलंकारों और अंगों का पाठ्य में जो उपयोग होता है, वैसा ही संगीत में भी होना चाहिए।

भरत ने संगीतोपयोगी अलंकार ३३ कहे हैं। यों तो स्थायिवर्णगत ७, आरोहीवर्णगत १२, अवरोहीवर्णगत ५, और सञ्चारीवर्णगत १३—यों कुल मिला कर ३७ संख्या बनती है। किन्तु इनमें से ४ अलंकार ऐसे हैं, जो एकाधिक वर्ण के अन्तर्गत आ गये हैं। इसलिए मूल अलंकार ३३ ही कहे हैं। मतंग ने भरत के कहे हुए नाम प्राय: ज्यों के त्यों रखे हैं और अलंकारों का वर्णों के अन्तर्गत विभाजन भी भरत के अनुसार ही किया है।

किन्तु इन अलंकारों के लक्षण भरत और मतंग दोनों के ही ग्रन्थों में काफ़ी अस्पष्ट हैं। भरत ने तो अपने अलंकारों के स्वररूप भी नहीं दिये हैं। इसलिए उनके कहे हुए अलंकारों का सम्यक् स्वरूप जानना कठिन है। मतंग ने अलंकारों के स्वररूप तो दिये हैं, परन्तु उनके ग्रन्थ का पाठ इतना भ्रष्ट और खण्डित है कि लक्षण और लक्ष्य (स्वररूप) की संगति बिठाना अत्यन्त कठिन है, कहीं-कहीं तो असंभव भी है। फिर भी अस्पष्ट भाषा और भ्रष्ट पाठ में से जितना भी सारार्थ हमें उपलब्ध हो सका है, उसका हमने जिज्ञासुजनों के अभ्यासार्थ कुछ आगे चलकर दी हुई सारिणी में समावेश किया है।

शार्ङ्गदेव ने अलंकारों का जो निरूपण किया है, उसमें निम्नलिखित बातों में भरत से अन्तर दृष्टिगोचर होता है :—

१) भरत की भाँति अवरोही वर्णगत अलंकारों का पृथक् निर्देश न करके शार्ङ्गदेव ने कह दिया है कि जो सब अलंकार आरोही वर्णगत हैं, उन्हें ही अवरोही वर्णगत भी मानना चाहिए। इस प्रकार अवरोही अलंकार भी १२ हुए।

२) सञ्चारी वर्णगत अलंकारों की संख्या में वृद्धि करके शार्ङ्गदेव ने भरत के सञ्चारी वर्णगत १३ अलंकारों के स्थान पर २५ अलंकारों का निरूपण किया है।

३) चारों वर्णों के अन्तर्गत ५६ अलंकारों का निरूपण करने के बाद ७ अतिरिक्त अलंकारों का निरूपण करके कुल संख्या ६३ तक पहुँचा दी है।

४) भरतोक्त कुछेक संज्ञाओं में परिवर्तन किया है।

५) अधिकांश अलंकारों के लक्षण भरत से भिन्न दिये हैं और उनके स्वर-रूप भी मतंग से भिन्न हैं।

शार्ङ्गदेव के परवर्ती, मध्ययुगीय ग्रन्थकारों में से केवल अहोबल के ही अलंकार-प्रकरण का यहाँ समावेश करना हमने पर्याप्त माना है। उन्होंने अलंकार-नाम तो प्राय: शार्ङ्गदेव के अनुसार ही दिए हैं, किन्तु उनके स्वर-रूप शार्ङ्गदेव से पर्याप्त मात्रा में भिन्न हैं।

नीचे हम प्रथम सारिणी में भरत और मतंग के दिए हुए अलंकारों के लक्षणों को एक साथ देकर मतंग के दिये हुए अलंकारों के स्वर-रूप भी दिखाएँगे। तीसरी सारिणी में हम शार्ङ्गदेव और अहोबल के दिए हुए अलंकारों के स्वर-रूप दिखाएँगे, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि उन दोनों ने इस विषय में भरत और मतंग से काफ़ी भिन्न मार्ग अपनाया है।

भरत और मतंग के कहे हुए ३३ अलंकारों के लक्षण और मतंग के दिये हुए स्वर-रूप

अलंकार-नाम	भरतोक्त	मतंगोक्त	मतंगोक्त स्वर-रूप
१–प्रसन्नादि:	क्रमश: दीप्त	मन्द्र से आरम्भ करके तार तक आरोह	सा रि ग म प ध नि सां
२–प्रसन्नान्त:	व्यस्त (क्रम-भंग से)-उच्चारित	तार से आरम्भ करके अवरोह	सां नि ध प म ग रि सा
३–प्रसन्नाद्यन्त:	आदि अन्त में प्रशमित	आदि अन्त में प्रसन्न (मन्द्र), मध्य में तार	सारिगमपधनिसां, सांनिधप मगरिसा
४–प्रसन्नमध्य:	मध्य में प्रसन्न (मन्द्र)	मध्य में मन्द्र और आदि-अन्त में तार	सांनिधपमगरिसा, सारिगम पधनिसां
५–सम:	सर्वसाम्य, एक स्वर पर स्थिर	(क) तीनों स्थानों में सदृश ध्वनि, अर्थात् ग्राम के अनुसार यथा-श्रुति स्वरों का तीनों स्थानों में उच्चारण।	सा रि ग म प ध नि
		(ख) दो दो संवादी स्वरों का उच्चार।	सा–म, सा–प, रि–ध ग–नि षड्जग्राम में, रि–प इत्यादि मध्यमग्राम में।
६–बिन्दु:	एक कला तक तार को स्पर्श करके पुनरागत	षड्जादि किसी एक स्वर पर देर तक ठहर कर उसके तार स्वर को अग्नि-वत् छूकर एक कला ठहर कर पुन: उसी स्वर पर लौट आना।	सा–सां सा। या रि–रिं रि।
७–निवृत्त:	निवृत्त	बिन्दु की भाँति तार स्वर को छूने के बाद दो कला ठहर कर, न लौटना।	सा–सां सां।
८–वेणु:	जिसकी लय आक्षी-ड़ित हो	छै: कलाओं का आरोह से अवरोह-क्रम	सारिगमपधनि, निधपमगरेसा
९–कम्पित:	उरोगत पवन-निरोध कलात्रय का कम्पन	मन्द्र सप्तक में पवननिरोध से द्विश्रुति का त्रिकल कंपन	सारेग〰〰मपधनि〰〰सां
१०–कुहरित	कण्ठ में निरुद्ध-पवन	मध्यम सप्तक में त्रिश्रुति का कम्पन	सारे〰〰गमपध〰〰निसां
११–रेचित	शिरोगत पवन-निरोध	तार सप्तक में त्रिश्रुति का कम्पन	सारे〰〰गमपध〰〰निसां
१२–प्रेङ्खोलित	गतागत-प्रवृत्त	दो स्वरों का या अधिक स्वरों का समान कला से गमनागमन	सारिरिसा, रिगगरि, गममग, मपपम

अलंकार-नाम	भरतोक्त लक्षण	मतंगोक्त लक्षण	मतंगोक्त स्वर-रूप
१३–तारमन्द्रप्रसन्नः	क्रम से पांच या छैः स्वरों का आरोह कर के पुनः मन्द्र में आगमन।	(क) अंश से चतुर्थ स्वर या पञ्चम स्वर तक जाकर मन्द्र में पुनरागमन (ख) मन्द्र स्वर से तार में जाकर पुनः सहसा मन्द्र में आगमन	मपधनिम, गमपधनिग। सारिगमपधनिसा, सा।
१४–मन्द्रतारप्रसन्नः	जिससे आरंभ किया हो उसके बाद वाले स्वरों का लंघन करके तार में पहुँच कर अवरोह।	(क) मन्द्र स्वर से सहसा तार में पहुँच कर क्रम से अवरोहण (ख) मन्द्र स्वर के तार स्वर में सहसा पहुँच कर क्रम से अवरोहण	सापमगरिसा, रिधपमगरे, गनिधपमग, मसानिधपम। सासानिधपमगरिसा। रिरेंसानिधपमगरि।
१५–प्रस्तार अथवा प्रस्वार	एक एक स्वर से आरोह करके क्रमशः अवरोह।	क्रमशः एक २ स्वर बढ़ाते हुए मन्द्र से तार में आरोह और तार से मन्द्र में अवरोह	सारिरिसः, सारिगगरिस, सारिगममगरिस, सारिगमपपमगरिसा, सारिगमपधधपमगरिसा
१६–प्रसाद	क्रमशः प्रसन्न (मन्द्र) की ओर निवृत्त	प्रस्तार का उल्टा क्रम यानी तार से क्रमशः मन्द्र में अवरोह और पुनः आरोह	सानिनिसा, सानिधधनिसा, सानिधपपधनिसा, सानिधपममपधनिसा, सानिधपमगगमपधनिसा।
१७–उद्वाहित	द्विकल स्वरों का संचरण	दो २ विकल स्वरों का आरोह क्रम से संचार	सारि, रिग, गम, मप, पध, धनि, निसा।
१८–उपलोलक अथवा अवलोकित	'उद्वाहित का दो २ बार अभ्यास	'उद्वाहित' का दो २ बार अभ्यास	सारिसारि, रिगरिग, गम,गम, मप मप, पधपध, धनिधनि, निसानिसा।
१९–क्रम	एक, दो या तीन स्वरों का क्रम से आरोहावरोह	(क) 'प्रस्तार' की ही भाँति (ख) अन्तर स्वर तक आरोह करके काकली पर पहुँच कर उसी क्रम से अवरोह करते हुए स्थायी पर लौटना	सागनि निगसा।
२०. निष्कूजित	प्रत्येक स्वर में एक-एक अन्तर छोड़कर आरोह।	पहिले से तीसरा, दूसरे से चौथा–इस क्रम में आरोह।	सा ग, रिम, गप, मध, पनि, धसा
२१. द्वादमानः	'निष्कूजित' के द्विस्वरों को तीन-तीन आवृत्तियों द्वारा अवरोह में षट्-स्वर बनाना।	'निष्कूजित' के ही क्रम से तार से अवरोह और प्रत्येक स्वर-जोड़ी का तीन-तीन बार अभ्यास।	सा ध सा ध सा ध, निपनिप निप, धमधमधम—

अलङ्कार-नाम	भरतोक्त लक्षण	मतंगोक्त लक्षण	मतंगोक्त स्वर-रूप
२२. रञ्जितः	अनन्तर स्वर पर दो कला स्थित होकर अर्ध-कला आरोह करके पुनः अवरोह।	अनन्तर स्वर पर आरोह करके वहाँ दो कला स्थित होकर, पुनः अर्ध-कला आरोह करके अवरोह।	सारिरिगरे, रिगगमग, गममपम, मपपधप
२३. आवर्तकः	(क) चार अनन्तर स्वरों में आरोहावरोह से सञ्चरण, अष्टकला-युक्त।	(क) प्रथम स्वर का उच्चारण करके क्रमशः आरोहावरोह से अष्टकला-युक्त।	सारिगम मगरिसा, पधनिसा सानिधप।
	(ख) एक-एक के अन्तर से आरोहावरोह करने से चतुष्कलायुक्त।	(ख) केवल स्वर रूप दिया है।	साग गप पनि धसा, साध निप पग गसा।
२४. परिवर्तकः	तीन स्वरों का आरोह करके चौथे का लंघन करके पाँचवें से अव-रोह। अष्टकलायुक्त।	तीनों स्वरों तक आरोह करके चौथे को लाँघकर पाँचवें पर पहुँचकर अवरोह करते समय उस क्रम में चौथे को लाँघ कर आद्य स्वर पर लौट आना।	सारिगप, मपगसा। रिगमध, धपमरे। गमपनि, निधपग। मपधसा, सानिधम।
२५. उद्घाटितः	एककल — यथापर अन्तर स्वरों का प्रयोग। (?)	आरोहक्रम में तीसरे स्वर को छोड़ कर आगे दो स्वरों तक आरोह करके उसी क्रम से अवरोह।	सारिमप, पमरिसा। रिगपध, धपगरि। गमधनि, निध मग। मपनिसा, सानिपम।
२६. आक्षिप्तकः	तीन तीन स्वरों के क्रमिक प्रकार, पहिले एककल फिर षट्कल।	एककल से आरम्भ करके आरोह क्रम में तीन-तीन स्वरों का आरोह करने से षट्कल।	सा, सारिग, रिगम। रि, रिगम, गमप। ग, गमप, मपध। म, मपध, पधनि।
२७. सम्प्रदाय अथवा सम्प्रदान	आक्षिप्तक की ही भाँति तीन की बजाय चार-चार स्वरों के टुकड़े, जिनमें एक स्वर का लंघन हो। (?)	प्रथम स्वर से दूसरे को छोड़कर, आगे दो स्वरों तक जाकर उसी क्रम से अवरोह।	सागम, मरिसा, रिमप पगरे। गपध, धमग। मधनि, निपम। अथवा सागम, मगसा। रिमप, पमरि। गपध, धपग। मधनि, निधम।
२८. हसितम्	आक्षिप्तक और सम्प्रदान का विकल (?) प्रयोग।	सम्प्रदान का ही द्विकल योग	सागम, मरिसा। रि म प, प ग रि।
२९. हुङ्कार	समनन्तर तीन या चार स्वरों का आरोह और एककल-प्रयोग।	हसित की भाँति हीन स्वरों के आरोहण से अथवा चार स्वरों के आरोहण से दोनों प्रकार एककल	सारिग, गरिसा। रिगम, मगरि। गमप, पमग। अथवा सारिगम, मगरिसा। रिगमप, पमगरि।

अलङ्कार-नाम	भरतोक्त लक्षण	मतंगोक्त लक्षण	मतंगोक्त स्वर-रूप
३०. सन्धिः-प्रच्छादन	अनन्तर क्रम से आरोह करके चतुष्कल रूप से अवरोह।	सप्तम तार स्वर पर पहुँच कर वहीं से अवरोह-क्रम में दो-दो स्वरों के उच्चारण से चतुष्कल-प्रयोग।	सांनि सांनि सांनि सांनि। निध निध निध निध। धप धप धप धप। पम पम पम पम।
३१. विधूतः अथवा विधूनम्	आदि में 'पद' (।) की रचना करके दो स्वरों का लघु वर्ण के रूप में आरोह—एककल-प्रयोग।	अंश स्वर का चार बार उच्चारण करके तदनन्तर दो स्वरों का द्रुतोच्चारण—एककल।	सासासासा रिग। रिरिरिरि गम। गगगग मप।
३२. उद्गीतः	आरोही में 'प्रस्वार' अलंकार और अवरोही में 'क्रम' अलंकार का प्रयोग।	तार से एकान्तर-क्रम से अवरोह।	सांध, निप, धम, पग, मरे, गसा।
३३. गात्रवर्ण	ओंकारवत् तीन-तीन स्वरों का आरोह करके दो-दो कंप्यमान स्वरों से अवरोह।	ओंकारवत् दो संयुक्त अक्षरों की भाँति आरोह करके कम्पनयुक्त दो स्वरों से अवरोह।	धनिसां, निध। पधनि, धप। मपध, पम। गमप, मग। रिगम, गरि। सारिग, रिसा।

नोट—अगले पृष्ठ पर शार्ङ्गदेव और अहोबल के अलंकारों के स्वर-रूप देते समय शार्ङ्गदेव के ही कथनानुसार मन्द्र स्वरों के लिए ∴ बिन्दु का और तार स्वरों के लिए शिरोरेखा का प्रयोग किया गया है। जहाँ जहाँ स्वर-नामों को दीर्घ बनाया गया है—यथा री गा मा—इत्यादि, वहाँ दीर्घोच्चार समझना चाहिए और जहाँ ३ की संख्या लगाई गई है, वहाँ प्लुतोच्चार अभिप्रेत है।

शार्ङ्गदेव			अहोबल		
वर्ण	अलंकार	स्वर—रूप	वर्ण	अलंकार	स्वर—रूप
				नई वैकल्पिक संज्ञाएं	
१. स्थायी	१. प्रसन्नादि	सं सं सं	१. स्थायी	१. भद्र	सरिस रिगरि गमग मपम पधप धनिध इत्यादि
,,	२. प्रसन्नान्त	सं सं सं	,,	२. नन्द	सस रिरि सस। रिरि गग रिरि। गग मम गग। इत्यादि
,,	३. प्रसन्नाद्यन्त	सं सं सं	,,	३. जित	सगरिस। रिमगरि। गपमग। मधपम। इत्यादि
,,	४. प्रसन्नमध्य	सं सं सं	,,	४. सोम	सस गग रिरि सस। रिरि मम गग रिरि इत्यादि
,,	५. क्रमरेचित	सं रि सं, सं ग म सं, सं प ध नि सं	,,	५. ग्रीव	सगरिगमगरिस। रिमगमपमगरि। इत्यादि
,,	६. प्रस्तार	सं रि सं, सं ग म सं, सं प ध नि सं	,,	६. भाल	सगरिममगरिस। रिमगपपमगरि। इत्यादि
,,	७. प्रसाद	सं रि सं, सं ग म सं, सं प ध नि सं	,,	७. प्रकाश	सस रिरि गग मग रिग रिस। रिरि गग मम पम गम गरि। इत्यादि
२. आरोही	१. विस्तीर्ण	सा री गा मा पा धा नी	२. आरोही	१. विस्तीर्ण	सा री गा मा पा धा नी सा
,,	२. निष्कर्ष	सस रिरि गग मम पप धध निनि		२. निष्कर्ष	सस रिरि गग मम पप धध निनि सं सं
,,	३. बिन्दु	स ३ रि ग ३ म प ३ ध नि ३		३. गम्रवर्ण	ससस रिरिरि गगग ममम पपप इत्यादि
,,	४. अभ्युच्चय	स ग प नि		४. बिन्दु	ससरि रिरिरिग गगगम इत्यादि
,,	५. हसित	स रिरि गगग मममम पप पपप धधधधधध निनिनि-निनिनिनि		५. हसित	स। सरि। सरिग। सरिगम। सरिगमप। इत्यादि अथवा स। रिरि। गगग। ममम। पपपप इत्यादि
,,	६. प्रेङ्खित	सरि रिग गम मप पध धनि		६. प्रेङ्खित	सारी। रीगा। गामा। मापा। पाधा। धानी
,,	७. आक्षिप्त	सग गप पनि		७. आक्षिप्त	ससगग। रिरिमम। गगपप। ममधध। पपनिनि
,,	८. सन्धिप्रच्छादन	सरिग गमप पधनि		८. सन्धिप्रच्छादन	सरिगा। रिगमा। गमपा। मपधा। पधनी
,,	९. उद्गीत	ससरिग मममपध		९. उद्गीत	ससस रिरिगम। रिरिरिरि गगमप। इत्यादि
,,	१०. उद्वाहित	सरिरिरिग मपपपध		१०. उद्वाहित	ससरिग। रिरिगम। गगमप। ममपध। पपधनी।
,,	११. त्रिवर्ण	सरिगगग मपधधध		११. त्रिवर्ण	सरि गगग। रिग ममम इत्यादि
,,	१२. वेणि	ससस रिरिरि गगग ममम पपप धधध			

वर्ण	अलंकार	स्वर—रूप	वर्ण	अलंकार	स्वर—रूप
अवरोही	१२	आरोही का ही अवरोहण		१२ पृथग्वेणि	ससस रिरिरि गगग । रिरिरि गगग ममम
संचारी	१. मन्द्रादि	सगरि रिमग गपम मधप पनिध	३. अवरोही	अवरोही अलंकारों का अवरोहण	इत्यादि
,,	२. मन्द्रमध्य	गसरि मरिग पगम धमप निपध			
,,	३. मन्द्रान्त	रिगस गमरि मपग पधम धनिप	४. संचारी	१. मन्द्रादि	सरिगम मगरिस सरिगरि सरिगम । रिगमप पमगरि रिगमग रिगमप इत्यादि
,,	४. प्रस्तार	सग रिम गप मध पनि		२. मन्द्रमध्य	सगरिग मगरिग रिगरिस सरिगम ।
,,	५. प्रसाद	सरिस रिगरि गमग मपम पधप धनिध		३. मन्द्रान्त	रिमगम पमगम गमगरि रिगमप इत्यादि
,,	६. व्यावृत्त	सगरिमस रिमगपरि गपमधग मधपनिम		४. प्रस्तार	ससरिरि गग मम रिग रिस । रिरि गम मम दप गम गरि इत्यादि
,,	७. स्खलित	सगरिममरिगग रिमगप-पगमरि गपमधधमप इत्यादि		५. प्रसाद	स म । रि प । गध । मनि । प सं० । सरि सरि सरि गरि । रिग रिग रिग मग । इत्यादि
,,	८. परिवर्तक	सगम रिमप गपध मधनि		६. व्यावृत्त	सगरिम सरिगम । रिमगप रिगमप । इ०
,,	९. आक्षेप	सरिग रिगम गमप मपध पधनि		७. चलित	सगरिम मरिगस सरिगम । रिमगप पगमरि रिगमप । इत्यादि
,,	१०. बिन्दु	स३रिस रि३गरि ग३मग म३पम इत्यादि		८. परिवर्त	सगमरि । रिमपग । गपधम । मधनिप । इत्यादि
,,	११. उद्ग्राहित	सरिगरि रिगमग गमपम मपधप इत्यादि		९. आक्षेप	सरिग । रिगम । गमप । मपध । इत्यादि
,,	१२. ऊर्मि	सम३सम रिप३रिप गध३ गध इत्यादि		१०. बिन्दु	सा सा सारीसा गा । री री रीगरी मा । इत्यादि
,,	१३. सम	सरिगममगरिस रिगमप पम गरि इत्यादि		११. उद्ग्राहित	सरिगरि । रिगमग । गमपम । मपधप इत्यादि
,,	१४. प्रेङ्ख	सरिरिस रिगगरि गममग इत्यादि		१२. ऊर्मि	सममम सम । रिपपप रिप । गधधध गध । इत्यादि
,,	१५. निष्कूजित	सरिसगस रिगरिमरि गमगपग इत्यादि		१३. सम	सरिगम मगरिस सरिगम । रिगमप पमगरि रिगमप इत्यादि
,,	१६. श्येन	स प रि ध गरि मस		१४. प्रेङ्ख	ससमम । रिरि पप । गग धध । मम निनि । पप सं सं ।
,,	१७. क्रम	सरिसरिगसरिगम रिगरिग-मरिगमप इत्यादि		१५. निष्कूजित	सम सम सरिगम । रिपरिप रिगमप । इ०
,,	१८. उद्घट्टित	सरिपमगरि रिगधपमग गमनिधपम इत्यादि		१६. श्येन	सरि सग सम सप सध सनि ससं । रिग रिम रिप रिध रिनि रिसं । इत्यादि
,,	१९. रञ्जित	सगरिसगरिस रिमगरिमगरि गपमगधपम इत्यादि		१७. क्रम	सरि रिग गम । रिग गम मप । गममप पध । इत्यादि
				१८. उद्घाटित	सग सग सरेगम । रिम रिम रिगमप । इत्यादि
				१९. रञ्जित	सग रिगसरिगम । रिम गम रिगमप । गप मप गमपध । मध पध मपधनि । इ०

वर्ण	अलंकार	स्वर-रूप
संचारी	२०. संनिवृत्त-प्रवृत्तक	सपमगरि रिधपमग गनिधपम
,,	२१. वेणु	ससरिमग रिरिगपम गगमधप ममपनिध
,,	२२. ललित	सरिमरिस रिगपगरि गमधमग मपनिपम
,,	२३. हुंकार	सरिस सरिगरिस सुरिगमगरिस इत्यादि
,,	२४. ह्रादमान	सगरिस रिमगरि गपमग मधपम पनिधप
,,	२५. अवलोकित	सगममरिस रिमपपगरि गपधधमग मधनिनिपम
अन्य अलंकार	१. तारमन्द्रप्रसन्न	रिगिमपधनिसंसं
	२. मन्द्रतारप्रसन्न	संसंनिधपमगरिसं
,,	३. आवर्तक	ससरिरिससरिस रिरिगग-रिरिगरि इत्यादि
,,	४. संप्रदान	ससरिरिसस रिरिगगरिरि गगममगग इत्यादि
,,	५. विधूत	सगसग रिमरिम गपगप मधमध पनिपनि
,,	६. उपलोलक	सरिसरिगरिगरि रिगरिगमगमग इत्यादि
,,	७. उल्लसित	ससगसग रिरिमरिम गगपगप इत्यादि

वर्ण	अलंकार	स्वर-रूप
संचारी	२०. संनिवृत्त	सरिगरि गमगरि सरिगम। रिगमग मपमग रिगमप। इत्यादि
,,	२१. प्रवृत्त	संनिवृत्त के स्वरों का ही द्विगुण।
,,	२२. वेणु	समगम सरिगम। रिपमप रिगमप। इ०
,,	२३. ललित	सस मम गग रिस सरि गरि सरि गम। रिरि पप मम गरि रिग मग रिग मप इत्यादि
,,	२४. हुंकार	सस पप रिरि धध। गग निनि मम संसं।
	२५. ह्रादमान	समगरि रिपमग गधपम मनिधप पसंनिध
	२६. अवलोकित	ससस ममम। रिरिरि पपप। गगग धधध। इत्यादि
अन्य अलंकार (तालयुक्त)	१. इन्द्रनील	सरिगम गरि सरिगरि सरिगम। रिग-मपमग रिगमग रिगमप। इत्यादि
	२. महावज्र	सरिगरि सरि सरिगम। रिगमग रिग रिगमप। इत्यादि
	३. निर्दोष	सरि सरि गम। रिग रिग मप। गम गम पध। इत्यादि
	४. सीर	सरि सरिग सरिगम। रिग रिगम रिगमप। इत्यादि.
	५. कोकिल	सरिग सरिगम। रिगम रिगमप। गमग गमपध।
	६. आवर्त	सरिगरि सरिसरि सरिगम। रिगमग रिगरिग रिगमप। इत्यादि
रागोपयोगी अलंकार	७. सदानन्द	सरिगम। रिगमप। गमपध। मपधनि। पधनिसं।
	१. चक्राकार	रिरिरिरि स रिरिरि। गगगग रि गगग। इत्यादि
	२. जव	सरिगमपधनिसंसंनिधपम गरिस। सरिगमपध निधपमगरिस। इत्यादि
	३. शङ्ख	सस निध निनिधप धधपम पम मग इ०
	४. पद्माकर	सरिसस सरिगग। रिग रिरि रिग मम। इत्यादि।
	५. वारिद	स निनिनि। स ध ध ध। स पपप। सममम इत्यादि।

स्थायीवर्णगात	७
आरोहीवर्णगत	१२
अवरोहीवर्णगत	१२
संचारीवर्णगत	२५
अन्य अलंकार	७
	६३

स्थायी वर्ण गत	७
आरोही वर्ण गत	१२
अवरोही वर्ण गत	१२
संचारी वर्ण गत	२६
ताल बद्ध	७
रागोपयोगी	५
कुल संख्या	६६

ऊपर की सारिणियों में प्राचीनयुग से लेकर मध्ययुग तक के अलंकार-विवरण को हम ने एक दृष्टि में देख लिया। आधुनिक गायकी में इन शास्त्रोक्त अलंकारों से प्रेरणा लेकर कई नये प्रकारों का प्रयोग किया जाता है, यद्यपि उनका पृथक् नामकरण नहीं किया गया है। उनमें से कुछेक को यहाँ उद्धृत करना अस्थानीय न होगा। यों तो लय-भेद इत्यादि प्रयोगों द्वारा और भी अनेकों भेद बन सकते हैं, किन्तु उन सबके उल्लेख का यहाँ अवकाश नहीं है।

१) रेसासा, गरेरे, मगग, पमम, धपप, निधध, सांनिनि, रें'सांसां, सांनिनि, निधध, धपप, पमम, मगग, गरेरे, रेसासा।

२) सारेरे, रेगग, गमम, मपप, पधध, धनिनि, निसांसां, सां रें'रें', निसांसां, धनिनि, पधध, मपप, गमम, रेगग, सारेरे, निसासा।

३) रेसा रेसासा रेसासा, गरे गरेरे गरेरे, मग मगग मगग, पम पमम पमम, धप धपप धपप, निध निधध निधध, सांनि सांनिनि सांनिनि, रें'सां रें'सांसां रें'सांसां, सांनि सांनिनि सांनिनि, निध निधध निधध, धप धपप धपप, पम पमम पमम, मग मगग मगग, गरे गरेरे गरेरे, रेसा रेसासा रेसासा।

४) गरे रेसासा, मग गरेरे, पम मगग, धप पमम, निध धपप, सांनि निधध, रें'सांसां सांनिनि, सांनि निधध, निध धपप, धप पमम, पम मगग, मग गरेरे, गरे रेसासा।

५) गरे गरेरे रेसासा, मग मगग गरेरे, पम पमम मगग, धप धपप पमम, निध निधध धपप, सांनि सांनिनि निधध, रें'सां रें'सांसां सांनिनि, सांनि सांनिनि निधध, निध निधध धपप, धप धपप पमम, पम पमम मगग, मग मगग गरेरे, गरे गरेरे रेसासा।

६) सागगरे रेसासा, रेममग गरेरे, गपपम मगग, मधधप पमम, पनिनिध धपप, धसांसांनि निधध, निरें'रें'सां सांनिनि, धसांसांनि निधध, पनिनिध धपप, मधधप पमम, गपपम मगग, रेममग गरेरे, सागगरे रेसासा।

७) सारेग सागगरे, रेगम रेममग, गमप गपपम, मपध मधधप, पधनि पनिनिध, धनिसां धसांसांनि, निसांरें' निरें'रें'सां, धनिसां धसांसांनि, पधनि पनिनिध, मपध मधधप, गमप गपपम, रेगम रेममग, सारेग सागगरे, निसारे निरेरेसा।

८) सारेग सागगरे रेसासा, रेगम रेममग गरेरे, गमप गपपम मगग, मपध मधधप पमम, पधनि पनिनिध धपप, धनिसां धसांसांनि निधध, निसांरें' निरें'रें'सां सांनिनि, धनिसां धसांसांनि निधध, पधनि पनिनिध धपप, मपध मधधप पमम, गमप गपपम मगग, रेगम रेममग गरेरे, सारेग सागगरे, रेसासा।

९) गगरे सारे, ममग रेग, पपम गम, धधप मप, निनिध पध, सांसांनि धनि, रें'रें'सा निसां, सांसांनि धनि, निनिध पध, धधप मप, पपम गम, ममग रेग, गगरे सारे, रेरेसा निसा।

१०) सारेगग रेगरेसा, रेगमम गमगरे, गमपप मपमग, मपधध, पधपम, पधनिनि धनिधप, धनिसांसां निसांनिध, निसांरें'रें' सारेंसांनि, धनिसांसां निसांनिध, पधनिनि धनिधप, मपधध पधपम गमपप मपमग, रेगमम गमगरे, सारेगग रेगरेसा।

११) सारेगमग रेगरे, रेगमपम गमग, गमपधप मपम, मपधनिध पधप, पधनिसांनि धनिध, धनिसांरेसां निसांनि, पधनिसांनि धनिध, मपधनिध पधप, गमपधप मपम, रेगमपम गमग, सारेगमग रेगरे, निसारेगरे सारेसा।

१२) सारेगमग रेगरे सारेसा, रेगमपम गमग रेगरे, गमपधप मपम गमग, मपधनिध पधप मपम, पधनिसांनि, धनिध पधप, धनिसांरेंसां निसांनि धनिध, पधनिसांनि धनिध पधप, मपधनिध पधप मपम, गमपधप मपम गमग, रेगमपम गमग रेगरे, सारेगमग रेगरे सारेसा।

१३) सारेगमग रेगमपम गमग रेगरे, रेगमपम गमपधप मपम गमग, गमपधप मपधनिध पधप मपम, मपधनिध पधनिसांनि धनिध पधप, पधनिसांनि धनिसांरेंसां निसांनि धनिध, मपधनिध पधनिसांनि धनिध पधप, गमपधप मपधनिध पधप मपम, रेगमपम गमपधप मपम गमग, सारेगमग रेगमपम गमग रेगरे, निसारेगरे सारेगमग रेगरे सारेसा।

१४) सारेगम सामममगरेसा, रेगमप रेपपमगरे, गमपध गधधपमग, मपधनि मनिनिधपम, पधनिसां पसांसांनिधप धनिसांरे धरेरेंसांनिध, पधनिसां पसांसांनिधप, मपधनि मनिनिधपम, गमपध गधधपमग, रेगमप रेपपमगरे, सारेगम सामममगरेसा।

१५) सारेगम–म सामममगरेसा, रेगमप–प रेपपमगरे, गमपध–ध गधधपमग, मपधनि–नि मनिनिधपम, पधनिसां–सां पसांसांनिधप, धनिसांरें–रें धरेरेंसांनिध, पधनिसां–सां पसांसांनिधप, मपधनि–नि मनिनिधपम, गमपध–ध गधधपमग, रेगमप–प रेपपमगरे, सारेगम–म सामममगरेसा।

१६) सागग रे–रे, रेममग–ग, गपप म–म, मधध प–प, पनिनि ध–ध, धसांसां नि–नि, निरेंरें सां–सां, धसांसां नि–नि, पनिनि ध–ध, मधधप–प, गपप म–म, रेमम ग–ग, सागग रे–रे, नि रेरे सा–सा।

१७) साम–म मगरेसा, रेप–प पमगरे, गध–ध धपमग, मनि–नि निधपम, पसां–सां सांनिधप, मनि–नि निधपम, गध–ध धपमग, रेप–प पमगरे, साम–म मगरेसा।

१८) साग–ग साम–म साप–प मगरेसा, रेम–म रे प–प रेध–ध पमगरे, ग प–प ग ध–धगनि–नि ध प म ग, म ध–ध मनि–नि मसां–सां निधपम, पनि–नि पसां–सां परें–रें सांनिधप, म ध–धमनि–नि म सां–सां निधपम, ग प–प ग ध–धगनि–नि धपमग, रेम–म रे प–प रेध–ध पमगरे, सा ग–ग साम–म साप–प मगरेसा।

१९) सासासा पपप मगरेसा, रेरेरे धधध पमगरे, गगग निनिनि धपमग, मममं सांसांसां सांनिधप, पपप रेंरेंरें सांनिधप, मममं सांसांसां धप, गगग निनिनि धपमग, निधपम, रेरेरे धधध पमगरे, सासासा पपप मगरेसा।

२०) साप–प मगरेसा, रे ध–ध पमगरे, गनि–नि धपमग, म सां–सां सांनिधप, परें–रें सांनिधप, म सां–सां निधपम, गनि–नि धपमग, रे ध–ध पमगरे, सा प–प मगरेसा।

२१) सारेगम सा–प मगरेसा, रेगमप रे–ध पमगरे, गमपध ग–नि धपमग, मपधनि म–सां निधपग, पधनिसां प–रें सांनिधप, मपधनि म–सां निधपम, गमपध ग–नि धपमग, रेगमप रे–ध पमगरे, सारेगम सा–प मगरेसा।

२२) गगरे रे–रे, ममग ग–ग, पपम म–म, धधप प–प, निनिध ध–ध, सांसांनि नि–नि, रेंरेंसां सां–सां, सांसांनि नि–नि, निनिध ध–ध, धधम प–प, पपम म–म, ममग ग–ग, गगरे रे–रे, रेरेसा सा–सा।

२३) सारे रेग गम मग गरे रेसा, रेग गम मप पम मग गरे, गम मप पध धप पम मग, मप पध धनि निध धप पम, पध धनि निसां सांनि निध धप, मप पध धनि निध धप पम, गम मप पध धप पम मग, रेग गम मप पम मग गरे, सारे रेग गम मग गरे रेसा।

२४) सारे रेग गम मप पम मग गरे रेसा, रेग गम मप पध धप पम मग गरे, गम मप पध धनि निध धप पम मग, मप पध धनि निसां सांनि निध धप पम, पध धनि निसां सांरें रेंसां सांनि निध धप, मप पध धनि निसां सांनि निध धप पम, गम मप पध धनि निध धप पम मग, रेग गम मप पध धप पम मग गरे, सारे रेग गम मप पम मग गरे रेसा।

उपसंहार में यह पुनः उल्लेखनीय है कि संगीत में इन विविध अलंकारों का समझपूर्वक, यथास्थान, यथासंदर्भ, यथाभाव विनियोग करना चाहिए। एक ही अलंकार को आरोहावरोह का रूप देंगे, तो वह तान बन जाएगी। हम जानते हैं कि तानों द्वारा त्वरित गति और विविध स्वर-रचनाएँ दिखाने में केवल गले की तैय्यारी, उलट-पुलट फिरने का कंठ का प्रभुत्व और कियदंश में अद्भुत रस के चमत्कार का ही दर्शन होता है। जब जब इन अलंकारों का गमक की तानों में प्रयोग किया जाता है, तब कियदंश में भयानक रस की निष्पत्ति होती सी दिखाई देती है। किन्तु अन्य रसों की अभिव्यक्ति के लिये ये सब तान-प्रयोग अनुपयोगी हैं; वे रसभंग और विपरीत भाव की व्यञ्जना करते हैं। इसलिए इन अलंकारों का भिन्न-भिन्न रूप से छोटे छोटे टुकड़ों द्वारा आलाप में यथास्थान उपयोग करना चाहिए। जो गुणीजन हैं, वे इस रूप में उनका उपयोग कर भी रहे हैं। किन्तु विशेषतः आज इन अलंकारों से बनी हुई तानों की ओर अधिक झुकाव हो गया है, जिसके लिये मर्यादा बाँधना आवश्यक है।

(ग) तान

'तान' शब्द 'तन्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—विस्तार। इससे स्पष्ट है कि संगीत में विस्तार के तत्त्व से 'तान' संबन्धित है। भरत ने मूर्च्छनाओं के औडव-षाडव प्रकार बनाते समय 'मूर्च्छना-तान' संज्ञा का प्रयोग किया है और दो ग्रामों की मूर्च्छना-तानें ८४ बताई हैं। मूर्च्छना-प्रकरण में हम इन ८४ प्रकारों को देख चुके हैं। मूर्च्छनाओं के साथ भरत ने 'तान' का जो संबन्ध जोड़ा है, उससे स्पष्ट है कि 'तान' मूर्च्छना के आश्रित होती है यानी उसमें द्वैग्रामिकी भिन्न-भिन्न मूर्च्छनाओं से प्राप्त स्वरान्तरालों द्वारा वैविध्य उपजाया जाता होगा। भरत के परवर्ती ग्रन्थकारों ने भरत की बताई हुई इन ८४ मूर्च्छना-तानों का तो ज्यों का त्यों निरूपण किया है, किन्तु साथ ही स्वर-प्रसार के ५०४० प्रकारों के साथ ५६ मूर्च्छना-भेदों को गुणा करके कूटतानों की विपुल संख्या का निर्माण किया है। यह विवरण हम कुछ आगे चल कर देखेंगे। किन्तु यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि 'तान' को मूर्च्छना से विविक्त या पृथक् करके कभी भी निरूपित नहीं किया गया है।

भरतोक्त मूर्च्छना-तानों एवं परवर्ती ग्रन्थकारों की कूटतानों का उस उस काल के संगीत में किस प्रकार उपयोग होता होगा, यह आज कहना कठिन है। वीणा-वादन के प्रयोग में 'प्रवेश' और 'निग्रह' द्वारा तानों के प्रयोग का ग्रन्थकारों ने वर्णन किया है। किन्तु उसका मात्र वीणा-वादन की क्रियाविशेष के साथ संबन्ध होने से तत्कालीन तान-प्रयोग पर उससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

आज हमारे संगीत में तानों का प्रयोग, राग के विस्तार की अभिव्यक्ति, वैविध्य का निदर्शन, नई नई स्वर-रचनाओं और स्वर-संयोगों द्वारा गान-वादन की क्रिया की सजावट इत्यादि के निमित्त, किया जाता है।

भरतोक्त द्वैग्रामिकी ८४ औडव-षाडव मूर्च्छना-तानें तो हम मूर्च्छना-प्रकरण में देख ही चुके हैं। विस्तार भय से उन्हें यहाँ पुनः उल्लिखित नहीं किया गया है। यहाँ 'रत्नाकर' का एक वाक्य इस संबन्ध में उल्लेखनीय है, जिसमें वे स्पष्ट करते हैं कि शुद्धा मूर्च्छनाओं के ही षाड्वौडव-भेदों से ये ८४ तानें बनती हैं यानी उनमें अन्तर-काकली का प्रयोग विहित नहीं है। शार्ङ्गदेव कहते हैं:—

तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धाः षाडघौडुवितीकृताः॥

(सं० र० १।४।२७)

यहाँ अब कूटतानों के गुणन-प्रकार को संक्षेप में देख लेना समुचित होगा। ५०४० कूटतानों के प्रकार निम्नोक्त रीति से बनाए जाते हैं।

स्वर-संख्या					प्रस्तार-संख्या
१.	...	...	...	...	१ × १ = १
२.	...	...	...	...	१ × २ = २
३.	...	...	...	...	२ × ३ = ६
४.	...	...	...	...	६ × ४ = २४
५.	...	...	...	...	२४ × ५ = १२०
६.	...	...	...	...	१२० × ६ = ७२०
७.	...	...	...	...	७२० × ७ = ५०४०

इन ५०४० प्रकारों का मतंग, शार्ङ्गदेव और परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी समान रूप से उल्लेख किया है। विस्तार-भय से इन प्रकारों को यहाँ दिखाया नहीं गया है। जिज्ञासुजन 'रत्नाकर' के आड्यार संस्करण के प्रथम भाग के परिशिष्ट में उन प्रकारों को देख सकते हैं। इन ५०४० कूटतानों के साथ मूर्च्छनाओं के

५६ भेदों को गुणा करके ५०४० × ५६ = २८२२४० कूट-तानों ही सृष्टि की है। ये पूर्णा कूटतानें हुईं, जिन्हें मतंग और शार्ङ्गदेव ने समान रूप से उल्लिखित किया है।

इनके अतिरिक्त शार्ङ्गदेव ने १।४।३५-५६ में अपूर्ण कूटतानों का भी उल्लेख किया है। विस्तार-भय से उसे विवरण को यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।

भरत की कही हुई ८४ तानें सीधी हैं और ये कूटतानें 'रत्नाकर' के कथनानुसार 'व्युत्क्रमोच्चारितस्वरा' हैं यानी उनमें स्वरों का उलट-पुलट उच्चार होता है। ध्यान रहे कि इन ८४ सीधी तानों के साथ ५०४० कूटतान-प्रकारों का गुणन नहीं किया गया है, अपितु मूर्च्छनाओं के ५६ भेदों के साथ गुणन किया गया है।

इति श्री

पं० गौरीशंकरठाकुरतनुज पं० ओम्कारनाथ ठाकुर विरचित 'प्रणवभारती' ग्रन्थ की प्रथम वीणा समाप्त।



परिशिष्ट—क

प्राकृतिक स्वरों का पशु पक्षियों के नाद से सम्बन्ध

हम पृ० ६२ पर यह उल्लेख कर चुके हैं कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने सप्त स्वरों का पशु-पक्षियों के नाद के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। हमारी राय में वह नितान्त रूप से वैज्ञानिक है। जहाँ जहाँ अनुरणन है, वहाँ वहाँ प्राकृत स्वर सुनाई देते हैं। प्रकृति के गन्धर्व, जो भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न रूप से भगवान् सप्त-रश्मि का, स्वर्लोक के अधिदेव भगवान् सूर्य का स्वागत गान गाते हैं, उनके उस प्रातःसवन को जिन्होंने ब्राह्म-मुहूर्त में उठ कर सुना होगा, उन्होंने उस गान में उन स्वरों की प्रत्यक्ष अनुभूति पाई होगी। उनके लिये यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि प्राचीन महर्षियों ने इन सप्त स्वरों का सम्बन्ध उन प्रकृति के लाडले पशु-पक्षियों के साथ क्यों जोड़ा होगा।

वृक्षों की घटा में, लता-वल्लरियों की कुंचित जटा में और कुंज-निकुंज के घूँघट में छिप छिप कर गाने वाले उन लजीले पक्षियों का क्वचित् ही दर्शन हो पाता है। किन्तु उनके मधुर गीत से हृदय लबालब भर जाता है।

पक्षी का एक जोड़ा सवाल जवाब कर रहा था। एक ने कहा 'नि॒ सा ध॒'—दूसरे ने जवाब दिया 'नि॒ रे सा' आत्मा पुकार उठी—'ऐ दरबारी के गाने वाले! तुम्हें हमारे वन्दन हैं।' ये पक्षी धैवत और निषाद के अर्धस्वर अपने कंठ से निकालते हैं। सुना है। कभी? सुनिए कभी। एक को हम ने यों गाते सुना—'गरेसानिग' दूसरे ने पुकारा 'सारेगसाग', तीसरे ने कूक दिया 'सा-सां' चौथे ने टेर दी—सां नि॒ ध॒ प सां। श्यामा ने आलापा, 'सा-रे-ग-म-प-ध, निधप', उन्हीं स्वरों की उसने फिर तान ली 'सारेगमपधनिधप'—और फिर इन्हीं स्वरों को वह मींड से घूम कर ले आया। मन कह उठा—'वाह! गुरु! वाह!'

ऐसे अनेकों पशु और पक्षी भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न स्वरों द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं। वैज्ञानिकों के सूक्ष्म निरीक्षण का जो परिणाम ज्ञात हुआ है, उससे स्पष्ट हो चुका है कि ये पशु, पक्षी प्रेम, क्रोध, भय, निराशा, विजय, वात्सल्य इत्यादि की अभिव्यक्ति के लिए वर्णहीन नाद का ही उपयोग करते हैं। पशुओं का सहवास पाए हुए लोगों का अनुभव है कि उनके ऋतुकाल में यानी गर्भाधान के काल में वे विशेष प्रकार के स्वर लगाते हैं और यदि ऐसे समय पर किसी प्रतिद्वन्द्वी से पाला पड़ गया, तो उनके कंठ से स्वाभाविक द्वन्द्व, ईर्ष्या, क्रोध, और विजय की कामना के और विजय पाने के बाद विजय की घोषणा के भिन्न-भिन्न स्वर सुनाई देते हैं।

डार्विन ने अपने विकास-सिद्धान्त के अनुसन्धान में यह उल्लेख किया है कि पशु-पक्षियों की ध्वनियों में भिन्न-भिन्न स्वरों के अन्तराल निहित है। गिब्बन नाम के वनमानुस के गले से आरोही और अवरोही अर्ध-स्वरों के सच्चे अन्तरालों का प्रयोग होता है। रेवरेण्ड लॉकउड के निरीक्षण के परिणाम-स्वरूप एक जाति-विशेष के चूहों की ध्वनियों की जो स्वर लिपि तैयार की गई है, उससे यह ज्ञात हुआ है कि इन चूहों के गले से अर्ध-स्वर तक का सच्चा अन्तराल निकलता है। कुछ ऐसे पक्षी जिन्हें गायक कोटि के कहना चाहिए, वे अपने कंठ से पूरे सप्तक का आरोह-अवरोह निकालते हैं।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि इन अन्य प्राणियों द्वारा ही मनुष्य को स्वरों के सच्चे अन्तरालों की प्राप्ति हुई होगी। मनुष्य भी तो एक प्राणी है, जिसमें पंचेन्द्रिय, बुद्धि और चेतना का सबसे अधिक विकास पाया जाता है। वह आदिम अवस्था में अपने प्रेम, ईर्ष्या, भय, क्रोध, द्वन्द्व, विजय, गर्व, उल्लासादिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति, भाषा द्वारा जिस सीमा तक नहीं कर पाता होगा, उसे संगीत द्वारा ही करता होगा। इससे यह

मानने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि आदि मानवों को सप्तस्वरों की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई होगी। वही स्वर-सप्तक क्रम विकास पाकर सभ्य जगत् में उच्च संगीत में परिणत हुआ होगा, जिस संगीत ने सुसंस्कृत होकर शास्त्र का रूप ले लिया होगा।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने इन सप्त-स्वरों के साथ पशु-पक्षियों के नादों का निम्नलिखित प्रकार से सम्बन्ध जोड़ा है:—

षड्जं वदति मयूरो वदति चातको ऋषभं तथा। अजो विरौति गान्धारं क्रौञ्चः क्वणति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले पिकः कूजति पञ्चमम्। अश्वश्च धैवतं चैव निषादं च गजस्तथा॥

(संगीत मकरन्द संगीताध्याय १।१३-४)

अर्थात्—मयूर षड्ज बोलता है, चातक ऋषभ बोलता है, बकरी गान्धार का नाद निकालती है, क्रौञ्च मध्यम में पुकारता है, वसन्त में कोकिला पंचम में कुहुकती है, अश्व धैवत स्वर में हिनहिनाता है और गज निषाद स्वर निकालता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि क्या इन पशु-पक्षियों के नादों की तारता जाँच कर इनके नादों को ये स्वर-नाम दिये गए होंगे। क्या मयूर के नाद को षड्ज मानने से कोकिल का नाद उस का पंचम हो जाएगा? मयूर कोकिलादि जब कुहुकते हैं, तब उनके कंठ से क्या एक ही स्वर निकलता है? देखने में तो ऐसा आता है कि कम से कम दो स्वर तो उनके कुहुकने में रहते ही हैं।

ये दोनों प्रश्न स्वाभाविक हैं, उनका समीचीन उत्तर आवश्यक है। हमारी राय में सप्तस्वरों के साथ संबन्धित मयूर—कोकिलादिक प्राणियों का जो उल्लेख किया गया है, वह स्वर या नाद की तारता को दिखाने के लिए नहीं होगा, क्योंकि स्वरों को तारता और अंतराल तो अन्य पशु-पक्षियों में और स्वाभाविक-रीत्या मनुष्य-प्राणी में भी उपलब्ध होते हैं। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि 'षड्जं वदति मयूरः' इत्यादि वाक्य-प्रयोगों द्वारा संभवतः गाने के कंठ की मर्यादा को निर्दर्शित करने का अभिप्राय रहा होगा। यूरोप में Barritone, tenor voice, suprano, contralto आदिक शब्द-प्रयोग—स्त्री-पुरुष की आवाज़ की Range, (अध-ऊर्ध्व-मर्यादा) के सूचक हैं और आवाज के विशेष गुण को दर्शाते हैं, उसी प्रकार 'मयूर-कण्ठ', 'कोकिल-कण्ठ' 'दादुर-कण्ठ'—इत्यादि शब्द, मनुष्य-कण्ठ के विशेष गुण और उस की अध-ऊर्ध्व मर्यादा दिखाने के लिए प्रयुक्त किये गए होंगे, ऐसी हमारी धारणा है! संभवतः इसी प्रकार इन वचनों की संगति बैठ सकती है।

इस प्रकार हमने ऊपर एक ओर तो यह देखा कि प्राचीनों ने पशु-पक्षियों के नादों के साथ संगीत के स्वरों का जो सम्बन्ध जोड़ा है, उससे इस सत्य की प्रतीति होती है कि मानव को अपने संगीत के स्वर प्रकृति की गोद में पलनेवाले पशु-पक्षियों से ही प्राप्त हुए हैं। दूसरी ओर हमने यह भी देखा कि पशु-पक्षियों के नादों और संगीतोपयोगी स्वरों का सम्बन्ध जोड़नेवाले इन शब्द-प्रयोगों का उपरिलिखित सामान्य अर्थ के अतिरिक्त, मनुष्य के कंठ के विशेष गुणों से, और उसकी मन्द्र-तार मर्यादा से सम्बन्धित, विशेष अर्थ भी रहा होगा। यह भी एक अनुसन्धान का विषय है, क्योंकि इतना तो सिद्ध ही है कि प्राचीनों का यह कथन निरर्थक नहीं है।

परिशिष्ट—ख

स्वरों के देवता, वर्ण, रस इत्यादि

नोट :—नीचे का कोष्ठक 'बृहद्देशी', 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत मकरन्द' के आधार पर बनाया गया है। जहाँ-जहाँ इन तीनों ग्रन्थों में भेद दिखाई दिया है, वहाँ-वहाँ पादटिप्पणियाँ दे दी गई हैं।

स्वर-नाम	जाति	कुल	वर्ण	देवता	ऋषि [२]	रस [३]	स्थान	छन्द [४]	द्वीप	नक्षत्र	राशि
षड्ज	विप्र	देव	पद्मपत्र	ब्रह्मा	अग्नि	वीर, रौद्र, अद्भुत,	कण्ठ	अनुष्टुप्	जम्बू	शतभिषक् [५]	कुम्भ
ऋषभ	क्षत्रिय	ऋषि	पिञ्जर	अग्नि	ब्रह्मा	,,	शिर	गायत्री	शाक	चित्रा	तुला
गान्धार	वैश्य	देव	स्वर्ण	भारती	चन्द्र	करुण	नासिका	त्रिष्टुप्	कुश	धनिष्ठा	मीन [६]
अन्तरगान्धार	शूद्र	शूद्र									
मध्यम	विप्र	देव	कुन्द	शिव	विष्णु	हास्य, शृङ्गार	उर	बृहती	क्रौञ्च	मघा	सिंह
पञ्चम	विप्र [१]	पितृ	कृष्ण	विष्णु	नारद	,,	उर, शिर, कंठ	पंक्ति	शाल्मली	उत्तरा	कन्या
धैवत	क्षत्रिय	ऋषि	पीत	गणपति	तुम्बुरु	भयानक, बीभत्स	तालु	उष्णिक्	श्वेत	पूर्वाषाढ़ा	धनु
निषाद	वैश्य	असुर	सर्ववर्ण	सूर्य	,,	करुण	सर्वसन्धि	जगती	पुष्कर	अनुराधा	वृश्चिक
काकली निषाद	शूद्र	शूद्र									

१. 'संगीतमकरन्द' में पञ्चम की शूद्रजाति बताई गई है।

२. 'संगीतमकरन्द' में ऋषियों के कुछ भिन्न नाम दिये हैं। यथा—सा—दत्त, रि—अत्रि, ग—कपिल, म—वसिष्ठ, प—भार्गव, ध—नारद, नि—तुम्बुरु।

३. 'संगीतमकरन्द' में स्वरों के रस इस प्रकार दिए गए हैं—सा—अद्भुत-वीर, रि—रौद्र, ग—शान्त, म—हास्य, प—शृङ्गार, ध—बीभत्स, नि—करुण।

४. छन्द, द्वीप, नक्षत्र और राशि का विवरण 'बृहद्देशी' में नहीं मिलता है, 'संगीतरत्नाकर' में छन्द और द्वीप तो कहे गए हैं, किन्तु नक्षत्र और राशि केवल 'संगीत-मकरन्द' में ही दिए गए हैं।

५. इस नक्षत्र का अन्य नाम 'शततारक' है।

६. धनिष्ठा यह कुम्भ राशि का नक्षत्र है, मीन का नहीं। पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद या रेवती-इन तीन में से कोई नक्षत्र माना गया होता तो मीन राशि ठीक थी।

परिशिष्ट—ग,

उद्धृत ग्रन्थों की अकारादि-क्रम से सूची

ग्रन्थ-नाम	लेखक
अभिनवरागमंजरी	पं० वि० ना० भातखण्डे
अमृतबिन्दूपनिषत्	—
अष्टाध्यायी	पाणिनि
ईशावास्योपनिषद्भाष्य	शंकर रामचन्द्र राजवाडे
ऋक्प्रातिशाख्य	—
कबीर . .	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
कबीरग्रन्थावली	—
क्रमिक पुस्तकमालिका	पं० वि० ना० भातखण्डे
काव्यप्रकाश	मम्मट
चतुर्दण्डिप्रकाशिका	पं० व्यङ्कटमखी
दत्तिलम्	दत्तिल मुनि
ध्यानबिन्दूपनिषत्	—
ध्वनि और संगीत	प्रो० ललितकिशोर सिंह
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धनाचार्य
नन्दिकेश्वर कारिका	नन्दिकेश्वर (?)
नाट्यशास्त्र	भरत मुनि
नादबिन्दूपनिषत्	—
नारदीय शिक्षा	नारद
पाशुपतोपनिषत्	—
बृहद्देशी	मतंग मुनि
भारतीय संगीत	पं० कृ० ग० मुले
महाभारत	महर्षि व्यास
मार्कण्डेयपुराण	—
मेघदूत	कालिदास
याज्ञवल्क्य स्मृति	याज्ञवल्क्य
योगशिखोपनिषत्	—
रागतत्त्वविबोध	श्रीनिवास
रागतरंगिणी	लोचन
रागमाला	पुण्डरीकविट्ठल
रागमंजरी	,,
रागविबोध	सोमनाथ
रामचरितमानस	गो० तुलसीदास
रुद्रडामरुद्भवसूत्रविवरण	(?)
लघुमञ्जूषा	नागेशभट्ट
लक्ष्यसंगीत	पं० वि० ना० भातखण्डे
वाक्यपदीय	भर्तृहरि
वारोहणोपनिषत्	—
वैय्याकरणाभूषणसार	
सद्रागचन्द्रोदय	पुण्डरीक विट्ठल
सामसूत्र	—
सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित
संगीतदर्पण	दामोदर पण्डित
संगीतपारिजात	पं० अहोबल
संगीतमकरन्द	नारद (?)
संगीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव
संगीतविनोद	
संगीतसमयसार	पार्श्वदेव
संगीतसारामृत	तुलजाधिप
संगीतसुधा	रघुनाथराज
स्वच्छन्दतन्त्र	—
स्वरमेलकलानिधि	रामामात्य
श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु	श्रीरूपगोस्वामी
श्रीमद्भागवत	—
हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति	पं० वि० ना० भातखण्डे
'Life and works of Amir Khusru' by Dr. Mohammad Vahid Mirza.	